कैवल्य उपनिषद

भगवान श्री रजनीश

To beloved B.R. Malhotra with love.

Sw. Ananda Svabhava

9.11.81

भगवान श्री रजनीश से
अनंत-अनंत फूल
झरे हैं,
झरते ही जा रहे हैं,
झरते ही जा रहे हैं....
उनका एक-एक शब्द
परम सुगंध का
एक जगत है।
माउंट आबू की सुरम्य पहाड़ियों
में
ऐसे ही एक अनूठे फूल के रूप में प्रगटा
कैवल्य उपनिषद,
जिसमें शाश्वत की सत्रह पखुड़ियाँ हैं।
अपूर्व था भगवान श्री रजनीश
की भगवत्ता का यह आयाम, जो
माउंट आबू के विभिन्न
ध्यान-योग शिविरों के
रूप में
देखने-सुनने-चखने को मिला।

कैवल्य उपनिषद

भगवान श्री रजनीश

रजनीश फाउंडेशन प्रकाशन
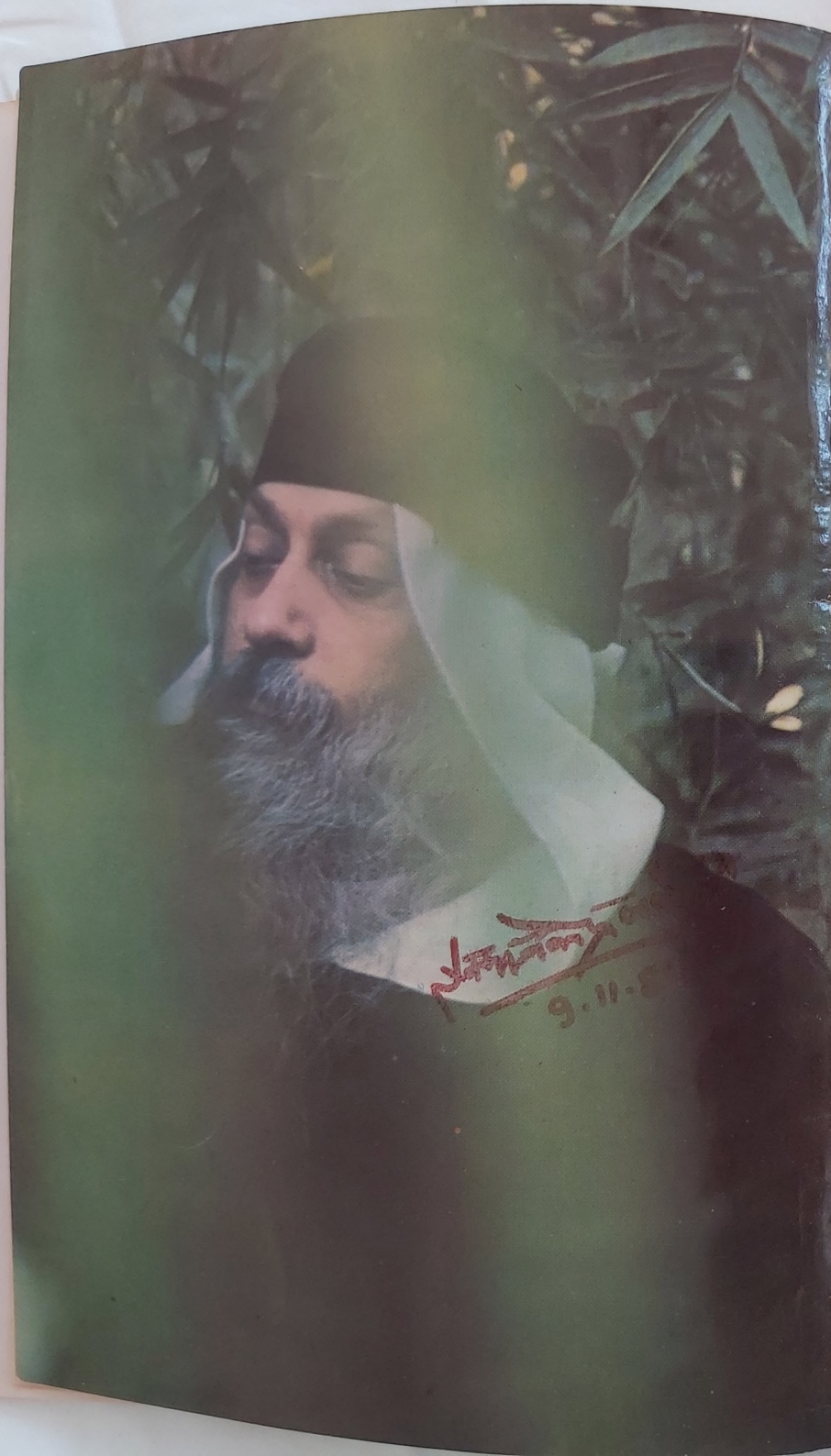
संपादन
स्वामी योग प्रताप भारती
संकलन
मा योग प्रज्ञा
सज्जा
स्वामी आनंद अर्हंत

आमुख

जिसे हमने पहली दफे, जाते वक्त 'श्रवण' कहा था, वही सीढ़ी लौटते वक्त 'प्रवचन' बन जाती है। वही सीढ़ी है। सुनना, बोलना। जाते वक्त जो सुनना था-- 'राइट लिसनिंग' थी, ठीक-ठीक सुनना था, श्रवण था--लौटते वक्त वही 'राइट-स्पीकिंग', ठीक-ठीक बोलना बन जाता है।

और ध्यान रहे, पहली सीढ़ी पर होता है 'शिष्य', और इस लौटती हुई आखिरी सीढ़ी पर होता है 'गुरु', और इन दोनों के बीच जो मिलन है, वह उपनिषद है। जहाँ सुननेवाला ठीक-ठीक मौजूद है और जहाँ बोलनेवाला ठीक-ठीक मौजूद है--इन दोनों क बीच जो मिलन की घटना है, वह उपनिषद है।

तो शिष्यों का काम है सुनना और गुरु रह जाए सिर्फ वाणी। सुननेवाला न हो, बोलनेवाला न हो। यहाँ हो सिर्फ वाणी, वहाँ हो सिर्फ सुनने की क्षमता। तब उपनिषद घटता है।

कैवल्य उपनिषद एक आकांक्षा है, परम स्वतंत्रता की। परम स्वतंत्रता की खोज है। उसकी जिज्ञासा के मार्ग का अनुसंधान।

.... कर्ता के द्वार से चलें तो संसार मिलता है। साक्षी के द्वार से चलें तो परमात्मा मिलता है। और साक्षी और कर्ता के द्वार दो द्वार नहीं हैं। एक ही द्वार पर लगी हुई दो तख्तियाँ हैं। हर द्वार पर होती हैं। बाहर दरवाजे पर लिखा होता है 'इन'--भीतर जाने के लिए। भीतर लिखा होता है 'आउट'--बाहर जाने के लिए। दरवाजा एक ही है। भीतर से जिसे जाना है उसके लिए बाहर का है, बाहर से जिसे आना है उसके लिए भीतर का है।

चेतना जब वस्तुओं की तरफ जाती है, तो वह कर्ता है। और चेतना जब वस्तुओं की तरफ से वापिस अपनी तरफ आती है, तो यह साक्षी है। सिर्फ दिशाएँ भिन्न हैं, द्वार एक ही है। वस्तुओं पर जाती है तो संसार है--अनंत। स्वयं पर आती है तो परमात्मा है--अनंत।

प्रकाशक
मा योग लक्ष्मी
सचिव, रजनीश फाउंडेशन
१७, कोरेगाँव पार्क
पूना--४११००१

प्रथम संस्करण : दिसंबर १९७७
प्रतियाँ : ३,०००
मूल्य
६० रुपये (राज.)
४० रुपये (सामा.)

मुद्रक
गो. आ. जोशी
के. जोशी एंड कं.
ब्लॉक मेकर्स एंड आर्ट प्रिंटर्स
निकट भिकारदास मारुति टेंपल
पूना--४११०३०

अनुक्रम

शान्ति पाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् ध्राणश्चक्षु श्रोत्रमथो
बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषद् माह ब्रह्म
निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत अनिराकरणं मेऽस्तु ।
तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तुं
ते मयि सन्तु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ मेरे अंग वृद्धि को प्राप्त हों; वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और सब इंद्रियाँ बल व वृद्धि को प्राप्त हों। सब उपनिषद ब्रह्मरूप हैं। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। उसमें रत हुए मुझको उपनिषद-धर्म की प्राप्ति हो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

पहला प्रवचन; माउंट आबू, २५ मार्च १९७२, रात्रि
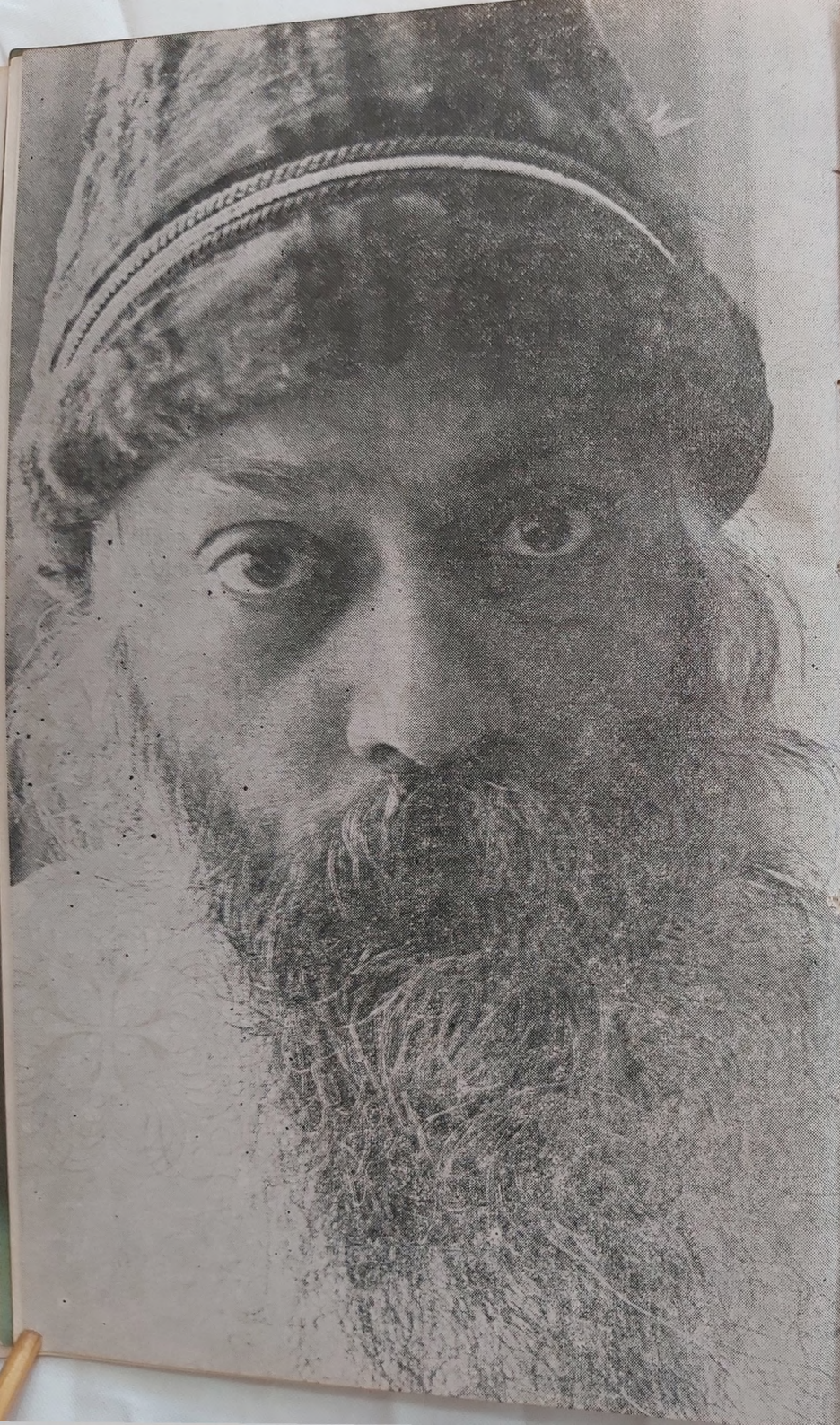
स्वयंपूर्ण का अनुभव है कैवल्य

कैवल्य उपनिषद। कैवल्य उपनिषद एक आकांक्षा है, परम स्वतंत्रता की। 'कैवल्य' का अर्थ है—ऐसा क्षण आ जाए चेतना में जब मैं पूर्णतया अकेला रह जाऊँ, लेकिन मुझे अकेलापन न लगे। एकाकी हो जाऊँ, फिर भी मुझे दूसरे की अनुपस्थिति पता न चले। अकेला ही बचूँ, तो भी ऐसा पूर्ण हो जाऊँ कि दूसरा मुझे पूरा करे इसकी पीड़ा न रहे। 'कैवल्य' का अर्थ है—केवल मात्र मैं ही रह जाऊँ। लेकिन, इस भाँति हो जाऊँ कि मेरे होने में ही सब समा जाए। मेरा होना ही पूर्ण हो जाए। अभीप्सा है यह मनुष्य की, गहनतम प्राणों में छिपी।

सारा दुख सीमाओं का दुख है। सारा दुख बंधन का दुख है। सारा दुख—मैं पूरा नहीं हूँ, अधूरा हूँ। और मुझे पूरा होने के लिए न-मालूम कितनी-कितनी चीजों की जरूरत है। और सब चीजें मिल जाती हैं तो भी मैं पूरा नहीं हो पाता हूँ; मेरा अधूरापन कायम रहता है। सब कुछ मिल जाए, तो भी मैं अधूरा ही रह जाता हूँ।

तो एक आकांक्षा मनुष्य के भीतर जगी, जिसे हम धर्म कहते हैं, कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि मैं जिन चीजों को पाने चलता हूँ, उनको पा लेने पर भी जब पूर्णता नहीं मिलती है, तो उन्हें पाने की यात्रा ही व्यर्थ और गलत हो। तो फिर कोई और मार्ग खोजा जाए, जहाँ मैं वस्तुओं को पाकर पूरा नहीं होता, बल्कि मैं ही पूरा हो जाता हूँ। और तब किसी वस्तु की कोई जरूरत नहीं रह जाती।

इसलिए जिन्होंने भी गहन खोज की उन्हें लगा कि आदमी तब तक आनंद को न पा सकेगा, जब तक कोई भी जरूरत किसी और पर निर्भर है। जब तक दूसरा जरूरी है, तब तक दुख रहेगा। जब तक मेरा सुख दूसरे पर निर्भर है, तब तक मैं दुखी रहूँगा। जब तक मैं किसी भी काम में दूसरे पर निर्भर हूँ, तब तक मैं परतंत्र हूँ। और परतंत्रता में आनंद नहीं हो सकता। अगर हम सारे दुखों का निचोड़ निकालें तो पाएँगे, परतंत्रता। और सारे आनंद का सारफूल जो है, वह है स्वतंत्रता।

इस परम स्वतंत्रता को हमने 'मोक्ष' कहा है। इस परम स्वतंत्रता को हमने 'निर्वाण' कहा है। और इसी परम स्वतंत्रता को हमने 'कैवल्य' कहा है। तीन कारणों से।

इस परम स्वतंत्रता को मोक्ष कहा है, क्योंकि वहाँ कोई बंधन नहीं। इस परम स्वतंत्रता को निर्वाण कहा है, क्योंकि वहाँ मैं भी नहीं, मेरा होना भी मिट जाता है--बस अस्तित्व रह जाता है। जब मैं कहता हूँ--'मैं हूँ', तो मुझे दो शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है, 'मैं' और 'हूँ'। हमने निर्वाण कहा इसे, उस क्षण में 'मैं' भी मिट जाता है, केवल 'हूँ', होना मात्र रह जाता है। 'मैं' का भी भाव नहीं होता, बस होता हूँ। और हमने इसे कैवल्य भी कहा, क्योंकि इस क्षण में अकेला मैं ही होता हूँ। अकेला मैं ही होता हूँ--इसका अर्थ हुआ कि सभी कुछ मुझमें ही समा जाता है। आकाश मेरे भीतर होता है, चाँद-तारे मेरे भीतर चलते हैं। सृष्टियाँ मेरे भीतर बनती और बिगड़ती हैं। मैं ही फैलकर इस ब्रह्मांड से एक हो गया होता हूँ। मैं ब्रह्म हो गया होता हूँ। इसलिए इसे कैवल्य कहा।

यह कैवल्य उपनिषद इस परम स्वतंत्रता की खोज है। उसकी जिज्ञासा, उसकी जिज्ञासा के मार्ग का अनुसंधान है।

इसका प्रारंभ होता है एक प्रार्थना से। इसे भी हम थोड़ा समझ लें। क्योंकि किसी भी यात्रा का प्रारंभ साधारणतया प्रयास से होना चाहिए, प्रार्थना से नहीं। प्रयत्न से होना चाहिए, प्रार्थना से नहीं। लेकिन उपनिषद शुरू होता है एक प्रार्थना से।

बहुत संकेत हैं उसमें।

पहली बात, जिसे हम खोजने चले हैं, वह हमारे प्रयास से मिलनेवाला नहीं है। लेकिन इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वह हमारे बिना प्रयास के मिल जाएगा। यहीं थोड़ी कठिनाई है। और यहीं सारे धर्म की, साधना की गाँठ है, उलझन है।

जिसे हम खोजने चले हैं, वह हमारे प्रयास से ही नहीं मिल जाएगा। और हमारे बिना प्रयास के भी नहीं मिलता है। हमारे ही प्रयास से इसलिए नहीं मिल जाएगा कि हम जिसे खोजने चले हैं, वह हम से बहुत बड़ा है। कारागृह में बंद एक आदमी स्वतंत्रता को खोजने चला है। कैदी, परतंत्र, जंजीरों में बँधा स्वतंत्र आकाश को खोजने चला है। जिसकी खोज है, वह बहुत बड़ा है। कैदी की सामर्थ्य बड़ी सीमित है। सीमित न होती तो वह कैदी ही न होता। सीमित न होती तो वह कारागृह में न होता। सीमित न होती तो कौन उसके हाथ

पर जंजीरें बाँध पाता? कौन उसके पैरों में बेड़ियाँ डालता? कौन उसके आसपास कारागृह बनाता? सीमित है, कमजोर है, इसीलिए तो कारागृह में है। कारागृह में है, यह उसकी कमजोरी की खबर है। इसलिए अकेले उसके प्रयास से कुछ भी न हो सकेगा। अगर उसके ही प्रयास से हो सकता, तो वह कारागृह में ही नहीं होता।

लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि उसके बिना प्रयास के ही हो सकेगा। क्योंकि, वह कारागृह में पड़ा हुआ कैदी अगर अपनी जंजीरों से राजी हो जाए और सो जाए, तो दुनिया की कोई ताकत उसे कारागृह से मुक्त न कर पाएगी। वह अकेला भी मुक्त नहीं हो सकता और दुनिया की बड़ी-से-बड़ी ताकत भी बिना उसके सहयोग के उसे मुक्त नहीं कर सकती। इसलिए धर्म की सबसे गहरी, जटिल समस्या को हम पहले ही समझ लें।

आदमी मुक्त हो सकता है। उसे प्रयास भी करना पड़ेगा। लेकिन प्रयास के भी पहले उसे अपने से विराट को पुकार लेना होगा। प्रयास से भी पहले उसे प्रार्थना करनी होगी। प्रार्थना से ही उसका प्रयास शुरू होगा। समझें कि प्रार्थना उसका पहला प्रयास है। लेकिन प्रार्थना प्रयास जैसा नहीं मालूम होती।

प्रार्थना का मतलब है--तू कर। प्रार्थना का अर्थ है--तू सहायता दे। प्रार्थना का अर्थ है--तू मेरे हाथ को पकड़। प्रार्थना का अर्थ है--तू मुझे बाहर निकाल। अगर प्रार्थना इतने पर भी रुक जाए, तो भी प्रार्थना काम नहीं कर पाएगी। अगर प्रार्थना करके ही कैदी सो जाए, तो भी इस कारागृह से मुक्त नहीं हो पाएगा। प्रार्थना केवल एक आनेवाले प्रयास का सूत्रपात है।

प्रार्थना जरूरी है, काफी नहीं है। प्रयास अनिवार्य है, पर्याप्त नहीं। और जहाँ प्रार्थना और प्रयास संयुक्त हो जाते हैं, वहाँ विराट ऊर्जा का जन्म होता है, जिससे असंभव भी संभव है।

प्रार्थना का अर्थ है, मैं उस विराट की सहायता माँगता हूँ। और प्रयास का अर्थ है कि मैं उस विराट के साथ चलने को राजी हूँ, सहयोग करूँगा। प्रार्थना का अर्थ है, तुम मुझे उठाओ। और प्रयास का अर्थ है, मैं उठने की जितनी मेरे पास ताकत है, पूरी लगा दूँगा। लेकिन प्रार्थना का यह भी अर्थ है कि मैं अपनी ताकत से न उठ सकूँगा, तुम्हारी जरूरत है। और प्रयास का यह अर्थ है कि अगर मैं ही न उठना चाहूँ, तो तुम्हारी अनुकंपा भी मुझे कैसे उठा सकेगी? इसलिए मैं उठूँगा, अपने पैरों पर खड़ा होऊँगा। इन जंजीरों को तोड़ने की कोशिश करूँगा। फिर भी मैं जानता हूँ कि मैं कमजोर हूँ और तुम्हारी सहायता के बिना कुछ भी नहीं हो सकता।

यह उपनिषद शुरू होता है प्रार्थना से। वह प्रार्थना भी बहुत अनूठी है। अनूठी, कठिन, थोड़ी चिंता में भी डालेगी। बहुत बार पढ़ी होगी इस तरह की प्रार्थनाएँ, लेकिन विचार नहीं किया होगा। विचार हम करते ही नहीं; अन्यथा यह प्रार्थना बहुत हैरानी में डालेगी।

ऋषि ने प्रार्थना की है, मेरे अंग वृद्धि को प्राप्त हों। मेरी वाणी, मेरी घ्राण, मेरी आँखें, मेरे कान बलशाली हों। मेरी इंद्रियाँ शक्तिशाली बनें। हैरानी होगी सोचकर कि जो ब्रह्म की खोज पर चला है, वह इंद्रियों को शक्तिशाली करने की बात सोचता है। शक्तिशाली करने की प्रार्थना कर रहा है! हमने तो यही सुना है कि जिसे उस तरफ जाना हो, उसे इंद्रियों को नष्ट ही कर देना है। हमने तो यही सुना है कि उसे जिसे पाना हो, उसे इंद्रियों को निर्बल करना है। हमने तो यही सुना है कि इंद्रियों का दमन ही उसे पाने का मार्ग है। लेकिन यह उपनिषद कैसी हमसे उल्टी बात कह रहा है!

बहुत लोग इस उपनिषद को पढ़ते हैं, लेकिन उन्हें कभी ख्याल में नहीं आता कि ऋषि क्या कह रहा है? यह कह रहा है कि हमारी इंद्रियों को शक्ति दो, परमात्मा! हमारी आँखें मजबूत हों और हमारे कान बलशाली हों। हमारी वाणी शक्तिशाली बने, हमारी इंद्रियाँ मजबूत हों, वृद्धि को उपलब्ध हों। या तो यह ऋषि पागल है, या जो हम समझते रहे हैं, वह नासमझी है।

न-मालूम कैसे हमारे मन में गहरे में यह बात बैठ गयी है कि परमात्मा और संसार में विरोध है। नहीं, जरा भी नहीं है। क्योंकि परमात्मा और संसार में विरोध हो, तो या तो फिर संसार ही हो सकता है, या फिर परमात्मा ही हो सकता है। दोनों नहीं हो सकते। अगर उन दोनों में विरोध हो तो एक कभी का टूट ही गया होता।

इसलिए जो परमात्मा को बहुत ज्यादा मानता है, वह कहता है संसार माया है। क्योंकि उसे कठिनाई होती है कि अगर परमात्मा को मानता हूँ, तो संसार को भी कैसे मानूं? दो में से एक ही हो सकता है। इसीलिए जो संसार को मानता है, वह कहता है, परमात्मा झूठा है, हो नहीं सकता। सब कल्पना है, सब खयाल है, सब सपना है। है नहीं परमात्मा कहीं। क्योंकि उसे भी यह लगता है कि अगर संसार है, तो फिर परमात्मा नहीं हो सकता। दोनों की गहरी मान्यता यह है कि दोनों में विरोध है, तो दोनों में से एक ही हो सकता है। अन्यथा जीवन असंभव हो जाएगा।

लेकिन यह ऋषि कुछ और कह रहा है। यह ऋषि परमात्मा और संसार को विरोधी नहीं मानता है। यह ऋषि इंद्रियों और आत्मा को विरोधी नहीं

मानता है। यह ऋषि परम ज्ञान की खोज के लिए भी इंद्रियों के शक्तिशाली होने की प्रार्थना से यात्रा शुरू करता है।

कोई विरोध है भी नहीं। हो भी नहीं सकता। होना संभव ही नहीं है। परमात्मा और संसार के बीच विरोध तो दूर, द्वैत भी नहीं है, द्वंद्व भी नहीं है। परमात्मा और संसार दो चीजें भी नहीं हैं।

संसार हम कहते हैं उस परमात्मा को, जो हमारी इंद्रियों से पकड़ में आ जाए। और परमात्मा कहते हैं उस संसार को, जो हमारी इंद्रियों से पकड़ में नहीं आता।

यह ऋषि अद्‌भुत प्रार्थना कर रहा है। यह कह रहा है कि अभी मैं वह प्रार्थना दूसरी करूँ तुमसे कि तुम भीतर से मुझे पकड़ में आ जाओ, तो थोड़ा छोटे मुँह बड़ी बात होगी। अभी तो मैं इतना ही प्रार्थना करता हूँ कि जिन इंद्रियों से तुम मुझे थोड़े-थोड़े पकड़ में आते हो, संसार की तरह, वे इतनी वृद्धि को प्राप्त हो जाएँ कि संसार में ही तुम सब जगह मुझे दिखायी पड़ने लगो। आँख मेरी ऐसी वृद्धि को उपलब्ध हो जाए कि जब मैं वृक्ष को देखूँ, तो वृक्ष ही दिखायी न पड़ें, तुम भी उसके भीतर बढ़ते हुए दिखायी पड़ो। और जब कान मेरे वाणी को सुनें तो वाणी सिर्फ ओंठों से जो पैदा होती है वही सुनायी न पड़े, वह वाणी भी सुनायी पड़ जाए जो कि बिना ओंठों के ही सदा निनादित हो रही है। और जब मेरे हाथ किसी को छुएँ तो शरीर तो छुआ ही जाए, मेरी अंगुलियाँ उस आत्मा के स्पर्श को भी पा लें जो शरीर के भीतर छिपा है। इसलिए मेरी इंद्रियों को मजबूत करो। इसलिए मेरी इंद्रियों को वृद्धि दो।

अनूठी दृष्टि है।

अब आज का मनस्विद इसका सहयोगी है। मनस्विद कहता है, जिस व्यक्ति की इंद्रियाँ जितनी संवेदनशील हैं, जितनी जीवंत हैं, उतना ही जीवन में जो छिपा है उसकी उसे प्रतीति और झलक मिलनी शुरू हो जाएगी। इंद्रियों को मार कर हम सिर्फ इतना ही कह रहे हैं कि हम संसार के दुश्मन हैं। और हम यह भी कह रहे हैं कि संसार में हम कितनी ही चेष्टा करें, तू हमें दिखायी नहीं पड़ता, तो हम आँखें ही फोड़ लेंगे, हम कान ही तोड़ देंगे। हम इंद्रियों को दीन-हीन और क्षीण कर लेंगे। सुखा डालेंगे। हम तो तुझे भीतर ही खोजेंगे।

लेकिन समझें थोड़ा। जिसे हम बाहर भी न खोज पाए--जो कि सरल था--उसे हम भीतर खोज पाएँगे? और फिर बाहर और भीतर में जिसे हम बाँटते हैं, वह क्या दो है? मेरे घर के बाहर आकाश है और मेरे घर के भीतर जो आकाश है, वह क्या दो हैं? और मेरी जो श्वाँस बाहर जाती है और मेरी जो श्वाँस भीतर

आती है, वह क्या दो हैं ? मेरे भीतर जो समाया है वह, और मेरे बाहर जो फैला है, क्या वे दो हैं ? और बाहर इतना विराट फैला है, अगर वहाँ भी मैं अंधा हूँ और वह मुझे दिखायी नहीं पड़ता, तो भीतर के मेरे इस बिंदु में मैं उसे खोज पाऊँगा ? ऋषि कहता है, पहले तू मेरी इंद्रियों को मजबूत कर। मेरी इंद्रियों को शक्ति दे, ताकि इंद्रियों से मैं उसको भी अनुभव कर पाऊँ जो मेरी कमजोर इंद्रियों की पकड़ में नहीं आता।

हिम्मत की प्राथना है ! कमजोर क्षणों में यह उपनिषद नहीं लिखा गया है।

भारत के मानसिक इतिहास में एक शक्तिशाली समय भी था। जब कोई कौम अपनी पूरी मेधा में जलती है, जब कोई कौम अपनी पूरी आत्मा में प्रगट होती है, तब कमजोर नहीं होती; तब उसके वक्तव्य बड़े बलशाली होते हैं। और जब भी कोई कौम युवा होती है, ताजी होती है, बढ़ती होती है, शिखर की तरफ उठती होती है; जब किसी कौम के प्राणों में सूर्योदय का क्षण होता है, तब कोई भी चीज अस्वीकार नहीं होती। सभी स्वीकार होता है। और तब, इतनी सामर्थ्य होती है उस कौम की आत्मा में कि वह जहर को भी स्वीकार करे तो अमृत हो जाता है। वह जिसको भी छाती से लगा ले, वही काँटा भी हो तो फूल हो जाता है। और जिस रास्ते पर पैर रखे, वहीं स्वर्ण बिछ जाता है।

लेकिन फिर कमजोर क्षण भी होते हैं कौमों के।

तो भारत कोई ढाई हजार वर्षों से बहुत कमजोर और दीन क्षण में जी रहा है, उधार में जी रहा है। जैसे सूर्यास्त हो गया हो। सिर्फ याद रह गयी है सूर्योदय की। अँधेरा छा गया हो। दीन-हीन मन हो गया है। पैर रखते डर होता है। नये मार्ग पर चलने में भय होता है। पुरानी लीक पर ही घूमते रहना अच्छा मालूम पड़ता है। नये सोचने में, नये विचार में, नयी उड़ान में, कहीं भी हिम्मत नहीं जुटती। ऐसे कमजोर क्षण में अमृत भी पीने में डर लगता है। पता नहीं जहर हो, अपरिचित अनजान ! फिर पता क्या कि इससे मैं बचूँगा कि मरूँगा ? तब सब चीजों से आत्मा सिकुड़ने लगती है। एक सिकुड़ाव शुरू होता है। सब चीजों से भय हो जाता है। सब छोड़ो। सबसे बचो। इस बचाव और छोड़ने में सब सिकुड़ जाता है।

जिसे हम तथाकथित त्याग कहते हैं, उस त्याग की भी दो अवस्थाएँ होती हैं। एक तो शक्तिशालियों का त्याग होता है। वे उन चीजों को छोड़ देते हैं, जिन्हें अनुभव से व्यर्थ पाते हैं। एक कमजोरों का भी त्याग होता है—वे उन सभी चीजों को छोड़ देते हैं, जिन्हें भी अपने से ज्यादा शक्तिशाली पाते हैं।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लेना।

शक्तिशालियों का भी त्याग होता है। वह उन चीजों को छोड़ देते हैं, जिन्हें व्यर्थ पाते हैं। कमजोर भी त्याग करते हैं। वे उन चीजों को छोड़ देते हैं, जिन्हें भी अपने से शक्तिशाली पाते हैं। जहाँ भी शक्ति है, वहीं उन्हें डर लगता है। शक्तिशालियों ने भी इंद्रियों को छोड़ा है, लेकिन इसलिए नहीं कि भय था। इसलिए कि उन्होंने और भी गहन अनुभव के द्वार खोल लिये, उन्होंने देखने की वे भीतरी आँखें पा लीं कि बाहरी आँखें बंद करने में भी वे समर्थ हो गये। उन्होंने भीतर की उस अनुभूति का द्वार खोल लिया कि अब उन्हें साधारण इंद्रियों की और उनके उपयोग की जरूरत न रही।

कमजोरों ने भी इंद्रियों का त्याग किया है, लेकिन भय के कारण। आँख बंद कर ली है कि डर है कहीं रूप दिख जाए, तो आत्मा बह जाए। कि कहीं स्पर्श हो जाए, तो संयम नष्ट हो जाए। कमजोरों ने भी इंद्रियों को छोड़ा है, शक्तिशालियों ने भी छोड़ा है। शक्तिशाली इसलिए छोड़ते हैं कि जब भी श्रेष्ठतर उपलब्ध हो जाता है तो निकृष्ट की जरूरत नहीं रह जाती।

यह ऋषि उन दिनों की बात कर रहा है, जब इस कौम की प्रतिभा जीवंत, जाग्रत, स्वस्थ, युवा थी। तब ऋषि हिम्मत से कह सकता था——हे परमात्मा ! मेरी इंद्रियों को मजबूत कर।

समझें, इसका मतलब यह हुआ कि आत्मा इतनी मजबूत है कि इंद्रियों से डरने का कोई कारण भी तो नहीं है। हम उनका उपयोग कर सकेंगे। हम उनके मालिक हो सकेंगे। हम उनका साधन की तरह——साध्य की तरह नहीं——साधन की तरह हम उनका उपयोग करने में समर्थ हैं।

इंद्रियों की वृद्धि की इस प्रार्थना में जीवन और आत्मा की एकता का सूत्र छिपा है। जीवन एक वर्तुल है। चाहे हम बाहर से और चाहे हम भीतर से, जिसे भी हम पा लेंगे वह एक ही है। यह वर्तुल——चाहे हम बाहर से खोज करते हुए आएँ तो भी हम भीतर पहुँच जाएँगे; चाहे हम भीतर से खोज करते हुए आएँ तो भी हम बाहर पहुँच जाएँगे। क्योंकि जिसे हम बाहर और भीतर में बाँट रहे हैं, वह अपने-आप में अनबँटा है, अविभाज्य है, अखंड है। हम कहीं से भी शुरू करें।

लेकिन यह उपनिषद का ऋषि बाहर से शुरू कर रहा है। इस बाहर से शुरू करने में और भी कारण हैं। पहला तो यह कि मनुष्य सहज ही बहिर्मुखी है। तो जहाँ मनुष्य है, वहीं से शुरू करना उचित है। और जो सहज ही हो रहा है, उसको ही हम साधना क्यों न बना लें ? सहज ही साधना क्यों न हो ? असहज की तरफ हम क्यों झुकें ? तो इंद्रियाँ देख ही रही हैं, इन इंद्रियों के लिए हम क्यों न प्रार्थना करें और क्यों न प्रयास करें कि यह इतना देख पाएँ कि अदृश्य भी दृश्य

हो जाए ? कान सुन ही रहे हैं, तो हम इन कानों की और शक्ति को क्यों न बढ़ाएँ कि ये उसे भी सुन लें, जो सदा ही अनसुना है ! छिपा है, अप्रगट है, परोक्ष है, वह भी क्यों न इनके सामने आ जाए ! इनकी देखने की तीक्ष्णता ऐसी क्यों न हो, संवेदना इनकी इतनी प्रगाढ़ क्यों न हो, जो नहीं दिखता है, उसकी भी झलक मिले ! क्यों न हम वहीं से शुरू करें जहाँ आदमी सहज ही खड़ा है ! क्यों न हम आदमी के स्वभाव से शुरू करें !

उपनिषद अति स्वाभाविक हैं, अति सहज । उपनिषद अस्वाभाविक नहीं हैं, असहज नहीं हैं। वे किसी ऐसी चर्चा में नहीं पड़ने में उनका रस है, जहाँ आदमी को व्यर्थ ही उल्टा-सीधा होना पड़े। सीधा ही, आदमी जैसा है, उपनिषद को स्वीकार है। उस आदमी को ही हम निखार सकते हैं। उपनिषद नहीं कहते कि पत्थर को फेंक दो, क्योंकि यह हीरा नहीं है । उपनिषद कहते हैं, इसे निखारो, साफ करो, तराशो, यह हीरा है। इसमें हीरा छिपा है। वह प्रकट हो सकता है । जो आज पत्थर दिखायी पड़ रहा है, वह तराशने पर हीरा बन सकता है। फेंको मत, बदलो, रूपांतरित करो।

आदमी इंद्रियों का जोड़ है। जैसा आदमी है। और जिसे हम मन कहते हैं, वह भी हमारी इंद्रियों से इंद्रियों का संग्रह है। जैसा मन हमारे पास है, अगर हम अपने भीतर खोजने जाएँ, तो हम इंद्रियों के सिवाय और क्या हैं ? और हमारी सारी इंद्रियों के अनुभव का जोड़ ही तो हमारा ज्ञान है। यह हमारी स्थिति है। यह हमारा अंत नहीं है। यह हमारी परम अवस्था नहीं है। यह हमारी आज की अवस्था है। क्यों न इसे हम निखारें ?

तो ऋषि परमात्मा से पहली प्रार्थना करता है कि जो भी मेरे पास ज्ञान के साधन हैं--मेरी इंद्रियाँ--तू उन्हें प्रखर कर।

'उपनिषद ब्रह्मरूप हैं, मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो, ब्रह्म मेरा त्याग न करे, उसमें रत हुए मुझको उपनिषद-धर्म की प्राप्ति हो।' इतनी-सी ही प्रार्थना है। 'सब उपनिषद ब्रह्मरूप हैं'। दो बातें कही हैं इन थोड़े शब्दों में। भारतीय मनीषी को सदा से ही एक दृष्टि रही है। वह दृष्टि है अनेकांत की। वह दृष्टि है, एकांत-विरोध की। वह दृष्टि है, एक ही ठीक है इसे नासमझी समझ लेना। उचित होता, इस ऋषि को कहना चाहिए था--कैवल्य उपनिषद ब्रह्मरूप है । कहना चाहिए था--यह उपनिषद ब्रह्मरूप है। लेकिन ऋषि कहता है, सब उपनिषद ब्रह्मरूप हैं। बेशर्त। सब उपनिषद ब्रह्मरूप हैं।

और उपनिषद का मतलब सिर्फ उन किताबों से नहीं है, जिन्हें हम उपनिषद कहते हैं। उपनिषद शब्द का अर्थ है, रहस्य। उपनिषद शब्द का अर्थ है, वे रहस्यपूर्ण

कुंजियाँ जो उस परमात्मा के द्वार को खोलती हैं। तो जब ऋषि ने कहा, सब उपनिषद ब्रह्मरूप हैं, तो उसने कहा है कि सभी रहस्य-पथ, ये सभी मार्ग, ये सभी शब्द, ये सभी शास्त्र, जो परमात्मा का द्वार खोलते हैं, ये ब्रह्मरूप हैं। यह मजेदार है बात। क्योंकि शास्त्र को, शब्द को, रहस्य को, पथ को ब्रह्मरूप कहना !

दो बातें खयाल में लेने जैसी हैं। ब्रह्म तो अरूप है, ब्रह्म का तो कोई रूप नहीं है। ब्रह्म का तो कोई आकार नहीं है। ब्रह्म की तो हम कोई धारणा भी न कर पाएँगे। कोई रेखा भी न खींच पाएँगे उसके आसपास। कोई परिभाषा भी न कर पाएँगे। ब्रह्म तो निराकार है। अस्तित्व तो निराकार है । लेकिन जिन रहस्यवादियों ने उस निराकार के आसपास भी रेखाएँ खींची हैं, रेखाएँ उसके आसपास खिंच नहीं पातीं। और रेखाएँ खींचने से कोई ब्रह्म के रहस्य का हल भी नहीं होता--लेकिन वे रेखाएँ खींच कर ही हम उन लोगों को जो केवल रेखाओं को ही समझते हैं, उस रेखा-शून्य की तरफ ले जाने का उपयोग कर सकते हैं। जो उस निराकार को सीधा नहीं समझ सकते हैं, उनके हाथ में हम आकार दे सकते हैं और आकार से धीरे-धीरे निराकार की यात्रा पर ले जा सकते हैं। आकार देकर धीरे-धीरे आकार छीने जा सकते हैं।

एक छोटे बच्चे को हम खेलने के लिए खिलौना दे देते हैं। खिलौने से प्रेम हो जाता है सघन। वह बच्चा उस खिलौने के बिना रात सो भी नहीं सकता। रात नींद भी खुल जाए और खिलौना न मिले तो वैसी ही बेचैनी होती है जैसा किसी भी प्रेमी को प्रेमी के बिछुड़ जाने पर हो। लेकिन शीघ्र ही वह दिन आएगा, जब यह खिलौना किसी कोने में पड़ा रह जाएगा।

लेकिन एक मजे की बात है। खिलौना तो कोने में पड़ा रह जाएगा, लेकिन खिलौने से जो प्रेम का अनुभव हुआ, वह साथ चल पड़ेगा। खिलौने से जो प्रेम का नाता बना, जो संबंध बना, जो प्रतीति हुई, जो अनुभव हुआ, प्रेम का जो द्वार खुला, वह साथ रह जाएगा। खिलौना तो कल पड़ा रह जाएगा किसी कोने में। यह खिलौना फिर कभी इसे याद भी न आएगा। लेकिन, जब भी यह किसी और को भी प्रेम करेगा, तो ध्यान रखें, उस खिलौने का भी दान उस प्रेम में रहेगा।

लेकिन, हो सकता है यह बच्चा बच्चा तो न रह जाए शरीर से, लेकिन मन से फिर भी बच्चा रह जाए। फिर किसी व्यक्ति को प्रेम करने लगे और तब फिर उस व्यक्ति के लिए भी वैसा ही रोने लगे जैसे खिलौने के लिए कभी रोया था। और बिलकुल भूल जाए कि जिसके लिए इतना रोया था, उसे भी एक दिन छोड़ दिया, और फिर याद भी नहीं आयी उसकी कि वह खिलौना कहाँ है ! अब उसका

कोई पता भी नहीं है ।

लेकिन अगर यह बच्चा भीतर से भी बड़ा हो जाए, शरीर से ही नहीं मन से भी बड़ा हो जाए, एक भीतरी प्रौढ़ता भी इसकी आए, तो यह बाहर का खिलौना भी ऐसा ही भूल जाएगा। लेकिन तब भी इस बाहर के व्यक्ति से भी जो प्रेम का नाता बना था, जो संबंध बना था, जो रस पाया था, वह और सघन होकर भीतर भर जाएगा। यह प्रेम किसी दिन भक्ति भी बन सकता है। और जिस दिन यह प्रेम भक्ति बनेगा और भगवान की तरफ बहेगा, उस दिन याद भी न आएगी उन प्रेमियों की, उन खिलौनों की। चाहे बचपन के, चाहे बड़ेपन के, लेकिन उनका भी दान होगा। लेकिन भक्ति भी तब तक पूरी नहीं होती, जब तक भक्त भगवान ही न हो जाए।

और एक दिन आखिरी खिलौना भगवान का भी छूट जाता है। और तब वही शेष रह जाता है, जो बचा इन सब अनुभवों में--प्रेम। सब खिलौने छूट जाते हैं। लेकिन खिलौनों से जिसको पाने में सहायता मिली थी, वह बच जाता है। सब रूप छूट जाते हैं, लेकिन वह जो अरूप प्रेम है, वह धीरे-धीरे संग्रहीत होता जाता है, संग्रहीत होता जाता है। एक दिन ऐसा आता है कि भक्त सिर्फ प्रेम ही रह जाता है। प्रेमी तक खो जाता है। उस दिन वह भगवान हो जाता है।

ऐसे ही ऋषि ने कहा है--सब उपनिषद ब्रह्मरूप हैं। वे ब्रह्म नहीं हैं-- ब्रह्मरूप हैं। वह रेखाएँ हैं, जिनके अनुभव से गुजर कर किसी दिन रेखा-मुक्त में प्रवेश हो जाएगा। वह सीमाएँ हैं शब्दों की, सिद्धांतों की, शास्त्रों की। लेकिन उन सीमाओं में असीम की तरफ इशारा है। और इसलिए जैसे एक दिन सब खिलौने छूट जाते हैं, ऐसे ही एक दिन सब उपनिषद भी छूट जाते हैं। ऐसे ही एक दिन सब शास्त्र भी छूट जाते हैं। जो शास्त्र पकड़ जाए, समझ लेना कि आप भूल में पड़ गये। शास्त्र है ही इसलिए कि छूट जाए। वह सिर्फ इशारा है। वह सिर्फ संकेत है। पकड़ना उपयोगी है, उससे भी ज्यादा उपयोगी छोड़ देना है।

लेकिन दो तरह के नासमझ हैं, दुनिया में। एक वे, जो कहते हैं, जब छोड़ना ही है तो हम पकड़ें ही क्यों? एक वे, जो कहते हैं जब हमने पकड़ ही लिया तो हम छोड़ें क्यों? वे एक ही तरह के हैं। उनमें जो फर्क है वह शीर्षासन का है। उनमें कोई मौलिक फर्क नहीं है। एक हैं, वे कहते हैं, हम पकड़ें ही क्यों? हम पकड़ेंगे ही नहीं। तो ध्यान रखो उस बच्चे का जिसको खिलौने न दिये गये हों, जिसे कभी कोई प्रेम ही न मिला हो, जिसे कभी कोई भगवान की धारणा न मिली हो। तो आशा मत करना कि उसके जीवन में वह घड़ी आ जाए जहाँ वह भगवान की स्थिति को पा ले, भगवत्ता को पा ले। यह असंभव है। क्योंकि यह रूप के

सारे अनुभव. . . .अनुभव तो अरूप है, अनुभव के माध्यम हैं, वे रूपायित होते हैं। सत्य तो अरूप है, लेकिन सत्य की तरफ जो इशारे हैं, वे शब्द, वे रूप हैं।

ऋषि ने कहा है, सब उपनिषद ब्रह्मरूप हैं। सब मार्ग, सब शास्त्र, सब रहस्य। जो भी आज तक मनुष्य ने इशारे किये हैं, वे सभी ब्रह्मरूप हैं। सभी ब्रह्म को रूपायित करते हैं . . . . उसको, जो रूपायित नहीं हो सकता। उसके लिए नहीं, उनके लिए जो रूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं समझ सकते।

ब्रह्मरूप का अर्थ हुआ-- जितनी मेरी सीमा है, जहाँ तक मेरी बुद्धि और मेरी इंद्रियाँ समझ पाती हैं, वहाँ तक समझाने के प्रयत्न।

बंद है एक आदमी कारागृह में। आकाश दूर है, उड़ नहीं सकता। खिड़की से ही देख सकता है। खिड़की में भी सींखचे लगे हैं। जो आकाश दिखता है, वह सींखचों में बँधा हुआ दिखता है। आकाश में कोई बंधन नहीं है, आकाश पर कोई चौखटा नहीं है, आकाश पर कोई सींखचे नहीं हैं, लेकिन कारागृह में बंद जो कैदी बैठा है, उसे तो खिड़की से ही आकाश दिखता है।

अगर उसने कभी बाहर का आकाश न देखा हो, तो वह कहेगा कि आकाश दो फीट चौड़ा, चार फीट लंबा, इतने सींखचों से बंद, इस तरह के चौखटे में घिरा है। अगर उसने कभी आकाश न देखा हो, तो इस सींखचों में बंद आकाश में भी सूर्योदय होगा। हमें. . . .जब ये सींखचे के ऊपर सूर्य आएगा और इस चौखटे में सूर्य दिखायी पड़ेगा, तो वह कहेगा, सूर्योदय हुआ। फिर इस सींखचे में ही, इसी चौखटे में सूर्यास्त भी हो जाएगा। उस सूर्यास्त का पृथ्वी पर होनेवाले सूर्यास्त से कोई संबंध नहीं होगा। इस खिड़की से संबंध होगा। तो यह कहेगा कि सूर्योदय होता है, फिर पाँच मिनट बाद सूर्यास्त हो जाता है। पर यह कहेगा कि सूर्योदय के पहले भी बहुत देर तक प्रकाश रहता है, सूर्यास्त के बाद भी बहुत देर तक प्रकाश रहता है। कभी कोई पंछी भी इस खिड़की के बाहर से उड़ेगा तो उतना ही इसे दिखायी पड़ेगा, जितना इसका आकाश है। यह कहेगा, पक्षी जन्मते हैं और फिर लीन हो जाते हैं।

इसका जानना क्या बिलकुल गलत है? इसका जानना गलत तो है, लेकिन बिलकुल गलत नहीं है। क्या इसका जानना सही है? इसका जानना सही तो है, लेकिन बिलकुल सही नहीं है। इसका जानना सीमित है। इसकी गलती भी सीमित है। इसकी गलती है, आकाश पर चौखटे को बिठा लेना। उसका जानना तो ठीक ही है, जितना आकाश जान रहा है उतना तो ठीक ही जान रहा है; लेकिन उतना ही आकाश है, तो भूल हो जाती है।

उपनिषद ब्रह्मरूप हैं, लेकिन जो उपनिषद को ही ब्रह्म मान लेता है, तो

फिर भूल हो जाती है। चौखटे को उसने ब्रह्म मान लिया। ब्रह्मरूप मानें तो भूल की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि उसका अर्थ हुआ कि हम स्मरण रखे हुए हैं कि रूप तो उसका है नहीं, रूप हमें दिखायी पड़ रहा है, वह हमारी आँखों से हमें दिया गया है। वह हमारी सीमाओं से स्थापित हुआ है। वह उसका नहीं है, हमारा दिया हुआ है।

ऋषि कहता है, मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो। बड़ी पीड़ा की बात है। जानता है ऋषि कि त्याग हो-हो जाता है। जानता है भलीभाँति कि चाहता हूँ बहुत उसका त्याग न हो, वह मेरे स्मरण से न छूटे, मैं उसे भूलूँ नहीं, उससे मेरा हाथ अलग न हो, लेकिन क्षण भी नहीं होता और भूल जाते हैं। स्मरण टूट-टूट जाता है। खयाल ही भूल जाता है कि ब्रह्म भी है। ऋषि कहता है, मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो। मैं उसे भूलूँ न, उसे छोड़ूँ न, यह प्रार्थना है।

और फिर कहता है, और ब्रह्म भी मेरा त्याग न करे। यह भी प्रार्थना है। क्योंकि मैं भी उसे स्मरण रखता रहूँ, और अगर उस विराट में मेरे तरफ कोई भी संवेदन न होता हो, मैं चिल्लाता रहूँ और उस विराट तक मेरी कोई खबर ही न पहुँचती हो; मैं पुकारता रहूँ लेकिन मेरी पुकार को सुनने का वहाँ कोई उपाय ही न हो; मैं उसका त्याग भी न करूँ लेकिन उसे ही मेरी याद न रह गयी हो——ऐसा नहीं है कि ऋषि सोचता है कि ब्रह्म उसका त्याग कर सकता है; नहीं, यह सिर्फ उसकी आकांक्षा है।

इसे समझ लेना ठीक से।

यह अर्थ नहीं है कि ऋषि सोचता है कि ब्रह्म उसका त्याग कर सकता है। नहीं, यह उसकी प्रार्थना है। यह कातर प्रार्थना है कि मेरा त्याग मत कर देना——भलीभाँति जानते हुए कि उससे कोई त्याग नहीं होता; भलीभाँति जानते हुए कि मैं उसका त्याग कर सकता हूँ, वह मेरा त्याग नहीं कर सकता है; क्योंकि उसके बिना तो मैं हो ही नहीं सकता हूँ। मैं उसका त्याग कर सकता हूँ, क्योंकि वह मेरे बिना भी हो सकता है।

इसे थोड़ा समझ लेना।

मैं उसका त्याग कर सकता हूँ, मैं उसे भूल सकता हूँ, क्योंकि उसके होने के लिए मेरे स्मरण की, या मेरे याददाश्त की कोई भी जरूरत नहीं है। मैं उसके होने में अनिवार्य नहीं हूँ। मेरे बिना वह हो सकता है। मेरे बिना वह था, मेरे बिना वह रहेगा। मैं उसे भूल सकता हूँ। लेकिन वह मुझे अगर भूल जाए तो मैं इसी क्षण शून्य हो जाऊँ। उसके भूलने का अर्थ होगा, मैं गया! मेरे होने का उपाय ही न रह जाएगा। सागर अगर लहर को भूल जाए तो लहर होगी कैसे? लहर

सागर को भूली रहे तो भी सागर होता है। और लहर के भूलने से सागर को कहीं भी कोई पीड़ा नहीं होती, इसलिए लहर को मिटाने का कोई सवाल नहीं है। लेकिन अगर सागर लहर को भूल जाए, तो लहर बचेगी ही नहीं। हो ही नहीं सकती। सागर की स्मृति है, इसलिए लहर है। सागर के प्राणों में उसकी जगह है, इसीलिए लहर है।

ऋषि भलीभाँति जानता है कि ब्रह्म मेरा त्याग नहीं कर सकता, लेकिन यह प्रार्थना है। यह आकांक्षा है। यह आकांक्षा में वह यह कह रहा है कि मैं तो भूल भी जाऊँ एक बार, लेकिन तू मुझे मत भूल जाना। मैं तो भूल ही जाता हूँ। मैं न भूलूँ, इसकी तुझसे प्रार्थना करता हूँ, फिर भी मुझे पक्का नहीं है कि मैं तुझे याद रख ही सकूँगा। मैं अपने को भलीभाँति जानता हूँ, मैं तुझे भूलता ही रहूँगा, भूलता ही रहूँगा; लेकिन तू तुझे मत भूल जाना। मेरे भूलने में भी मेरा कुछ मिटनेवाला नहीं। मैं तुझे भूलूँ तो भी मैं रहूँगा; लेकिन तू मुझे भूले, तो फिर मेरा कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। यह बहुत आँसू-भरी कातर प्रार्थना है। यह सूचना नहीं है ब्रह्म के स्वरूप की, यह केवल ऋषि के हृदय की सूचना है।

'उसमें रत हुए मुझको उपनिषद-धर्म की प्राप्ति हो'। मैं तुझमें डूबा हुआ, मैं तेरी याद में खोया हुआ, मैं तुझमें लीन हुआ उस धर्म को पा लूँ, जिसके लिए सब उपनिषद इशारा करते हैं। नहीं हिंदुओं ने कहा——ऋषि ने नहीं कहा कि हिंदू-धर्म की उपलब्धि हो, कि मुसलमान-धर्म की उपलब्धि हो, कि जैन-धर्म की उपलब्धि हो; इतना ही कहा कि सब रहस्यों में जिस तरफ इशारा किया है, उस धर्म की मुझे उपलब्धि हो; उपनिषद जिस तरफ इंगित करते हैं, उस धर्म की मुझे उपलब्धि हो।

यह जो समस्त संकेतों द्वारा, समस्त इशारों से, जिस धर्म की बात कही गयी है, वह धर्म क्या है? और उसकी उपलब्धि की क्यों आकांक्षा है?

धर्म क्या है?

धर्म का अर्थ है: इस जगत का सारभूत नियम। इस जगत का आधारभूत नियम। इस जगत का स्वभाव। इस अस्तित्व का जो प्राण है, वही। इस समस्त अस्तित्व की जो आत्मा है, वही। धर्म का अर्थ होता है, जिसने सबको धारण किया हुआ है, जिसने सबको सँभाला हुआ है। जिसमें सब है, और जिसमें यह सब विकसित होता है और लीन हो जाता है। धर्म का अर्थ है, परम आधार। वह परम आधार मुझे उपलब्ध हो, तुझमें रत हुए, तुझमें लीन हुए।

एक बहुत मजे की बात है इस सूत्र में। ऋषि कहता है कि अगर तुझमें बिना लीन हुए मुझे वह परम आधार भी उपलब्ध होता है, तो मेरी आकांक्षा

नहीं है। वह परम नियम भी मुझे मिल जाए, वह सत्य भी मैं पा लूँ जिसपर सब टिका है, लेकिन तुझमें मेरी लीनता न हो, तो उसे पाने की कोई मेरी आकांक्षा नहीं है।

क्यों?

यहीं धर्म और विज्ञान का भेद है। विज्ञान भी उस परम नियम की खोज में लगा है, उस धर्म की खोज में लगा है, जिस पर सारा अस्तित्व टिका है, लेकिन उसमें लीन होने की आकांक्षा से नहीं। उस पर कब्जा करने की, उसका मालिक होने की, उसके ऊपर विजेता होने की आकांक्षा से। विज्ञान भी धर्म की ही खोज है। धर्म का अर्थ : नियम; आत्यंतिक सत्य, जिस पर अस्तित्व टिका है। विज्ञान भी उसीकी खोज में रत है। लेकिन वैज्ञानिक की जो दृष्टि है, वह उसे जानकर, खोजकर उसके मालिक हो जाने की, उसको कब्जे में ले लेने की, उससे काम करवाने की, उसका उपयोग करने की है।

धर्म भी, धार्मिक व्यक्ति भी, ऋषि भी उसी धर्म की खोज में है, लेकिन आकांक्षा दूसरी है। उसे मालिक बना देने की। उसमें लीन हो जाने की। उसके उपयोग में आ सकूँ, इसकी। विजित हो जाने की, हार जाने की, समर्पित हो जाने की। सत्य को अगर हम ऐसे जीतने चले हों कि उसे पाकर हम उपयोग करेंगे उसका, तो इस खोज का नाम विज्ञान है। और सत्य को हम ऐसे खोजने चले हैं कि मिल जाए तो उसके चरणों में लीन कर देंगे अपने को, तो ऐसी खोज का नाम धर्म है।

उपनिषद के इस सूत्र के संबंध में इतना ही।

कल के ध्यान के संबंध में थोड़ी बातें आपसे कह दूँ। सुबह के ध्यान के संबंध में।

सुबह का ध्यान चार चरणों में है। पहले दस मिनिट तीव्र श्वाँस लेनी है। श्वाँस के द्वारा ही अस्तित्व में प्रवेश करना है। श्वाँस को ही शक्ति और ऊर्जा देनी है। श्वाँस में ही सारा प्राण डाल देना है—कि श्वाँस बाहर जाए तो आपकी पूरी आत्मा श्वाँस के साथ बाहर चली जाए, कि श्वाँस भीतर आए तो सारा अस्तित्व आपकी श्वाँस के साथ भीतर आ जाए। इतनी तीव्रता से श्वाँस लेनी है कि सब भूल जाना है, सिर्फ श्वाँस ही रह जाए। आप जैसे श्वाँस ही हो गये।

दस मिनट की यह तीव्र श्वाँस आपके भीतर उन शक्तियों को जगा देगी, जो सोयी पड़ी हैं। उन ऊर्जाओं को उठा देगी, सक्रिय कर देगी, जिन्हें आपने कभी स्पर्श भी नहीं किया। लेकिन कंजूसी, कृपणता नहीं चलेगी। ऐसा मत सोचना कि धीरे-धीरे लेंगे, तो न जगेगी बहुत तो थोड़ी तो जगेगी। नहीं, बिलकुल नहीं

जगेगी। क्योंकि जागने की प्रक्रिया एक सीमा के बाद शुरू होती है। जैसे पानी गरम करते हैं तो सौ डिग्री तक गरम होता है, फिर भाप बनता है। ऐसा मत सोचना आप कि तीस डिग्री पर थोड़ा तो भाप बनेगा। गणित यहाँ काम नहीं करेगा। सौ डिग्री पर भाप बनता है, तो ऐसा मत सोचना कि पचास डिग्री पर आधा तो भाप बन जाएगा। बिलकुल नहीं बनेगा। सौ डिग्री पर ही भाप बनना शुरू होगा।

और सौ डिग्री क्या है?

पानी के लिए तो बिलकुल एक है। कहीं दुनिया के किसी कोने में पानी को गरम करो, वह सौ डिग्री पर भाप बनता है। और तालाब का पानी हो कि नदी का, कि नल का, कि कहीं का; कि आकाश से वर्षा का आया हो, पानी जिद्द नहीं करता कि मैं कुएँ का हूँ कि नल का—सब पानी सौ डिग्री पर भाप बन जाता है। क्योंकि पानी के पास कोई व्यक्तित्व नहीं है।

आदमी के साथ एक और कठिनाई है। उसके पास व्यक्तित्व है। और एक-एक आदमी अलग-अलग डिग्री पर भाप बनता है। या ऐसा समझें कि हर आदमी की सौ डिग्री अलग-अलग होती है। सौ डिग्री पर ही भाप बनता है, लेकिन हर आदमी की सौ डिग्री अलग-अलग होती है। तो बड़ी कठिनाई है कि मैं आपको कैसे कहूँ कि किस डिग्री पर आपका भाप बनेगा। एक बात पक्की है, आप अपनी सौ डिग्री क्या है उसकी जाँच रख सकते हैं। वह यह है कि अगर आपने अपने को बिलकुल नहीं बचाया, तो आप सौ डिग्री पर हैं। आपने प्रयास में अपने को पूरा डाल दिया, आप भलीभाँति आश्वस्त हो गये कि मैं पीछे अपने को जरा-भी रोक नहीं रहा हूँ। और इसमें दूसरे को कोई लेना-देना नहीं है, आपका ही सवाल है। इसलिए दूसरा जाने या न जाने, यह सवाल नहीं, आपको ही जानना है कि मैं अपने को रोक तो नहीं रहा हूँ? मैं अपने को पूरा डाल रहा हूँ? अगर पूरा डाल रहा हूँ, तो आप सौ डिग्री पर हैं। फिर कोई चिंता नहीं है।

यह भी हो सकता है कि आपका पड़ोसी आपसे ज्यादा श्रम उठा रहा हो और सौ डिग्री पर न हो। क्योंकि उसने अपने को अभी बचा रखो हो। और यह भी हो सकता है कि एक आदमी आपसे कम मेहनत उठा रहा हो और सौ डिग्री पर हो, अगर उसने अपने को पूरा लगा दिया हो। इसलिए आप दूसरे की चिंता मत करें, अपने भीतर ही समझ लें कि मैं अपने को पूरा लगा रहा हूँ दाँव पर।

ध्यान एक जुआ है। और सब जुओं में हम कुछ और दाँव पर लगाते हैं, ध्यान में खुद को लगाते हैं। जुआरी का ही काम है, व्यापारी का बिलकुल नहीं। क्योंकि व्यापारी इस फिकिर में रहता है कि खतरा कम हो, चाहे लाभ भी कम

हो। जुआरी इस फिकिर में रहता है कि लाभ पूरा हो, चाहे हानि पूरी हो जाए। यह जुआरी और व्यापारी का फर्क है।

ध्यान व्यापारी का काम बिलकुल नहीं है। ध्यान बिलकुल जुआरी का काम है। वह अपने को पूरा लगाता है। जो हो। एक फर्क जरूर है, कि बाहर के जुए में लाभ शायद ही कभी होता है। शायद इसलिए कहता हूँ कि भ्रम बना रहता है कि होगा; कभी होता तो नहीं। कभी नहीं होता। बाहर के जुए में जीत हो, तो किसी बड़ी हार की शुरुआत होती है। और जीत भी हो तो किसी बड़ी हार का प्रलोभन होती है। इसलिए जुआरी कभी नहीं जीतता। कितनी ही बार जीतता है तो भी कभी नहीं जीतता, आखिर में हारता ही है।

भीतर का जुआ बिलकुल उल्टा है। इसमें हार भी हो, तो किसी आनेवाली जीत का प्रारंभ है। और ध्यान कभी नहीं हारता है। बहुत बार हारता है, अंततः जीत जाता है। ऐसा मत सोचना कि महावीर पहले दिन जीत जाते हैं, कि बुद्ध पहले दिन जीत जाते हैं, कि मुहम्मद या क्राइस्ट, कोई पहले दिन जीत जाता है। कोई नहीं जीतता। सब बुरे हारते हैं। लेकिन अंततः जीत जाते हैं।

तो पूरी शक्ति, दस मिनिट तीव्र श्वाँस।

फिर दस मिनट तीव्र श्वाँस के बाद जब ऊर्जा जग जाती है, तो सारी ऊर्जा को बाहर फेंक देना है, जिस मार्ग से भी जाना चाहे। शरीर उछले, कूदे, नाचे, रोए, चिल्लाए, आवाज करे, बिलकुल विक्षिप्त मालूम होने लगे, उस वक्त भी रोकना नहीं। पूरी ढील छोड़ देनी है और सहयोगी बन जाना है। शरीर को बिलकुल पागल होना हो, तो बिलकुल पागल हो जाने देना।

क्यों?

क्योंकि हमारे भीतर न-मालूम कितने-कितने पागलपन संग्रहीत हैं....अभी मत करिये, यह सुबह के लिए कह रहा हूँ। सुबह, हूँम्....पूरा पागल हो जाने देना है। पूरे पागल का अर्थ है कि आप कोई भी भय न रखें कि यह मैं क्या कर रहा हूँ। यह मैं चिल्ला रहा हूँ? कालेज का प्रोफेसर हूँ, यह मैं क्या कर रहा हूँ? कहीं कोई मरीज यहाँ आसपास देख ले। डॉक्टर मरीज से डरा रहता है; अध्यापक विद्यार्थी से डरा रहता है; दुकानदार ग्राहक से डरा रहता है। जिन-जिन से आपका डर हो, पागल होने का मतलब है, उन-उनका डर छोड़ देना। किसीका भी डर हो। पति पत्नी से डरा रहता है, पत्नी पति से डरी रहती है। बाप बेटे से डरा रहता है, बेटा बाप से डरा रहता है। जिनका भी आपको डर हो, पागल होने का मतलब है कि अब मैं डर छोड़ता हूँ। और निडर होकर जो होना हो उसे होने देना है, पूरी तरह।

क्यों?

क्योंकि हमारे भीतर न-मालूम कितना पागलपन इकट्ठा है। हम उसे इकट्ठा करते हैं। अभी हमारी जो दुनिया में व्यवस्था है, वह पागलपन को 'डिस्पोज' करने की नहीं है। सिर्फ रोज-रोज इकट्ठा करने की है। जैसे घर में कचरा हो तो उसको कोने में छिपाकर इकट्ठा करते चले जाएँ। तो घर पूरा गंदा हो जाएगा। एक दिन घर में बदबू आने लगेगी। एक दिन हालत ऐसी हो जाएगी कि घर में कचरे के सिवा कोई जगह ही नहीं रह जाएगी। अभी हम इसी तरह अपने साथ करते हैं। जो-जो कचरा होता है मन में, उसे इकट्ठा करते जाते हैं। क्रोध हो तो क्रोध; बेईमानी हो तो बेईमानी; घृणा हो तो घृणा; हँसी, रोना, कुछ भी इकट्ठा करते जाते हैं।

धीरे-धीरे यह इतना इकट्ठा हो जाता है कि फिर हमें इसे सँभालने में ही हमारी ज़िंदगी व्यतीत होती है। कहीं यह बाहर न निकल जाए, कहीं गिर न जाए, कहीं दिख न जाए, कोई देख न ले। फिर इतना डर इससे हमें पैदा हो जाता है कि हम अपने भीतर खुद भी देखना बंद कर देते हैं। क्योंकि इतना डरने लगता है कि इतना कचरा है कि कहीं यह दिखायी न पड़ जाए। ध्यान में तो केवल वे ही लोग प्रवेश कर सकेंगे, जो इस कचरे को बाहर फेंकने को तैयार हैं। बाहर फेंकने से ही सब कुछ हल्का हो जाएगा।

दूसरा चरण रेचन का है। सब बाहर फेंक देना। एक स्वच्छता भीतर आ जाए। और आप जब तक साहस न करेंगे, फेंक न पाएँगे। और एक बार आप फेंक पाए, तो आप दूसरे आदमी हो जाएँगे। दूसरा चरण पूरी तरह पागल हो जाने का है।

और तीसरा चरण 'हू' की आवाज करने का है। सतत दस मिनिट तक नाचते-कूदते 'हू' की आवाज करनी है। यह 'हू' की आवाज एक हथौड़ी की तरह है। इसकी चोट करनी है। आपके शरीर में, आपके ठीक कामकेंद्र के निकट जिस शक्ति का वास है, जिसे योग कुंडलिनी कहता है–– या फिर और नाम कोई देना चाहे तो दे सकता है–– अब वैज्ञानिक उसको 'बॉडी इलेक्ट्रिसिटी' कहते हैं, कि वह वहाँ छिपी है। 'हू' की अगर जोर से आवाज की जाए तो उस पर चोट पड़ती है और वह छिपी हुई शक्ति, सोयी हुई शक्ति सक्रिय हो जाती है।

पुराने ऋषियों ने उसके लिए कहा है कि जैसे साँप कुंडली मार कर बैठा हो, उसपर चोट की जाए तो वह फन उठाकर ऊपर उठ आता है। उसकी कुंडली टूटने लगती है–– और साँप अगर पूरे जोश में आ जाए तो वह सिर्फ पूँछ के बल पर पूरा खड़ा हो जाता है–– ठीक वैसे ही हमारे भीतर भी यह शक्ति दबी हुई

पड़ी है। इसको अगर चोट की जाए तो यह उठनी शुरू हो जाती है। लेकिन चोट तभी करनी चाहिए जब आपके भीतर से पागलपन बाहर फेंकने की क्षमता हो। अन्यथा यह शक्ति अगर पागलपन के बीच में उठ आए, तो आप बिलकुल पागल हो सकते हैं। इसलिए बहुत दफा साधक पागल हो जाता है। और उनके पागल होने का कारण यह है कि कुंडलिनी जगाना वे शुरू कर देते हैं, बिना गहरी स्वच्छता के। इसलिए अक्सर पागल हो जाते हैं। वह पागलपन का कारण है, वैज्ञानिक खयाल न होना।

इस स्वच्छता को पहले कर लेना जरूरी है। इसलिए दो चरण आपको गहरे रूप से स्वच्छ करने के लिए हैं। पहला चरण आपके भीतर सारी शक्तियों को जगाने के लिए, दूसरा चरण जगी हुई शक्तियों के साथ जिन-जिन चीजों का विरोध पड़ रहा है, उनको बाहर फेंक देने के लिए। फिर तीसरा चरण नीचे छिपी हुई कुंडलिनी को जगाने के लिए।

तो 'हू' का दस मिनट तक तीव्रतम प्रयोग करना है। और फिर चौथे चरण में मुर्दे की भाँति पड़ जाना है। जैसे आप हैं ही नहीं। शांत। शरीर को बिलकुल ढीला छोड़ देना है। ऐसा मान कर कि मैं बिलकुल मर गया हूँ। आँख बंद करके चुपचाप भीतर प्रतीक्षा करनी है। बहुत कुछ होगा। उस भीतर की प्रतीक्षा में बहुत कुछ होगा। अगर यह तीन चरण पूरे किये गये, तो अनूठे परिणाम आने शुरू हो जाएँगे।

यह सुबह के ध्यान का ख्याल रखें।

सात दिन के लिए, आठ दिन के लिए, जितनी देर यह हमारा शिविर चलेगा, इसमें दिन में ज्यादा-से-ज्यादा मौन--ज्यादा-से-ज्यादा। बिलकुल मौन रह सकें आदमी, बहुत ही अच्छा है। ज्यादा-से-ज्यादा मौन रखें। ज्यादा-से-ज्यादा शांत रहें। पट्टियाँ दी जाएँगी, आँख पर ज्यादा-से-ज्यादा पट्टियाँ बाँधे रहें। एकांत में कहीं भी बैठ जाएँ, जंगल में चले जाएँ, जितनी बार आपको मौज आए उतनी बार जोर से श्वाँस लें; जितनी बार आपको मौज आए उतनी बार 'कैंपस' के भीतर कहीं भी खड़े होकर, भीतर से कुछ भी फेंकना हो तो फेंकें। सुबह के ध्यान के बाद भी अगर किसीको लगता है कि उतने में उसका कुछ नहीं फिंक पाया, कुछ अटका रह गया है, उसे दोपहर में ख्याल आता है, किसी वृक्ष के नीचे चला जाए, फेंके।

कोई शिविरार्थी किसीको बाधा न दे, और न कोई शिविरार्थी किसीके संबंध में चर्चा करे कि कौन क्या कर रहा है। जिसको जो करना हो वह करने दें, आप जरा भी बाधा न दें। अच्छा तो हो कि जितनी शक्ति आप बाधा देने में लगा रहे हैं, उतनी अपना ही कुछ निकालने में लगाएँ, तो ज्यादा उचित होगा।

दूसरे पर बिलकुल ध्यान न दें। सारा ध्यान अपने पर देना है। दूसरे पर बिलकुल ध्यान को मत बाँटें।

मौन से रहें। मौन उसी समय तोड़ें, जब आपको भीतर से कुछ फेंकना हो। अन्यथा मौन, बंद रखें बातचीत। बातचीत मत करें। ज्यादा-से-ज्यादा ये आठ दिन आपके ध्यान में लगें, इसकी चिंता लें।

यहाँ जो हम कहेंगे, वह इसीलिए है कि आप कुछ करें। तीन बार तो हम यहाँ मिलेंगे ध्यान के लिए, लेकिन बाकी समय में भी जो समय आपको मिल जाए उसे ध्यान में लगाएँ।

अगर आपको ऐसा लगता हो कि तीन बार के गहरे प्रयोग से आप थक गये हैं, तो झाड़ों के नीचे मौन लेट जाएँ; शांत पड़े रहकर प्रतीक्षा करें। किन्हीं मित्र को अगर इतना गहरा प्रयोग वृद्धावस्था के कारण, बीमारी के कारण असंभव हो, तो उन मित्रों से मेरा कहना है, वे-- अगर असंभव हो, उन्हें ऐसा लगता हो कि कोई ऐसी बीमारी है कि वे नहीं कर पाएँगे; शरीर इतना कमजोर है कि संभव नहीं है-- तो उनके लिए मैं एक प्रयोग बताता हूँ।

जब भी यहाँ सक्रिय प्रयोग चलता हो, तो वे 'ग्राउंड' के आसपास-- यहाँ बीच में तो लोग सक्रिय प्रयोग करते होंगे-- किनारों पर बैठ जाएँ। उनके लिए अलग प्रयोग देता हूँ, वे अपना यह प्रयोग करें। लेकिन ध्यान रखें, उनके लिए सिर्फ कह रहा हूँ, जो बीमार हैं, वृद्ध हैं। उनके लिए नहीं कह रहा हूँ जो आध्यात्मिक रूप से बीमार हैं। जिनको ऐसा लगता है कि चलो झंझट से बचे, एक कोने में बैठ जाएँ, चुपचाप बैठे रहें-- उनके लिए नहीं कह रहा हूँ। क्योंकि जो सक्रिय-प्रयोग का परिणाम होगा, वह तो बहुत अनूठा है। यह तो सिर्फ मजबूरी में उनको बता रहा हूँ-- नंबर दो का प्रयोग-- सिर्फ मजबूरी में; क्योंकि कुछ न कर पाएँ, उससे कुछ करें।

वे लोग एकांत में कहीं भी बैठ जाएँ, जब यहाँ ध्यान का प्रयोग चलता हो सक्रिय, और यहाँ पर इतने जोर से शोरगुल, चिल्लाहट, विक्षिप्तता प्रगट होगी कि वे शांत बैठकर सिर्फ इस पूरी विक्षिप्तता को अपने चारों तरफ सुनते रहें। सिर्फ सुनने का काम करें। तीस मिनट तक उन्हें अपना सारा ध्यान चारों तरफ जो हो रहा है, इसपर रखना है। ध्यान रखना, इस पर विचार नहीं करना है। कि कौन आदमी चिल्लाया, चिल्लाना था कि नहीं चिल्लाना था, इसपर नहीं ध्यान करना है। कि यह आदमी ठीक नहीं कर रहे हैं, यह नहीं करना चाहिए--विचार नहीं करना है आपको। आपको सिर्फ सुनना है। यह आपके बस के बाहर है, यह हो रहा है, इसको आपको सिर्फ सुनना है। शांत बैठकर या लेटकर सिर्फ सुनते

रहना है।

आप हैरान होंगे जानकर कि अगर आप तीस मिनट इसको ठीक से सुनने में भी समर्थ हो जाएँ, तो भी आपका रेचन होगा। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि एक आदमी अगर फिल्म देखता है, जिसमें हत्या की बहुत-बहुत चर्चा होती है....(यह कौन मित्र बात किये जा रहे हैं ? इनको वहाँ से हटाइये। पूरे शुरू से आप बात किये जा रहे हैं। वहाँ से हटिये, अलग-अलग होइये जरा। कौन ? पुजारी हैं यह; हटाओ वहाँ से इन्हें!).... मनस्विद कहते हैं कि अगर फिल्म को भी कोई देख रहा हो, हत्या के दृश्य हों, खून हो, मारपीट हो, युद्ध हो, तो देखनेवाला, इसको देखकर भी उसके भीतर की हिंसा, हत्या के भाव विसर्जित होते हैं। उसे लाभ होता है।

तो आप अगर खुद न कर पाएँ, तो तीस मिनट आप शांत बैठ जाएँ, सारी स्थिति को मौनपूर्वक, साक्षीभाव से सुनते और देखते रहें। तीस मिनट बाद जब सब लोग शांत हो जाएँ, तब आप भी शांत हो जाएँ। लेकिन सब लोगों को शांत होना तो आसान होगा क्योंकि वह काफी अशांत हो लिए हैं, आपको शांत होना इतना आसान नहीं होगा, क्योंकि आप अशांत ज्यादा नहीं हुए। तो आप, जब लेटें सारे लोग तो आप भी लेट जाएँ और आप सिर्फ एक काम करें कि अपनी नाभि पर ध्यान रखें-- गहरी श्वाँस लें, पेट ऊपर उठे; श्वाँस बाहर छोड़ें, पेट नीचे गिरे। आप पेट के उठने और गिरने को, आँख बंद करके भीतर से नाभि पर ध्यान रखें। तो दस मिनट में शांति का उन्हें परिणाम होगा। करीब-करीब उस जैसा कुछ परिणाम आपको भी होगा। दोपहर, रात्रि, जिनको भी ऐसा लगे कि कठिन है करना, वह इस भाँति चारों तरफ बैठ सकते हैं।

आँख की पट्टियाँ जो मित्र ले आए हों, वह ठीक है, अन्यथा यहाँ मित्रों से प्राप्त कर लें सुबह, ताकि आप आँख पर पट्टियाँ बाँध लें।

रात की बैठक हमारी पूरी हो उससे पहले मैं चाहूँगा, हम पाँच मिनट आँख बंद करके प्रार्थना करके उठें। ऋषि ने प्रार्थना की है, हम भी प्रार्थना कर लें। आँख बंद कर लेनी है, दोनों हाथ जोड़ लेने हैं। आँख बंद कर लें। 'नाव क्लोज़ योवर आइज़ एंड पुट योवर बोथ हेंड्स इन नमस्कार पोस्चर टू प्रे।' आँख बंद कर लें। दोनों हाथ जोड़ लें। सिर झुका दें परमात्मा के चरणों में। और हृदय में एक भाव ही गूँजने दें। 'क्लोज योवर आइज, बो डाउन योवर हेड इन ए सरेंडर। नाव बिगिन टू प्रे इन योवर हार्ट।' हृदय में प्रार्थना करें कि मनुष्य बहुत कमजोर है। मैं बहुत कमजोर हूँ, मुझ अकेले से क्या होगा ! प्रभु की सहायता चाहिए। उसकी अनुकंपा चाहिए। तेरी अनुकंपा चाहिए। तेरा अनुग्रह चाहिए। 'मैन

एलोन इज हेल्पलेस। आइ एम हेल्पलेस। व्हाट आइ कैन डू विदाउट दि डिवाइन हेल्प ! विदाउट यू व्हाट कैन आइ डू ! हेल्प मी, हेल्प मी, हेल्प मी !' खोल दें अपने हृदय को उसकी तरफ कि उसकी अनुकंपा से भर जाए। 'ओपेन योवर हार्ट्स टुवर्डस दि डिवाइन टू बी फिल्ड बाय हिज़ ग्रेस।' उसके प्रसाद से भर जाए। इस प्रार्थना को हम हृदय से....हमारा यह शिविर शुरू हो रहा है, इस आशा में कि अंतिम दिन हम इसी तरह हाथ जोड़कर परमात्मा को धन्यवाद भी दे सकेंगे। 'विद दिस कैंप वी रिज्यूम दिस प्रेयरफुल थ्रिल दैट ऑन दि लास्ट डे वी विल बी एबल नाट ओन्ली टू प्रे, बट आलसो टू थैंक हिम।'

आज की रात की हमारी बैठक पूरी हुई।

अथ अश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनं उपसमेत्योवाच :
अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां
सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम् ।
ययाऽचिरात सर्वपापं व्यपोह्य
परात्परं पुरुषमुपैति विद्वान ॥ १ ॥
तस्मै सहोवाच पितामहश्च——श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि ॥ २ ॥

तब ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा से महर्षि अश्वलायन ब्रह्माजी के पास (शिष्यभाव से समिधा लेकर) गये और नम्रतापूर्वक कहा :

हे भगवन् ! कृपया मुझे ब्रह्मविद्या का गोपनीय व अत्यंत श्रेष्ठ मार्ग बताइये, जिसपर संतजन सदैव से चलते आए हैं और जिसके माध्यम से विद्वान लोग अपने पूर्वकृत दोषों को निवृत्त करके उस परब्रह्म को पा जाते हैं ॥ १ ॥

इसपर ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया—— उस परमतत्त्व को प्राप्त करने के लिए श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग का आश्रय लेना पड़ता है ॥ २ ॥

दूसरा प्रवचन; माउंट आबू, २६ मार्च १९७२, प्रातः

असंभव से प्रेम-संबंध है श्रद्धा

मनुष्य के प्राणों में जो गहनतम अभीप्सा है, वह जानने की है। जानना जैसे मनुष्य की आत्मा है। जो भी छिपा है, उसे प्राण उघाड़ना चाहते हैं। जो भी अज्ञात है, उसे ज्ञात कर लेना चाहते हैं। जो भी अदृश्य है, वह दृश्य हो जाए और जो अस्पर्शित है, वह स्पर्शित हो जाए। ऐसा कुछ भी शेष न रहे, जो अंधकारपूर्ण है। ऐसा कुछ भी शेष न रहे, जो नहीं जाना गया है; क्योंकि जहाँ मनुष्य की अज्ञान की सीमा आती है, वहीं मनुष्य परतंत्र हो जाता है। जिस जगह मुझे लगता है कि इसके पार मुझे पता नहीं है, वहीं मेरी सीमा आ जाती है, वही मेरा कारागृह है। मेरे कारागृह की दीवारें मेरे अज्ञान से निर्मित हैं। जिस दिन ऐसा कुछ भी शेष न रहेगा जो अनजाना है, उस दिन मेरी कोई सीमा न रह जाएगी।

अज्ञान सीमा है और इसलिए अज्ञान पीड़ा है।

ज्ञान असीम है और इसलिए ज्ञान मुक्ति है।

मनुष्य के भीतर इन सीमाओं को तोड़ने का सतत ही प्रयास चलता है। लेकिन इस प्रयास की दो दिशाएँ हो सकती हैं। एक दिशा तो है कि जो भी मेरे चारों ओर विस्तार है, उस विस्तार के एक-एक अंश को मैं जान लूं। यह जो एक-एक अंश को, एक-एक कण को जानने की चेष्टा है, वही विज्ञान है। विज्ञान का अर्थ है, विश्लेषण से पाया हुआ ज्ञान। एक तो रास्ता है चीजों को जानने का कि हम उन्हें तोड़ें और उनके मौलिक घटक को खोज लें। अगर पानी को जानना है तो पानी को तोड़ें और उन मौलिक उपकरणों को खोज लें, जिनसे पानी निर्मित हुआ है। तो जिस दिन हम पानी के मौलिक परमाणु को खोज लेंगे, उस दिन हमने पानी को जान लिया। इस जानने का अर्थ हुआ कि अब हम चाहें तो पानी को बना भी सकते हैं और चाहें तो पानी को मिटा भी सकते हैं।

तो विज्ञान पानी को तोड़ेगा, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन की आखिरी इकाई को खोजेगा, लेकिन फिर भी उसका ज्ञान पानी का तो पूरा हो गया, फिर हाइड्रोजन और ऑक्सीजन को जानना जरूरी हो जाएगा। अज्ञान एक कदम आगे हटाया

गया, मिट नहीं गया। हमने एक धक्का दिया अँधेरे को, एक कदम अँधेरा पीछे हट गया, लेकिन अँधेरा वहीं खड़ा है। अँधेरा मिट नहीं गया, सिर्फ एक कदम पीछे हट गया। तो ऑक्सीजन को तोड़ना पड़ेगा। तो विज्ञान ऑक्सीजन को तोड़ेगा, हाइड्रोजन को तोड़ेगा। और ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के परमाणु जिनसे निर्मित हैं, उनको खोजेगा। इलेक्ट्रॉन्स को खोज लेगा। एक कदम और अज्ञान को धक्का दिया गया। अब हम हाइड्रोजन भी निर्मित कर सकते हैं, लेकिन इलेक्ट्रॉन फिर हमारे अज्ञान की सीमा बन गयी।

विज्ञान ने विगत दो हजार वर्षों में अज्ञान को धक्का दे-देकर बड़े दूर हटाया, ऐसा लगता रहा है। लेकिन अज्ञान मिटता नहीं है। दूसरे कदम पर पुनः खड़ा हो जाता है। और अब तो वैज्ञानिक इसको स्वीकार करने लगे हैं कि ऐसा कोई दिन नहीं आएगा, जिस दिन हम अज्ञान को विज्ञान से मिटा पाएँगे। क्योंकि जिस चीज को भी हम तोड़कर जानेंगे, जो टूटकर बचेगा, उसे फिर जानना पड़ेगा लेकिन अज्ञान सदा ही शेष रह जाएगा।

विज्ञान अब इसको अनुभव करता है कि अज्ञान सदा ही शेष रह जाएगा। हम कितना ही जान लें, लेकिन वह जो अनजाना है, वह सदा हमें घेरे रहेगा। और हमारे और अज्ञान के बीच का फासला सदा बराबर रहेगा, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। पहले मैं पानी को नहीं जानता हूँ, तो पानी का अज्ञान मुझे घेरे हुए है। फिर मैं पानी को जान लेता हूँ, तो पानी तो समाप्त हो गया, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का अज्ञान मुझे घेर लेता है। हाइड्रोजन-ऑक्सीजन को जान लेता हूँ, तो इलेक्ट्रॉन का अज्ञान मुझे घेर लेता है। कल इलेक्ट्रॉन भी जान लिया जाएगा, तब जो शेष रह जाएगा वह मुझे घेर लेगा, और यह अंतहीन है।

एक तो ज्ञान का यह प्रयास है जगत में, तोड़कर जानना। लेकिन टूटकर सदा कुछ शेष रह जाएगा। जब भी हम किसी चीज को तोड़ेंगे, तो कुछ शेष रह जाएगा। एक और मजे की बात है, पानी का अज्ञान था, तोड़ा तो दो चीजों का अज्ञान हो गया— हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का। एक का अज्ञान एक कदम हटता हुआ मालूम पड़ा, लेकिन एक कदम बढ़ भी गया। क्योंकि तब हम एक चीज को नहीं जानते थे, अब हम दो चीजों को नहीं जानते।

तोड़ने की प्रक्रिया एक अर्थ में अज्ञान को तोड़ती हुई मालूम पड़ती है। दूसरे अर्थ में बढ़ाती हुई मालूम पड़ती है। यह मजे की बात है कि विज्ञान ने जितना जाना है, उतना ही हमारा अज्ञान बड़ा भी हो गया है। ऐसा समझें, पुराने वैज्ञानिक पाँच तत्त्वों की बात करते थे। तो पाँच तत्त्वों का ही अज्ञान था। विज्ञान अब एक सौ आठ तत्त्वों की बात करता है, तो एक सौ आठ तत्त्वों का अज्ञान है।

पाँच को तोड़-तोड़ कर एक सौ आठ हमने बना लिये। अब हम एक सौ आठ को नहीं जानते। एक सौ आठ को तोड़ेंगे, तो हजार हो जानेवाले हैं।

तो वैज्ञानिक यह भी कहने लगे हैं कि हम अज्ञान को घटा रहे हैं या बढ़ा रहे हैं? टूटने की प्रक्रिया से अज्ञान पीछे हटता मालूम पड़ता है, लेकिन बढ़ता हुआ भी मालूम पड़ता है।

यह मजे की बात है कि आज का आदमी जितना जानता है, इतना कभी का आदमी नहीं जानता था, लेकिन आज का आदमी जितना अज्ञान का अनुभव करता है, इतना कभी किसी आदमी ने अनुभव नहीं किया। अगर हम सौ वर्ष पीछे के वैज्ञानिक से पूछें, तो वह बहुत आश्वस्त था। कहता था, यह मैं जानता हूँ; और सौ वर्ष पीछे के वैज्ञानिक को यह भरोसा था कि सौ वर्ष में दुनिया का सारा अज्ञान मिट जाएगा। आज के वैज्ञानिक से पूछें, उसे बिलकुल भरोसा नहीं कि अज्ञान कभी भी मिटेगा। और उसे अब यह भी भरोसा नहीं है, जिसे वह कहता है मैं जानता हूँ, उसे जानता भी है? क्योंकि एक बात और साफ हो गयी है— सब भरोसे दो-चार साल में टूट जाते हैं। न्यूटन आज अज्ञानी है। आइंस्टीन के ज्ञान की ईंटें भी गिरनी शुरू हो गयीं।

वैज्ञानिक कोई बड़ा ग्रंथ नहीं लिख सकते हैं विज्ञान के संबंध में। क्योंकि जब तक बड़ा ग्रंथ लिखा जाए, तब तक विज्ञान की अनेक आधार-शिलाएँ बदल जाती हैं। जो कल ज्ञान मालूम होता था, वह आज अज्ञान हो जाता है। और ज्ञान की इतनी शाखाएँ होती चली जाती हैं कि अगर एक दिन एक आदमी था तो वह चिकित्सा कर लेता था पूरे आदमी के शरीर की। एक वैद्य था गाँव में, आज से हजार साल पहले, तो वह सभी बीमारियों का जानकार था। फिर हमारी जानकारी बढ़ी, तो हमने पाया कि आँख तो खुद ही इतनी बड़ी चीज है कि एक आदमी अपना पूरा जीवन लगाए तो आँख के संबंध में ही नहीं जान पाएगा। कान तो इतनी बड़ी चीज है कि एक आदमी अपना पूरा जीवन समर्पित करे तो कान के संबंध में जितना साहित्य है, वह नहीं पढ़ पाएगा। तो एक ही आदमी पूरे शरीर की चिकित्सा कैसे कर सकता है?

तो फिर आँख का डॉक्टर हमें अलग कर देना पड़ा। फिर शरीर के एक-एक हिस्से के डॉक्टर होते चले गये। अब एक-एक हिस्से में भी हिस्से करने की नौबत आ गयी है। तो आज कोई भी डॉक्टर आदमी के पूरे शरीर का डॉक्टर नहीं है। या जो है, उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। उसे लोग समझते हैं, वह पुराने दिन का डॉक्टर है। उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। यह स्वाभाविक है। यह होना था। क्योंकि ज्ञान को जब हम खंड-खंड बाँटते हैं, एक-एक खंड अपना विस्तार

लेने लगता है।

और अंततः...पश्चिम के एक बहुत बड़े विचारक सी. पी. स्नो ने अभी कुछ समय पहले एक बहुत क्रांतिकारी किताब लिखी है, जिसमें उन्होंने कहा कि दो संस्कृतियाँ हो गयी हैं अब। विज्ञान को जाननेवाले लोग अलग ही जाति के हो गये हैं। जो नहीं जानते हैं, वह अलग जाति के हो गये हैं।

लेकिन ठीक होगा यह कहना कि विज्ञान को जाननेवाले लोगों के भीतर भी बहुत जातियाँ हैं। उसमें भी एक जाति दूसरी जाति को बिलकुल नहीं समझती है। आज भौतिकविद क्या कहता है, यह रसायनविद बिलकुल नहीं समझता है। रसायनविद की अपनी भाषा है, अपना जगत है। भौतिकविद की अपनी भाषा है, अपना जगत है। और फिजिक्स और केमेस्ट्री कहाँ मेल खाते हैं, इसका कुछ पता नहीं चलता। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी तीन सौ साठ विज्ञानों में प्रशिक्षण देती है। और वे तीन सौ साठ विज्ञान की जो शाखाएँ हैं, वे भी रोज नयी शाखाओं में विभाजित होती जाती हैं। जैसे कोई वृक्ष रोज बड़ा होता जाता है और नयी शाखाएँ निकलती जाती हैं, एक शाखा दो शाखाओं में बढ़ती चली जाती है। और विज्ञान की एक शाखा पर जो आदमी बैठा हुआ है, उसे बाकी विज्ञान के वृक्ष का कोई पता नहीं है।

इस बात का डर पैदा हुआ है कि अगर सौ वर्ष ऐसा ही हुआ, तो वैज्ञानिक एक-दूसरे से बात करने में बिलकुल असमर्थ हो जाएँगे। क्योंकि सबकी अपनी भाषा होती जा रही है। दो विज्ञान की शाखाएँ कोई तालमेल नहीं बिठा पाएँगी कि उनके चिंतक क्या सोचते हैं? और आज तो एक भी आदमी ऐसा जगत में नहीं है जो यह कह सके कि वह पूरे विज्ञान का जानकार है। जो कह सके कि मैं फिजिक्स को भी समझता हूँ, केमेस्ट्री को भी समझता हूँ, मनोविज्ञान को भी समझता हूँ, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है। इसलिए कुछ पता ही नहीं चलता कि क्या हो रहा है। जानकारी कितनी बढ़ रही है, किसीको कुछ पता नहीं है।

और आज का आदमी गहन अज्ञान में खड़ा हो गया है। एक आदमी जो आँख के संबंध में सब कुछ जानता है, उसे और चीजों के संबंध में कुछ भी पता नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि एक दिशा में उसे ज्ञान है, लेकिन बाकी दिशाओं में अज्ञान हो गया। एक बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक अपनी दिशा के संबंध में बहुत कुछ जानता है, लेकिन बाकी सारी दिशाओं के संबंध में अंधकार हो गया है। उसे और कुछ भी पता नहीं है।

ज्ञान की एक दिशा थी, जो असफल हो गयी।

एक दूसरे ज्ञान की दिशा है, जिसको ब्रह्मविद्या कहा है। ब्रह्मविद्या का प्रयोग

बिलकुल अन्यथा है। विज्ञान का प्रयोग है, चीजों को तोड़कर जानना। ब्रह्मविद्या का प्रयोग है, चीजों को उनकी समग्रता में, जोड़ में जानना। ब्रह्म का अर्थ है, इस सारे अस्तित्व का जो जोड़ है—समग्र—उसको सीधा ही जानना, बिना तोड़े। उसको अलग-अलग खंडों में बाँटकर नहीं जानना; उसकी समग्रता में, उसके अंतर्संबंधों में, उसकी इकाई में, उसकी एकता में जानना। यह अस्तित्व पूरा-का-पूरा सीधा जाना जा सके। वृक्ष को मैं अलग से जानने न जाऊँ; पशुओं को अलग से पहचानने न जाऊँ; आदमी को अलग से खोजने न जाऊँ। पत्थर और पहाड़ और चाँद और तारे, इनको अलग-अलग बाँटूँ नहीं, यह जो सारा अस्तित्व का इकट्ठा जोड़ है, इस जोड़ को ही सीधा जानने की कोशिश में लगूँ, उस कोशिश का नाम ब्रह्मविद्या।

अब यह मजे की बात है कि विज्ञान अज्ञान को थोड़ा हटा पाता है, बढ़ा भी जाता है। ब्रह्मविद्या अज्ञान को हटाती नहीं पीछे, विर्सजित करती है। ब्रह्मविद्या अज्ञान के साथ संघर्ष नहीं है, बल्कि ज्ञान का जागरण है। ब्रह्मविद्या अज्ञान को धक्के नहीं देती, ज्ञान को जगाती है।

यह भी समझने जैसा है कि विज्ञान जब चीजों को तोड़ता है, तो भीतर मनुष्य के मन को भी तोड़ता है। इसीलिए 'स्पेशलाइजेशन' पैदा होता है। जो आदमी पदार्थ के संबंध में खोज करता है, उसके मन का एक ही हिस्सा विकसित हो पाता है—वह हिस्सा जो पदार्थ के संबंध में खोज में लगता है। वैज्ञानिक यह कहते हैं कि मनुष्य के मस्तिष्क के सब हिस्से अलग-अलग काम करते हैं। जिस हिस्से से आप प्रेम करते हैं, उस हिस्से से आप गणित नहीं करते। और जिस हिस्से से आप गणित करते हैं, उस हिस्से से आप खेती-बाड़ी नहीं करते। और जिस हिस्से से आप दुकान चलाते हैं, उससे आप 'पेंटिंग' नहीं करते, चित्र नहीं बनाते, कविता नहीं लिखते।

मनुष्य का मन कोई सात करोड़ कोशों से निर्मित है। और मन के अलग-अलग हिस्से अलग-अलग काम करते हैं। इसलिए काम बदलने में 'रिलेक्सेशन' भी हो जाता है। एक आदमी किताब पढ़ रहा है, किताब पढ़ना छोड़कर उसने रेडियो सुनना शुरू कर दिया। अगर मन इकट्ठा काम करे तो किताब पढ़ने में जो मन लगा था वह रेडियो सुनने में लगे, तो थकान और बढ़ेगी, घटेगी नहीं। लेकिन मन का एक कोना किताब पढ़ता है, दूसरा कोना रेडियो सुनता है, इसलिए जब आप किताब पढ़ना बंद कर देते हैं, रेडियो खोल लेते हैं, तो आपके मन को विश्राम मिल जाता है। काम बदलना विश्राम का ढंग है। जब आप एक काम करते हैं, तत्काल मन को विश्राम हो जाता है। वह हिस्सा शांत हो जाता है जिसको काम

करना पड़ा था, दूसरा हिस्सा काम में लग जाता है।

और आमतौर से यह होता है कि जो लोग सब काम बंद करके बैठते हैं, जैसे कोई आदमी ध्यान करने बैठता है, तो मुश्किल में पड़ जाता है। मुश्किल में इसलिए पड़ जाता है कि उसकी जो निश्चित 'एनर्जी' प्रतिपल काम करती है वह एक कोने में काम करती है, अगर दूसरे कोने में काम करने लगे, तो एक कोना आराम कर लेता है। अगर वह सब कोनों को विश्राम देना चाहे तो वह जो शक्ति उसकी काम करती है, वह भटकती है और विश्राम मुश्किल हो जाता है। इसलिए ध्यान में लोगों को कठिनाई होती है।

लोग ध्यान के लिए बैठते हैं तो कहते हैं, न-मालूम कहाँ-कहाँ के ख्याल आते हैं, इतने ख्याल तो अगर हम जमीन में गड्ढा भी खोदने लगें तो नहीं आते। कोई भी ताश खेलने लगें तो नहीं आते। सिगरेट पीने लगें, तो नहीं आते। यह जब ध्यान के लिए बैठते हैं, तो मन न-मालूम कितने विचारों से भर जाता है। उसका कुल कारण इतना है कि आपने अपनी पूरी शक्ति को विश्राम देने का कभी कोई अभ्यास नहीं किया है। एक कोने में काम को हटाकर दूसरे कोने में सदा लगा दिया है। लेकिन शक्ति काम में लगी रहती है। एक कोने से दूसरे, दूसरे से तीसरे, और मन के हजार खंड हैं।

विज्ञान जब बाहर चीजों को बाँटता है, तो भीतर मन को भी बाँट देता है। तो वैज्ञानिक के मन का एक हिस्सा तो विकसित हो जाता है, शेष हिस्से अविकसित रह जाते हैं। ब्रह्मविद्या में यहाँ फिर फर्क है। ब्रह्मविद्या अस्तित्व को बाँटती नहीं, इसलिए मन को भी नहीं बाँटती। अस्तित्व बाहर एक है, यह जाननेवाला भी भीतर एक हो जाता है। जब हम पूरे अस्तित्व को एक मानकर चलते हैं, तो भीतर हमारा मन भी एक हो जाता है। और इस मन की इकाई में ही वह ज्ञान का जन्म होता है, जिससे अज्ञान पीछे नहीं हटता, समाप्त हो जाता है। निश्चित ही यह ज्ञान और तरह का होगा।

अगर आप महावीर से, या बुद्ध से, या उपनिषद के ऋषि से जाकर पूछें कि मेरे दाँत में दर्द है तो कौन-सी दवाई का मैं उपयोग करूँ, तो महावीर, या बुद्ध, या उपनिषद का ऋषि आपका जवाब नहीं दे पाएँगे। क्योंकि दाँत के दर्द का मतलब हुआ, दर्द को हमने बाँट लिया। दाँत का दर्द है, सिर का दर्द है, पैर का दर्द है, दर्द भी हमने बाँट लिये।

हाँ, अगर आप महावीर से पूछें कि मैं दर्द में हूँ, क्या करूँ, तो महावीर उत्तर दे सकते हैं। लेकिन आप कहें मेरा पेट दुखता है, तो महावीर उत्तर नहीं दे सकते। तब आपको वैज्ञानिक के पास ही जाना चाहिए। जहाँ सब चीजें बाँटकर

चलती हैं।

महावीर या बुद्ध के पास सब चीजें अनबँटी हैं, अविभाज्य हैं। आप पूछें कि दुख कैसे मिटे, विशेष दुख की बात न पूछें, तो महावीर बता सकेंगे कि दुख ऐसे मिटे। अगर आप यह पूछें कि यह बीमारी कैसे मिटे, तो महावीर न बता सकेंगे। लेकिन आप यह पूछें कि यह जीवन का रोग ही कैसे विलीन हो जाए, तो महावीर बता सकेंगे।

बुद्ध ने स्वयं को वैद्य कहा है। बुद्ध ने कहा है, मैं वैद्य हूँ, लेकिन बीमारियों का नहीं, बीमारी का। और यह सारा जीवन एक दुख है अगर, तो मैं वैद्य हूँ। बुद्ध एक-एक पत्तेवाली बीमारी को काटने नहीं जा सकते हैं, लेकिन बीमारी की पूरी जड़ को काटने के लिए तैयार हैं। उनका जो जानना है, वह समग्रीभूत है, इकट्ठा है। उन्होंने जो भी जाना है अस्तित्व के बाबत, स्वयं के बाबत, वह तोड़कर नहीं जाना है, इकट्ठा ही जाना है।

इसलिए यह मजे की बात है कि वैज्ञानिक आपके दर्द मिटाने की आपको सलाह दे सकता है, लेकिन स्वयं दर्द के पार कभी नहीं जा पाता। आपको हजार दुखों को मिटाने की सहायता पहुँचाता है, लेकिन खुद हजार तरह के दुखों में घिरा रहता है। महावीर या बुद्ध आपके किसी भी एक दुख को मिटाने का उपाय नहीं बता सकते, लेकिन दुख के बाहर हो जाते हैं। आपको भी दुख के बाहर हो जाने का उपाय बताते हैं।

तो ब्रह्मविद्या का अर्थ है, ब्रह्म को, ब्रह्मांड को, अस्तित्व को एक इकाई मानकर जानने का प्रयास। और जब अस्तित्व को कोई इकाई मानकर जानने चलता है, तो स्वयं के भीतर भी एकता निर्मित हो जाती है। सारा मन इकट्ठा हो जाता है। और यह मन का इकट्ठा होना ही शांति है। यह मन का इकट्ठा हो जाना ही मौन है। यह मन का इकट्ठा हो जाना ही भीतर से समस्त तरंगों और लहरों का समाप्त हो जाना है।

'ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा से अश्वलायन ब्रह्मा के पास शिष्य-भाव से समिधा लेकर नम्रतापूर्वक गये।' दो-तीन बातें इसमें ख्याल ले लेनी चाहिए। 'ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा से महर्षि अश्वलायन ब्रह्मा के पास शिष्य-भाव से समिधा लेकर विनम्रता से गये।' महर्षि है यह, लेकिन ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा है। महा ऋषि है-- ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा है! तो अर्थ हुआ कि महर्षि होने से कोई ब्रह्मज्ञान को उपलब्ध नहीं होता। महर्षि का तब अर्थ हुआ कि जानते हैं वे सब, बिना जाने। शब्दों से उन्हें सब पता है; शास्त्रों ने जो कहा है, उन्हें ज्ञात है; सिद्धांत से वह परिचित हैं, इसलिए महर्षि हैं। पांडित्य उनके पास है, लेकिन ज्ञान उनके पास नहीं है।

तो पंडित होना एक बात है । आप जान सकते हैं सब कुछ, लेकिन होगा उधार, अपना नहीं । महर्षि भी हो सकते हैं और अज्ञानी भी रह सकते हैं, जहाँ तक ब्रह्मज्ञान का संबंध है । पांडित्य हो सकता है और प्रज्ञा न जगे । दूसरों ने जो जाना है, उससे आपका परिचय गहन हो जाए, लेकिन स्वयं की कोई अपनी प्रतीति और अनुभूति न हो, तो फिर महर्षि को भी शिष्य-भाव से ही पहुँचना पड़ेगा ।

शिष्य-भाव का क्या अर्थ होता है ? शिष्य-भाव का अर्थ होता है कि मैं नहीं जानता हूँ, आप मुझे जनाएँ । शिष्य-भाव का मतलब क्या होता है ? इसलिए पंडित को अत्यंत कठिनाई हो जाती है । वह गुरु-भाव से तो कहीं भी जा सकता है, शिष्य-भाव से जाना बहुत मुश्किल हो जाता है । वह स्वयं ही जानता है, तो शिष्य-भाव से कैसे जाए ?

और जिस दिन कोई महर्षि होकर भी शिष्य-भाव से जा सकता है ध्यान में, उस दिन उसे एक बात का स्पष्ट साक्षात्कार हो गया कि जो मैंने जाना है, वह जानना बौद्धिक है, अस्तित्वगत नहीं है । मैंने ऐसा अपनी तरफ से पहचाना नहीं, सुना है; स्मृति है मेरी । एक बाहर से परिचय हुआ है मुझे, लेकिन अंतःप्रवेश नहीं हुआ है । इसलिए पंडित को ज्ञान की तरफ जाना बहुत कठिन हो जाता है । कठिन इसलिए हो जाता है कि शिष्य-भाव मुश्किल हो जाता है । शिष्य-भाव का अर्थ है, यह जानकर जाना कि मैं नहीं जानता हूँ । मैं अज्ञानी हूँ । तभी शिष्य-भाव ।

समिधा प्रतीक थी । समिधा लेकर जाने का अर्थ था कि व्यक्ति घोषणा करता आ रहा है कि मैं अज्ञानी हूँ और जानने को आया हूँ । वह प्रतीक है । वह प्रतीक है इस बात की कि मुझे कहने की जरूरत नहीं, आपको समझाने की जरूरत नहीं, मैं अज्ञानी की तरह आपके चरणों में आया हूँ ।

लेकिन अज्ञानी की तरह चरणों में जाना सिर्फ प्रतीक नहीं है, बड़ी गहन आत्मिक-स्थिति है । अज्ञानी की तरह आने का अर्थ है, मैं जिज्ञासा करूँगा उस संबंध में जिस संबंध में मैं नहीं जानता हूँ । जब आप ज्ञानी की तरह कहीं जाते हैं, तो आप जिज्ञासा उस संबंध में करते हैं जिस संबंध में आप जानते हैं । लोग प्रश्न पूछते हैं— इसलिए नहीं कि उनको पता नहीं है, बल्कि इसलिए कि उनको पता है । तो वह जाँच कर रहे हैं कि आपको भी पता है या नहीं । और आपको जो पता है, वह उनके ज्ञान से मेल खाए तो ही ठीक हो सकता है । अगर मेल न खाए, तो गलत होगा । तो शिष्य-भाव वहाँ नहीं है । जब भी कोई व्यक्ति इस खयाल से कहीं पूछने जाता है कि जानता तो मैं हूँ ही, देखूँ तुम भी जानते हो या नहीं, तो जिज्ञासा नहीं होती, सिर्फ विवाद की एक तैयारी होती है । फिर संवाद घटित नहीं होता ।

बुद्ध के पास जब पहली दफा महाकाश्यप गया, तो महाकाश्यप बड़ा पंडित था । तो बुद्ध से उसने कहा कि मैं कुछ जिज्ञासाएँ लेकर आया हूँ । बुद्ध ने पूछा कि जिज्ञासाएँ तुम्हारे ज्ञान से उठती हैं या तुम्हारे अज्ञान से ? तुम इसलिए पूछते हो कि कुछ जानते हो, या इसलिए पूछते हो कि कुछ नहीं जानते ? महाकाश्यप ने कहा, इससे आपको क्या प्रयोजन ? बुद्ध ने कहा, इससे मुझे प्रयोजन है, क्योंकि तुम किस भाव से पूछते हो, वह भाव मेरे ध्यान में न हो तो मेरे उत्तर का कोई अर्थ न होगा । अगर तुम जानकर ही पूछने आए हो, तो व्यर्थ समय को व्यय मत करो । तुम जानते ही हो, बात समाप्त हो गयी । अगर तुम न जानते हुए आए हो, तो मैं तुमसे कुछ कहूँ ।

महाकाश्यप ने कहा कि मेरी स्थिति थोड़ी बीच-बीच की है । थोड़ा जानता भी हूँ, थोड़ा नहीं भी जानता हूँ । तो बुद्ध ने कहा कि उसमें हिस्से कर लो । जो तुम नहीं जानते हो पूरा, उस संबंध में ही हम चर्चा शुरू करें । जो तुम जानते हो, उसे छोड़ें ।

महाकाश्यप ने जो नहीं जानता था पूछना शुरू किया और धीरे-धीरे, जैसे-जैसे पूछता गया, उसे पता चलता गया कि जो वह जानता है, वह भी नहीं जानता है । एक वर्ष निरंतर बुद्ध के पास रहकर उसने बहुत कुछ जिज्ञासाएँ कीं, सब उसकी जिज्ञासाएँ शांत हो गयीं । तब बुद्ध ने उससे कहा कि अब मैं तुम्हारे उस संबंध में थोड़ा जानना चाहता हूँ, जो तुम जानते हो । महाकाश्यप ने कहा, मैं कुछ भी नहीं जानता था । जैसे-जैसे मुझे पता चला, वैसे-वैसे मेरा जानना बिखरता गया । मैं कुछ भी नहीं जानता था ।

गुरजिएफ के पास जब पहली दफा ऑस्पेन्स्की गया तो गुरजिएफ ने उससे कहा, एक कागज पर लिख लाओ तुम जो भी जानते हो, ताकि उसे मैं सँभालकर रख लूँ, उस संबंध में कभी चर्चा न करेंगे । क्योंकि जो तुम जानते ही हो, जानते ही हो; बात समाप्त हो गयी । ऑस्पेन्स्की को कागज दिया । ऑस्पेन्स्की बड़ा पंडित था । ठीक महाकाश्यप जैसा पंडित था । और गुरजिएफ से मिलने के पहले एक बहुत कीमती किताब—'टर्शियम आरगेनम' लिख चुका था । जो कही जाती है—और मुझे भी लगता है कि है— पश्चिम के इतिहास में लिखी गयी तीन किताबों में एक महत्त्वपूर्ण किताब है । वह गुरजिएफ से मिलने के पहले लिख चुका था । और गुरजिएफ को तो कोई जानता भी नहीं था, एक अनजान फकीर था ।

और जब गुरजिएफ के पास ऑस्पेन्स्की गया, तो एक ज्ञाता की तरह गया था । ऑस्पेन्स्की जगत-विख्यात आदमी था । गुरजिएफ को कोई जानता भी नहीं था ।

किसी मित्र ने कहा था गाँव में, फुरसत थी, ऑस्पेन्स्की ने सोचा कि चलो मिल लें। जब मिलने गया तो गुरजिएफ कोई बीस मित्रों के साथ चुपचाप बैठा हुआ था। ऑस्पेन्स्की भी थोड़ी देर बैठा, फिर घबड़ाया। न तो किसीने परिचय कराया उसका कि कौन है, न गुरजिएफ ने पूछा कि कैसे आए हो। बाकी जो बीस लोग थे, वह भी चुपचाप बैठे थे तो चुपचाप ही बैठे रहे। पाँच-सात मिनट के बाद बेचैनी बहुत ऑस्पेन्स्की की बढ़ गयी। न वहाँ से उठ सके, न कुछ बोल सके।

आखिर हिम्मत जुटाकर उसने कोई बीस मिनट तक तो बर्दाश्त किया, फिर उसने गुरजिएफ से कहा कि माफ करिये, यह क्या हो रहा है? आप मुझसे यह भी नहीं पूछते कि मैं कौन हूँ? गुरजिएफ ने आँखें उठाकर ऑस्पेन्स्की की तरफ देखा और कहा, तुमने खुद कभी अपने से पूछा है कि मैं कौन हूँ? और जब तुमने ही नहीं पूछा, तो मुझे क्यों कष्ट देते हो? या तुम्हें अगर पता हो कि तुम कौन हो, तो बोलो। तो ऑस्पेन्स्की के नीचे से जमीन खिसकती मालूम पड़ी। अब तक तो सोचा था कि पता है कि मैं कौन हूँ। सब तरफ से सोचा, कहीं कुछ पता न चला कि मैं कौन हूँ।

तो गुरजिएफ ने कहा, बेचैनी में मत पड़ो, कुछ और जानते होओ, उस संबंध में ही कहो। नहीं कुछ सूझा तो गुरजिएफ ने एक कागज उठाकर दिया और कहा, हो सकता है संकोच होता हो, पास के कमरे में चले जाओ, इस कागज पर लिख लाओ जो-जो जानते हो। उस संबंध में फिर हम बात न करेंगे। और जो नहीं जानते, उस संबंध में कुछ बात करेंगे।

ऑस्पेन्स्की कमरे में गया। उसने लिखा है, सर्द रात थी, लेकिन पसीना मेरे माथे से बहना शुरू हो गया। पहली दफा मैं पसीने-पसीने हो गया। पहली दफे मुझे पता चला कि जानता तो मैं कुछ भी नहीं हूँ। यद्यपि मैंने ईश्वर के संबंध में लिखा है, आत्मा के संबंध में लिखा है, लेकिन न तो मैं आत्मा को जानता हूँ, न मैं ईश्वर को जानता हूँ। वह सब शब्द मेरी आँखों में घूमने लगे। मेरी ही किताबें मेरे चारों तरफ चक्कर काटने लगीं। और मेरी ही किताबें मेरा मखौल उड़ाने लगीं, और मेरे ही शब्द मुझसे कहने लगे—ऑस्पेन्स्की, जानते क्या हो?

और तब उसने वह कोरा कागज ही लाकर गुरजिएफ के चरणों में रख दिया और कहा, मैं बिलकुल कोरा हूँ, जानता कुछ नहीं हूँ, अब जिज्ञासा लेकर उपस्थित हुआ हूँ। वह जो कोरा कागज था, वह ऑस्पेन्स्की की समिधा थी—वापिस उसके चरणों में रख देना। समिधा प्रतीक है।

इस मुल्क ने तो हजारों ऑस्पेन्स्की और हजारों महाकाश्यप देखे हैं। फिर उन्हें प्रतीक बना लिया था कि जब कोई पूरे विनम्र-भाव से. . . . विनम्र-भाव का

अर्थ है, पूरे अज्ञान के बोध से किसीके पास सीखने जाए, तो समिधा लेकर जाए। समिधा प्रतीक थी। चर्चा की जरूरत नहीं होगी। यह जो दो घंटे ऑस्पेन्स्की और गुरजिएफ के बीच व्यतीत हुए, यह व्यतीत नहीं होंगे। समिधा लेकर आया हुआ व्यक्ति कहता हुआ आ रहा है कि मैं अज्ञानी हूँ; मुझे पता नहीं; मैं अपने ज्ञान से नहीं पूछूँगा; अपने अज्ञान से पूछूँगा। मैं उत्तर की जिज्ञासा लेकर आया हूँ। मैं शिष्य की तरह सीखने आया हूँ। मुझे सिखाने का कोई भाव नहीं है। कुछ जाँच-पड़ताल नहीं करनी है। कोई आपकी परीक्षा नहीं लेनी है। मैं नहीं जानता हूँ।

'नम्रतापूर्वक अश्वलायन ने कहा : हे भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या का, जो कि सदा ही गोपनीय है, अत्यंत श्रेष्ठ मार्ग बताइये।' ब्रह्मविद्या के संबंध में मैंने कहा—अस्तित्व को उसकी समग्रता में जानने की कला। लेकिन अश्वलायन कहते हैं, जो सदा ही गोपनीय है। यह बहुत मजेदार बात है। क्योंकि कोई चीज सदा ही गोपनीय कैसे हो सकती है। कभी तो बतायी जाती होगी। नहीं तो यह भी कैसे पता चलेगा कि वह है? और यह भी कैसे पता चलेगा कि वह गोपनीय है? जिसको हम गोपनीय कहते हैं, वह भी बताया तो जाता ही है। अगर मैं किसीके कान में कुछ कहता हूँ, तो भी बताता तो हूँ ही। और अगर यह भी कहता हूँ कि गोपनीय है, तो इतना ही कहता हूँ कि किसीको बताना मत। लेकिन बताया तो गया ही है। लेकिन बताया तो जाता ही है। वह जो ब्रह्मविद्या है, वह भी तो बार-बार बतायी गयी है, बार-बार बतायी जाती है। लेकिन अश्वलायन कहते हैं, वह जो सदा ही गोपनीय है। जिसे बता भी देते हैं, तो भी गोपनीय बनी रह जाती है।

यह बात थोड़ी समझने की है। क्योंकि अश्वलायन को सब कुछ पता है, जो भी कभी बताया गया है, वह महर्षि हैं, उन्हें मालूम है; लेकिन उस मालूम होने से भी तो उन्हें मालूम नहीं हुआ। सब मालूम है, फिर भी अज्ञान तो शेष ही रह गया। तो अश्वलायन को यह बात स्पष्ट खयाल में आ गयी होगी कि बता भी जो दिया जाता है, उससे भी वह बात पता तो नहीं चलती। सब शास्त्रों में उसे कहा है; सब मुनियों ने, ऋषियों ने उसे कहा है; फिर भी वह अनकहा रह जाता है। वह जिसे कहने की कोशिश की जाती है, वह छूट ही जाता है पीछे। और जो कहा जाता है, वह कुछ और ही हो जाता है। जैसे हम लकड़ी को पानी में डालें और डालते से वह तिरछी दिखायी पड़ने लगती है; होती नहीं, लेकिन तिरछी दिखायी पड़ने लगती है। ऐसे ही सत्य को शब्द में डाला कि वह तिरछा हो जाता है। शब्द के माध्यम में पड़ते ही तिरछा हो जाता है। और शब्द के अतिरिक्त कहने का कोई उपाय भी तो नहीं है।

तो कहते हैं जरूर, फिर भी छूट जाता है। कुछ छूट जाता है। और जो छूट

जाता है, वही सदा गोपनीय है। यहाँ गोपनीय का अर्थ नहीं है कि जिसे गुप्त रखना है। यहाँ गोपनीय का अर्थ है, जो गुप्त रह जाता है। यहाँ गोपनीय का अर्थ यह नहीं है कि इसे बताना मत। यहाँ गोपनीय का अर्थ है, जो बताया ही नहीं जा सकता है। बताना, जितना बन सके बताना, लेकिन जो पीछे रह जाए, वही ब्रह्मविद्या है। जो छूट जाए, जो न बताया जा सके। तब तो बड़ी कठिनाई है। क्योंकि अगर बताया ही न जा सके, तो फिर अश्वलायन पूछ भी लें और ब्रह्मा बता भी दें, तो भी कहाँ बताया जा सकेगा ?

यहाँ दूसरी बात ख्याल में ले लेनी जरूरी है।

शब्द से जो नहीं बताया जा सकता, वह किन्हीं और इशारों से, किन्हीं और रास्तों से इंगित किया जा सकता है। शब्द बहुत ही कमजोर माध्यम हैं। बहुत कमजोर माध्यम हैं।

कोई सारीपुत्त से पूछा है कि बुद्ध के पास तुमने कैसे सीखा ? तो सारीपुत्त ने कहा कि जो बुद्ध कहते हैं, वह सुना, लेकिन उससे सीखा नहीं। जो बुद्ध हैं, उसे सुना नहीं, लेकिन उससे सीखा। जो बुद्ध कहते हैं, वह एक बात है। जो बुद्ध स्वयं हैं, वह बिलकुल दूसरी बात है। तो बुद्ध ने जो-जो कहा है, वह सुना है; लेकिन बुद्ध जो-जो हैं, उसको उनके पास रह कर पिया है, जिया है। उनकी उपस्थिति को, उनकी मौजूदगी को स्पर्श होने दिया है, भीतर प्रवेश करने दिया है। वह जो गुह्य है, वह जो गोपनीय है, वह उपस्थिति से उपलब्ध होता है। लेकिन उस उपस्थिति को उपलब्ध करने के लिए, उस उपस्थिति को पी जाने के लिए हृदय के द्वार खुले होने चाहिए। बुद्ध आपके पास भी हों और आपके हृदय के द्वार बंद हों, तो पास नहीं हैं। और बुद्ध कितने ही दूर हों—– स्थान में या काल में—– लेकिन आपके हृदय के द्वार खुले हों, तो पास हैं।

ह्वेनसांग जब भारत आया, तो उसने चीन में एक भारतीय मंदिर की कथा सुन रखी थी। बहुत कारणों से भारत आया था, उसमें वह एक मंदिर भी था। उसने सुन रखा था कि कश्मीर की किसी घाटी में छिपा हुआ बुद्ध का एक मंदिर है, जहाँ बुद्ध की कोई प्रतिमा नहीं है। और जहाँ बुद्ध का कोई अवशेष नहीं है। जहाँ बुद्ध की कोई किताब नहीं है, कोई शास्त्र नहीं है। जहाँ बुद्ध का कोई भिक्षु नहीं है, कोई पुरोहित नहीं है। वह मंदिर एक गुफा में छिपी हुई एक सफेद दीवालमात्र है। लेकिन उस दीवाल के पास जो परम विनम्रता से बैठ जाता है और प्रतीक्षा करता है, तो बुद्ध उस दीवाल पर प्रगट हो जाते हैं। ह्वेनसांग बहुत कारणों से आया था। उसमें एक वह दीवाल भी है। क्योंकि बुद्ध को बीते तो बहुत समय बीत चुका था।

महर्षि तो ह्वेनसांग भी था। कहते हैं, चीन में उस समय वह बुद्ध-शास्त्र का जाननेवाला सबसे बड़ा पंडित था। चीन के सम्राट ने उसे आने की मनाही कर दी थी, क्योंकि वह इतना कीमती पंडित था कि चीन से बाहर जाए, न लौटे, न लौट पाए, तो चीन की महाहानि होगी। लेकिन ह्वेनसांग की पीड़ा वही थी, जो अश्वलायन की थी कि जानता वह सब था और फिर भी जानता कुछ नहीं था। क्योंकि बुद्ध का कोई संस्पर्श नहीं था। कोई भगवत्ता की प्रतीति नहीं हुई। कहीं से किरण प्रवेश नहीं पायी। सिवाय बुद्धि में शब्दों के आंदोलन के और कुछ भी नहीं हुआ। तो चीन से चोरी से ह्वेनसांग भागा।

सम्राट विपरीत था, सम्राट नाराज हो गया। तो सम्राट ने सेनाएँ लगा दीं कि ह्वेनसांग चीन के बाहर न निकल पाए। तो जान की जोखिम लेकर, कोई साथ देने को तैयार नहीं, चीन की सेनाओं के पहरों को बचाता हुआ, किसी तरह, बामुश्किल—– दो बार, तीन बार मरने के निकट पहुँच गया, पकड़ लिया गया; फिर किसीकी दया से, और बुद्ध का उसके लिए जो प्रेम और उसकी प्रार्थना कि मुझे पहुँच जाने दो उस देश में जहाँ बुद्ध चले हैं; जिन रास्तों से वे गुजरे, शायद उन रास्तों पर भी उनकी मौजूदगी की कुछ ध्वनि मौजूद हो; जहाँ उनके चरण पड़े, उस धूल पर मुझे बैठ जाने दो, लोट जाने दो, शायद उस धूल को उनकी खबर हो; क्योंकि शास्त्रों में तो मुझे उसकी खबर नहीं मिली; जिन वृक्षों के नीचे वे बैठे, मुझे उन वृक्षों के नीचे सो जाने दो, शायद वृक्ष ने उनकी उपस्थिति को आत्मसात कर लिया हो; तो बुद्ध के चरणों में जहाँ-जहाँ बुद्ध चले, उठे, बैठे, वहाँ चले जाने दो; उसके भाव को देख कर सैनिकों को भी दया आयी और उन्होंने उसे छोड़ दिया—– दुश्मनों से किसी तरह छूट कर वह चीन के बाहर हुआ, तो तुरसायन नाम के एक छोटे-से मुल्क में प्रवेश किया, वहाँ का सम्राट उससे इतना प्रभावित हुआ कि उस सम्राट ने उसके चरण पकड़ लिये, शिष्य हो गया और कहा कि अब तुम्हें यहाँ से जाने न दूँगा।

तो ह्वेनसांग ने प्रार्थना की है कि हे परमात्मा, किसी तरह शत्रुओं से छूट गया, लेकिन अब मित्र से कैसे छूटूँगा ? और उस शिष्य ने कहा कि कुछ भी हो जाए, अब इस महल के बाहर तुम्हें न जाने दूँगा। तुम्हारे बिना अब मैं न जी सकूँगा। ह्वेनसांग ने जिद्द की तो उसने चारों तरफ पहरे लगा दिये। चरणों में बैठता था, ह्वेनसांग जब चढ़ता था सिंहासन पर बैठने के लिए तो वह नीचे लेट जाता था, सीढ़ी बन जाता था—– उस पर पैर रखकर ही ह्वेनसांग को सिंहासन पर बैठकर प्रवचन करना पड़ता था, ऐसी उसकी विनम्रता थी; लेकिन ऐसा उसका मोह था कि अंत में जब ह्वेनसांग नहीं माना तो उसने कहा कि तुम्हारा यह विनम्र

शिष्य कहता है कि चाहे कुछ भी हो जाए, तुम्हें यहाँ से जाने की आज्ञा नहीं। चार दिन ह्वेनसांग भूखा, बिना पानी पीये, आँख बंद किये बैठा रहा। बुद्ध से प्रार्थना करता रहा कि अब मेरे बस के बाहर दिखता है, अब तुम्हीं बुला लो तो कोई रास्ता है।

तुरसायन का सम्राट पिघला। ह्वेनसांग भारत आया।

वह उस मंदिर में पहुँचा। अब तो वह मंदिर खो गया; लेकिन ह्वेनसांग उस मंदिर में पहुँचा। उस मंदिर की कथा थी कि वहाँ जो जाता है, वापिस नहीं लौटता। इसलिए लोग वहाँ जाते नहीं थे। दूर छिपी घाटी में वह मंदिर-- मंदिर कैसा, एक दीवाल थी। सफेद दीवालमात्र। वर्षों से वहाँ कोई गया नहीं था। ह्वेनसांग ने कहा कि उस दीवाल के सामने मिट जाऊँ, इससे और बड़ा होना क्या हो सकता है। गया, बामुश्किल उसे खोज पाया, क्योंकि कोई रास्ते नहीं थे। जहाँ वर्षों से कोई न गया हो, वहाँ की पगडंडियाँ खो गयी थीं। लेकिन वह पहुँच गया।

एक सप्ताह वह वहाँ था। छाती पीटता है, रोता है, लोटता है, उस दीवाल के सामने चिल्लाता है, चीखता है कि प्रगट हो जाओ। फिर उसका गला रुँध जाता है, फिर उसके आँसू भी सूख जाते हैं, फिर उसका रुदन भी नहीं निकलता। फिर वह बैठा ही रह जाता है और रोता है। भीतर ही रोता है, प्राण रोते हैं, आँसू भी नहीं बहते, आवाज भी नहीं निकलती, लेकिन बस एक ही आशा है कि प्रगट हो जाओ। चौथे दिन सिर्फ ऐसा लगा जैसे एक छोटी-सी बदली-जैसा आकार दीवाल पर गुजर गया है। फिर उसकी आशा बहुत बढ़ गयी। फिर तो वह न रात सोता था, न दिन सोता था, पता नहीं कब वह आकार प्रगट हो जाए। और कहीं मैं सोने में न चूक जाऊँ।

सातवें दिन बुद्ध का आकार उस दीवाल पर प्रगट हुआ। ह्वेनसांग तृप्त हुआ। रूपांतरित हुआ। बदल गया। दूसरा आदमी हो गया। हजारों साल बीत गये बुद्ध को हुए, दीवाल पर बुद्ध की एक छबि का आ जाना-- और वह छबि बुद्ध से नहीं आती, ह्वेनसांग के मन से ही आती है-- लेकिन इतनी प्यास से, इतने समर्पण से समय का फासला टूट जाता है और ह्वेनसांग अनुभव करता है कि वह बुद्ध के निकट है। हजारों वर्ष गिर जाते हैं। हजारों मील का फासला टूट जाता है। कोई फासला नहीं रह जाता। यह निकटता की प्रतीति कि बुद्ध के निकट हूँ, उनकी आकृति के ही निकट हूँ, उसको रूपांतरित कर जाती है। जो उसने शास्त्रों से नहीं जाना था, वह इस निकटता से जान लेता है। और दीवाल थी सिर्फ सफेद!

मैं यह कह रहा हूँ कि अगर बुद्ध के पास आप हों और आपका हृदय का

द्वार न खुला हो, तो आप सफेद दीवाल के पास हैं। और अगर आपके हृदय का द्वार खुला हो तो सफेद दीवाल के पास भी आप बुद्ध के पास हो सकते हैं। जानने की जो गहनतम घटना घटित होती है, वह शब्दों से नहीं, सान्निध्य से।

'अश्वलायन ने कहा है, वह गोपनीय मार्ग मुझे बताइये, जो सदा ही गुप्त है। उस श्रेष्ठ मार्ग पर मुझे ले चलिये, संतजन जिस पर सदा से चलते आए हैं। और जिसके माध्यम से विद्वानों ने अपने पूर्वकृत दोषों को निवृत्त करके परम ब्रह्म को पा लिया है।

इस पर ब्रह्मा ने कहा, उस परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिए श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग का आश्रय चाहिए।'

यह चार शब्द हम थोड़े समझ लें।

श्रद्धा पहली बात कही। श्रद्धा का क्या अर्थ है? शब्द तो हमारा परिचित है, लेकिन श्रद्धा का सार बिलकुल अपरिचित है। श्रद्धा बहुत जटिल घटना है। बहुत जटिल है। जटिल इसलिए कि हमें खयाल भी नहीं होता है कि श्रद्धा का क्या अर्थ होगा। तो दो-तीन कोनों से हम इसे समझें।

एक, जिसे हम मान सकते हैं, उसे मान लेने में श्रद्धा नहीं है। जिसे हमारी बुद्धि स्वीकार कर सकती है, उसे स्वीकार करने में श्रद्धा नहीं है। जिसे हमारा तर्क समर्थन दे सकता है, उसमें श्रद्धा कर लेने में श्रद्धा नहीं है। जिसे हमारी बुद्धि मानने को राजी नहीं होती, जिसे हमारा तर्क स्वीकार करने को राजी नहीं होता, जिसे संभव मानना भी असंभव लगता है, उसके लिए राजी हो जाने का नाम श्रद्धा है। असंभव की स्वीकृति श्रद्धा है। इसलिए श्रद्धा कठिनतम दुस्साहस है।

कीर्कगार्ग से कोई पूछता है कि तुम्हें परमात्मा पर श्रद्धा है, इसका कारण? तो कीर्कगार्ग ने कहा है, अगर कारण ही मुझे पता होता, तो श्रद्धा की क्या जरूरत थी? अगर कारण ही मुझे पता होता, तो श्रद्धा की क्या जरूरत थी? और परमात्मा न करे कि मुझे कारण पता चल जाए, क्योंकि जिस दिन कारण मुझे पता चल जाएगा उसी दिन श्रद्धा गिर जाएगी। कारण मुझे पता नहीं है। और कीर्कगार्ग ने कहा, कारण किसीको भी पता नहीं है। लेकिन जब तक आदमी कारण के भीतर जीता है, तब तक बुद्धि के भीतर जीता है। जब अकारण के साथ जुड़ता है, तो श्रद्धा शुरू होती है।

ईश्वर को मानने का कोई भी तो कारण दिखायी नहीं पड़ता। अगर कारण ही खोज रहे हैं तो विज्ञान हर चीज के कारण बता देता है। अगर कारण ही खोजने हैं, तो धर्म की कोई भी जरूरत नहीं, दर्शनशास्त्र काफी है। वह सब कारण बता देगा। लेकिन सब कारण ज्ञात हो जाएँ, तब भी इन सब कारणों का होना

बिलकुल अकारण मालूम पड़ता है। मैं हूँ, यह बिलकूल अकारण है। मुझे यह भी पता चल जाए कि मेरे पिछले जन्मों के कारण हूँ, तो पिछले जन्म का कोई कारण नहीं मिलता। मैं कितना ही पीछे चलता जाऊँ, हर पिछले जन्म को कारण बताता चला जाऊँ, तो भी मेरे जन्मों की यह शृंखला बिलकुल अकारण है।

यह वृक्ष क्यों है? पता चल जाए कि बीज बोया गया था; लेकिन बीज? हम सिर्फ कारण को पीछे हटा रहे हैं। फिर बीज किसी वृक्ष में था, और फिर वृक्ष किसी बीज में था, और यह शृंखला अनंत है। लेकिन यह शृंखला क्यों है? यह बहुत मजे की बात है कि कारण केवल शृंखला में ले जाते हैं। जैसा मैंने कहा कि विज्ञान अज्ञान को एक कदम आगे हटाता है, ऐसे ही कारण की खोज अज्ञान को एक कदम पीछे हटाती है। तो कारण मिल जाता है, एक कदम पीछे; फिर वहीं-की-वहीं बात खड़ी हो जाती है। लेकिन जीवन की समस्त शृंखला बिलकुल अकारण है। फिर भी है। जो अकारण है, वह भी है। इसके होने के साथ जो प्रेम का संबंध है, उसका नाम श्रद्धा है। जो अकारण है, उसके साथ प्रेम का संबंध श्रद्धा है।

पहला सूत्र श्रद्धा ही का है। धर्म का प्रारंभ ही नहीं होता श्रद्धा के बिना। और जहाँ तक श्रद्धा नहीं होती, वहाँ तक और सब कुछ हो सकता है, धर्म नहीं होता। इसलिए धर्म इस जगत में सबसे बेबूझ घटना है। और धार्मिक होना इस जगत की आँखों में पागल होने के बराबर है। धार्मिक होना इस जगत की आँखों में पागल होने के बराबर है। इसलिए पागल होने से कम की तैयारी हो, तो कोई धार्मिक नहीं हो पाता। श्रद्धा बिलकुल पागलपन है। श्रद्धा का अर्थ ही यह है, हम एक छलाँग लेते हैं। जहाँ तर्क चुक जाते हैं, हम वहाँ भी एक छलाँग लेते हैं। जहाँ रास्ता समाप्त हो जाता है, वहाँ भी हम एक छलाँग लेते हैं।

इसे थोड़ा समझें।

तर्क क्रमबद्ध होता है। श्रद्धा छलाँग है। तर्क क्रमबद्ध होता है। तर्क पिछली घटना से जुड़ा होता है। तर्क सदा ही पीछे जुड़ा होता है। तर्क कहता है कि कोई चीज क्यों है? कारण खोज लेता है। कारण मिल जाता है। श्रद्धा कहती है, कोई चीज है और क्यों के लिए कोई उत्तर नहीं है, बस है। इसलिए अगर बहुत तार्किक व्यक्ति हो, तो सामान्य प्रेम में भी नहीं उतर पाता है। क्योंकि प्रेम के लिए कोई कारण नहीं मिलता। और प्रेम के लिए जितने कारण लोग खोजते हैं, वह सब पीछे खोजे गये होते हैं। प्रेम पहले घट जाता है, फिर आदमी पीछे कारण खोज लेता है।

किसीको देखा है और भीतर कोई तरंग उठ आती है, प्रेम घट जाता है। लेकिन आदमी बुद्धिमान है। तो बिना बुद्धि के तो वह प्रेम भी नहीं कर सकता।

तो फिर वह कारण खोजता है; कि इस व्यक्तित्व में यह कारण है— चेहरा सुंदर है, कि आचरण ऐसा है.... फिर वह कारण खोजता है। लेकिन कारण खानापूरी है। प्रेम पहले घट जाता है, कारण पीछे चले आते हैं। फिर हम कारणों को पहले रख लेते हैं और प्रेम को पीछे मानते हैं। लेकिन प्रेम की घटना ऐसे घटती है जैसे गाड़ी पहले आ जाए और बैल पीछे। फिर हम व्यवस्था जमा लेते हैं, बैल को आगे कर लेते हैं, गाड़ी को पीछे कर लेते हैं। फिर सब ठीक चल पड़ता है।

लेकिन इस जगत में जो भी महत्त्वपूर्ण है, अकारण घटता है। लेकिन जिन्हें प्रेम ही कभी न हुआ हो, उन्हें श्रद्धा बहुत मुश्किल हो जाएगी। क्योंकि प्रेम जैसी सामान्य घटना भी जिनके जीवन में न घटी हो, श्रद्धा जैसी असामान्य घटना बिलकुल न घट सकेगी। प्रेम का अर्थ है, दो व्यक्तियों के बीच असंभव का घट जाना। प्रेम का अर्थ है, दो व्यक्तियों के बीच असंभव की छलाँग हो जाना। और श्रद्धा का अर्थ है, व्यक्ति और समष्टि के बीच असंभव का घट जाना। मेरे और किसीके बीच जब घटता है— वही घटना— तो उसका नाम प्रेम है।

इसलिए प्रेम की सीमा है, श्रद्धा की कोई सीमा नहीं। इसलिए प्रेम चुक जाता है, श्रद्धा नहीं चुकती। इसलिए प्रेम होता है, खिलता है, मुरझाता है, लेकिन श्रद्धा नहीं मुरझाती। प्रेम क्षणिक ही है, वे क्षण कितने ही लंबे हो जाएँ, लेकिन श्रद्धा शाश्वत है। इसलिए जो प्रेम में शाश्वत को खोजता है, वह गलत जगह खोजता है। उसे श्रद्धा में शाश्वत को खोजना चाहिए।

श्रद्धा...., भक्ति दूसरा सूत्र कहा है। श्रद्धा तो अंतर्घटना है, भक्ति उसकी अभिव्यक्ति है। श्रद्धा तो भीतर घटती है। श्रद्धा तो अंतस्-अनुभव है। एक व्यक्ति को श्रद्धा घट गयी, उसे अनहोने, अपरिचित, रहस्यपूर्ण अस्तित्व के प्रति वह भाव आ गया जिसे हम प्रेम कहते हैं, उसे पत्थर और पौधे में और तारे में प्रेमी दिखायी पड़ने लगा। उस परम मित्र के दर्शन होने लगे, या उस परम प्रेयसी का अनुभव होने लगा जो सब जगह छिपी है, यह जो श्रद्धा है, भक्ति इसकी अभिव्यक्ति है।

वैसा व्यक्ति अब....अब जहाँ भी उठेगा, बैठेगा, जो भी करेगा, उस सब में उसकी श्रद्धा प्रगट होगी। सबमें। वह जो प्रगट होना है, वह भक्ति है। वह अगर एक वृक्ष के पास भी जाएगा तो उसे नमस्कार करके ही बैठेगा। पागलपन है! पागलपन तो घट गया। अगर श्रद्धा की घटना घट गयी, तो वह वृक्ष को भी नमस्कार करके ही बैठेगा। अगर वृक्ष ने उसे छाया दी है, तो धन्यवाद देकर ही उठेगा।

अभी एक बहुत-बहुत हैरानी की घटना पश्चिम के विज्ञान में घट रही है।

एक रशियन वैज्ञानिक और एक अमेरिकन वैज्ञानिक, दोनों ने अलग-अलग मार्गों से एक बहुत हैरानी का सूत्र खोजा है। वह मैं आपसे कहना चाहूँगा। यह दोनों वैज्ञानिक अलग-अलग, अपरिचित एक-दूसरे से, एक प्रयोग कर रहे थे कि आदमी के भीतर जो भी भावदशा होती है, क्या उस भावदशा को नापा जा सकता है? थोड़े प्रयोग सफल हुए हैं। अगर एक आदमी अचानक भय से भर जाए, तो उसके हृदय की धड़कन बदल जाती है। उसकी श्वाँस की गति बदल जाती है। उसकी नाड़ी की गति बदल जाती है। उसकी पसीने की ग्रंथियाँ अलग तरह से काम करने लगती हैं। उसके शरीर का रस-स्राव बदल जाता है। उसके रासायनिक परिवर्तन शुरू हो जाते हैं। और वैज्ञानिक अब जानते हैं कि शरीर के भीतर बहती हुई जो विद्युत है, जिसे हम प्राण कहते हैं, उसकी तरंगों में भी परिवर्तन तत्काल हो जाता है। यह सब नापा जा सकता है। अब वैसे यंत्र उपलब्ध हैं, जिनसे नापा जा सकता है।

आप बताएँ मत, आप बैठे हैं और अचानक आप की छाती पर एक बंदूक लाकर लगा दी गयी है, तो आपके शरीर से यंत्र तारों से जुड़ा है, वह यंत्र बता देगा कि आप कितने भय से भर गये हैं। लेकिन तभी जो बंदूक लाया है वह हँसने लगा और उसने कहा कि मैंने मजाक किया, तो यंत्र फौरन बता देगा कि भय विलीन होता जा रहा है, शिथिल होता जा रहा है। विद्युत और रासायनिक प्रक्रियाएँ अपने पुराने ढाँचे पर वापिस लौटती हैं। अगर आप का प्रेमी कमरे के भीतर आ गया है, तो आपके भीतर जो परिवर्तन होते हैं, वह यंत्र बता देगा।

इन वैज्ञानिकों को यह खयाल आया कि आदमी में तो ठीक है, लेकिन क्या पशुओं में भी नापा जा सकता है? तब तो हम पशुओं में भी प्रवेश कर सकते हैं। अभी तक पशुओं से हमारी कोई मुलाकात नहीं हो पाती। उनके भीतर क्या होता है, हमें पता नहीं। लेकिन जब आदमी नापा जा सका, तो फिर पशु भी नापे गये और पाया गया कि पशु तो और भी सुनिश्चितता से नापे जा सकते हैं। क्योंकि उनके परिवर्तन और भी स्पष्ट होते हैं। अचानक इन वैज्ञानिकों को खयाल आया, क्या पौधों को भी नापा जा सकता है? क्या पौधों में भी कोई परिवर्तन होते होंगे? भरोसा नहीं था। सिर्फ जानने के लिए प्रयोग किये और हैरान हो गये।

और हैरान हो गये, रखा हुआ है एक पौधा—गुलाब का पौधा रखा हुआ है, उसकी शाखाओं से तार बँधे हुए हैं बिजली के जो कि यंत्र को खबर देते हैं कि पौधे में क्या हो रहा है; और वह वैज्ञानिक काटने की मशीन लेकर पौधे के पास आया, सोचता था कि काटें, तभी उसकी दृष्टि गयी पास में रखे हुए यंत्र पर, यंत्र की सुई तेजी से घूम रही थी—भय की तरफ। तो वह घबड़ा गया। काटता, तब

उसने सोचा था कि पौधे में कुछ होगा। लेकिन पौधे के पास काटने का इंतजाम लाया था सिर्फ अभी, लेकिन काटने का भाव था भीतर। क्या पौधे को भाव की खबर लगती है? और हैरानी की बात है कि पौधे ने जितने तेजी से सूचनाएँ दीं, वह पशु से भी ज्यादा स्पष्ट। तब तो इस वैज्ञानिक ने सैकड़ों प्रयोग किये, क्योंकि भरोसा उसे अपनी आँख पर नहीं आया कि मेरा भाव, बिना कुछ किये और पौधे को प्रभावित करता होगा, और पौधे के प्राणों में रूपांतरण हो जाता है।

तब उसने एक और अनूठा प्रयोग किया और वह यह कि पौधा यह रखा हुआ है, इस पौधे को नहीं काटना है उसे, काटने के लिए दूसरा पौधा रखा हुआ है, और इस पौधे के यंत्र से संबंध जुड़े हैं, लेकिन दूसरे पौधे को काटने गया, तो भी इस पौधे ने खबर दी कि वह भयभीत हो गया है और दुखी और पीड़ित हो गया है। और उसके भीतर रासायनिक-परिवर्तन हुए।

ये तो विज्ञान के यंत्र से पकड़ी हुई बातें हैं। श्रद्धा के तंत्र से भी यह अनुभव पकड़े गये हैं। श्रद्धावान ने भी एक-एक पत्ते में, एक-एक पत्थर में उस परम प्राण को अनुभव किया है। भक्ति उसकी अभिव्यक्ति है। ऐसा व्यवहार इस जगत के साथ, जैसा यह सारा जगत मेरा प्रेमी है। इस अस्तित्व के साथ ऐसा व्यवहार, जैसे इससे एक अंतर्मैत्री है। तो एक आदमी पौधे के पास पूजा का थाल लिये हुए पूजा कर रहा है, तो हमें पागलपन लगता है। लगेगा, क्योंकि हमें उस तंत्र का कोई पता नहीं है। और हो सकता है उसे भी पता न हो, वह भी सिर्फ परंपरागत किये जा रहा हो। तब वह बिलकुल नासमझी है। एक आदमी नदी को हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहा है, तो बिलकुल पागलपन है। लेकिन अगर परंपरागत ही कर रहा हो तो आप ठीक हैं, और अगर हार्दिक कर रहा हो, तो आप बिलकुल गलत हैं। एक नदी से भी यह संबंध हो सकता है। एक पौधे से भी यह संबंध हो सकता है। एक पत्थर की मूर्ति से भी यह संबंध हो सकता है। यह संबंध कहीं भी हो सकता है। और एक दफा श्रद्धा का जन्म हो, तो भक्ति अनिवार्य छाया की तरह उसके पीछे चली आती है।

ऋषि ने भक्ति के बाद ध्यान को रखा है। अगर भक्ति हृदय में हो, तो मन को ध्यान में ले जाना इतना सुगम है जिसका कोई हिसाब नहीं। श्रद्धा भीतर हो, तो भक्ति छाया की तरह आ जाती है। श्रद्धा भीतर हो, भक्ति छाया की तरह आती हो, तो ध्यान सुगंध की तरह पीछा करता है। ध्यान में हमें कठिनाई होती है, क्योंकि न श्रद्धा है, न भक्ति है, तो ध्यान हमें सीधा ही करना पड़ता है। सीधा करने में तकलीफ होती है। क्योंकि तब ध्यान में हमें बहुत ताकत लगानी पड़ती है। फिर भी उतने परिणाम नहीं होते; क्योंकि बहुत मौलिक दो आधार

नहीं हैं।

जो सारे अस्तित्व के साथ प्रेम से भरा है, और जिसका उठना-बैठना, जिसकी आँख की पलक का हिलना, जिसकी मुद्रा, सब इस जगत के प्रति भक्ति से भरी है, उसे ध्यान में जाने में क्षण-भर की भी देर न लगेगी। उसे ख्याल भर आ जाए कि ध्यान, और ध्यान हो जाए। क्योंकि यहाँ कोई संघर्ष ही न रहा। कोई तनाव न रहा। तनाव तो वहाँ है जहाँ जगत शत्रु है। तनाव तो वहाँ है जहाँ अस्तित्व मेरा विरोधी है। तनाव तो वहाँ है जहाँ एक लड़ाई चल रही है, जीवन एक. . . . एक युद्ध है। तनाव नहीं होगा, भक्त ध्यान में ऐसे ही चला जाता है।

इसलिए भक्तों ने तो यहाँ तक कहा है कि क्या ध्यान, क्या योग ! उसका कारण है। भक्तों ने कहा क्या ध्यान, क्या योग, भक्ति काफी है। वह ठीक कहते हैं। वह ठीक इसलिए कहते हैं-- इसलिए नहीं कि ध्यान का कोई मतलब नहीं-- इसलिए कि ध्यान तो उन्हें सहज हो जाता है। एक मीरा नाचती है और ध्यान में चली जाती है। उसने ध्यान का कोई प्रयोग कभी सीखा नहीं। एक चैतन्य अपने कीर्तन में हैं और ध्यान में चले जाते हैं। उन्हें पता ही नहीं कि ध्यान !

चैतन्य के साथ बड़ी मजेदार घटना घटी है। चैतन्य ने सुना कि एक बड़ा योगी गाँव के पास ठहरा हुआ है और लोग उसके पास जाते हैं, ध्यान सीखते हैं। तो चैतन्य ने कहा, मैं भी जाऊँ और ध्यान सीखूँ। तो चैतन्य उस योगी के पास ध्यान सीखने गये। हैरान हुए बहुत, क्योंकि जब चैतन्य पहुँचे तो वह योगी चैतन्य के चरणों में सिर रखकर लेट गया। तो चैतन्य ने कहा, यह क्या करते हो? यह क्या करते हो? मैं तो तुमसे ध्यान सीखने आया हूँ। मैंने तो सुना कि ध्यान अनेक लोग सीखते हैं, तो मैं भी सीख आऊँ। तो उस योगी ने कहा, अगर ध्यान ही सीखना था, तो भक्ति के पहले आना था। ध्यान में तो तुम हो, लेकिन तुम्हें पता भी नहीं। भक्त को पता भी नहीं होगा कि वह ध्यान में है। क्योंकि ध्यान उसके लिए 'बाइप्रॉडक्ट' है, पीछे आती है, श्रद्धा और भक्ति का सहज फल होता है।

सबसे आखीर में रखा है योग। जिसे ध्यान सध जाता है, उसके पीछे योग चला आता है। हम सब उल्टे चलते हैं। लोग योग से शुरू करते हैं, फिर ध्यान करते हैं। फिर सोचते हैं कोई तरह से खींचतान कर भक्ति लाओ, फिर आखीर में किसी तरह श्रद्धा बन जाए। जिस व्यक्ति का मन ध्यान में चला जाता है, उसका शरीर योग में चला जाता है। योग शरीर की घटना है, ध्यान मन की।

इसे हम ऐसा समझें। श्रद्धा 'कॉस्मिक' है, ब्रह्मभाव है। भक्ति आत्मिक है, व्यक्तिभाव है। ध्यान मानसिक है। योग शारीरिक है। हम शरीर से शुरू करते हैं, फिर मन पर जाते हैं, फिर आत्मा पर, फिर ब्रह्म पर। ऋषि ने कहा है, पहले

ब्रह्म के प्रति श्रद्धा, फिर आत्मा में भक्ति, फिर मन में ध्यान, फिर शरीर में योग। ऐसा कोई चलेगा तो हर दूसरा चरण सहज होता है। उल्टा कोई चलेगा, तो हर दूसरा चरण और भी कठिन होता है। योग से जो शुरू करेगा, उसे ध्यान और कठिन होगा। इसलिए आमतौर से ऐसा होता है कि योग से शुरू करनेवाले योग पर ही रुक जाते हैं। आसन वगैरह करके निपट जाते हैं, ध्यान तक नहीं पहुँच पाते हैं। ध्यान से शुरू करेगा, तो भक्ति कठिन होगी। इसलिए ध्यान करनेवाले अक्सर ध्यान पर रुक जाते हैं, भक्ति तक नहीं पहुँच पाते हैं। भक्ति से जो शुरू करेगा, अक्सर भक्ति पर रुक जाएगा। उस परम श्रद्धा तक भी नहीं पहुँच पाएगा। यह आंतरिक केंद्र से यात्रा की शुरुआत है--श्रद्धा केंद्र से; दूसरी परिधि भक्ति, फिर तीसरी परिधि ध्यान, फिर चौथी परिधि योग। ध्यान में गया मन, शरीर अपने-आप योग में प्रवेश कर जाता है।

बहुत लोग मेरे पास आ कर कहते हैं कि जब हम ध्यान करते हैं, तो न-मालूम कैसे-कैसे आसन अपने-आप शुरू हो जाते हैं। वे हो जाएँगे; जब मन, भीतर स्थान की स्थिति बदलेगी, तो शरीर को तत्काल स्थिति बदलनी पड़ेगी और मन के अनुकूल अपने को सँभालना पड़ेगा।

यह चार सूत्र बहुमूल्य हैं। इनकी शृंखला सर्वाधिक बहुमूल्य है। श्रद्धा से प्रारंभ करें।

सुबह के लिए इतना ही।

अब हम ध्यान के लिए तैयार हों। दूर-दूर फैल जाएँ। आसपास जगह बना लें। और कोई अपनी जगह से भागें नहीं। यहाँ-वहाँ दौड़कर दूसरों को धक्का न दें। अपनी जगह पर ही कूदें। दूर-दूर फैल जाएँ। जो मित्र देखने आ गये हों वह चट्टान पर बैठ जाएँ, यहाँ बीच में न रहें। कोई देखनेवाला बीच में न रहे, सिर्फ करनेवाले रहें। किन्हीं मित्रों को शांति से बैठकर रहना हो, वे भी दूर हटकर बैठ जाएँ और करें। पट्टियाँ आ गयी हैं, जिन मित्रों को चाहिए, वे ले लें। किसीको भी ऐसा लगे कि वस्त्र अलग कर देने हैं, वह कर सकता है। ठीक है, आँख पर पट्टियाँ बाँध लें।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥ ३ ॥

उस परमतत्त्व को धन, संतान अथवा कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। त्याग ही एक ऐसा मार्ग है, जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञानियों ने अमृतत्व को प्राप्त किया है। स्वर्गलोक से ऊपर हृदय की गुफा ब्रह्मलोक में स्थित वह परमतत्त्व आलोकित है, जिसे निष्ठावान साधक ही प्राप्त कर सकते हैं ॥ ३ ॥

तीसरा प्रवचन; माउंट आबू, २६ मार्च १९७२, रात्रि

हृदय-गुहा में प्रवेश : विराट अस्तित्व में प्रवेश

मृत्यु मनुष्य को घेरे हुए है, चारों ओर, सब दिशाओं में। कहीं भी मनुष्य चले, अंततः मृत्यु को उपलब्ध हो जाता है। चाहे हम सोचें, चाहे न सोचें; ....यह कौन मित्र बात कर रहे हैं वहाँ, बात बंद करें.... चाहे सोचें हम, चाहे न सोचें; चाहे सचेतन हो हमारा मन, या न हो, मृत्यु का भय प्रतिपल खड़ा रहता है। वस्तुतः शेष सारे भय मृत्यु के ही भय की छाया हैं।

चाहे कोई निर्धनता से डरता हो, चाहे कोई बीमारी से डरता हो; और चाहे अपयश से डरता हो, असफलता से डरता हो, लेकिन समस्त भय के पीछे, गहरे में मृत्यु का ही भय खड़ा हुआ है। निर्धनता से इसलिए मन डरता है कि धन होगा, तो मृत्यु से सुरक्षा की जा सकती है। असफलता से इसलिए मन डरता है कि सफलता होगी, तो शायद हम सबल होंगे और मृत्यु से लड़ सकेंगे।

मृत्यु का भय एक पहलू है जीवन के सिक्के का। और दूसरा पहलू है जीवन को पकड़ रखने की तीव्र लालसा। जिस मात्रा में लालसा तीव्र होती है कि जीवन को हम पकड़ रखें, उसी मात्रा में भय भी तीव्र हो जाता है कि जीवन कहीं हमारे हाथ से छूट न जाए। जितनी होती है पकड़, उतना ही भय भी हो जाता है।

यह मृत्यु का भय मनुष्य को न-मालूम कितने प्रयत्नों में ले जाता है। जीवन भर हम जीते कम हैं, मृत्यु से बचने के उपाय ज्यादा करते हैं। शायद जीने का अवसर ही नहीं मिल पाता। मृत्यु से भय इस बुरी तरह छिदा रहता है हृदय में कि हृदय में जीवन का फूल भी खिले तो कैसे खिले। दौड़ते हैं, भागते हैं, धन कमाते हैं, यश कमाते हैं, दीवालें बनाते हैं, तिजोड़ियाँ निर्मित करते हैं, सुरक्षा का इंतजाम करते हैं, सिर्फ इसलिए कि कहीं मिट न जाएँ। और फिर भी मिट तो जाते हैं। सब उपाय पड़े रह जाते हैं। सब आयोजन व्यर्थ हो जाता है। सब प्रयत्न, सब प्रयास, सब चेष्टाएँ शून्य सिद्ध होती हैं। और मृत्यु द्वार पर एक दिन आ ही जाती है।

अरबों-खरबों लोगों ने मृत्यु से लड़कर ऐसे ही जीवन को नष्ट किया है। फिर भी हम भी वैसा ही करते हैं। बिना यह खयाल किये कि जिस मृत्यु से हम लड़ रहे हैं, उससे कभी भी कोई जीत नहीं सका है। कैसे ही उपाय किये हों। कोई सोचता है कि मैं तो मर जाऊँगा, लेकिन मेरी संतान तो रहेगी। तो व्यक्ति संतान को सँभालता है। जिनके बेटे नहीं हैं, वे पीड़ित होते हैं कि हमारे साथ ही हमारी शृंखला टूट जाएगी। तो बेटे हैं, तो मैं मर जाऊँगा कोई चिंता नहीं, लेकिन किसीके द्वारा मैं जीता रहूँगा। किसी में मेरा कोई अंश जीवित रहेगा। संतति में भी आदमी मृत्यु से बचाव ही खोजता है। मैं तो मर जाऊँगा, लेकिन मेरा कोई हिस्सा जीवित रहेगा, तो भी एक अर्थ में मैं अमर हुआ। नहीं, कोई संतान में खोजता है, तो कोई व्यक्ति अमर कृतियों में खोजता है।

एक चित्रकार सोचता है, मैं मिट जाऊँगा, मेरे चित्र तो रहेंगे। मूर्तिकार सोचता है, मैं मिट जाऊँगा, मेरी मूर्ति तो रहेगी। संगीतज्ञ सोचता है, मैं मिट जाऊँगा, लेकिन मेरा संगीत रहेगा। यह भी अमरता को खोजने की विधियाँ हैं। लेकिन जब मैं ही मिट जाऊँगा, मैं पूरा-का-पूरा मिट जाता हूँ, मेरा जो अंश है, मेरी जो संतान है, वह भी कितनी देर बच सकेगी? और जब मैं ही मिट जाता हूँ, तो मेरा चित्र, मेरी बनायी मूर्ति और मेरे हाथ से निर्मित साहित्य और मेरा काव्य, वह भी कितनी देर बच सकेगा? वह भी मिट जाएगा।

वस्तुतः इस जगत में, समय की धारा में जो भी पैदा होता है, वह मिटेगा ही। समय के भीतर मृत्यु सुनिश्चित घटना है। समय के भीतर मृत्यु होगी ही। समय में जो भी घटेगा, वह मिटेगा ही।

असल में बनना और मिटना एक ही चीज के दो छोर हैं। जब कोई चीज बनती है, तो मिटना शुरू हो जाता है। और जब कोई जन्मता है, तो मृत्यु की यात्रा शुरू हो जाती है। जब प्रारंभ हो गया, तो अंत भी होगा ही। वह अंत कितनी देर से होगा, यह गौण है। इसका मूल्य भी नहीं। कितनी ही देर से हो, लेकिन अंत होगा ही। बुद्ध ने कहा है, फिर मैं सात वर्ष में मरूँ, कि सत्तर वर्ष में, इससे कोई बहुत फर्क नहीं पड़ता। जब मैं मरूँगा ही, तो जन्म के साथ ही मेरे भीतर मृत्यु का बीज भी आ ही गया। कितनी देर, यह गौण है। और देर में भी मैं क्या करूँगा? अगर मृत्यु पीछे खड़ी ही है, तो कोई सात वर्ष मृत्यु से भयभीत होकर जिएगा, कोई सत्तर वर्ष, कोई सात सौ वर्ष, लेकिन इस जीने में हम करेंगे क्या? जब द्वार पर मृत्यु निरंतर खड़ी ही हो, और किसी भी क्षण घटित हो सकती हो, तो यह जीवन एक कँपता हुआ जीवन होगा।

महावीर ने कहा है कि जैसे ओस की बूँद घास के पत्ते पर सुबह पड़ी हो,

हवा के झोंके में कँपती हो, कितनी देर सधी रहेगी? कितनी देर हवा के झोंकों से बचेगी? कितनी देर अपने को सँभालेगी घास की पत्ती की नोक पर? गिरेगी ही। अभी, थोड़ी देर बाद, कभी, गिरेगी ही। महावीर ने कहा है, आदमी का जीवन भी ऐसा ही पत्ते की नोक पर सधी हुई ओस की बूँद के जैसा है। अभी, अभी, अभी गिरता ही है। गिर ही जाएगा।

आदमी ने जितने भी उपाय किये हैं अमृत को पाने के, वे सभी निष्फल जाते हैं। सिर्फ एक उपाय निष्फल नहीं गया है, इस सूत्र में उसकी चर्चा है—

'उस परम तत्त्व को धन, संतान अथवा कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। त्याग ही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञानियों ने अमृत को प्राप्त किया है। स्वर्गलोक से भी ऊपर हृदय की गुफा में स्थित वह परम तत्त्व आलोकित है, जिसे निष्ठावान साधक ही प्राप्त कर सकते हैं।'

इस सूत्र में कुछ बातें समझें।

वह जो अमृत है, वह जो जीवन की गहन पिपासा है उसे पा लेने की जो कभी नष्ट न हो, जो कभी मिटे नहीं—जो मिट ही जाता है, उसे पा कर भी क्या करेंगे! उसे पा भी लिया तो क्या पाया! जो हाथ में आकर छूट ही जाएगा, उसके हाथ में आने की घटना का मूल्य क्या है! जो मुझे मिलेगा, मिल भी नहीं पाएगा और बिछुड़ भी जाएगा, उसके लिए जो मैंने श्रम किया वह व्यर्थ ही गया।

इसलिए ब्रह्मज्ञानी कहते ही हम उस व्यक्ति को हैं, जो उसकी खोज कर रहा है जो मिलेगा तो फिर मिला ही रहेगा। जिसके मिलन में फिर बिछोह नहीं। और जिसका प्रारंभ तो है लेकिन जिसका अंत नहीं। यह बड़ी कठिन बात है। क्योंकि जिसका भी प्रारंभ होगा, उसका अंत होते हम देखते हैं। इस जगत में ऐसा कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता है जो प्रारंभ तो हो, लेकिन अंत न हो। सभी चीजें बनती और मिटती हुई दिखायी पड़ती हैं। क्या ऐसा कोई अनुभव हो सकता है, क्या कोई ऐसी प्रतीति, अनुभूति हो सकती है, जिसके ऊपर हम खड़े हों और वह शाश्वत हो? फिर उससे हमारा अलग होना न हो? यही खोज ब्रह्मज्ञान की खोज है।

ब्रह्म की खोज का अर्थ है, उसकी खोज जो शाश्वत है, अनादि है, अनंत है। जो सदा है, जो कभी भी मिटता नहीं। मरेगा नहीं, समाप्त नहीं होगा। अगर हम उसे पा लें, तो ही हमने जीवन को जाना। यदि हम उसके साथ एक हो जाएँ, तो ही हमने अमृत को जाना। और जब तक हम उसके साथ एक न हो जाएँ तब तक हमारा जीवन भय में कँपता हुआ एक पत्ता ही होगा। क्योंकि मृत्यु चारों तरफ कँपाती रहेगी। मृत्यु के झोंके आते ही रहेंगे। उस परम तत्त्व को जानकर ही,

उसके साथ एक होकर ही भय समाप्त होता है। और जहाँ भय है समाप्त, अभय का है प्रारंभ, वहीं जीवन का सूर्योदय है। वहीं सुबह होती है जीवन की।

लेकिन इसको क्या धन से पाया जा सकता है? क्योंकि व्यक्ति पूरा जीवन धन इकट्ठा करने में लगा देता है। आशा यही होती है कि शायद धन से कुछ ऐसा मिल जाए जो मिटे नहीं। लेकिन जिन हाथों से धन कमाया जाता है वे हाथ ही मिट जाएँगे, तो उन हाथों से कमाया गया धन कैसे बच सकता है? जिनको बनानेवाला ही इतना निर्बल है, उससे बनी हुई चीजें और भी निर्बल होंगी।

धन एक धोखा है। लेकिन धन से स्थायित्व का धोखा पैदा होता है। ऐसा लगता है कि धन मेरे पास है तो कोई स्थिर चीज मेरे पास है, जिसके सहारे मैं इस क्षणभंगुरता से लड़ सकूँगा। जिसके सहारे शायद मैं मौत के खिलाफ भी इंतजाम कर पाऊँ। इसीलिए तो आदमी इतना पागल होकर धन को इकट्ठा करता है। और यह पागलपन उस सीमा पर पहुँच जाता है, जब वह भूल ही जाता है कि किसलिए धन को इकट्ठा करना शुरू किया था। फिर धन इकट्ठा ही करता चला जाता है। अपने को गँवा देता है उस धन के इकट्ठा करने में, जिसे उसने इसलिए कमाना शुरू किया था कि अपने को बचा सके। कब साधन साध्य बन जाता है, पता ही नहीं चलता।

मनुष्य की मूल बीमारियों में एक बीमारी यही है--साधन साध्य बन जाता है। जिसे हमने सोचा था कि इसका उपयोग करेंगे, वही हमारा मालिक हो जाता है। जिसे हमने सोचा था कि इससे हम फलाँ चीज पा लेंगे, अखीर में हम पाते हैं कि जिसे पाने के लिए हमने चेष्टा की थी, वही साधन के पाने में खो गया है।

जीवन के लिए आदमी धन कमाता है। लेकिन अगर धनियों की तरफ हम देखें तो पता चलेगा कि वे धन कमाने के लिए ही जीते हैं। क्योंकि हैरानी की बात मालूम पड़ती है, उनसे भी हम पूछें तो वे भी कहेंगे कि जीवन के लिए धन को कमा रहे हैं।

एंड्रू कारनेगी मरा तो अरबों रुपये छोड़ गया लेकिन मरते समय तक, आखिरी समय तक फोन पर कमाई की ही बात कर रहा था। आखिरी क्षण, श्वाँस उसकी टूटी है तो हाथ में उसका फोन था, सौदे की बात हो रही थी। एंड्रू कारनेगी के जीवन-लेखक ने लिखा है कि ऐसा मैंने एक भी क्षण नहीं देखा कारनेगी के जीवन में, जब हम कहें कि वह जी रहा है। हर क्षण वह कमा रहा था। संभवतः पृथ्वी पर सबसे बड़ा धनी आदमी था, लेकिन एक अर्थ में उससे निर्धन कोई भी नहीं। क्योंकि जीवन की कोई पुलक उसे मिली नहीं। जीवन की कोई लहर उसे मिली नहीं। अनेक बार मित्रों ने उसे कहा भी कि इतना कमा

लोगे, लेकिन करोगे क्या? तो वह कहता था, रुको, एक बार कमाई पूरी हो जाए तो मैं जीना शुरू करूँ।

लेकिन कमाई कभी पूरी नहीं होती, और जीना कभी शुरू नहीं होता। किसकी कमाई कभी पूरी हुई है? कभी ऐसा कोई धनी आदमी देखा है, जिसने कहा हो, मैं उस जगह आ गया जहाँ कमाई पूरी हो जाती है? नहीं, कुछ कमाई का अपना तर्क है। कमाई कोई ऐसी चीज नहीं है कि जिसकी हम एक सीमा-रेखा बना लें कि वहाँ पहुँच जाएँगे तो पूरी हो जाएगी। कमाई हटती है क्षितिज की भाँति। जितना हम आगे बढ़ते हैं, क्षितिज भी आगे हट जाता है। लगता है कि वह पास, बहुत पास, ज्यादा दूर नहीं, आकाश को छू रहा है, पृथ्वी आकाश मिल रहे हैं, आकाश पृथ्वी को छू रहा है। ऐसा लगता है कि दस-पाँच मील की ही यात्रा की बात है और हम उस जगह पहुँच जाएँगे जहाँ आकाश मिलता है पृथ्वी से।

आकाश कहीं भी पृथ्वी से मिलता नहीं। सिर्फ मिलता हुआ मालूम पड़ता है। जितना हम बढ़ते हैं, उतना ही वह जो प्रतीति का बिंदु है, वह भी आगे बढ़ जाता है। हम पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा आएँ, आकाश हमें कहीं भी मिला हुआ नहीं मिलेगा। यद्यपि हर जगह मालूम पड़ेगा कि थोड़ी ही दूर और, आकाश पृथ्वी से मिल रहा है। पूरी पृथ्वी का चक्कर लगाकर भी, आकाश थोड़ी ही दूर मिलता हुआ मालूम पड़ता रहेगा।

जीवन में अहंकार जहाँ-जहाँ दौड़ता है, वहाँ-वहाँ भी अहंकार ऐसा ही क्षितिज-रेखा निर्मित करता है। धन भी एक क्षितिज-रेखा है। कहीं भी पहुँच जाए, पहुँचना नहीं होता। रेखा आगे हट जाती है, दौड़ जारी रहती है। और यह अंतहीन है। और जीवन तो चुक जाता है।

धनी आदमी अक्सर निर्धन का जीवन जीते हैं। निर्धन जीता है, वह उसकी मजबूरी है। धनी जीते हैं, उनको क्षमा नहीं किया जा सकता। और तब, इस धन से ही जिन्होंने जीवन के सारतत्त्व को पाने को सोचा हो, उन्हें हम विक्षिप्त ही कह सकते हैं। न धन से मिलेगा, न संतान से मिलेगा।

कुछ लोग अपना सारा जीवन इसमें ही व्यतीत करते हैं कि उनके बच्चे बड़े हों, उनके बच्चे शिक्षित हों, उनके बच्चे विवाहित हों, उनके बच्चे व्यवस्थित हो जाएँ। उनसे कोई पूछे कि यही तुम्हारे पिता कर रहे थे तुम्हारे लिए, यही तुम्हारे बच्चे उनके बच्चों के लिए करेंगे, यह गोरखधंधा किस लिए है? तुम्हारे पिता इसलिए जिए कि तुम बड़े हो जाओ, शिक्षित हो जाओ व्यवस्थित हो जाओ; तुम इसलिए जी रहे हो कि तुम्हारे बच्चे बड़े हो जाएँ; तुम्हारे बच्चे भी इसलिए

जिएँगे। इस जीने का प्रयोजन क्या है ?

कहीं ऐसा तो नहीं कि जीने का ढंग समझ में नहीं आता, इसलिए कहीं भी लगाकर मन को व्यस्त रख लेते हैं ? बच्चों में लगाकर व्यस्त रख लेते हैं। जिनके बच्चे हैं, वे परेशान हैं कि इनकी वजह से जी नहीं पाते; जिनके बच्चे नहीं हैं, वे परेशान हैं कि जिएँ कैसे, बच्चे हैं ही नहीं ?

ऐसा मालूम पड़ता है कि हमें पता ही नहीं कि जीवन की रसधार कहाँ है। और ऐसा नहीं है कि जो जीवन की रसधार को पा लेगा, वह धन नहीं कमाएगा। और ऐसा भी नहीं है कि जो जीवन की रसधार को पा लेगा, वह अपने बच्चों की फिक्र न करेगा। लेकिन उसकी फिक्र बदल जाएगी। उसके धन के कमाने का सारा आधार बदल जाएगा। जिसने जीवन की रसधार पा ली है, वह भी अपने बच्चों के लिए फिकिर करेगा, लेकिन अब यह फिकिर उसकी व्यस्तता नहीं है और 'पोसपोनमेंट' नहीं है। यह वह स्थगित नहीं कर रहा है अपना जीवन। वह यह नहीं कह रहा है कि मैं तुम्हारे लिए जिऊँगा।

लेकिन कोई किसीके लिए जी सकता है। जिसने अपने जीवन की रसधार पायी, वह स्वयं जिएगा; उसके जीवन से उसके बच्चों को भी जीवन मिलेगा, यह बिलकुल दूसरी बात है। लेकिन अपने जीवन को बच्चों के कंधों पर रखकर नहीं वह जिएगा कि इनके द्वारा मैं जी लूँगा। ऐसे तो हर व्यक्ति एक-दूसरे पर स्थगित करता चला जाता है और कोई भी नहीं जी पाता।

कुछ हैं, जो सोचते हैं कि कर्म के द्वारा, विराट कर्म के द्वारा, सतत कर्म के द्वारा उस अमृत तत्त्व को पा लेंगे। सतत लगे रहते हैं। सुबह से साँझ तक, जन्म से मृत्यु तक, कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। सोचते हैं कि करेंगे, तो मिल सकेगा। लेकिन कर्म उन चीजों को हमें दे सकता है जो कर्म से पैदा होती हैं। अमृत कर्म से पैदा नहीं होता। कभी पैदा नहीं हुआ। अमृत कहीं छिपा है। मौजूद है। अमृत कोई उत्पत्ति नहीं है जो हम अपने कर्म से पैदा कर लेंगे। अमृत कहीं मौजूद है। उसे पैदा नहीं करना, उघाड़ना है। उसे 'डिस्कवर' करना है। उसे निर्मित नहीं करना है। हमारे कर्म की कोई भी व्यवस्था उसे पैदा न कर पाएगी। वह है ही। और ध्यान रहे, हम मरणधर्मा हैं, हमारे कर्म से अमृत कैसे पैदा होगा ? हम अज्ञानी हैं, हमारे कर्म से ज्ञान का जन्म कैसे होगा ? हम मृत्यु से घिरे हैं, हमारा कर्म भी मृत्यु से घिरा है। हमारा सब कुछ मृत्यु से घिरा है। हम अँधेरा हैं, तो हमसे प्रकाश का जन्म कैसे होगा ?

वह परम तत्त्व हमसे पैदा नहीं होता। वस्तुतः उस परम तत्त्व से ही हम पैदा होते हैं। उस परम तत्त्व को हमें पैदा नहीं करना, उस परम तत्त्व से ही हम

आए हैं, इसकी हमें खोज करनी है। वह परम तत्त्व भविष्य में होनेवाली कोई घटना नहीं, अतीत में, हमारे पीछे, हमारे अस्तित्व में ही छिपा हुआ मूल आधार है। कर्म से हम दूसरे को पा सकते हैं, स्वयं को नहीं। मैं अपने हाथ से आपको पकड़ सकता हूँ, स्वयं को नहीं। मैं अपनी आँख से आपको देख सकता हूँ, स्वयं को नहीं। सब कर्मों के पीछे मेरा छिपा है रूप। कर्म न हों, तो भी मैं हूँ। मैं कर्मों से गहरा हूँ। तो मुझे अगर स्वयं के मूल तत्त्व को पाना हो, तो किसी भी कर्म से उसे पाया नहीं जा सकता।

फिर कैसे पाया जा सकता है ?

'त्याग ही एक ऐसा मार्ग है, जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञानियों ने उस अमृत को जाना।' यह त्याग शब्द बहुत जटिल है। और सुनते ही जो ख्याल आएगा, वह त्याग का अर्थ नहीं है। त्याग का साधारण अर्थ होता है-- धन को छोड़ देना।

इसे थोड़ा समझें।

हम कहते हैं, एक आदमी त्यागी है। हम कहते हैं, महावीर त्यागी हैं, उन्होंने इतना-इतना धन छोड़ दिया। हम कहते हैं, बुद्ध त्यागी हैं, उन्होंने राजमहल छोड़ा, राज्य छोड़ा, सुख-संपदा छोड़ी, सब छोड़ दिया। हमारे मन में त्याग का अर्थ होता है, छोड़ना। लेकिन वस्तुतः त्याग का अर्थ होता है : पकड़ना ही नहीं। महावीर ने धन छोड़ा, ऐसा हम सोचते हैं, लेकिन महावीर ने केवल पकड़ छोड़ी है।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

महावीर ने धन छोड़ा, ऐसा हम सोचते हैं, महावीर ने केवल पकड़ छोड़ी है ? धन तो महावीर का कभी था नहीं, उसे छोड़ा कैसे जा सकता है ? पकड़ उनकी थी। धन तो महावीर का नहीं था। क्योंकि महावीर नहीं थे, तब भी धन था। महावीर नहीं रहे, तब भी वह धन रहा।

साम्राज्य तो बुद्ध का नहीं था। वह तो बुद्ध के पहले भी था। बुद्ध के बाप के पास भी था। बुद्ध के बाप के बाप के पास भी था। बुद्ध ने छोड़ दिया तो भी किसीके पास था। बुद्ध ने राज्य नहीं छोड़ा, राज्य की पकड़ छोड़ी। पकड़ बुद्ध की थी।

मेरे हाथ में मैं धन पकड़े हुए हूँ, सभी को दिखायी पड़ता है मैं धन पकड़े हुए हूँ, सच तो बात यह है कि मैं सिर्फ अपनी मुट्ठी बाँधे हुए हूँ। धन को पता भी नहीं होगा कि मेरी मुट्ठी में है। और जब मैं धन को छोड़ दूँगा तब भी उसे पता नहीं चलेगा कि मुट्ठी से छोड़ दिया गया हूँ। धन कितने लोगों की मुट्ठियों में रह चुका है। उसके पास कोई हिसाब भी नहीं है। सिर्फ मेरी मुट्ठी बँधती

और खुलती है।

त्याग का अर्थ है : पकड़ का छूट जाना। या त्याग का अर्थ है, पकड़ना ही नहीं। त्याग का अर्थ है, इस बात को जान लेना कि जो मेरा नहीं है, वह मेरा नहीं है। लेकिन हमारे मन में त्याग का कुछ और अर्थ है। एक आदमी के पास धन है, तो वह कहता है धन मेरा है। फिर वह त्याग करता है--हमारे अर्थों में--तो वह कहता है, मैंने मेरे धन का त्याग कर दिया। लेकिन त्याग करके भी वह धन की मालकियत नहीं छोड़ता। अभी भी वह मानता है कि मैंने मेरा धन छोड़ा।

मैं ऐसे त्यागियों को जानता हूँ, जिनको वर्षों हो गये-- कोई तीस वर्ष हो गये, किसीको चालीस वर्ष हो गये छोड़े, लेकिन हिसाब नहीं छोड़ा है उन्होंने। अभी भी वह कहते हैं कि मैंने लाखों रुपयों पर लात मार दी। यह चालीस साल पहले लात मारी थी! और अगर धन तुम्हारा था ही नहीं, तो तुम्हें क्षमा माँगनी चाहिए धन से कि मैंनें तुम्हें लात मारी। धन तुम्हारा था ही नहीं। लेकिन नहीं, धन उनका था! अब धन की जगह त्याग उनका है!

इसे थोड़ा ठीक से समझें।

उन्होंने अब त्याग को भी धन बना लिया। अब वह चालीस साल से उनकी 'क्रेडिट' है, यह पूंजी है उनकी कि हमने लाखों रुपये छोड़े हैं। ये जो लाखों रुपये छोड़े हैं, यह त्याग उनकी संपदा है। अगर आप अब उनसे कहें कि नहीं, लाख नहीं थे, कुछ कम थे, तो उनको वैसी ही पीड़ा होगी।

एक मित्र मेरे पास आए। पत्नी को साथ लेकर आए थे। क्योंकि जरा उन्हें मुश्किल लगा होगा कि अपना परिचय खुद ही कैसे दें। तो पत्नी ने परिचय उनका कराया। उन्होंने पत्नी का परिचय कराया। पत्नी ने कहा कि यह बड़े दानी हैं। कोई लाख रुपया तो अब तक दान कर चुके हैं। पति ने तिरछी आँख से पत्नी को देखा और कहा, लाख! अब तो एक लाख दस हजार पर संख्या पहुँच चुकी है। यह जो त्याग है-- यह धन ही है। यह नये तरह का धन है। और यह ज्यादा सुविधापूर्ण है। इसको चोर चुरा नहीं सकते। इसको सरकारें बदल जाएँ तो इसपर कोई असर नहीं पड़ेगा।

और यह धन ऐसा है कि मैंने उन मित्र से कहा कि आपने बड़ी होशियारी की, आप बड़े कुशल हैं। जो आपके पास एक लाख दस हजार रुपये थे, वे तो चोर भी ले जा सकते थे, डाका भी पड़ सकता था, सरकार टैक्स लगा सकती थी, समाजवाद आ सकता था, कुछ भी हो सकता था; अब आप पर कोई डाका नहीं पड़ सकता। कोई साम्यवाद-समाजवाद आपसे छीन नहीं सकता। रीढ़ उनकी टिकी थी कुर्सी से, सीधी हो गयी। उन्होंने कहा, आप बिलकुल ठीक कहते हैं।

इसीलिए तो त्यागा है कि इसको मृत्यु भी नहीं छीन सकती। यह पुण्य है। इसको अब संसार की कोई शक्ति नहीं छीन सकती। धन को उन्होंने पुण्य में बदल लिया।

पुण्य का अर्थ है, ऐसा धन जो परलोक में भी चलेगा। और क्या अर्थ होता है! पुण्य का अर्थ है ऐसा धन, जिसका सिक्का यहीं मान्य नहीं है, परलोक में भी चलेगा। अब यह इस पूंजी को लेकर, इस 'बेलेंस' को लेकर परलोक में प्रवेश करेंगे।

और समस्त शास्त्र-- तथाकथित शास्त्र-- लोगों को यही समझाते हैं कि यहाँ छोड़ो तो वहाँ मिलेगा। यहाँ छोड़ोगे तो वहाँ दस हजार गुना, हजार गुना वहाँ मिलेगा। उस मिलने की आशा में लोग छोड़ते हैं। लोभ के लिए लोग त्याग करते हैं। पाने के लिए लोग छोड़ते हैं। तो छोड़ना ही नहीं हुआ। छोड़ना असंभव है। इस व्यवस्था में छोड़ना असंभव है। छोड़ने का अर्थ त्याग को धन बना लेना नहीं है।

छोड़ने का अर्थ यह जानना है कि धन धन ही नहीं है। छोड़ने का अर्थ, त्याग का अर्थ है कि ऐसी कोई संपदा नहीं है जो यहाँ संपदा हो, या परलोक में संपदा हो। संपदा है ही नहीं। इस भाव में प्रतिष्ठित हो जाना कि कोई धन नहीं है मेरे पास, और कोई धन मेरा नहीं है, मैं निपट निर्धन हूँ। जीसस ने इसके लिए जो शब्द प्रयोग किया है, वह कहा है--'पुअर इन स्प्रिट'। 'पुअर इन स्प्रिट'। जो आत्मा में अपनी दरिद्रता को अनुभव करते हैं, वे त्यागी हैं। जो जानते हैं कि आत्मा के पास संपदा है ही नहीं। कोई धन नहीं है आत्मा के पास।

और मजा यह है कि जिस क्षण कोई आत्मा ऐसा जान पाती है कि कोई धन मेरे पास नहीं है, उसी क्षण अमृत उपलब्ध हो जाता है। उसी क्षण! क्योंकि जिस मुट्ठी में हम धन को पकड़े हैं, वही मुट्ठी पूरी निर्भय होकर खुल जाए तो अमृत की वर्षा इसी मुट्ठी में हो जाती है। लेकिन ध्यान रहे, धन को पकड़ना हो तो मुट्ठी बाँधनी पड़ती है और अमृत को पकड़ना हो तो मुट्ठी खोलनी पड़ती है। अमृत बरसता है खुले हुए हाथ पर। बँधे हुए हाथ पर तो सिर्फ जहर इकट्ठा होता है।

इसलिए जिसको हम संपत्ति कहते हैं, वह संपत्ति कम और विपत्ति ही ज्यादा होती है। इसलिए संपत्ति के साथ-साथ विपत्तियाँ आती हैं और घनी होती चली जाती हैं और बढ़ती चली जाती हैं।

खुला हाथ, अगर अमृत भी बरस रहा हो तो पकड़ने की इच्छा नहीं है। बस जिस दिन, अमृत भी हो और पकड़ने की इच्छा न हो, और परम धन भी हो

और मुट्ठी बाँधने की इच्छा न हो, उसी दिन व्यक्ति त्याग को उपलब्ध हुआ। जहाँ पकड़ने की आकांक्षा न रही, वहाँ त्याग को उपलब्ध हुआ।

त्याग का अर्थ है, पकड़ने की वृत्ति का खो जाना—— समस्त आयामों में—— न किसी व्यक्ति को पकड़े, न किसी धन को पकड़े, न किसी शास्त्र को पकड़े, न किसी पुण्य को पकड़े; यह भी सवाल नहीं है कि क्या पकड़े। क्योंकि हम इतने कुशल हैं कि हम यह कर सकते हैं कि एक चीज को छोड़कर दूसरी को पकड़ लें, लेकिन पकड़ना जारी रहे।

हमारी मुसीबत हमारी पकड़ में है, हमारी चीजों में नहीं। एक आदमी धन छोड़ देता है, तो त्याग को पकड़ लेता है। एक आदमी घर छोड़ देता है, तो आश्रम को पकड़ लेता है। एक आदमी गार्हस्थ्य को छोड़ देता है तो संन्यास को पकड़ लेता है। पकड़ने की वृत्ति!

संन्यासी का अर्थ ही होता है कि जिसने पकड़ना छोड़ दिया। यही अर्थ है उसका। उसने पकड़ना छोड़ दिया। जिसने निर्णय किया कि अब नहीं पकड़ूँगा कुछ; यही संन्यास का अर्थ है। अब बिना पकड़े जिऊँगा। इस संकल्प का नाम संन्यास है। लेकिन बारीक है मामला। हम चाहें तो संन्यास को भी पकड़ ले सकते हैं। वह भी हमारी मुट्ठी बन सकती है। हमारी मुट्ठी इतनी कुशल है कि किसी भी चीज पर बँध सकती है। इससे कोई संबंध नहीं कि वह चीज क्या है। यहाँ इतनी कुशल हो गयी है कि चीज न भी हो तो शून्य पर भी हम मुट्ठी को बाँध सकते हैं। मुट्ठी की बाँधने की आदत छूट जाए तो त्याग है। 'नॉन-क्लिंगिग', कोई पकड़ने का भाव न आए।

तो त्याग का मतलब धन का त्याग नहीं होता। त्याग का मतलब घर का त्याग नहीं होता। त्याग का मतलब किसी चीज के छोड़ने से नहीं, त्याग का मतलब मेरी पकड़ने की वृत्ति को छोड़ देने से है। मेरी पकड़ने की वृत्ति विर्सजित हो जाए, इस विसर्जन का नाम त्याग है।

ऐसे त्याग से ब्रह्मज्ञानियों ने उस अमृत को पाया है। यह त्याग बहुत सचेत होकर जिएँ तो ही संभव हो पाएगा। और यह त्याग अब कोई बाहरी कृत्य न रहा, एक आंतरिक-दशा हो गयी। मैं पकड़ूँ न और सजग रहूँ और जागता रहूँ कि मेरी मुट्ठी किसी पर बँध न जाए। कहीं भी ऐसा न हो कि मैं पकड़ूँ और बँध जाऊँ। किसी भी चीज से न बँध जाऊँ। इतनी सजगता से कोई जिए तो त्याग में जीता है।

बुद्ध के पास हजारों लोगों ने संन्यास में दीक्षा ली। बुद्ध कहते थे उन संन्यासियों को कि तुम जो कर रहे हो, ध्यान रखना, जो तुम्हारे पास था उसे छोड़

रहे हो, लेकिन मैं तुम्हें कुछ दे नहीं रहा हूँ। अनेक बार तो अनेक लोग वापिस बुद्ध के पास से लौट जाते थे। क्योंकि आदमी के तर्क के बाहर हो गयी यह बात। आदमी छोड़ने को राजी है, अगर कुछ मिलता हो।

बुद्ध से लोग पूछते थे कि हम घर छोड़ देंगे, मिलेगा क्या? हम धन छोड़ देंगे, मिलेगा क्या? हम सब छोड़ने को तैयार हैं, फल क्या होगा? हम सारा जीवन लगा देंगे ध्यान में, योग में, तप में, इसकी फलश्रुति क्या है, निष्पत्ति क्या है? लाभ क्या है, यह तो बता दें। तो बुद्ध कहते थे, जब तक तुम लाभ पूछते हो तब तक तुम जहाँ हो वहीं रहो, वही बेहतर है। क्योंकि लाभ को पूछनेवाला मन ही संसार है। लाभ को खोजनेवाला मन ही संसार है। तुम यहाँ मेरे पास भी आए हो तो तुम लाभ को ही खोजते आए हो!

लेकिन यही व्यक्ति अगर किसी और साधारण साधु-संन्यासी के पास गये होते तो वह कहता, ठीक है, इस स्त्री में क्या रखा है, यह क्षणभंगुर है, असली स्त्रियाँ तो स्वर्ग में हैं, उनको पाना हो तो इनको छोड़ो। यह तू जो भोजन का सुख ले रहा है, इसमें क्या रखा है! यह तो साधारण-सा स्वाद है, फिर कल भूख लग जाएगी, असली स्वाद लेना हो तो कल्पवृक्ष हैं स्वर्ग में, उनके नीचे बैठो। और यह धन तू क्या पकड़ रहा है! इस धन में कुछ भी नहीं, ठीकरे हैं। असली धन पाना हो, तो पुण्य कमाओ। और यहाँ क्या मकान बना रहा है! यह तो सब रेत पर बनाये गये मकान हैं। अगर स्थायी सीमेंट-कांक्रीट के ही बनाने हों तो स्वर्ग में बनाओ। वहाँ फिर कभी, जो बन गया बन गया, फिर कभी मिटता नहीं है। यह जो साधारण साधु-संन्यासी लोगों को समझा रहे हैं, यह मोक्ष की भाषा नहीं है, यह लोभ की ही भाषा है। यह संसार की ही भाषा है। यह गणित बिलकुल सांसारिक है। इसीलिए हमको जँचता भी है। इसीलिए हमें पकड़ में भी आ जाता है।

लेकिन बुद्ध के पास जब कोई जाता था ऐसी ही भाषा पूछने, तो बुद्ध से लोग पूछते—— और हमें लगता है कि ठीक ही पूछते हैं—— वे पूछते हैं कि हम जीवनभर तप करें, योग करें, फिर होगा क्या? मोक्ष में मिलेगा क्या? और बुद्ध कहते हैं कि मोक्ष में! मोक्ष में मिलने की बात ही मत पूछो। क्योंकि तुमने मिलने की बात पूछी कि तुम संसार में चले गये। तुमने मिलने की बात पूछी कि तुम्हारा ध्यान ही संसार में हो गया, मोक्ष से कोई संबंध न रहा। मोक्ष की बात तो तुम उस दिन पूछो, जिस दिन तुम्हारी तैयारी हो छोड़ने की, और पाने को नहीं। जिस दिन तुम तैयार हो कि मैं छोड़ता तो हूँ और पाने के लिए नहीं पूछता, उस दिन तुम्हें मोक्ष मिल जाएगा। और क्या मिलेगा मोक्ष में, यह मुझसे मत पूछो, यह तुम पा लो और जानो।

बहुत लोग लौट गये। आते थे, लौट जाते थे। यह आदमी बेबूझ मालूम पड़ने लगा। लोगों ने कहा, कुछ भी न हो, कम-से-कम आनंद तो मिलेगा। बुद्ध कहते थे, आनंद भी नहीं, इतना ही कहता हूँ--वहाँ दुख न होगा। बुद्ध की सारी-की-सारी भाषा संसार से उठी हुई भाषा है। और शायद पृथ्वी पर किसी दूसरे आदमी ने इतनी गैर-सांसारिक भाषा का प्रयोग नहीं किया। इसलिए हमारे इस बहुत बड़े धार्मिक मुल्क में भी बुद्ध के पैर न जम पाए। इस बड़े धार्मिक मुल्क में, जो हजारों साल से धार्मिक है। लेकिन उसके धर्म की तथाकथित भाषा बिलकुल सांसारिक है। तो बुद्ध जैसा व्यक्ति, पैर नहीं जम पाए, बुद्ध की जड़ें नहीं जम पायीं, क्योंकि बुद्ध हमारी भाषा में नहीं बोल पाए। और चीन और जपान में जाकर बुद्ध की जड़ें जमीं, उसका कारण यह नहीं कि चीन और जपान में लोग उनकी भाषा समझ पाए, बौद्ध भिक्षु अनुभव से समझ गये कि यह भाषा बोलनी ही नहीं बुद्ध की। उन्होंने जाकर वहाँ लोभ की भाषा बोलनी शुरू कर दी।

चीन और जपान में बुद्ध के पैर जमे उन बौद्ध भिक्षुओं की वजह से, जिन्होंने बुद्ध की भाषा छोड़ दी। उन्होंने फिर संसार की भाषा बोलनी शुरू कर दी। उन्होंने कहा, आनंद मिलेगा, सुख मिलेगा, महासुख मिलेगा और यह मिलेगा, और यह मिलेगा और मिलने की भाषा की, तो चीन और बर्मा और लंका--भारत के बाहर पूरे एशिया में--बुद्ध के पैर जमे; लेकिन वे बुद्ध के पैर ही नहीं हैं। बुद्ध के पैर थे, वह जमे नहीं। जो जमे, वह बुद्ध के पैर ही नहीं हैं।

बुद्ध कहते थे, आनंद? नहीं, आनंद नहीं, दुख-निरोध। लोग पूछते थे, न सही आनंद, कम-से-कम आत्मा तो बचेगी? मैं तो बचूँगा? इतना तो आश्वासन दे दें। बुद्ध कहते थे, तुम तो हो एक बीमारी, तुम कैसे बचोगे? तुम तो मिट जाओगे, तुम तो खो जाओगे। और जो बचेगा, वह तुम नहीं हो। यह कठिन था समझना। बुद्ध ठीक ही कहते हैं। वे कहते हैं कि आदमी का लोभ इतना तीव्र है कि वह यह भी राजी हो जाता है कि कोई हर्ज नहीं है, कुछ भी न मिले, लेकिन कम-से-कम मैं तो बचूं। मैं बचा रहा तो कुछ-न-कुछ उपाय, इंतजाम वहाँ भी कर ही लेंगे। लेकिन अगर मैं ही न बचा, तब तो सारी .... सारी साधना ही व्यर्थ हो जाती है।

साधना भी हमें सार्थक मालूम होती है यदि कोई प्रयोजन, कोई फल, कोई निष्पत्ति आती हो, कोई लाभ मिलता हो। लाभ की भाषा लोभ की भाषा है। और जहाँ तक लाभ की भाषा चलती है, वहाँ तक लोभ चलता है। जहाँ तक लोभ चलता है, वहाँ तक क्षोभ होता ही रहेगा।

क्यों?

क्योंकि हम एक बिलकुल ही गलत दिशा में निकल गये हैं, जहाँ मौलिक जीवन का स्रोत नहीं है। मौलिक जीवन का स्रोत वहाँ है, जिसे पकड़ने की जरूरत ही नहीं है, जो हमारे भीतर मौजूद है, अभी और यहीं। सिर्फ हम अगर सब छोड़कर खड़े हो जाएँ, सब पकड़ छोड़कर खड़े हो जाएँ, तो वह द्वार अभी खुल जाए। जिसे हम खोज-खोज कर नहीं खोज पाते हैं, वह हमें अभी मिल जाए। वह मिला ही हुआ है; वह यहीं, अभी, हमारे भीतर ही मौजूद है। लेकिन हम बाहर पकड़ने में इतने व्यस्त हैं!

सुना है मैंने, एक अँधेरी रात में एक आदमी एक पहाड़ के कगार से गिर गया। अँधेरा था भयंकर। नीचे खाई थी बड़ी। जड़ों को पकड़कर किसी वृक्ष की लटका रहा। चिल्लाया, चीखा, रोया। घना था अंधकार। दूर-दूर तक कोई भी न था, निर्जन था। सर्द थी रात, कोई उपाय नहीं सूझता था। जड़ें हाथ से छूटती मालूम पड़ती थीं। हाथ ठंढे होने लगे, बर्फीले होने लगे। रात गहराने लगी। वह आदमी चीखता है, चिल्लाता है, पकड़े है, सारी ताकत लगा रहा है। ठीक उसकी हालत वैसी थी जैसी हमारी है। पकड़े हैं, जोर से पकड़े हुए हैं कि छूट न जाए कुछ। और उसको तो खतरा निश्चित ही भारी था। हमें मौत का पता भी न हो, उसको तो नीचे सामने ही मौत थी। यह हाथ छूटे जड़ों से कि उसके प्राण समाप्त हुए।

लेकिन कब तक पकड़े रहता! आखिर पकड़ भी तो थक जाती है। और मजा यह है कि जितने जोर से पकड़ो, उतने जल्दी थक जाते हैं। जोर से पकड़ा था, अँगुलियों ने जवाब देना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे आँखों के सामने ही हाथ खिसकने लगे, जड़ें हाथ से छूटने लगीं। चिल्लाया, रोया, लेकिन कोई उपाय न था। आखिर हाथ से जड़ें छूट गयीं।

लेकिन तब उस घाटी में हँसी की आवाज गूंज उठी। क्योंकि नीचे कोई गड्ढा न था, जमीन थी। अँधेरे में दिखायी नहीं पड़ती थी। वह नाहक ही परेशान हो रहे थे इतनी देर तक! नीचे जमीन थी, कोई गड्ढा न था। और इतनी देर जो कष्ट उन्होंने उठाया, वह अपनी पकड़ के कारण ही उठाया, वहाँ कोई गड्ढा था ही नहीं। वह घाटी जो चीख-पुकार से गूँज रही थी, हँसी की आवाज से गूंज उठी। वह आदमी अपने पर हँसा था।

जिन लोगों ने भी यह पकड़ के पागलपन को छोड़कर देखा है, वे हँसे हैं। क्योंकि जिससे वह भयभीत हो रहे थे, वह है ही नहीं। जिस मृत्यु से हम भयभीत हो रहे हैं, वह हमारी पकड़ के कारण ही प्रतीत होती है। पकड़ छूटते ही वह नहीं है। जिस दुख से हम भयभीत हो रहे हैं, वह दुख हमारी पकड़ का हिस्सा है, पकड़

से पदा होता है। पकड़ छूटते ही खो जाता है। और जिस अँधेरे में हम पता नहीं लगा पा रहे हैं कि कहाँ खड़े होंगे, वही हमारी अंतरात्मा है। सब पकड़ छूटती है, हम अपने में ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

उपनिषद ने कहा है : 'स्वर्गलोक से ऊपर, हृदय की गुफा में स्थित वह परमतत्त्व आलोकित है।'

'स्वर्ग से ऊपर।' अजीब लगता है। 'स्वर्ग से ऊपर हृदय की गुफा में।' स्वर्ग और हृदय की गुफा में क्या ऊपर-नीचे का संबंध है? कहाँ हृदय की गुफा, कहाँ स्वर्ग! लेकिन ठीक कहता है। स्वर्ग से ऊपर अर्थात् लोभ से ऊपर। स्वर्ग अर्थात् लोभ। स्वर्ग लोभ का गहनतम प्रतीक है। स्वर्ग लोभ का साकार रूप है। स्वर्ग लोभी की आत्यंतिक आकांक्षा है। स्वर्ग की जिन्होंने चर्चा की है वे धार्मिक लोग नहीं हैं। धार्मिक व्यक्ति तो सिवाय मुक्ति के, सिवाय मोक्ष के और कोई चर्चा नहीं करता। स्वर्ग की चर्चा तो सांसारिक मन का फैलाव है। मृत्यु के भी पार हम अपने लोभ को बचाने की चेष्टा में लगे हैं। शरीर मिटे मिट जाए, कम-से-कम लोभ तो बचे। कम-से-कम वासना तो बचे। कम-से-कम वासना की तृप्ति का कोई क्षेत्र तो बचे। स्वर्ग हमारी वासनाओं का संग्रह, हमारी कामनाओं का जोड़ है।

तो ऋषि ठीक कहता है, स्वर्ग से ऊपर। जो नहीं उठा है इस लोभ और वासना और कामना के जाल से, वह हृदय की गुफा में प्रवेश न कर पाएगा। असल में हृदय की गुफा में प्रवेश करने में स्वर्ग और नर्क ही बाधा हैं।

एक सूफी फकीर औरत हुई है राबिया। राबिया एक दिन गुजरी है गाँव से, एक हाथ में पानी का एक बर्तन और एक हाथ में जलती मशाल लेकर, भागती हुई। लोगों ने समझा कि क्या राबिया पागल हो गयी! ऐसे शक तो लोगों को था ही। राबिया पर शक तो था ही! क्योंकि जिसने भी कभी ईश्वर को प्रेम किया है, उसे दूसरों ने पागल की नजर से देखा है।

यह भी उनका बचाव है। क्योंकि अगर राबिया पागल नहीं है, तो फिर उनको शक होगा कि फिर हम क्या हैं? तो भीड़ राबिया को पागल बना कर अपने को बचा लेती है। तो भीड़ कहती है कि यह औरत पागल हो गयी है। कैसा ईश्वर? ठीक है, है एक ईश्वर मस्जिद में; तो हर सप्ताह में एक बार जाकर उसके चरणों में सिर झुका आना चाहिए। है मंदिर में, तो ठीक है, एक औपचारिक नियम है वह पूरा कर देना चाहिए। है चर्च में, तो वह 'संडे-गॉड' है, वह रविवार के दिन का है, तो उस दिन जैसे फुरसत के दिन और सब चीजें निबटा लेते हैं, उसे भी निबटा देते हैं। लेकिन बाकी छः दिन में जो ईश्वर की

बात करे, वह पागल है। यह राबिया चौबीस घंटे ईश्वर-ईश्वर लगाए रखती है, पागल हो गयी है।

लेकिन उस दिन तो साफ ही हो गया। बजार भरा हुआ था और राबिया हाथ में मशाल लिये और एक हाथ में पानी का बर्तन लिये बीच बजार से भागने लगी। तो लोगों ने कहा कि राबिया, अब तक तो हम सोचते थे मन-ही-मन में, अब तो तुमसे प्रगट भी कहना पड़ेगा -- क्या दिमाग खराब हो गया है? यह क्या कर रही हो? तो राबिया ने कहा कि मैं यह पानी ले जा रही हूँ, ताकि तुम्हारे नर्क को डुबा दूँ। और यह आग की लपट ले जा रही हूँ, ताकि तुम्हारे स्वर्ग में आग लगा दूँ। क्योंकि तुम्हारे स्वर्ग और तुम्हारे नर्क के कारण ही तुम स्वयं से चूक गये हो। लेकिन उस बजार में शायद ही कोई उसकी बात समझा हो।

जीसस के जीवन में भी ऐसा एक उल्लेख है कि जीसस एक गाँव से गुजरते हैं। और उन्होंने एक जगह बैठे कुछ फकीरों को देखा, जो पीले पड़ गये हैं और भय से कँप रहे हैं। तो जीसस ने उनसे पूछा कि तुम्हें क्या हो गया है? तुम पर कैसी विपत्ति आयी है? यह कौन-सी मुसीबत, कौन-सा दुर्भाग्य कि तुम पीले पड़ गये हो पत्तों जैसे, और कँप रहे हो? क्या हो गया है? उन सबने कहा, हम नर्क से भयभीत हैं। हम पापी हैं, हमने बड़े पाप किये हैं। और हम डर रहे हैं, अब नर्क में पड़ना पड़ेगा। गाँव के लोगों ने कहा कि ये बड़े धार्मिक लोग हैं। ये पीले पड़ गये लोग, ये भय से कँपते हुए लोग, ये नर्क से कंपित--ये बड़े धार्मिक लोग हैं!

जीसस आगे बढ़े तो उसी गाँव के दूसरे हिस्से में उन्हें कुछ और लोग बैठे दिखायी पड़े। वे भी त्याग और तपश्चर्या से अपने को जला डाले थे, राख कर दिये थे, सूख गये थे, काँटे हो गये थे। जीसस ने पूछा, तुम पर कौन-सी महामारी आ गयी? तुम्हें क्या हुआ? उन्होंने कहा कि हम स्वर्ग से लालायित हैं, स्वर्ग को पाने की आकांक्षा से पीड़ित हैं। हम कुछ भी करने को तैयार हैं, लेकिन स्वर्ग चाहिए। जीसस बहुत हैरान हुए। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि बड़ी हैरानी की बात है, स्वर्ग और नर्क में कोई संबंध मालूम पड़ता है। स्वर्ग से जो लालायित हैं, वे भी सूख कर पीले पड़ गये और कँप रहे हैं; और नर्क से जो भयभीत हैं, वे भी पीले पड़ गये हैं और कँप रहे हैं। और अगर दोनों को हम ऊपर से देखें तो फर्क बिलकुल मालूम नहीं पड़ता। जब तक वे बताएँ न कि उनका कारण क्या है? दोनों में कोई संबंध मालूम पड़ता है।

संबंध है। स्वर्ग और नर्क एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। लोभ और भय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। लोभी आदमी कभी भय के बाहर नहीं हो सकता;

भयभीत आदमी कभी लोभ के बाहर नहीं हो सकता। भय लोभ का निषेधात्मक रूप है--' निगेटिव '। लोभ भय का ' पॉजिटिव ' रूप है--विधायक। भय और लोभ एक ही घटना के दो छोर हैं।

ठीक कहता है ऋषि कि स्वर्गलोक से ऊपर। नर्क की उसने बात नहीं की। क्योंकि जब स्वर्ग के ऊपर है, तो नर्क के ऊपर तो होगा ही। इसकी चर्चा नहीं की। और जानकर नहीं की। क्योंकि आदमी नर्क के ऊपर हो, इससे परेशान नहीं होगा; स्वर्ग के ऊपर हो, इससे परेशान होता है। नर्क के ऊपर तो हम सब चाहते ही हैं कि हों। वह कोई कठिनाई नहीं है।

हम सभी चाहते हैं कि वह परमतत्त्व दुख के ऊपर हो; लेकिन सुख के भी ऊपर हो, यह हम न चाहेंगे। हम भी छोड़ने को तैयार हो जाएँगे, कोई हमसे कहे, छोड़ दो सब दुख, मिल जाएगा वह। तो हम भी कहेंगे, हम तो छोड़ने को सदा तैयार हैं, ये दुख ही हमें नहीं छोड़ रहे हैं। और कोई हमसे कहे छोड़ दो अपने सुख, तो हम कहेंगे, यह बहुत मुश्किल बात है। छोड़ने का उपाय कहाँ ? सुख ही हमें छोड़कर भागे चले जाते हैं। हम पकड़ते हैं और पकड़ में नहीं आते। सुख हम न छोड़ सकेंगे। दुख तो हम छोड़ने को तैयार हैं।

लेकिन ऋषि कहता है, स्वर्ग के ऊपर। सुखों की वासना के ऊपर। जिसने अभी सुख की वासना नहीं छोड़ी, वह दुख में गिरता ही रहेगा। दुख में गिरना सुख की वासना का परिणाम है। जिसने सुख नहीं छोड़ा, उससे दुख नहीं छूटेगा। लेकिन दुख तो हम सब छोड़ना चाहते हैं। फिर भी दुख नहीं छूटता, क्योंकि हम सुख नहीं छोड़ना चाहते। जिसने सुख नहीं छोड़ा, उसका दुख तो जारी रहेगा। क्योंकि सुख को पकड़े हुए है। सुख के साथ-साथ दुख की छाया बनती रहेगी।

दुख को केवल वही छोड़ सकता है जिसने सुख छोड़ा। फिर दुख का कोई उपाय न रहा। दुख के खड़े होने की भूमि न रही। सुख के छूटते ही दुख छूट जाता है।

इसलिए ऋषि ने कहा है, स्वर्ग के ऊपर, हृदय की गुफा में, ब्रह्मलोक में... इस हृदय की गुफा को ब्रह्मलोक भी कहा...स्थित वह परमतत्त्व आलोकित है, जिसे निष्ठावान साधक प्राप्त कर सकते हैं।

हृदय की गुफा को हम थोड़ा समझ लें, क्या प्रयोजन है ? साधारणतः हृदय का हमें बोध ही नहीं होता। इसीलिए उसे गुफा कहते हैं, क्योंकि वह गुप्त है। हमें हृदय का पता ही नहीं चलता। ऐसे हम जानते हैं कि हृदय कहाँ है--जहाँ धड़कन होती है वहाँ, और जहाँ श्वाँस चलती है वहाँ। लेकिन वहाँ फेफड़ा है, हृदय नहीं है। फुफ्फस है।

अगर वैज्ञानिक से कहेंगे तो आपकी छाती काटकर वह निकाल कर रख देगा कि यह ' पंपिंग सिस्टम ' है। यह भीतर जो श्वाँस को चलाने का इंतजाम है, वहाँ है। इसलिए वैज्ञानिक तो कहता है हृदय जैसी कोई चीज ही आदमी के शरीर में नहीं है; कवियों की कल्पना है। है भी नहीं। जहाँ हम हाथ रखते हैं, वहाँ फुफ्फस, फेफड़ा ही है अभी तो। हृदय तो उसके पीछे बहुत गहरे में छिपा है।

हृदय तो गुफा है। गुफा का मतलब है, गुप्त है, गुह्य है, छिपा है; ' हिडन ' है। गुफा का मतलब ही यह है कि हम उसके बाहर के ही रूप से परिचित हो पाते हैं, भीतर का पता नहीं चलता। बाहर घूम आते हैं, उसकी दीवालों का पता चल जाता है, हृदय का पता नहीं चलता। फुफ्फस सिर्फ बाहर की दीवाल है; वैज्ञानिक तोड़ेगा।

ऐसा समझ लें कि आप अगर किसी मकान की दीवालें तोड़ लें तो क्या भीतर आपको मकान मिलेगा फिर ? दीवालें गिर जाएँगी, मकान आकाश में खो जाएगा। अगर मकान खोजना है तो दीवालों के रहते मकान खोजना पड़ेगा। वैज्ञानिक यही भूल करता है। वह कहता है, लाओ, हम चीर-फाड़ कर बताए देते हैं कि यहाँ कोई हृदय नहीं है। ऐसे ही वह कहता है, हम मस्तिष्क को काटकर बताए देते हैं, यहाँ कोई मन नहीं है। मस्तिष्क है, मन नहीं है। क्योंकि मन भीतरी अंतर-गुहा है।

मस्तिष्क दीवाल है, मन भीतर का स्थान है। फेफड़ा बाहर की दीवाल है, हृदय भीतर का स्थान है। काटकर तो दीवाल हाथ में आती है, भीतर का शून्य तो विराट शून्य में खो जाता है। बिना काटे प्रवेश करें, तो हृदय मिलेगा। इसलिए वैज्ञानिक हृदय को कभी नहीं खोज सकता। सिर्फ योगी खोज पाता है। क्योंकि वह इस हृदय को तोड़ता नहीं है, बिना तोड़े प्रवेश करता है। इसकी दीवाल को नहीं मिटाता। इसकी दीवाल को बना रहने देता है और जिसको इस दीवाल ने घेरा है, उस रिक्त स्थान में प्रवेश करता है।

उस रिक्त स्थान में प्रवेश के मार्ग हैं। मार्ग कहना शायद ठीक नहीं है। क्योंकि मार्ग से लगेगा कि कोई दरवाजा है। अगर दरवाजा है तो यह फिर गुफा नहीं है। यह फिर गुह्य-स्थान न रहा। लेकिन कुछ ऐसे प्रवेश द्वार हैं जहाँ दरवाजे नहीं होते। जैसे अगर एक्स-रे की किरण आपके भीतर डालें, तो कोई दरवाजे की जरूरत नहीं होती, एक्स-रे की किरण भीतर प्रवेश कर जाती है, कोई छेद भी नहीं करती। जब तक एक्स-रे की किरण नहीं थी तो हम यह मान ही नहीं सकते थे कि हमारे भीतर कोई चीज प्रवेश कर सकती है और छेद न करे। क्योंकि हमारा अनुभव यही था कि छुरा छेद कर जाएगा। अब एक्स-रे की किरण प्रवेश करती

है, छेद नहीं करती। छेद तो बहुत दूर की बात है, एक्स-रे की किरण प्रवेश करती है तो आपको पता भी नहीं चलता कि वह प्रवेश कर गयी। वह तो फोटो-प्लेट में पता चलता है कि किरण प्रवेश कर गयी, भीतर के चित्र भी ले आयी। आपको तो पता ही नहीं चलता। अगर आपसे पूछा जाए कि कुछ पता चला, तो कुछ भी पता नहीं चलता।

इसका अर्थ हुआ कि अगर .... और एक्स-रे किरण तो बिलकुल भौतिक, 'मटेरियल' वस्तु है, ध्यान उस किरण का नाम है जो भीतर प्रवेश कर सकती है और कहीं कोई चोट नहीं, कहीं कोई दरवाजा नहीं टूटता, कहीं कोई ताले नहीं खोलने पड़ते, कहीं कोई चाबी नहीं लगती। फेफड़े की दीवालों को पता ही नहीं चलता कि कब भीतर प्रवेश हो गया।

ध्यान उस किरण का नाम है जो इस अंतर-गुफा में प्रवेश करती है। इस अंतर-गुफा को ब्रह्मलोक भी कहा है। क्योंकि यह अंतर-गुहा में जो प्रवेश कर जाता है, जिससे वहाँ मुलाकात होती है, जिस अनुभूति का वहाँ अनुभव होता है, वह अनुभूति ही समस्त ब्रह्मांड के हृदय में भी छिपी हुई है। जैसे मेरे छोटे-से हृदय में जो छिपा है, वही इस विराट ब्रह्मांड के हृदय में भी छिपा है। जो मेरे मस्तिष्क के भीतर छिपा है, वही इस विराट मस्तिष्क के भीतर भी छिपा है।

व्यक्ति एक छोटा अणु है। इस विराट का एक छोटा जीवित प्रतिरूप है। इसलिए उसे हृदय की गुफा भी कहा, उसे ब्रह्मलोक भी कहा। आण्विक अर्थों में हम उसे जानेंगे अपने भीतर, और तब हम परम अर्थों में उसे विराट के भीतर अनुभव कर लेंगे। अपने हृदय में प्रवेश परम हृदय में प्रवेश का पहला चरण है। कला हमें आ गयी। हम समझ गये।

करीब-करीब वैसा ही है जैसे किसी बच्चे को अगर नदी में तैरना सिखाना होता है, तो नदी के किनारे तैरना सिखाते हैं, जहाँ डूबने का कोई डर न हो। उथले में तैरना सिखाते हैं। मतलब यह हुआ कि वहाँ तैरना सिखाते हैं जहाँ तैरने की कोई जरूरत न हो। क्योंकि तैरने की जरूरत हो, तब तो खतरा आ जाए। तैरना वहाँ सिखाते हैं जहाँ तैरने की कोई जरूरत न हो। किनारे पर तैरना सिखा देते हैं। फिर एक बार तैरना आ गया तो फिर कितनी ही गहराई पर तैरा जा सकता है। क्योंकि तैरने से गहराई का कोई संबंध नहीं है। तैरना तो एक कला है। फिर कहीं भी तैरा जा सकता है। एक बार तैरना आ गया तो फिर यह सवाल नहीं है कि नदी में, कि नाले में, कि कहाँ। कहीं भी तैरा जा सकता है। फिर यह भी सवाल नहीं है कि मैं कितने गहरे में तैरूँगा। कि हजार फीट गहरा होगा तो तैर सकता हूँ, दस हजार फीट गहरा होगा तो नहीं तैर सकूँगा। गहराई का फिर

कोई संबंध नहीं है। तैरना एक कला है।

ध्यान भी एक कला है। इस हृदय की गुफा में तो हम किनारे पर तैरना सीख लेते हैं, फिर उस विराट के सागर में उतरने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती। यह किनारा है—हमारा हृदय जो है उस विराट के लिए जरा-सा किनारा है। एक तट है, जिसपर बिना खतरे के तैरना सीखा जा सकता है। एक बार यह आ जाए पानी में तो आदमी फिर कभी भूलता नहीं है। आपने कभी कोई ऐसा आदमी देखा है जो तैरना और भूल गया हो? दुनिया में सब चीजें भूली जा सकती हैं, लेकिन कोई आदमी तैरना नहीं भूलता। यह बड़े मजे की बात है। क्योंकि इस तैरने की स्मृति में कुछ भेद है क्या? जब सब चीजें भूल जाती हैं ... अगर पाँच साल का मैं था तो जो बातें मुझे सिखायी गयी थीं, वह मैं भूल गया, लेकिन तैरना मैं नहीं भूला। चाहे फिर तीस वर्ष तक तैरा ही नहीं, छुआ ही नहीं, पानी में नहीं गया। लेकिन तीस साल बाद फेंक दो मुझे पानी में तो मैं फिर तैरने लगूँगा, और उस वक्त ऐसा नहीं होगा कि मुझे याद करना पड़े कि कैसा तैरते थे? बस तैरना आ जाएगा। क्या बात है?

तैरना स्मृति अगर है, तो और स्मृतियाँ जब मिट जाती हैं, तैरना भी मिट जाना चाहिए। जब और स्मृतियाँ प्रयोग न करने से विस्मृत हो जाती हैं, तैरना भी विस्मृत हो जाना चाहिए। लेकिन तैरना नहीं मिटता, नहीं विस्मृत होता। इसका एक ही अर्थ होता है और वह अर्थ यह है कि तैरना वस्तुतः हम सीखते नहीं। क्योंकि जो भी चीज सीखी जाए, वह भूल जाती है। भूल सकती है। लेकिन यह बात अजीब लगेगी, क्योंकि तैरना हम सीखते तो हैं। तब फिर ऐसा समझें कि तैरने में हम शायद तैरना नहीं सीखते, केवल साहस सीखते हैं।

जब हम एक दफा, पहली दफा किसी व्यक्ति को पानी में फेंकते हैं तैरने के लिए, तब भी वह हाथ-पैर फेंकता है—थोड़े अव्यवस्थित। और वह जो अव्यवस्था होती है, वह भय के कारण होती है कि कहीं डूब न जाऊँ। दस-पाँच बार हाथ-पैर फेंक कर वह समझ जाता है कि डूबता नहीं हूँ, कोई भय का कारण नहीं है। भय मिट जाता है, हाथ-पैर व्यवस्थित फेंकने लगता है, तैरना आ जाता है। तैरना जैसे उसे आता ही था, सिर्फ डूबने के भय के कारण व्यवस्थित नहीं हो पाता था। तैरना जैसे उसे मालूम ही था, सिर्फ उसके प्रयोग करने की जरूरत थी। तो तैरना हम शायद सीखते नहीं, पुनर्स्मरण करते हैं। यह मैं उदाहरण के लिए कह रहा हूँ।

क्योंकि ठीक ऐसा ही ध्यान के संबंध में होता है। और ठीक ऐसा ही हृदय की गुफा में होता है। एक बार ध्यान आ जाए, तो फिर नहीं भूला जाता। एक किरण ध्यान की उपलब्ध हो जाए, एक झलक, तो फिर उसे

कभी नहीं भुलाया जा सकता। फिर कोई उपाय नहीं है। फिर आप वही आदमी नहीं हो सकेंगे, जो इस ध्यान के अनुभव के पहले थे। यह अनुभव अब आपकी आत्मा हो जाएगा। और यह भी इसीलिए कि ध्यान भी सीखना कम है, शायद पुनर्स्मरण है। शायद ध्यान को हम जानते ही हैं किसी गहरे तल में। सिर्फ थोड़े-से अभ्यास की जरूरत है कि जिसे हम जानते ही हैं, वह प्रगट होकर जाना जा सके। शायद जो छिपा ही है, थोड़ी धूल-धवाँस हटा दी जाए और वह निखर जाए और ताजा हो जाए। शायद कोई दर्पण, जिस पर धूल जम गयी है, पोंछ दिया जाए और दर्पण में तस्वीर बन जाए।

जब दर्पण में धूल जमी थी तब भी दर्पण दर्पण ही था। धूल से दर्पण मिटता नहीं। लेकिन धूल से मेरा प्रतिबिंब बनना तो बंद हो जाता है। धूल हट जाती है, दर्पण तो पहले भी दर्पण था, अब भी दर्पण है, लेकिन अब प्रतिबिंब बनता है। ध्यान भी ऐसी ही प्रक्रिया है, जिससे हम भीतर इकट्ठी हो गयी धूल को हटा देते हैं। दर्पण साफ हो जाता है। तैरना आ जाता है। और एक बार आ जाए, साफ हो जाए, तो फिर कला हमें आ गयी। फिर हम किसी बड़े-से-बड़े सागर में भी उतर सकते हैं। और दर्पण हमें मिल गया, उसमें हम——हम अब अपना ही नहीं, परमात्मा का भी प्रतिबिंब उपलब्ध कर सकते हैं। इसलिए उसे ब्रह्मलोक भी कहा। और कहा, वह परमतत्त्व भीतर इस गुफा में आलोकित है। जैसे कोई दिया जल रहा हो, चारों तरफ गुफा घिरी हो, गुफा के बाहर अँधेरा हो और हम अँधेरे में जी रहे हों; और गुफा के भीतर दिया जल रहा हो। और गुफा के भीतर हम जाएँ तो हम हैरान हों कि यह दिया तो सदा ही जल रहा था, यह ज्योति तो कभी बुझी न थी।

इस अंतर-गुहा में जलनेवाली ज्योति के ही कारण पारसियों ने निरंतर अपने मंदिर में आग को जलाने का प्रतीक चुना। लेकिन भूल गये कि यह आग किसलिए जला रहे हैं चौबीस घंटे। आग बुझे न, जलती ही रहे, यह सिर्फ प्रतीक था। उस भीतर की गुफा में जरथुस्त्र को पता चला था, जरथुस्त्र ने जाना था कि भीतर की गुहा में जाकर देखा कि वहाँ जो ज्योति जलती है बिना ईंधन के, बिना तेल के, और शाश्वत है, और कभी बुझी नहीं, वह जीवन का स्वरूप है, वही जीवन है। जरथुस्त्र को जो प्रतीत हुआ था, वह जरथुस्त्र के अनुयायियों ने मंदिर में स्थापित किया। सुंदर था। यह स्थापित करना 'सिंबॉलिक' था। कलात्मक था। लेकिन हमारे सब सत्य संकेतों में खो जाते हैं।

फिर अब वे रोज दिया जलाए चले जा रहे हैं, या आग जलाए जा रहे हैं। मंदिर उनका अगियारी हो गया; उसमें आग जलती रहती है चौबीस घंटे; आग

न बुझ पाए, इसकी बड़ी चेष्टा करते हैं; लेकिन वह भीतर का मंदिर जिस आग की यह खबर देता था, उसकी कोई स्मृति ही नहीं है। यह आग तो जलानी ही पड़ती है। और जिस आग को जलाना ही पड़ता है, वह न बुझनेवाली आग नहीं। और इसको तो चौबीस घंटे सँभालना ही पड़ता है। जिसको सँभालना ही पड़ता है, वह जीवन की आग नहीं।

एक ऐसी आग, एक ऐसी ज्योति भीतर है, जो जलती ही रहती है बिना सँभाले, बिना ईंधन के, बिना तेल के, बिना किसी सहारे के। जो जीवंत, शाश्वत जीवंत है। उस, उस ज्योति को कहा कि वह परमतत्त्व भीतर आलोकित ही है और निष्ठावान साधक उसे पा लेता है।

निष्ठावान साधक के संबंध में भी दो शब्द समझ लेने चाहिए। निष्ठावान साधक का क्या अर्थ है? श्रद्धा और निष्ठा में क्या फर्क है? सुबह हमने श्रद्धा की बात की। निष्ठा दूसरा तत्त्व है, बहुत भिन्न। आमतौर से हम श्रद्धा और निष्ठा को एक ही तरह प्रयोग कर लेते हैं।

निष्ठा का अर्थ है : यह जो खोज है, यह दुरूह है; और यह जो खोज है, एक दिन में पूरी होनेवाली नहीं है; और यह जो खोज है, अनेक-अनेक असफलताएँ इसमें अनिवार्य हैं। इसमें बहुत बार हारना पड़ेगा। बहुत बार टूट जाना पड़ेगा। बहुत बार ऐसा होगा कि लगेगा——हाथ में कुछ भी नहीं आता, छोड़ो, बंद करें। निष्ठा का अर्थ है, जब असफलता हाथ लगे तब भी प्रयास में रत्ती-भर फर्क न हो।

जब सफलता हाथ लगती है तब तो निष्ठा की कोई जरूरत ही नहीं होती। तब तो सफलता ही चलवा देती है। जब कोई आदमी किसी काम में सफल होता है, तो निष्ठा की बिलकुल जरूरत नहीं होती, क्योंकि सफलता ही धक्का देती है, अगले कदम को उठवा देती है। लेकिन जब असफलता हाथ लगती है, तब पैर उठते नहीं। असफलता भारी हो जाती है। पैरों पर पत्थर बँध जाते हैं। पैर उठने से इनकार कर देते हैं। तब तो निष्ठा ही पैर उठा सकती है। तो निष्ठा का अर्थ हुआ कि असफलता को जो असफलता न माने, हार को जो हार न माने, पराजय को जो पराजय न माने, और उठाता ही चला जाए, उठाता ही चला जाए कदम; कितनी ही हो हार, लेकिन किसी हार को हार न माने।

मैंने सुना है, एडीसन अपनी अन्वेषणशाला में एक प्रयोग कर रहा था। और उसने एक नये युवक वैज्ञानिक को सहयोगी की तरह रखा था। बहुत विचार-शील युवक था, तर्कनिष्ठ था, वैज्ञानिक प्रतिभा का था। और जिस प्रयोग में वे लगे थे, रोज उस पर प्रयोग करते। अठारह-अठारह घंटे उस पर नष्ट करते, और रात असफल होकर वापिस लौटते। बूढ़ा एडीसन और वह युवक। तीन महीने हो

गये, रोज यह चला। तीन महीने बाद उस युवक ने जवाब दे दिया। जवाब तो वह बहुत दिन पहले से देना चाहता था, लेकिन एडीसन—– बूढ़े एडीसन की आँखों में जो निष्ठा का दिया जलता था, उसकी वजह से उसकी हिम्मत नहीं पड़ती थी।

रोज एडीसन सुबह होते से ऐसा चला आता था जैसे ताजा बच्चा भागा हुआ अपनी प्रयोगशाला में आ रहा हो। वह युवक तय करके आता था घर से कि आज कह देंगें कि अब क्षमा करो, यह काम अपने बस का नहीं, अब यह कभी पूरा होगा नहीं, और ऐसा लगता है कि हमने कुछ गलत ही चुन लिया है, यह, यह प्रयोग होनेवाला नहीं है। और इतने हार चुके हो—– इतनी बार, इतनी दिशाओं से प्रयोग कर चुके, राख हाथ में लगती है, फिर भी पागल हो कि लगे ही चले जा रहे हो। छोड़ो भी ! कुछ और करें, जिसमें सफलता मिले। लेकिन एडीसन की आँखों में जलती हुई ज्योति को देखकर उसकी हिम्मत न पड़ती थी। क्योंकि उसे ऐसा लगता कि यह बूढ़ा और अभी इतना जवान है और मैं जवान और इतने बुढ़ापे की बात करूँ, यह ठीक नहीं है। लेकिन तीन महीने बहुत हो गया। न रात सो पाता था, न दिन चैन थी। न प्रयोग पूरा होता था, न प्रयोग समाप्त करता था एडीसन। आज हार जाते, कल फिर दूसरे ढंग से शुरू होता।

तीन महीने बाद एक दिन उसने सुबह एडीसन की आँख की तरफ नहीं देखा, नीचे ही आँखें रखकर उसने एडीसन से कहा कि क्षमा करें . . . . एडीसन ने कहा कि आँख ऊपर करो। उसने कहा आँख ऊपर करके ही मैं झंझट में पड़ा हूँ, उसीमें तो . . . . नहीं, आज आँख ऊपर करनी ही नहीं है। यह प्रयोग सफल होनेवाला नहीं है। एडीसन ने कहा, क्या तू पागल है ? सफलता के इतने करीब आकर ! उस युवक ने कहा, सफलता के करीब ? पहले दिन जितने करीब थे, उतने भी करीब अब नहीं हैं। तीन महीने, हर तरफ से खोज लिया, सब रास्ते बेकार हो गये !

एडीसन ने कहा कि तुझे गणित नहीं आता। इतने रास्ते हमने देख लिये, ये बेकार हो गये, इसका मतलब यह हुआ कि अब बेकार रास्ते कम रह गये। अगर हमने दो सौ रास्ते देख लिये, अगर तीन सौ रास्ते होंगे, तो अब सौ ही बचे। सफलता के करीब आ रहे हैं। आज नहीं कल, आज नहीं कल हार-हार कर हम जीत ही जाएँगे। क्योंकि अंततः कोई एक रास्ता होगा, जो सही होगा। हम गलत को काटते जा रहे हैं कि यह भी गलत हुआ; जीत करीब आ रही है। तू कैसा पागल है। तीन महीने मेहनत करके और लौटने की बात सोचता है। अब तो हम बिलकुल करीब हैं।

यह निष्ठा है !

निष्ठा का अर्थ है : पराजय के समक्ष विजय की आस्था। हार के समक्ष, असफलता के समक्ष भी सफलता का ही सूत्र। मेरे रास्ते पर एक पत्थर पड़ा हो, तो मैं चाहूँ तो समझ लूँ कि यह बाधा है और रास्ता समाप्त हुआ। यह निष्ठा-हीन आदमी का लक्षण है। चाहूँ तो मैं यह समझूँ कि रास्ते पर एक सीढ़ी मिल गयी, अब मैं इस पर चढ़ूँगा, और रास्ता अब थोड़ी ऊँचाई पर शुरू होगा। तो जो पत्थर है रास्ते का, वह सीढ़ी भी हो सकता है, वह बाधा भी हो सकता है। वह स्वयं में न तो बाधा है और न सीढ़ी। वह बाधा बन जाती है, अगर मेरे भीतर निष्ठा न हो। और वह सीढ़ी बन जाती है, अगर मेरे भीतर निष्ठा हो।

यह जो परमतत्त्व है, यह जो गुहा में छिपा हुआ अमृत है, यह जो स्वर्ग के पार हृदय की गहनता में डूबा हुआ ब्रह्मलोक है, इसे पाना अनंत-अनंत असफलताओं के बीच से निखरी हुई सफलता से होता है। बहुत बार हार कर इसमें जीत मिलती है। बहुत बार टूटकर इसमें व्यक्ति जुड़ता है, इकट्ठा होता है। बहुत बार चूककर यह मिलन होता है। बहुत बार करीब-करीब से गुजर जाते हैं—– इतने करीब से, कि लगता है अब बंद करो, अब नहीं हो सकेगा। और जब भी ऐसा लगता हो, तभी निष्ठा की जरूरत पड़ती है। श्रद्धा के बिना कोई प्रारंभ नहीं करता, निष्ठा के बिना कोई अंत को उपलब्ध नहीं होता। श्रद्धा से शुरुआत होती है, निष्ठा से पूर्णता होती है। इसलिए कहा कि निष्ठावान साधक इस तत्त्व को पा लेता है।

इतना ही।

अब हम रात्रि के ध्यान के लिए तैयार हों। दो-तीन बातें ख्याल में ले लें। रात्रि के ध्यान में कोई वस्त्र नहीं निकालें। सिर्फ सुबह के ध्यान में किसीको वस्त्र निकालना हो तो निकाले। रात्रि के ध्यान में कोई वस्त्र न निकाले। ख्याल रखें।

रात्रि के ध्यान में जिन मित्रों को बहुत तीव्रता से करना हो, वे मेरे आसपास आ जाएँगे। जिनको उतनी तीव्रता से न करना हो, वे पीछे के घेरे में खड़े होंगे। वैसे कोशिश प्रत्येक करे, जितनी तीव्रता से हो सके उतना ही परिणामकारी है। मेरी तरफ अपलक आँखों से देखना है। पलक न झपे। और नाचकर, कूदकर शक्ति को जगाना है, और शक्ति जागती है तो उसको 'हू, हू' की आवाज से चोट करना है।
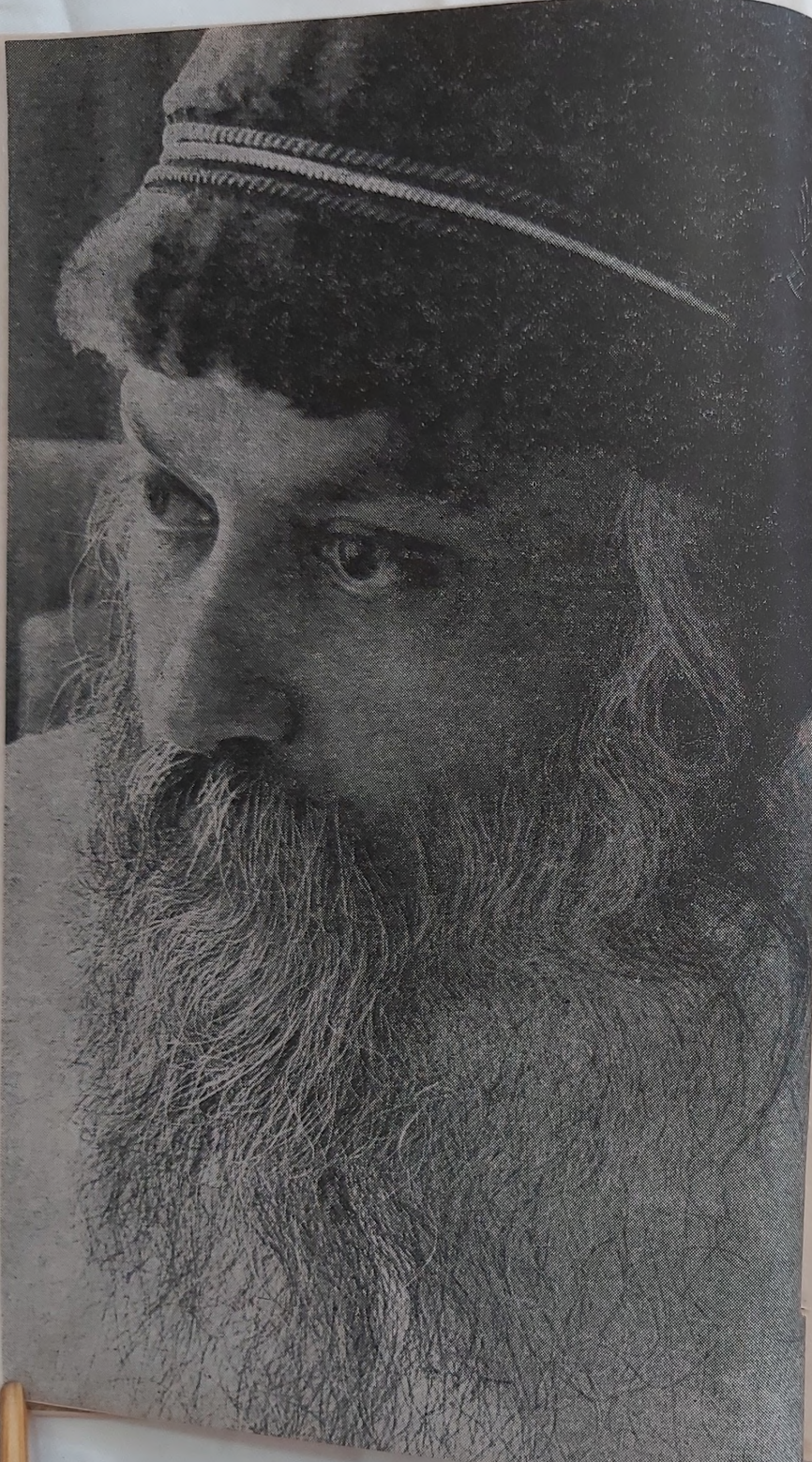
वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ४ ॥

अंततः वे ही योगी लोग परमतत्त्व को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं, जो वेदांत में निहित विज्ञान का सुनिश्चित अर्थ जानते हैं और संन्यास व योगाभ्यास से अंतःकरण को परिशुद्ध करके ब्रह्मलोक में जाने का प्रयत्न करते हैं ॥ ४ ॥

चौथा प्रवचन; माउंट आबू, २७ मार्च १९७२, प्रातः

अज्ञान व ज्ञान के विसर्जन में परम अनुभव
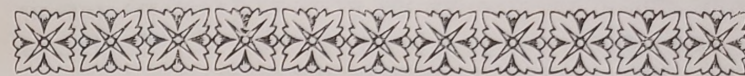
कुछ शब्दों के अर्थ समझने से इस सूत्र को शुरू करें।

पहला शब्द है -- वेदांत। वेदांत से सदा ही ऐसा समझा जाता रहा है कि वेद जिन उपनिषदों में पूरे होते हैं, वे उपनिषद; वेद जहाँ अपने शिखर को पाते हैं, वे उपनिषद वेदांत हैं। पर वैसा अर्थ बहुत गहरा नहीं है और सही भी नहीं।

वेदांत का अर्थ है . . . वेद का अर्थ है : ज्ञान . . . जहाँ समस्त ज्ञान का अंत हो जाता है, जहाँ समस्त ज्ञान समाप्त हो जाता है। जहाँ जानना भी छूट जाता है, सिर्फ होना ही रह जाता है। वेदांत का ठीक-ठीक अर्थ है : जहाँ जानने की भी अशांति नहीं रह जाती। जहाँ सिर्फ होना ही रह जाता है।

जानना भी एक तनाव है। आप खड़े हैं एक वृक्ष के पास और फूल को जानते हैं, तो जानना एक तनाव है। जानना भी एक अशांति है। जानने में भी आप थक जाएँगे। जानने से भी आप ऊब जाएँगे। थोड़ी देर में आप जानने से भी बचना चाहेंगे। क्योंकि जानना एक क्रिया है, चेष्टा है। और जानने में आप दूसरे से संबंधित होते हैं। जानने का अर्थ ही यह होता है, ज्ञाता और ज्ञेय के बीच जो संबंध निर्मित होता है, ज्ञाता और ज्ञेय के बीच जो सेतु बनता है, उसीका नाम जानना है। यह जानना भी आखिरी अशांति है। यह आखिरी तनाव है। यह जानना भी जहाँ छूट जाता है, सिर्फ होना ही रह जाता है, उस होने में जहाँ जानने की तरंग भी नहीं उठती, जहाँ कुछ जाना भी नहीं जाता, जहाँ कोई जानने की आकांक्षा भी नहीं है, उस परम विश्राम के क्षण में ही वेदांत उपलब्ध होता है।

वेदांत का अर्थ है — ज्ञान का जहाँ अंत हो जाए। ज्ञान से भी जहाँ छुटकारा हो। ज्ञान भी गहरे में एक बंधन है।

इसे हम दो-चार मार्गों से समझें, तो खयाल आ सके।

दूसरे भी द्वंद्व हमारे पास हैं, उनमें समझना ज्यादा आसान है। जैसे, मैंने कल आपको कहा, दुख छूटे, सुख भी छूटे, तभी हम स्वयं में प्रवेश करते हैं। और

मैंने आपसे कहा, जब तक सुख न छूटे, तब तक दुख नहीं छूट सकता। यह हमारी समझ में आ जाता है। अब ठीक इसको हम इस दूसरे द्वंद्व पर भी समझें। अज्ञान छूटे, ज्ञान भी छूटे, तो ही परम अनुभव शुरू होता है। और जब तक ज्ञान न छूटे, तब तक अज्ञान भी नहीं छूटता। सुख और दुख एक द्वंद्व है। ज्ञान और अज्ञान भी एक द्वंद्व है। दुनिया में ज्ञानी हुए हैं, जिन्होंने कहा, अज्ञान छूटे। लेकिन सिर्फ इस भूमि पर ऐसे परम ज्ञानी हुए हैं जिन्होंने कहा, ज्ञान भी छूटे।

वेदांत का अर्थ है : जहाँ ज्ञान भी छूट जाता है। जहाँ ऐसा नहीं कि कुछ जानने को शेष रह जाता है; अज्ञान तो छूट ही जाता है, लेकिन मैं कुछ जानता हूँ, यह भाव भी छूट जाता है।

अब इसे हम एक और तरह से समझें।

अज्ञान का अर्थ होता है —— कोई चीज जिसे मैं नहीं जानता हूँ। अज्ञान मिट जाए तो एक स्थिति बनेगी जब मैं कह सकता हूँ मैं सब जानता हूँ। अज्ञान दूसरे से संबंधित था। कोई चीज़ अनजानी थी, इसलिए अज्ञान था। अज्ञान अहंकार को निर्मित नहीं करता। क्योंकि मैं नहीं जानता हूँ, तो अहंकार कैसे निर्मित होगा? ज्ञान अहंकार को निर्मित करता है। मैं जानता हूँ, तो 'मैं' मजबूत होता हूँ। अज्ञान वस्तुओं से संबंधित है, ज्ञान अहंकार से। तो जब मैं कहता हूँ मैं जानता हूँ, तो 'मैं' मजबूत होता है। जोर 'मैं' पर पड़ता है। और जब मैं कहता हूँ मैं नहीं जानता हूँ, तो मैं इतना ही कहता हूँ कि कोई चीज अनजानी है, अपरिचित है, नहीं जानता हूँ। अहंकार अज्ञान से मजबूत नहीं होता।

अज्ञान में भूलें होती हैं। अज्ञान में नासमझियाँ होती हैं। बहुत-बहुत नासमझियाँ होती हैं, बहुत-बहुत भूलें होती हैं। ज्ञान में एक ही भूल होती है, और एक ही नासमझी होती है, वह अहंकार है। अज्ञान में अनेक बीमारियाँ घेरती हैं, ज्ञान में एक ही बीमारी घेरती है। वह अहंकार है। मगर ध्यान रहे, सब बीमारियों का जोड़ भी अहंकार से छोटा पड़ता है।

तो प्रक्रिया है ज्ञान से अज्ञान को मिटाएँ। लेकिन फिर ज्ञान को पकड़ कर न बैठ जाएँ। पैर में मेरे काँटा गड़ जाए, तो एक दूसरे काँटे से उस काँटे को निकालना पड़ता है। लेकिन ध्यान रहे, दूसरा काँटा भी काँटा ही है। और अगर आपने ऐसा सोचा——जो कि बिलकुल तर्कयुक्त होगा——कि इस काँटे ने इतनी सहायता दी काँटा निकालने में, तो इसे काँटा न समझें, तो आप भूल में पड़ जाएँगे। यह निकाल ही इसलिए पाया पहले काँटे को क्योंकि यह भी काँटा है। और संभावना तो यह है कि यह पहले काँटे से ज्यादा मजबूत काँटा है, इसीलिए निकाल पाया। अगर आपने सोचा कि इसने इतनी कृपा की कि पहले काँटे से

छुटकारा दिलाया, तो अब जिस घाव में पहला काँटा था उसमें इस काँटे को रख लें तो यह तर्कयुक्त तो होगा——क्योंकि इसने इतनी सहायता की, वक्त पर काम दिया, और अब इसको छोड़ दें, यह अच्छा मालूम होता नहीं——तो आप काँटे से छूटे जरूर लेकिन और बड़े काँटे से बिंध गये। और अगर यह तर्क आपके मन में फँस जाए, तो आप काँटे से फिर कभी छुटकारा न पा सकेंगे।

अज्ञान में थोड़ा दुख था! अज्ञान चुभता था, घाव करता था, उसमें ही दुख था। अब घाव यह दूसरा काँटा करेगा, और दुख जारी रहेगा। इस काँटे को फेंक दें, सधन्यवाद! धन्यवाद जरूर दे दें, सेवा उसने की है, पर फेंक दें। वह भी काँटा ही है। अज्ञान को निकालना है ज्ञान से, लेकिन ज्ञान को रखकर मत बैठ जाएँ, यही वेदांत का निहित अर्थ है। फेंक दें ज्ञान को भी। ज्ञान की उपादेयता तभी तक है जब तक अज्ञान का काँटा नहीं निकला है। निकलते ही अज्ञान का काँटा, ज्ञान व्यर्थ है।

एक आदमी बीमार है। तो औषधि की जरूरत तभी तक है जब तक वह बीमार है। ठीक से समझें तो आदमी को औषधि की जरूरत नहीं है, बीमारी को औषधि की जरूरत है। आदमी औषधि नहीं खाता, बीमारी औषधि खाती है। तो जैसे ही बीमारी समाप्त हो जाती है, औषधि व्यर्थ हो जाती है।

ज्ञान आपको नहीं चाहिए, आपके अज्ञान की बीमारी को काटने की औषधिमात्र है। लेकिन अनेक ऐसे बीमार हैं कि बीमारी तो छूट जाती है, औषधि पकड़ जाती है। और ध्यान रहे, बीमारी से छुड़ाना आसान है, औषधि से छुडाना बड़ा मुश्किल है। अगर औषधि पकड़ जाए तो छुड़ाना बहुत मुश्किल है। क्योंकि औषधि दुश्मन नहीं मालूम होती, मित्र मालूम होती है। जो बीमारी शत्रु मालूम होती है, कठिन नहीं छूटना उससे। जो बीमारी मित्र मालूम होने लगी, उससे छूटना बहुत कठिन हो जाएगा। शत्रु से बचा जा सकता है, मित्र से बचना बहुत मुश्किल है। और ज्ञान ऐसा ही शत्रु है जो मित्र की तरह दिखायी पड़ता है। क्योंकि अज्ञान के शत्रु को हटाता है, तोड़ता है।

वेदांत का अर्थ है : ज्ञान के प्रति सचेत रहना, उसे भी पकड़ नहीं लेना है। अज्ञान छूटता है तो आदमी ज्ञानी होता है। और जब ज्ञान भी छूटता है तब आदमी अनुभवी होता है। ज्ञानी तो अश्वलायन भी था। महर्षि था, अनुभवी नहीं था। अज्ञान की जगह उसने ज्ञान को पकड़ लिया था। अनुभव से उतना ही वंचित था जितना अज्ञानी वंचित होता है। इसीलिए तो पूछने आना पड़ा है उसे गुरु के पास।

तो गुरु जो कह रहा है, उसमें पहली बात कही है उन्होंने—— परम तत्त्व को

प्राप्त करने के अंततः वे ही अधिकारी होते हैं जो वेदांत में निहित विज्ञान का सुनिश्चित अर्थ जानते हैं। तो पहला शब्द तो 'वेदांत' हम समझें। ज्ञान से मुक्ति।

दूसरी बात हम समझें-- 'वेदांत में निहित विज्ञान का सुनिश्चित अर्थ'।

जब तक कोई अनुभव को उपलब्ध नहीं होता तब तक सभी अर्थ अनिश्चित होते हैं। कितना ही आप जान लें, जानना आपको अनिश्चय के ऊपर नहीं ले जाता। बल्कि सच तो यह है कि जितना ज्यादा आप जानते हैं, उतना अनिश्चय बढ़ जाता है। पंडितों की कठिनाई यही है, वे इतना जानते हैं कि निश्चय खो जाता है। अज्ञानी बड़े निश्चित होते हैं।

इसलिए दुनिया में अज्ञानी जितना उपद्रव करवाते हैं, उतने ज्ञानी नहीं करवा पाते। क्योंकि अज्ञानी इतना सुनिश्चित मालूम पड़ता है खुद के भीतर कि वह किसी भी चीज में जी-जान लगा देता है। अज्ञानी की बीमारी यह है कि किसी भी चीज में जी-जान लगा सकता है। सुनिश्चित होता है। सुनिश्चयता उसकी बिलकुल भ्रांत है। न जानने के कारण है।

ज्ञानी एकदम अनिश्चित हो जाता है। कुछ भी करने जाए तो हजार विकल्प उसे दिखायी पड़ते है। एक-एक शब्द में हजार अर्थों की झलक मिलने लगती है। एक-एक सूत्र में हजार-हजार दिशाएँ प्रकट होने लगती हैं। कहाँ जाए, कैसे जाए, क्या चुने, जाना ही बंद हो जाता है, खड़ा हो जाता है। अज्ञानी जाने में बड़े तीव्र होते हैं। कहीं भी चले जाते हैं। क्योंकि उन्हें ज्यादा दिखायी नहीं पड़ता। एक ही मार्ग दिख जाता है थोड़ा तो उतनी झलक उनको ले जाने के लिए काफी है। लेकिन ज्ञानी चलने में असमर्थ हो जाते हैं। वे खड़े रह जाते हैं। क्योंकि वे कहते हैं, जब तक अर्थ ही तय न हो जाए....।

बुद्ध ने कहा है, एक पंडित को तीर लग गया था। बुद्ध पास से गुजरते हैं, तो उन्होंने कहा मैं यह तीर खींच दूँ। उस पंडित ने कहा, पहले यह साफ हो कि यह तीर किसने मारा? मारनेवाला मित्र है या शत्रु है? प्रयोजन क्या है? अगर मैं मर जाऊँगा तो यह बुरा होगा, या मैं बच जाऊँगा तो वह बुरा होगा? मेरा बचना सुनिश्चित रूप से हितकर है, या मेरा मर जाना? जब तक यह तय न हो जाए तब तक तीर को कैसे निकालें? फिर यह तीर जहर-बुझा है कि नहीं बुझा है? यह नियति है या संयोग है? यह मेरा भाग्य है, या सिर्फ एक दुर्घटना है? यह सब साफ हो जाए, फिर तीर को खींचें।

तो बुद्ध ने कहा-- यह साफ तो शायद कभी न हो पाएगा। एक बात साफ है कि इसे साफ करने में तुम मिट जाओगे। लेकिन उस पंडित ने कहा, बिना सुनिश्चय किये कुछ कार्य करना उचित भी तो नहीं है।

अज्ञानी तीव्रता से चला जाता है अंधकार में भी। ज्ञानी को अगर प्रकाश भी दिखायी पड़े तो इतने रूपों में दिखायी पड़ता है कि खड़ा रह जाता है, चल नहीं पाता।

इसलिए दूसरा अर्थ हम समझ लें सुनिश्चित सुनिश्चितता का।

एक सुनिश्चय है अज्ञान का, अनिश्चय है ज्ञान का। फिर एक और सुनिश्चय है अनुभव का। और अनुभवी जब सुनिश्चित होता है, तब एक अर्थ में वह पुनः अज्ञानी जैसा सुनिश्चित हो जाता है।

रामकृष्ण के पास विवेकानंद जाते हैं तो रामकृष्ण बिलकुल सुनिश्चित हैं। विवेकानंद पूछते हैं कि ईश्वर है? तो रामकृष्ण कहते हैं, यह बेकार की बात क्यूँ करनी, तुझे मिलना है? यह उत्तर ज्ञानी के पास नहीं मिल सकता था। विवेकानंद ज्ञानी के पास भी गये थे। महर्षि देवेंद्रनाथ के पास भी गये थे। महर्षि थे। अश्वलायन जैसे ही महर्षि थे।

विवेकानंद देवेंद्रनाथ के पास जाकर भी यही पूछे थे-- ईश्वर है? मगर पूछने का ढंग ऐसा था कि ज्ञानी घबड़ा गया। विवेकानंद ने कोट का कालर पकड़ कर, हिलाकर पूछा--ईश्वर है? झिझक गये देवेंद्रनाथ। कहा कि बैठो। आहिस्ता से बैठो। फिर मैं बताऊँ। लेकिन विवेकानंद ने कहा-- आपकी झिझक ने सब कुछ कह दिया। आप झिझक गये, आपका उत्तर एक झिझक से आ रहा है। आपको भी पता नहीं है। जानते होंगे आप बहुत कुछ उसके संबंध में, उसे नहीं जाना है।

ठीक यही-की-यही बात रामकृष्ण से पूछी। लेकिन रामकृष्ण! रामकृष्ण ने उल्टी हालत पैदा कर दी। रामकृष्ण ने कहा कि यह फिजूल की बातचीत मत कर! तुझे मिलना हो तो बोल! यह प्रश्न के उत्तर में दूसरा प्रश्न था। और इसने विवेकानंद को झिझका दिया। और विवेकानंद ने कहा-- यह तो मैं अभी सोचकर नहीं आया था। अभी तो सिर्फ पूछने आया था। मुझे थोड़ा मौका दें तो मैं सोचूँ कि मुझे मिलना है या नहीं।

जब भी किसी अनुभवी के पास आप जाएँगे, तो उसकी सुनिश्चितता प्रगाढ़ है। उसकी प्रगाढ़ता को अगर हम ठीक से समझें, तो कहना होगा-- उसकी प्रगाढ़ता में विरोधी स्वर ही नहीं है।

सुना है मैंने, झेन फकीर हुआ-- बोकोजू। उसके पास एक नास्तिक मिलने गया। और उस नास्तिक ने कहा-- मैं तो ईश्वर को नहीं मानता हूँ। तो बोकोजू के शिष्यों ने समझा कि अब बोकोजू उसे समझाएगा कि ईश्वर है। लेकिन बोकोजू ने कहा--तो मत मानो। तो उस नास्तिक ने कहा--आप मुझे समझाएँगे नहीं? तो

बोकोजू ने कहा कि तुम्हारे न मानने से अगर उसके होने में जरा भी बाधा पड़ती, तो मैं समझाता। मत मानो! लेकिन नास्तिक आग्रहशील था और बोकोजू को विवाद में खींचना चाहता था। तो उसने कहा--नहीं, इतने से मैं लौट जानेवाला नहीं हूँ। या तो तुम कहो कि वह है, तो सिद्ध करो। और अगर सिद्ध नहीं करते हो, तो कहो कि वह नहीं है। तो ही मैं जा सकता हूँ।

तो बोकोजू ने कहा इसमें कोई कठिनाई नहीं है। मैं कहता हूँ कि ईश्वर नहीं है। नास्तिक थोड़ा घबड़ाया और उसने कहा कि तुम कहते हो नहीं है! बोकोजू, तुम कहते हो कि नहीं है!! बोकोजू ने कहा कि मेरे यह कहने से भी उसके होने में कोई फर्क नहीं पड़ा। और मैं उसके संबंध में इतना आश्वस्त हूँ कि इनकार भी कर सकता हूँ। उसके होने में इतना आश्वस्त हूँ कि मुझे उसको इनकार करने में भी डर नहीं लगता। वह है ही। इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता कि बोकोजू क्या कहता है। मेरी बातें बेकार हैं। हाँ कहूँ, ना कहूँ, उसके होने में कोई फर्क नहीं पड़ता। और फिर मैं इतना आश्वस्त हूँ। मैं कोई डरा हुआ आस्तिक नहीं हूँ कि मुझे भय लगे कि मैंने कह दिया नहीं है। सारा जगत नहीं कह दे, खुद ईश्वर मेरे सामने खड़ा होकर कह दे कि मैं नहीं हूँ, तो भी मैं हँसकर टाल सकता हूँ। वह है।

यह जो सुनिश्चय है, यह सुनिश्चय ज्ञान से नहीं आता। ज्ञान से अनिश्चय आता है। अज्ञान में सुनिश्चय है, पर वह अँधेरे का सुनिश्चय है। क्योंकि हम कुछ भी नहीं जानते, इसलिए निश्चित मालूम पड़ते हैं। वह निश्चय काम का नहीं है, खतरे का है। खतरनाक है। अंधे का निश्चय है, जो दीवाल में भी दरवाजा मान सकता है। इसलिए नहीं कि दरवाजा दिखायी पड़ता है, इसलिए कि दरवाजा दिखायी ही नहीं पड़ता। इसलिए कहीं भी मानें, मानना ही पड़ेगा। मानना ही उसके लिए उसका जानना है। अंधे को भी चलना तो पड़ेगा। और चलना है तो दरवाजा मानकर चलना पड़ेगा। टकराएगा सिर, तो भी कल किसी दूसरी दीवाल में दरवाजा मान लेगा और सुनिश्चित रहेगा, नहीं तो फिर पैर उठ नहीं सकते।

ज्ञानी खड़ा हो जाता है, ठिठक जाता है। अनेक दरवाजे दिखायी पड़ने लगते हैं। कौन-सा दरवाजा सही है? कौन-सा मार्ग उचित है? कौन-सी साधना से चलूं? कौन-सा पथ चुनूं? इन सब चुनाव और विचार में इतनी शक्ति व्यय होती है कि चलने योग्य कुछ बचता नहीं। और यह निर्णय करना अति कठिन है। यह निर्णय करना ऐसा ही कठिन है जैसे कोई आदमी कहे कि तैरना तो मुझे सीखना है, लेकिन जब तक मैं तैरना न सीख लूं तब तक पानी में कैसे उतरूं? और ठीक कहता है। क्योंकि पानी में उतर जाएँ बिना तैरना सीखे, तो खतरा है।

तो पहले तैरना सीख लें, फिर पानी में उतरें।

संगत है उसकी बात, लेकिन वह कभी पानी में अब उतर न पाएगा। क्योंकि तैरना सीखने के लिए भी पानी में ही उतरना पड़ता है। असल में जिसे भी तैरना सीखना है, उसे बिना तैरना जाने ही पानी में उतरने का साहस जुटाना पड़ता है। तभी तो वह तैरना सीख पाता है। ज्ञानी तट पर खड़ा हो जाता है और सोचने लगता है मार्गों के, द्वारों के, विचारों के, सिद्धांतों के बीच--किसको चुनूं? कौन-सी नाव मुझे पार ले जाए? पार जाना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता है, जितना नावें महत्त्वपूर्ण दिखायी पड़ने लगती हैं--कि कोई नाव डुबा तो न देगी? कहीं नाव गलत तो न ले जाएगी? दिशा कहीं भ्रांत तो न हो जाएगी? खेवैया जो चुन रहा हूँ, वह पहुँचा पाएगा या नहीं पहुँचा पाएगा? ज्ञानी दिग्भ्रांत हो जाता है। अज्ञानी अंधा होता है, ज्ञानी दिग्भ्रांत हो जाता है। अज्ञानी कुछ भी पागलपन करने में उतर जाता है, ज्ञानी के सामने मार्ग भी आ जाए तो भी सोच-विचार में चूक जाता है।

तो सुनिश्चित अर्थ का अर्थ है--अनुभव के अतिरिक्त वेदांत का जो सुनिश्चित अर्थ है वह प्रगट नहीं होगा। तो जिन्हें जानना है, अनुभव करना है--जानना नहीं, अनुभव करना है--पहचानना है, प्रत्यभिज्ञा करनी है उस अर्थ की जो वेदांत में छिपा है, उन्हें अनुभव से चलना पड़े।

और ध्यान रहे, अगर कोई गलत मार्ग पर भी चला जाए, साहसपूर्वक, बोधपूर्वक, समझपूर्वक, तो गलत मार्ग पर जाकर भी अनुभव के द्वार खुलते हैं। खड़े रहने की बजाय तो गलत मार्ग पर चला जाना भी बेहतर है। क्योंकि खड़ा हुआ आदमी सही तो दूर, गलत भी नहीं कर पाता। खड़ा हुआ आदमी कहीं पहुँचता ही नहीं। और गलत भी कोई चला जाए तो भी यह जानना, यह पहचानना, यह यात्रा अनुभव बनती है, प्रौढ़ता लाती है। कोई चीज बढ़ती है भीतर। एक तो कम-से-कम पक्का हो जाता है कि इस तरह के गलत मार्ग पर यह आदमी दुबारा न जाए। यह भी कम नहीं है। और हम गलत कर-कर के ही तो सही की तरफ जाना सीखते हैं। और कोई उपाय भी तो नहीं है।

भूल करना बुरा नहीं है, एक ही भूल बार-बार दोहरानी बुरी है। भूल करना जरा-भी बुरा नहीं है। जिस आदमी ने ऐसा समझा कि भूल करना बुरा है, वह कुछ कर ही न पाएगा। और जो लोग सही तक पहुँचते हैं, वे वे ही लोग हैं जो अदम्य साहस से भूलें करने की हिम्मत रखते हैं।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि कोई एक ही भूल को बार-बार किया जाए। जो एक ही भूल को बार-बार करता है, वह भी कहीं नहीं पहुँचेगा। रोज

नयी भूल करने की हिम्मत चाहिए। वही खोजी का लक्षण है। जब भूल समझ में आ जाए, तो कुछ आपके हाथ लगा। कुछ बारीक सूक्ष्म चीज आपके हाथ में आ गयी। आप आगे बढ़े, आप वही न रहे। जिसने भूल की थी, अब आप वही आदमी नहीं हैं। आप दूसरे हो गये।

असत्य को असत्य की भाँति जान लेना सत्य की पहचान बन जाती है। भूल को भूल की तरह देख लेना ठीक की तरफ यात्रा का प्रारंभ हो जाता है।

अनुभव पर जोर वेदांत का है। सिर्फ जानकारी पर जोर नहीं है। जानकारी ज्ञान दे देती है और आदमी ठिठक कर खड़ा हो जाता है और चलने की क्षमता खो देता है। चलने की क्षमता तो वैसी ही होनी चाहिए जैसी अज्ञानी में होती है, और ज्ञान की प्रगाढ़ता वैसी होनी चाहिए जैसी ज्ञानी में होती है। अगर ज्ञानी का ज्ञान और अज्ञानी का साहस संयुक्त हो जाएँ, तो अनुभव का जन्म होता है। ज्ञानी का बोध, जागरूकता और अज्ञानी का साहस, ये संयुक्त हो जाएँ तो अनुभव शुरू होता है। लेकिन यह कठिन पड़ता है। जब तक अज्ञानी होते हैं तब तक बड़ा साहस होता है। और जब ज्ञानी हो जाते हैं, तो बोध तो आता है लेकिन साहस खो जाता है। जब आँखें मिलती हैं, तब पैर लँगड़े हो जाते हैं और जब पैर ठीक होते हैं, तो आँखें नहीं होतीं।

हमने सुनी है पंचतंत्र की सभी ने कथा कि एक अंधे और लँगड़े को, जंगल में आग लग गयी तो निकलना मुश्किल हो गया। वह कथा बच्चों की कथा नहीं है। वह कथा वेदांत की कथा है। हम बच्चों को पढ़ाते हैं, वह बूढ़ों को पढ़ानी चाहिए। वह कथा यह कहती है कि हर आदमी ऐसी स्थिति में है कि या तो वह अंधा है, तो देख नहीं सकता और जंगल में आग है! और या वह लँगड़ा है, देख सकता है तो भाग नहीं सकता; जंगल में आग है! और इस अंधे और लँगड़े के बीच अगर कोई संबंध न हो जाए, तो वह जलेगा इस जंगल में ही। वह निकल नहीं सकता बाहर। वह जन्मों-जन्मों तक जलेगा।

यह अंधा और लँगड़ा हमारे भीतर की घटनाएँ हैं। अज्ञान अंधा है, ज्ञानी लँगड़ा है। और किसी-न-किसी तरह इस लँगड़े के कंधे पर बिठाना पड़े; क्योंकि यह देख सकता है। और किसी-न किसी तरह इस अंधे को राजी होना पड़े चलने के लिए, क्योंकि यह चल सकता है। जिस दिन अज्ञानी के पैर और ज्ञानी की आँखों का मिलन होता है, अनुभव की यात्रा शुरू होती है। और अनुभव से सुनिश्चितता मिलती है।

मेरे पास न-मालूम कितने लोग आते हैं। किसीकी तकलीफ अंधापन है और किसीकी तकलीफ लँगड़ापन है। और एक दफा अंधे को तो राजी करना आसान

भी हो जाए, लँगड़ों को राजी करना बहुत मुश्किल है, क्योंकि उनको वहम है कि उनको दिखायी पड़ता है। उनको वहम है कि उनको दिखायी पड़ता है। और वे यह भूल ही गये हैं कि चलने की टाँगें उनकी बिल्कुल टूट गयी हैं। उन्होंने यह देखना चलने की कीमत पर पाया है। तो देखने तो वे लगे हैं, लेकिन पैरों की सारी ऊर्जा आँखों में आ गयी है। अब पैर चलते नहीं, अब देखकर भी क्या होगा? इसलिए अज्ञानी उतना दुखी नहीं होता—दुखी तो होगा ही, क्योंकि अज्ञानी है—ज्ञानी बहुत दुखी हो जाता है, क्योंकि उसे अब दिखायी भी पड़ता है और चल भी नहीं पाता।

ऐसे लोग हैं, जो कहते हैं हमें मालूम है कि ठीक क्या है, लेकिन कर नहीं पाते। हमें पता है कि शुभ क्या है, लेकिन आचरण में नहीं आता। हमें पता है कि क्या होना चाहिए, वही नहीं हो पाता। और हमें पता है कि क्या नहीं होना चाहिए, वही हमसे रोज होता है। इसकी पीड़ा बढ़ ही जाएगी। ज्ञानी की जो पीड़ा है, संताप है, वह गहन हो जाएगा। दिखायी पड़ता है, पास ही दिखायी पड़ता है कि सरोवर है, प्यास भी मालूम पड़ती है, लेकिन पैर उठते नहीं। अंधे की भी पीड़ा है। लेकिन वह पीड़ा एक जगह ठहरे होने की नहीं है। उसे दिखायी नहीं पड़ता कि कहाँ सरोवर है। प्यास का उसे पता है, पैरों में ताकत है, वह भागता रहता है—टकराता है, गिरता है, दुख पाता है। उसका दुख जो है वह टकराने से, भटकने से, गिरने से, चोट खाने से होता है। ज्ञानी का दुख है, सरोवर दिखायी पड़ता है, प्यास मालूम पड़ती है, लगता है अभी प्यास और सरोवर का मिलन हो जाए, लेकिन पैर नहीं चलते।

तो किसी-न-किसी तरह आपको अपने भीतर के अंधे और अपने भीतर के लँगड़े को संयुक्त करना पड़े। साहस अंधा है। इसलिए जितना मूढ़ आदमी हो उतना साहसी होता है। इसलिए जिनमें हमें साहस की जरूरत रखनी पड़ती है, उनको मूढ़ बनाना पड़ता है। जैसे मिलिटरी में हमें जरूरत होती है कि आदमी में साहस रहे, तो उसे हमें मूढ़ बनाना होता है—सब चेष्टा करके; उसमें बुद्धि पैदा न हो पाए। क्योंकि सैनिक में अगर बुद्धि हो, तो वही खतरा होगा। वह खड़ा हो जाएगा। बंदूक चलाने के पहले पूछेगा कि चलाना कि नहीं चलाना? अमरीका उस भूल में पड़ रहा है। वह अपने सैनिकों को काफी सुशिक्षित कर रहा है। वह हारेगा जगह-जगह। क्योंकि सुशिक्षित सैनिक अशिक्षित सैनिक के सामने कभी नहीं जीत सकता।

यह दुनिया की बड़ी अनूठी घटना है कि इतिहास में सदा ऐसा हुआ है कि सुशिक्षित कौमें अशिक्षित कौमों से हमेशा हारती हैं। भारत में यह हजार बार हुआ

है। भारत की बड़ी-से-बड़ी हारों का कारण यह था कि हमारा सैनिक ज्यादा सुशिक्षित था और जो बर्बर हमला कर रहे थे, वे बिलकुल अशिक्षित थे। उनमें साहस ज्यादा था। इनमें बुद्धि ज्यादा थी। ये बिलकुल लँगड़े थे। उनसे नहीं टिक सके।

दुनिया में जब भी कोई सभ्यता ऊँचाई पर पहुँचती है, तो हार के करीब पहुँच जाती है। क्योंकि कोई भी नीची सभ्यता उसको मिटा डालेगी, क्योंकि उसके पास ज्यादा मूढ़ सैनिक होते हैं। मूढ़ता में एक अदम्य साहस होता है। समझदारी में झिझक आ जाती है। और ये दोनों का मेल हो, तो ही वेदांत का सुनिश्चित अर्थ खुल पाता है।

तीसरे, इस संन्यास शब्द का हम अर्थ समझ लें, फिर सूत्र को लेंगे। 'वेदांत में निहित विज्ञान का जो सुनिश्चित अर्थ जानते हैं और संन्यास व योगाभ्यास से अंतःकरण को परिशुद्ध कर लेते हैं, वे ही अंततः उस ब्रह्म को उपलब्ध होते हैं, उसे पाने के अधिकारी होते हैं।'

संन्यास और योग। यहाँ संन्यास और योग का जो अभिप्राय है, वह एक प्रक्रिया के निषेध और विधेय का है। संन्यास शब्द 'निगेटिव' है। उसका अर्थ है : सम्यक त्याग। छोड़ना। योग शब्द विधायक है, 'पॉज़िटिव' है। उसका अर्थ है--अभ्यास, पाना। संन्यास का अर्थ है--छोड़ना गलत का। और योग का अर्थ है--पाना सही का। संन्यास का अर्थ है-- जो व्यर्थ है, उसे छोड़ो। और योग का अर्थ है-- जो सार्थक है, उसे खोजो। संन्यास और योग एक ही प्रक्रिया के दो हिस्से हैं।

जैसे एक आदमी बीमार है और चिकित्सक उसे कहता है, यह औषधि लो और यह व्यायाम करो। तो औषधि संन्यास है और व्यायाम योग है। औषधि बीमारी को काटेगी, स्वास्थ्य नहीं दे सकती। औषधि निषेधात्मक है। बीमारी को काटेगी, बीमारी को हटाएगी। व्यायाम विधायक है, स्वास्थ्य को जन्माएगा। और ये दोनों एक ही प्रक्रिया के हिस्से हैं। शायद अकेला व्यायाम कारगर न हो। अगर बीमारी बैठी हो, तो यह भी हो सकता है कि व्यायाम बीमारी का व्यायाम बन जाए और बीमारी और मजबूत हो जाए। या व्यायाम शरीर को और क्षीण कर दे, और बीमारी की शक्ति और बढ़ जाए। अकेली औषधि भी काफी न होगी क्योंकि औषधि केवल बीमारी को काट देगी, लेकिन विधायक स्वास्थ्य को नहीं जन्माएगी। विधायक स्वास्थ्य तो जीवंत श्रम से पैदा होगा। स्वास्थ्य तो स्वयं पैदा करना पड़ेगा। औषधि केवल उस चीज को हटा देगी, जिससे स्वास्थ्य के पैदा करने में बाधा पड़ती थी।

औषधि जैसा है संन्यास। और व्यायाम जैसा है योग। जो गलत है, उसे

छोड़ो; और जो सही है, उसे करने में लगो। और तभी अंतःकरण शुद्ध होगा।

आमतौर से योग में लगे हुए लोग सोचते हैं-- योग पर्याप्त है, संन्यास की कोई जरूरत नहीं। और ऐसी ही दुर्घटना तब दुबारा भी घटती है कि संन्यासी हो गये लोग सोचते हैं-- संन्यास काफी है, योग की क्या जरूरत रही! छोड़ दिया सब जो गलत था, संसार छोड़ दिया, सब त्याग कर दिया, अब और क्या पाने को रहा! जैसे त्याग ही पर्याप्त है। त्याग तो केवल उस जगह को खाली करना है, जहाँ गलत बैठा था। उस सिंहासन से हमने गलत को हटा दिया, लेकिन अभी सही को निमंत्रण भी देना पड़ेगा। अभी उस राजा को भी बुलाना पड़ेगा, आमंत्रण भेजना पड़ेगा, जो उसका मालिक है और उस सिंहासन पर होना चाहिए। योग के बिना यह न हो पाएगा।

बहुत बार हमारे इस मुल्क में भी, इस मुल्क के बाहर भी यह दुर्घटना घटी है। जिन-जिन धर्मों ने संन्यास पर जोर दिया, उन-उन धर्मों में योग धीरे-धीरे खो गया। जैसे जैन-धर्म। महावीर महायोगी हैं, लेकिन जैन-धर्म का अधिकतम जोर त्याग पर रहा, तो आज जैन-साधु योग से बिलकुल अपरिचित है। जैन-साधु को योग से कोई संबंध ही नहीं रहा। योग से, ध्यान से, विधायक अभ्यास से उसके संबंध टूट गये, क्योंकि सोचा कि त्याग काफी है। गलत खाता नहीं, गलत सोता नहीं, गलत बोलता नहीं, कुछ गलत करता नहीं हूँ; तो गलत बिलकुल छोड़ दिया तो खयाल में भ्रांति आती है कि सही हो गया। गलत छोड़ देने से सही नहीं हो जाता। गलत छोड़ देने से सही के होने की संभावना भर पैदा होती है। सही को भी जन्माना पड़ता है। सही को विधायक चेष्टा से जन्माना पड़ता है।

या जैसे हिंदू-धर्म के साथ घटित हुआ। योग पर बहुत जोर हुआ, तो हिंदू--जिसे हम साधु कहें, वह योग तो साधता है, आसन साधता है, सब कुछ करता है, लेकिन त्याग उसका बिलकुल क्षीण हो गया। इसलिए अगर हिंदू-साधु को और जैन-मुनि को सामने रखें तो जैन-मुनि के त्याग की प्रखरता अलग दिखायी पड़ेगी--हिंदू-साधु के त्याग में कुछ नहीं दिखायी पड़ेगा; कुछ नहीं दिखायी पड़ेगा, लेकिन हिंदू-साधु के पास योग की व्यवस्था दिखायी पड़ेगी और जैन-साधु के पास योग की कोई व्यवस्था नहीं दिखायी पड़ेगी। ये दोनों ही अपंग हैं फिर। अगर ये दोनों साथ नहीं, तो अपंग हो जाएँगे।

निषेध और विधेय की सम्यक प्रक्रिया से अनुभव का जन्म होता है। उस परम को पाने के लिए निषेध और विधेय दो पैर हैं। न तो दायें पैर से चलेगा, न बायें पैर से चलेगा, दोनों पैर से चलना होता है।

चलना एक बहुत सूक्ष्म क्रिया है और बहुत मजेदार। उसे थोड़ा समझ लेना

चाहिए। अगर आपसे पूछा जाए कि आप बायें पैर से चलते है कि दायें पैर से; तो न तो कोई दायें पैर से चल सकता है, न कोई बायें पैर से चल सकता है। और चलने की पूरी प्रक्रिया यह है कि जब मेरा बायाँ पैर पृथ्वी पर रखा होता है तब मेरा दायाँ पैर उठ पाता है। सिर्फ बायें पैर के जमीन पर रखे होने के कारण ही दायाँ पैर जमीन छोड़ पाता है। और जब दायाँ पैर जमीन पर रुक जाता है तब बायाँ पैर जमीन छोड़ पाता है। एक पैर रुका होता है, एक पैर चला होता है। रुका हुआ पैर चले हुए पैर का आधार है। चला हुआ पैर रुके हुए पैर के लिए आगे का निमंत्रण है। इन दोनों के बीच वह घटना घटती है जिसे हम गति कहते हैं, चलना कहते हैं। निषेध और विधेय साधक के लिए दो पैर हैं। विधेय का पैर जमीन पर मजबूती से न रखा हो, तो निषेध का पैर हिलता रहे आकाश में, गति नहीं होगी। संन्यास कितना ही हो, योग के बिना गति नहीं होगी। और योग कितना ही हो, संन्यास के बिना गति नहीं होगी। संन्यास और योग के बीच एक सामंजस्य खोज लेना अनुभव बनता है।

'संन्यास व योगाभ्यास से अंतःकरण को परिशुद्ध करके ब्रह्मलोक में प्रवेश के अधिकारी होते हैं।' अंतःकरण की परिशुद्धि, अंतःकरण का पूर्ण शुद्ध हो जाना ही ब्रह्मलोक में प्रवेश है। वह जो हमारे भीतर छिपा है, वह जिस दिन अपने पूरे परिशुद्ध रूप में आ जाता है, अपने पूरे स्वभाव में, अपने स्वधर्म में, वही हो जाता है जैसा वह है।

इस आखिरी शब्द को और समझ लें।

अशुद्ध का अर्थ क्या होता है? हम कहते हैं, पानी और दूध को मिला दिया तो दूध अशुद्ध हो गया। यह बहुत मजे की बात है। अगर पानी भी बिलकुल शुद्ध था और दूध भी बिलकुल शुद्ध था, तो दोनों मिलकर अशुद्ध क्यों हो गया? दोहरे शुद्ध हो जाना चाहिए। पानी बिलकुल शुद्ध था, दूध बिलकुल शुद्ध था, दोनों को मिला दिया तो हम कहते हैं अशुद्ध हो गया। कौन अशुद्ध हुआ? पानी अशुद्ध हुआ कि दूध अशुद्ध हुआ? और क्यों? क्योंकि दोनों शुद्ध थे तो दो शुद्ध मिलकर तो दोहरी शुद्धि हो जानी चाहिए। महाशुद्ध हो जाने चाहिए। लेकिन अशुद्ध हो गये।

तो अशुद्ध का मतलब क्या है? अशुद्ध का मतलब केवल इतना ही है कि जो पानी का स्वभाव नहीं है वह पानी में आ गया और जो दूध का स्वभाव नहीं है वह दूध में आ गया। दूध के शुद्ध होने का इतना ही मतलब है कि दूध में सिर्फ दूध का स्वभाव था, तो वह शुद्ध था। और पानी में सिर्फ पानी का स्वभाव था, तो वह शुद्ध था।

शुद्ध का एक ही अर्थ होता है-- विजातीय मौजूद न हो। मेरा जो स्वभाव है, निपट वही रह जाए। उसमें कोई विजातीय मौजूद न हो।

तो अंतःकरण के शुद्ध होने का क्या अर्थ है? अंतःकरण के शुद्ध होने का यह अर्थ नहीं कि एक आदमी चोरी नहीं करता, तो अंतःकरण शुद्ध हो गया; कि एक आदमी बेईमान नहीं है, तो अंतःकरण शुद्ध हो गया; कि एक आदमी पैसा नहीं छूता, तो अंतःकरण शुद्ध हो गया। नहीं। अंतःकरण का शुद्ध होने का अर्थ है, एक आदमी के भीतर अब उसकी स्वयं की अंतरात्मा के अतिरिक्त और कोई चीज प्रवेश नहीं करती। उसके भीतर वह अकेला ही रह गया। अब कोई उसके भीतर जाता, नहीं। कोई! चोरी नहीं, अचोरी भी नहीं जाती। हिंसा नहीं, अहिंसा भी भीतर नहीं जाती। अज्ञान नहीं, ज्ञान भी भीतर नहीं जाता। अमृत भी भीतर नहीं जाता जहर तो भीतर जाता ही नहीं। नहीं, कुछ भीतर नहीं जाता। मैं भीतर वही रह गया जो मैं हूँ। उससे अन्यथा मेरे भीतर कुछ न रहा तो मैं शुद्ध हो गया। यह शुद्धता ही ब्रह्मज्ञान बन जाती है। इस शुद्धता के लिए अब और कुछ करने की जरूरत नहीं रह जाती।

स्वभाव को उपलब्ध कर लेना ही धर्म है। वैसे हो जाना जैसा कि होना मेरी आंतरिक-नियति है, धर्म है।

इसलिए कृष्ण ने बहुत जोर देकर स्वधर्म की बात की है। लेकिन लोग समझते हैं शायद स्वधर्म से कि कोई हिंदू है, तो हिंदू बना रहे; कोई मुसलमान है, तो मुसलमान बना रहे। इन धर्मों से स्वधर्म का कोई लेना-देना नहीं है। स्वधर्म का मतलब ही इतना है कि जो भी भीतर है, जो स्वयं का धर्म है, जो 'स्व' का धर्म है, जो स्वभाव है मेरा, मैं उससे विचलित न होऊँ, उसीमें ठहर जाऊँ।

इसलिए कृष्ण ने कहा कि अपने धर्म में नष्ट हो जाना भी ठीक है। अपने धर्म में असफल हो जाना उचित है, बजाय दूसरे के धर्म में प्रवेश करने के। लेकिन यह दूसरे के धर्म का मतलब ऐसा नहीं कि मंदिरवाला मस्जिद में प्रवेश न करे; कि कुरानवाला गीता में प्रवेश न करे। दूसरे का धर्म का मतलब यह है कि मेरे अतिरिक्त सभी दूसरे हैं।

अगर कृष्ण ठीक से समझा पाएँ--जो कि बहुत कठिन है, क्योंकि समझाना सिर्फ समझानेवाले पर निर्भर नहीं है, समझनेवाले पर आधा निर्भर है--अगर कृष्ण ठीक से समझा पाएँ और अर्जुन ठीक से समझ लें, तो अर्जुन को कृष्ण से सब संबंध विच्छिन्न कर लेने चाहिए, तो वह स्वधर्म को उपलब्ध होगा। कृष्ण को भूल ही जाना चाहिए। अगर अर्जुन ठीक से समझ लें, तो गीता के अंत में उसे कृष्ण से कहना चाहिए कि तुम्हारी मैं बात बिलकुल समझ गया, मेरे सब संशय नष्ट हो

गये, अब तुम मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हें भूलता हूँ। अब तुमसे न पूछूंगा। अब मैं उसकी तलाश में लगता हूँ, जो स्वधर्म है।

चीन में हुई हाई एक फकीर हुआ। वह जब अपने गुरु के पास गया, तो उसके गुरु ने गुरु बनने से इनकार कर दिया। हुई हाई ने जितना गुरु ने इनकार किया उतने ही हाथ-पैर जोड़े, उतना ही सिर पटका उसके द्वार पर, लेकिन उसके गुरु ने कहा कि नहीं, गुरु मैं तेरा न बनूंगा; शिष्य चाहे तो तू मेरा बन सकता है। क्योंकि शिष्य बनना तेरे ऊपर निर्भर है, उसको मैं कैसे रोकूं? लेकिन गुरु बनना मुझ पर निर्भर है, मैं वह न बनूंगा। क्योंकि मेरी सारी शिक्षा ही यही है कि स्वधर्म में प्रवेश करना ही एकमात्र उपाय है। तो मैं तेरा गुरु बनूं तो कहीं तुझे स्वधर्म से बाहर न खींच लूं। तू शिष्य बन, वह तेरा काम है, वह तू जान। और जिस जिन तेरा शिष्य भी विलीन हो जाएगा, उस दिन समझना कि तूने मेरी बात पूरी समझ ली।

नहीं राजी हुआ तो हुई हाई शिष्य ही बनकर उसके पास रहा, बिना गुरु के। गुरु तो गुरु बनने को राजी नहीं हुआ। फिर वर्षों बाद––गुरु तो मर चुका है, बहुत समय हो गया––वर्षों बाद हुई हाई एक उत्सव मना रहा है। वह उत्सव चीन में गुरुपूर्णिमा जैसा उत्सव है। वह गुरु की स्मृति में मनाया जाता है। तो लोग हुई हाई से पूछते हैं कि तुम उत्सव मना रहे हो, लेकिन तुम्हारा गुरु कौन था? तुमने कभी बताया नहीं। नाम भी तो बताओ कि तुम किस गुरु की स्मृति में उत्सव मना रहे हो? तो हुई हाई कहता है कि वह ऐसा गुरु था, जिसने मुझे सब सिखाया लेकिन मेरा गुरु बनने को राजी नहीं हुआ। और आज मैं कह सकता हूँ कि अगर वह मेरा गुरु बन जाता, तो जो वह मुझे सिखाना चाहता था वह मैं नहीं सीख सकता था। उसने गुरु न बनकर ही मेरे गुरु होने का काम पूरा किया है। इसलिए उसकी याद में यह उत्सव मना रहा हूँ। उसने गुरु न बनकर ही गुरु होने का काम पूरा किया है। इसलिए यह उत्सव मना रहा हूँ। उसने मुझे स्वयं में प्रतिष्ठित किया है। उसने मुझे स्वयं के बाहर जाने से सब तरफ से रोका। और एक आकर्षण तो मुझमें भारी था कि अगर वह मुझे स्वीकार कर लेता, तो मैं उसके चरणों में पूरी तरह लग जाता। और मेरी सारी धारा बहिर्मुखी हो जाती। उसने उस धागे को भी तोड़ दिया। पत्नी से मैं छूट गया था, पिता से मैं छूट गया था, भाइयों से मैं छूट गया था, मित्रों से छूट गया था, संसार से छूट गया था, एक और मेरे लिए बहिर्गमन का मार्ग बचा था––वह गुरु––उसने उससे भी मुझे छुड़ा दिया। वह मेरे गुरु थे, क्योंकि उन्होंने मुझे मुझमें ही स्थापित कर दिया।

परिशुद्ध होने का अर्थ है––स्वयं की शुद्धता में जरा-भी 'पर' मौजूद न रह जाए वहाँ, 'स्व' ही शेष रहे; 'स्व' ही शेष रहे, एक ही स्वर रह जाए, मेरा ही, तो ब्रह्मज्ञान को उपलब्ध होता है।

अब इस पूरे सूत्र को मैं पढ़ देता हूँ––

'अंत में, अंततः वे योगी ही परम तत्त्व को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं, जो वेदांत में निहित विज्ञान का सुनिश्चित अर्थ जान पाते हैं, संन्यास और योगाभ्यास से अंतःकरण को परिशुद्ध कर लेते हैं और निरंतर ब्रह्म में जाने का प्रयत्न करते हैं।'

आज इतना ही।

अब हम ध्यान की तैयारी करें। 'दिस मच फॉर टुडेज़ मॉर्निंग टॉक। नाव वी विल गो फॉर मेडीटेशन। यू हैव टु डू इट सो टोटली दैट नथिंग इज़ लेफ्ट बिहाइंड। नो एनर्जी अनटच्ड, एवरी एनर्जी मस्ट बी ब्राट टु इट टोटली।' दूर-दूर फैल जाएँ। आँख पर पट्टियाँ बाँध लेनी हैं। कोई भी व्यक्ति आँख खोले हुए प्रयोग न करे। अगर आपके पास पट्टी न हो, तो भी आँख बंद रखनी है, एक।

दूसरा, अपनी जगह को छोड़कर न भागें। अपनी जगह को छोड़कर न भागें, अपनी जगह पर नाचें, कूदें, आनंदित हों––जो भी करना है।

तीसरी बात, आपको जो भी करना है आपको करना है, दूसरे के शरीर को जरा स्पर्श न करें। न दूसरे के शरीर को धक्का दें। अपनी जगह खुद ही अपना प्रयोग करें।

तैयार हो जाएँ। थोड़े दूर-दूर फैल जाएँ। भीड़ ज्यादा न करें एक जगह, अन्यथा फिर धक्के-मुक्के लगते हैं। थोड़े दूर-दूर फैल जाएँ। 'क्रिएट ए स्पेस अराउंड यू... फील दैट यू कैन मूव इज़िली... इफ समवन फील्स गोइंग नेकेड, वन कैन गो'... किसीको भी नग्न होना हो, वस्त्र अलग कर देने हों, अलग कर सकते हैं। आपको लगे कि वस्त्र अलग करने से आप ज्यादा स्वतंत्रता से अपनी अभिव्यक्ति कर सकते हैं, वस्त्र अलग कर सकते हैं। जो मित्र देखने आ गये हों, वे कृपा करके चुपचाप खड़े रहेंगे, या चुपचाप बैठ जाएँगे। बीच में बातचीत नहीं करेंगे।

ठीक, आँख पर पट्टियाँ बाँध लें। 'नाव क्लोज़ योर आइज़... क्लोज़ योर आइज़ एंड स्टार्ट दि फर्स्ट स्टेप...डीप, फास्ट ब्रीदिंग... हेमरिंग बाई ब्रीदिंग, जोर से श्वाँस... श्वाँस-ही-श्वाँस रह जाए... श्वाँस-ही-श्वाँस रह जाए... जोर से... जोर से...पूरी शक्ति श्वाँस पर लगा देनी है।

सात मिनिट...। जोर से... जोर से... तीन मिनिट और बचे हैं... पूरी

ताकत लगाएँ। 'थ्री मिनिट्स मोर टु फर्स्ट स्टेप...ब्रिंग योर टोटल एनर्जी टु इट...जस्ट ब्रीदिंग...फास्ट ब्रीदिंग...ब्रीदिंग...ब्रीदिंग...यूज ब्रीदिंग एज ए हेमरिंग इनसाइड...फास्ट...फास्ट...

दो मिनिट....। जोर से...एक मिनट के लिए पूरी ताकत लगाएँ--'फार वन मिनिट जस्ट गो मैड एंड ब्रीदिंग...ब्रीदिंग'...जोर से...फिर हम दूसरे चरण में प्रवेश करें...

'नाव एंटर दि सेकेंड स्टेप'...दूसरे चरण में प्रवेश करें...

नौ मिनिट...। एक मिनिट और...पूरे ताकत से, पागल हो जाएँ...'वन मिनिट...गो मैड कंप्लीटली'...

तीसरे चरण में प्रवेश करें...नाचें...हू-हू-हू-हू...हू...हू...हू...हू...हू...

पाँच मिनिट...। जोर से...जोर से...हू-हू...हू-हू...हू-हू...जोर से...जोर से। चार मिनिट और हैं...पूरी ताकत लगाएँ...चोट करें...चोट करें...चोट करें...हू-हू...तीन मिनिट...

एक मिनिट और...बिलकुल पागल हो जाएँ...हू-हू...'जस्ट गो मैड'...जोर से...जोर से...जोर से पूरी ताकत लगा दें...जोर से...हू-हू...हू-हू-हू...

बस, अब चौथे चरण में प्रवेश करें...शांत हो जाएँ...चौथे चरण में प्रवेश करें...शांत हो जाएँ...शांत हो जाएँ...बैठ जाएँ...लेट जाएँ...मुर्दे की भाँति पड़ जाएँ...शांत हो जाएँ...सब गति बंद कर दें...छोड़ दें...शांत...हो जाएँ...सब मिट गया...शांत...कोई आवाज नहीं, कोई गति नहीं...शक्ति का कोई उपयोग न करें...शक्ति का कोई भी उपयोग नहीं...शांत हो जाएँ...शक्ति जाग गयी, उसे भीतर काम करने दें, उसका उपयोग न करें...शरीर में बिलकुल उसका उपयोग न करें...

अपने दायें हाथ को माथे पर रख कर आहिस्ता से रगड़ लें...तीसरे नेत्र की जगह, दोनों भवों के बीच में, आहिस्ता से...धीरे-धीरे रगड़ें...और भीतर उस केंद्र पर बहुत कुछ होगा...अचानक जैसे कोई द्वार खुल जाए और प्रकाश-ही-प्रकाश फैल जाए...नहीं, आवाज नहीं...कुछ नहीं...भीतर काम करने दें...सिर्फ रगड़ें...प्रकाश-ही-प्रकाश...

बस रगड़ना बंद कर दें...चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश है...इसके साथ एक हो जाएँ...प्रकाश-ही-प्रकाश...प्रकाश के सागर में डूब गये...प्रकाश-ही-प्रकाश...अनंत प्रकाश का सागर...एक हो जाएँ...डूब जाएँ...खो दें अपने

को...विसर्जित कर दें...प्रकाश...प्रकाश...और प्रकाश की सघनता ही आनंद का प्रारंभ हो जाती है...प्रकाश के साथ एक होते ही आनंद के झरने फूटने शुरू हो जाते हैं...रोआँ-रोआँ, हृदय की धड़कन, श्वाँस-श्वाँस आनंद से भर जाएँ...अनुभव करें आनंद को, अनुभव करें...चारों ओर आनंद है...बाहर-भीतर आनंद है...आनंद में डूब गये...चारों ओर आनंद है...बाहर भीतर आनंद है...आनंद में डूब गये...एक हो गये...

दो मिनिट...। आनंद...आनंद...आनंद...रोआँ-रोआँ आनंद से भर गया है...आनंद...आनंद...आनंद...आनंद की सघनता ही परमात्मा की उपस्थिति बन जाती है...आनंद में गहरे उतर जाने से ही प्रभु का अनुभव शुरू हो जाता है...वह मौजूद है चारों ओर, अभी और यहीं...अनुभव करें...आनंद के साथ एक हो जाएँ और उसकी उपस्थिति शुरू हो जाए...अनुभव करें परमात्मा मौजूद है...चारों ओर वही है...बाहर-भीतर वही है...अनुभव करें प्रभु मौजूद है, चारों ओर वही घेरे हुए है...उसके ही सागर में डूब गये हैं और एक हो गये हैं...

अब पुनः अपनी दायें हाथ की हथेली को माथे पर रखकर आहिस्ता से रगड़ें...अचानक भीतर एक क्रांति घटित हो जाती है, ऊर्जा ऊपर के लोक में प्रवेश करती है...अब दोनों हाथ आकाश की ओर उठा लें और आँख खोल कर आकाश में झाँकें...आकाश में देखें...दोनों हाथ फैला लें...आकाश के आलिंगन के लिए...और आकाश को देखने दें भीतर, और हृदय में जो भी भाव हो, दो मिनट के लिए उसे प्रगट कर सकते हैं...जो भी आनंद...जो भी खुशी, जो भी भाव हो, प्रगट कर सकते हैं...संकोच न करें...छोड़ दें...जो भी भाव प्रगट हो उसे छोड़ दें दो मिनिट...

अब दोनों हाथ जोड़ लें और परमात्मा के चरणों में सिर रख लें...और एक ही भाव हृदय में रह जाए--प्रभु की अनुकंपा अपार है...प्रभु की अनुकंपा अपार है...प्रभु की अनुकंपा अपार है...

अब वापिस लौट आएँ ध्यान से...वापिस लौट आएँ...

सुबह का ध्यान पूरा हो गया।

विविक्त देशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः।
अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य।
हृतपुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ॥ ५ ॥

ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा वाले संन्यास आश्रम में स्थित, स्नानादि से अपने शरीर को शुद्ध करके, एकांत स्थान में अपना आसन लगाकर, सिर, गले व शरीर को एक सीध में रखकर, समस्त इंद्रियों को एकाग्र करके, श्रद्धा व भक्ति से अपने गुरु को प्रणाम करके, अपने हृदय-कमल से दोषों को निकाल कर दुख व शोक से परे उस विशुद्ध भक्ति-तत्त्व का सम्यक चिंतन करते हैं ॥ ५ ॥

पाँचवाँ प्रवचन; माउंट आबू, २७ मार्च १९७२, रात्रि

शरीर से अतादात्म्य ही शरीर का शुद्धीकरण
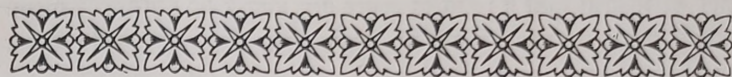
ध्यान के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ इस सूत्र में हैं। एक-एक सूचना को पहले हम अलग-अलग समझ लें, फिर पूरे सूत्र को पढ़ेंगे तो समझ में आ जाएगा।

पहली सूचना है—एकांत स्थान। लगेगा कि हम जानते ही हैं। लेकिन जिसे हम एकांत स्थान कहते हैं, ध्यान का उससे कोई भी संबंध नहीं। एकांत स्थान कहते हैं हम उस जगह को जहाँ कोई दूसरा मौजूद न हो, निर्जन हो, अकेले हों। कोई पहाड़ पर चला जाए, कि हिमालय की किसी गुफा में बैठ जाए, तो एकांत स्थान मिल गया। लेकिन इस एकांत स्थान का ध्यान से कोई भी गहरा संबंध नहीं है। उस एकांत में बैठकर भी व्यक्ति ध्यान में जा सकेगा, ऐसा नहीं है। बाहर के दूसरे छूट जाएँ तो भी भीतर दूसरे बने रहते हैं।

भीड़ से हम हट जाएँ, तो भी भीड़ हमारे भीतर छिपी है। ऐसा भी हो सकता है कि भीड़ में भी हम बैठे हों और एकांत में हों, और ऐसा भी हो सकता है कि एकांत में हों और भीड़ में बैठे हों। इस भीड़ में भी कोई अगर शांत होकर बैठ जाए और अपना स्मरण करे तो दूसरे भूल जाएँगे। इस भीड़ में भी बैठकर कोई अगर अपने स्मरण से भर जाए, तो दूसरों का स्मरण खो जाएगा। क्योंकि मन की एक अनिवार्य क्षमता यह भी है कि मन के समक्ष एक ही मौजूद हो सकता है एक क्षण में। अगर मैं अपने मन को अपनी ही मौजूदगी से भर दूँ, तो दूसरे गैर-मौजूद हो जाएँगे। चूँकि मैं अपने मन में मौजूद नहीं होता, इसलिए दूसरों की मौजूदगी बनी रहती है।

तो एकांत स्थान का जो अर्थ हम लेते हैं, वह बहुत गौण है। एकांत स्थान का अर्थ है: एक ऐसी जगह बैठ जाना—यह जगह बाहर की कम और भीतर की ज्यादा है—एक ऐसे स्थान में बैठ जाना—यह स्थान, यह 'स्पेस' बाहर की कम, भीतर की ज्यादा है—जहाँ दूसरा मौजूद न हो। बजार में भी कोई बैठा हो और उसके मन में दूसरा मौजूद न हो, तो वह एकांत में है। और ध्यान रखना भलीभाँति

कि अगर बजार में बैठकर एकांत नहीं हो सकता, तो एकांत में भी एकांत नहीं हो सकेगा। क्योंकि मन का एक दूसरा नियम आपसे कह दूँ—

जो मौजूद नहीं होता, उसकी याद आती है। जहाँ हम नहीं होते हैं, वहाँ होने की आकांक्षा होती है। इसलिए अक्सर ऐसा होता है कि बजार में बैठा हुआ आदमी सोचता है, एकांत में होते तो कितना अच्छा होता। और एकांत में बैठा हुआ आदमी अक्सर बाजार की वासना से भर जाता है। मन, जहाँ हम होते हैं वहाँ से ऊब जाता है, और जहाँ हम नहीं होते वहाँ रस लेने लगता है।

मनस्विद पश्चिम में सलाह देते हैं कि पति-पत्नी को बहुत निकट नहीं रहना चाहिए, अन्यथा उनका प्रेम समाप्त हो जाएगा। उनकी सलाह एक अर्थ में सही है। और पूरब के लोग इस सलाह को बिना मनोविज्ञान से समझे बहुत दिन तक प्रयोग किये। पति-पत्नी का मिलना इतना मुश्किल था जितना अब प्रेमी और प्रेयसी का मिलना भी नहीं है— पूरब में। दिन भर तो मिल नहीं सकते थे; रात के अँधेरे में, वह भी चोरी-छिपे, तो प्रेम लंबा चलता था। उस लंबे चलने का कारण यह था कि जो चौबीस घंटे उपलब्ध नहीं है, उसके प्रति रस मन का बना रहता है। जो चौबीस घंटे उपलब्ध है, उसके प्रति रस क्षीण हो जाता है। इसीलिए जब हमें कोई चीज मिल जाती है, तो मिलते ही बेकार हो जाती है।

सोचते थे बहुत दिन से कि एक बड़ा मकान बन जाए, वह बन गया। फिर दो-चार-आठ दिन बाद पाएँगे कि वह व्यर्थ हो गया। उतनी भी सार्थकता न निकली उसकी जितनी कि सपनों में थी। सपनों में जितना रस दिया था उस बड़े मकान ने, वह बनकर भी नहीं दे पाता। महीने-दो महीने बाद तो वह भूल ही जाएगा कि है भी— उसीमें रहेंगे, उसीमें आएँगे और जाएँगे; दो-चार साल बाद दूसरों को तो दिखता रहेगा, आपको दिखना बंद हो जाएगा।

मन जिसको पा लेता है, वह बेकार हो जाता है। क्योंकि मन का सारा रस अनुपलब्ध में है; जो नहीं मिला है, उसमें है। मन की सारी वासना उसके लिए है, जो यहाँ नहीं है, दूर है। मन दूर में रस लेता है। हम कहते हैं कि दूर के ढोल सुहावने होते हैं। वह दूरी की वजह से नहीं होते हैं, मन की वजह से होते हैं। दूरी जितनी होती है और किसी चीज को पाना जितना मुश्किल होता है, जितना कठिन होता है, मन का रस उतना ही बढ़ जाता है।

यह मन का नियम ठीक से समझ लें। क्योंकि यह बजार में होंगे तो एकांत चाहेगा और एकांत में होंगे, तो बजार चाहेगा। मंदिर में बैठे होंगे तो वेश्यालय की याद आएगी। और वेश्यालय में बैठे हुए आदमी को भी मंदिर की याद आती है। यह जीवन इतना सीधा नहीं है जैसा हम समझते हैं, बहुत जटिल है। और

उसकी जटिलता को कोई ठीक से न समझे, तो ध्यान में जाना मुश्किल हो जाता है।

एकांत स्थान का अर्थ— यह तो अच्छा ही है कि बाहर एकांत हो, लेकिन वह काफी नहीं है— भीतर एकांत हो। भीतर हमारे सदा भीड़ मौजूद है। ठीक होगा यह कहना कि हम आदमी कम हैं, भीड़ ही ज्यादा हैं। हमारे भीतर एक कम है, भीड़ इकट्ठी है। एक-एक आदमी एक बड़ी भीड़ है।

इसीलिए सुबह आदमी कुछ है, दोपहर कुछ है, साँझ कुछ है। बेचैनी होती है खुद को भी कि मैं सुबह तो बहुत प्रसन्न था, दोपहर क्यों उदास हो गया हूँ? साँझ क्यों क्रोध से भर गया हूँ? सुबह तो लगता था सारी दुनिया को आशीर्वाद दूँ, साँझ लगता है कि सारी दुनिया की हत्या कर दूँ। यह मेरे भीतर क्या हो रहा है? यह हमारी भीड़ है। हमारे भीतर बहुत चेहरे हैं। सुबह एक चेहरा था, दोपहर दूसरा चेहरा है, साँझ तीसरा चेहरा है। हमारे भीतर बहुत लोग हैं। सुबह एक आदमी बोला, दोपहर दूसरा आदमी बोला, रात तीसरा आदमी बोल रहा है। और इसलिए बड़ी कठिनाई है। सुबह जब हम दुनिया को आशीर्वाद देने को आतुर थे तब हमने जो बातें कही हैं, वह साँझ को हम पूरा न कर पाएँगे। क्योंकि साँझ को हम जो हैं, उसने सुबह वचन ही न दिया था, वह मौजूद ही न था।

अब मनस्विद कहते हैं कि आदमी के भीतर हम अब तक मानते थे एक मन है, वह गलत था। आदमी के भीतर बहुमन हैं। 'मल्टी-साइकिक' है आदमी। और इसलिए आदमी साँझ को तय करता है कि सुबह पाँच बजे उठना है, चाहे कुछ भी हो जाए कल तो उठना ही है, और सुबह पाँच बजे वही आदमी कहता है, छोड़ो भी, इन बातों में क्या रखा है, रात बहुत सर्द है! और एक दिन न उठे तो हर्ज क्या है? करवट बदलकर सो जाता है। सुबह आठ बजे उठकर वही आदमी पछताता है और कहता है, यह कैसे हुआ कि मैंने तो तय किया था कि सुबह उठूँगा। कठिनाई तब हमें मालूम पड़ती है। अगर हम मान लें कि आदमी के भीतर एक ही मन है, तो बड़ी मुश्किल है। लेकिन मनस्विद कहते हैं कि जिस मन ने तय किया था, वह और था। जिस मन ने सुबह सलाह दी कि सोए रहो, यह और है। और जिस मन ने सुबह पश्चात्ताप किया, यह और है। यह मन के अलग-अलग खंड हैं। इनकी एक-दूसरे से मुलाकात भी न हो, यह भी हो सकता है। इनको एक-दूसरे का पता ही न हो, यह भी हो सकता है।

महावीर ने भी आज से ढाई हजार साल पहले एक शब्द का प्रयोग किया है— मनस्विद चौंकेंगे— वह है: 'बहुचित्तवान'। उसका ठीक वही मतलब है, जो 'मल्टी-साइकिक' का है। महावीर ने कहा है— आदमी बहुचित्तवान है। उसके

भीतर बहुत चित्त हैं, एक चित्त नहीं है।

और इन अनेक चित्तों के बीच एकांत असंभव है।

इसलिए एकांत का जो गहन अर्थ है, वह है—बहुचित्तता की जगह एक-चित्तता हो। मेरे भीतर बहुत चित्त न रह जाएँ, एक ही चित्त हो। यह एक अर्थ है एकांत का।

दूसरा और एक अर्थ समझ लेना जरूरी है। और वह यह है कि मेरे भीतर चौबीस घंटे जो भीड़ खड़ी है, वह मेरे चित्तों की तो है ही, मेरे परिचितों की, मेरे मित्रों की, मेरे संबंधियों की, मेरे शत्रुओं की, उन सब की भीड़ भी मेरे चारों तरफ घिरी हुई है। आदमी बाहर की दुनिया में बहुत कम जीता है, भीतर की दुनिया में बहुत ज्यादा जीता है।

आदमियों के मन के बाहर हम दो तरह की दुनियाएँ समझें। एक उसके मन की दुनिया है, जिसमें वह चौबीस घंटे जीता है। उस मन के बाहर एक जगत है। उस जगत में भी थोड़ा-बहुत जीता है। लेकिन, ज्यादा वह अपने मन के जगत में ही जीता है। आप अपने मित्र से जो बातें करते हैं, वह आप अपने मन में बहुत पहले कर चुके होते हैं।

मार्क ट्वेन से कोई पूछता था—मार्क ट्वेन एक जगह सभा में बोलकर लौट रहा था। मार्क ट्वेन का मित्र साथ में था, उसने मार्क ट्वेन से पूछा कि आज का तुम्हारा व्याख्यान बहुत अच्छा रहा। तो मार्क ट्वेन ने कहा, कौन-सा व्याख्यान? एक ही व्याख्यान देकर आ रहा था। तो मार्क ट्वेन ने पूछा—कौन-सा व्याख्यान? तो उस मित्र ने कहा, कौन-सा! जो तुम अभी देकर आ रहे हो। मार्क ट्वेन ने कहा कि मैं कम-से-कम तीन व्याख्यान दे चुका हूँ। एक जो मैंने व्याख्यान देने के पहले भीतर दिया कि यह-यह बोलूँगा। और एक, जो मैंने वहाँ दिया। और एक जो मैं अभी दे रहा हूँ कि यह-यह बोलना चाहिए था। तुम कौन-से व्याख्यान की बात कर रहे हो?

आप बाहर के जगत में बहुत कम जीते हैं, उससे तीन गुना भीतर के जगत में जीते हैं। एक शब्द बाहर निकलता है, तो हजार बार भीतर घूम चुका होता है, तब बाहर निकलता है। एक कृत्य बाहर होता है, तो हजार बार भीतर किया जा चुका होता है।

एक आदमी को अगर किसीकी हत्या करनी हो तो आज तक दुनिया में एक भी ऐसा हत्यारा नहीं हुआ, जो यह कह सके कि भीतर उसने बहुत बार यह हत्या नहीं की थी। और इसीलिए अगर भीतर की हत्या का हिसाब रखें, तो आदमी खोजना मुश्किल होगा जो हत्यारा न हो। क्योंकि भीतर तो हम सभी हत्याएँ करते

रहते हैं। यह दूसरी बात है कि हम बाहर तक नहीं पहुँचते, कोई बाहर तक पहुँच जाता है।

मनस्विद कहते हैं कि हत्याएँ तो दूर, ऐसा आदमी भी खोजना मुश्किल है जिसने मन में अपने भीतर आत्महत्या न कर ली हो। कई बार अपने को खत्म ही न कर लिया हो—कि खत्म कर ही दो। यह दूसरी बात है कि अभी कृत्य नहीं बना, लेकिन कभी भी बन सकता है। क्योंकि विचार बीज है। और मजबूत होता जाए तो कभी भी कृत्य बन सकता है।

मन के भीतर हम एक जगत को बनाए हुए हैं, वही भीड़ है। वासनाएँ पहले मन में निर्मित होती हैं, जड़ें फैलती हैं, अंकुरित होती हैं। बहुत बाद में कहीं उनके पत्ते और शाखाएँ बाहर के जगत में पहुँचते हैं। और हजार वासनाएँ भीतर निर्मित होती हैं, तो एक ही बाहर तक पहुँच पाती है। कितनी योजनाएँ मन के भीतर निर्मित होती हैं, जिनमें से शायद सौ में से एक भी पूरी नहीं हो पाती।

अगर हम जीने का हिसाब समझें ठीक से, तो अगर एक आदमी सौ साल जीता हो, तो कम-से-कम अस्सी साल तो वह भीतर जीता है, बीस साल बाहर। यह जो भीतर जीने की प्रक्रिया है, यह हमारी भीड़ है। इसलिए हम कहीं भी चले जाएँ, हम तो कम-से-कम वहाँ होंगे ही। सबको छोड़ कर चले जाएँ जंगल में, तो भी मैं अपने को कहाँ छोड़ जाऊँगा? मैं तो वहाँ भी पहुँच ही जाऊँगा। मेरा वहाँ पहुँच जाना तो अनिवार्य है। मैं अपने को तो पीछे नहीं छोड़ पाऊँगा। और जब मैं अपने साथ पहुँच जाऊँगा तो अनिवार्य रूप से मेरे मन की सारी कल्पनाएँ, मेरे मन की सारी वासनाएँ, मेरी सारी योजनाएँ, मेरे मन के सारे संबंध, सब मेरे साथ इकट्ठे हो जाएँगे। और वे सब मेरी भीड़ हैं।

इस आंतरिक भीड़ को मिटाने का नाम एकांत है।

तो एकांत स्थान तो है ही, स्थिति ज्यादा है। अच्छा है एकांत स्थान में बैठ जाएँ, लेकिन यह मत समझना कि एकांत इतने से हो जाएगा। उपयोगी हो सकता है एकांत, पर्याप्त नहीं है। एकांत स्थिति भी चाहिए। और यह स्थिति बन जाए, तो फिर स्थान का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, आदमी कहीं भी एकांत में हो सकता है। कहीं भी! एक बार भीतर मन एक हो और यह जो मन का जगत है इसकी पकड़ ढीली हो जाए और हम इसके जाल के बाहर हो जाएँ, तो आदमी एकांत स्थान को उपलब्ध हो जाता है। एकांत स्थिति को भी। स्थिति भीतरी बात है, स्थान बाहरी बात है। स्थान गौण है, स्थिति मूल्यवान है।

यह पहले शब्द को ठीक से समझ लें।

फिर दूसरा शब्द सूत्र में उपयुक्त प्रयुक्त हुआ है—सुख-आसन। सुखासन।

एकांत हो स्थान और सुख-आसन में बैठकर। इसके भी दो हिस्से हैं।

सुख-आसन से हम परिचित हैं। सुखासन योग में उस आसन को कहते हैं, जिसमें शरीर का सबसे कम-से-कम उपयोग हो। और शरीर का सबसे कम उपयोग तब होता है, जब आप.... जैसे बुद्ध की प्रतिमा आपने देखी है, या महावीर की प्रतिमा आपने देखी है, वैसे पालथी मारकर, रीढ़ को बिलकुल सीधा करके, दोनों हाथों को एक-दूसरे पर रखकर अपनी गोदी में, अचल होकर बैठ जाते हैं, हिलते नहीं। इस अवस्था में शरीर का, शरीर की ऊर्जा का कम-से-कम उपयोग होता है।

कम-से-कम उपयोग होने का कारण बहुत वैज्ञानिक है। अगर आपकी शरीर की रीढ़ बिलकुल सीधी है, तो जमीन के 'ग्रेवीटेशन' का आप पर सबसे कम असर होता है। अगर आपकी रीढ़ जरा भी झुकी है, तो जमीन का ज्यादा हिस्सा आपकी रीढ़ को अपनी तरफ खींचता है। अगर रीढ़ आपकी बिलकुल सीधी है तो रीढ़ का सिर्फ नीचे का जो बिंदु है, उसपर ही जमीन के गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव पड़ता है। अगर आपकी रीढ़ आड़ी है, आगे झुकी है, पीछे झुकी है, तो पूरी रीढ़ पर जमीन के गुरुत्वाकर्षण का भार पड़ता है। जितना ज्यादा जमीन आपकी रीढ़ को अपनी तरफ खींचती है, उतना आपके शरीर पर श्रम पड़ता है। यह वैज्ञानिक है। इस श्रम को नापा जा सकता है।

आपके श्रम को जो सर्वाधिक पीड़ा होती है वह 'ग्रेवीटेशन' से होती है। इसलिए वैज्ञानिक तो यह भी कहते हैं कि अगर आदमी चाँद पर रहने लगा, तो उसकी उम्र चार गुना ज्यादा हो जाएगी। क्योंकि चाँद पर वह गुरुत्वाकर्षण चार गुना कम है। तो अगर आदमी चाँद पर रहने लगे, तो उसकी उम्र चार गुना ज्यादा हो जाएगी, क्योंकि यही शरीर कम थकेगा।

और वैज्ञानिक तो यह भी कहते हैं--आइंस्टीन की बहुत अद्भुत धारणा थी, अविश्वसनीय मालूम पड़ती है; लेकिन आइंस्टीन कहता है, तो ठीक ही कहता होगा। आइंस्टीन कहता है कि अगर हम किसी व्यक्ति को अंतरिक्ष की यात्रा पर भेजें, एक ऐसे यान में जिसकी गति उतनी ही हो जितनी की प्रकाश की किरण की गति होती है--प्रकाश की किरण की गति होती है एक सेकेंड में एक लाख छियासी हजार मील--अगर इतनी ही गति के यान में हम किसी व्यक्ति को यात्रा पर भेजें, तो उसकी उम्र बढ़ेगी नहीं। वह कितने ही वर्षों बाद पृथ्वी पर वापिस लौटे, उसकी उम्र उतनी ही होगी जितनी उम्र में उसने पृथ्वी छोड़ी। यहाँ उसके बेटे बूढ़े हो गये होंगे, वह जवान वापिस पृथ्वी पर उतरेगा।

यह जब पहली दफा आइंस्टीन ने कहा था तो बहुत हैरानी का था, लेकिन

जब कारण साफ समझ में आ जाएँ तो हैरानी का नहीं है। क्योंकि इतनी तीव्र यान की गति में उसपर किसी तरह के गुरुत्वाकर्षण का कहीं भी कोई परिणाम नहीं होगा और अंतरिक्ष के शून्य में वह यात्रा करेगा। आपका शरीर बूढ़ा आपके शरीर की वजह से नहीं होता। आपका शरीर बूढ़ा होता है शरीर की जमीन के साथ जो कशिश का संबंध है, उससे।

जमीन खींच रही है शरीर को नीचे की तरफ। उसका जो खिंचाव है, वही अपना बोझ है। जिसको आप वजन कहते हैं तराजू पर खड़े होकर, वह वजन वस्तु का नहीं है, वह वजन जमीन की कशिश का है। जितना जोर से जमीन खींचती है--तराजू नीचे झुक जाता है। अगर हम गुरुत्वाकर्षण को काट दें, तो आप तराजू पर कितना ही वजन रखें वह नीचे नहीं झुक सकेगा। वह झुकता गुरुत्वाकर्षण के कारण है। शरीर का सर्वाधिक श्रम बिना श्रम किये भी हो रहा है। इसलिए आप कुछ भी करें, सत्तर-अस्सी साल में शरीर बूढ़ा हो जाएगा। चाहे आप बैठे रहें, चाहे आप बिलकुल लेटे रहें, तो शरीर बूढ़ा हो जाएगा। क्योंकि जमीन पूरे वक्त काम ले ही रही है। आप जब सो रहे हैं तब भी शरीर बूढ़ा हो रहा है, क्योंकि जमीन उसे खींच रही है। यह हो सकता है, इसके पीछे बहुत कारण हैं।

वैज्ञानिकों की एक धारणा है कि हर चीज अपनी पूर्व-स्थिति में लौट जाना चाहती है। हर चीज अपनी पूर्व-स्थिति में लौट जाना चाहती है, क्योंकि अपनी पूर्व-स्थिति में विश्राम होता है। जैसे एक लहर सागर से उठी, बहुत जल्दी गिरेगी और वापिस लौट जाएगी। क्योंकि सागर से उठने में लहर के लिए भारी श्रम है, तनाव है, परेशानी है। वापिस गिर जाने में फिर विश्राम है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा शरीर तो मिट्टी से बनता है, पानी से बनता है, वस्तुओं से बनता है, वह पूरा-का-पूरा शरीर हमारा वापिस लौट जाना चाहता है। और उसके वापिस लौटने की जो व्यवस्था है, वह जमीन का गुरुत्वाकर्षण है। जमीन अपनी मिट्टी को वापिस बुला रही है। पूरे वक्त खींच रही है।

वैज्ञानिकों को तो यह बात अभी-अभी खयाल में आनी शुरू हुई, लेकिन योग को यह बात बहुत पहले से खयाल में है। इसलिए अगर योगी अपनी रीढ़ को सीधा करके ज्यादा समय व्यतीत करे तो उसकी उम्र बढ़ जाएगी। वह सुख का आसन है, कोई भी ऐसा आसन जिसमें रीढ़ बिलकुल सीधी हो-- नब्बे का कोण बनाती हो जमीन से--शरीर के लिए सबसे कम कष्टपूर्ण है। एक।

दूसरे कारण से भी वह सुखासन है, क्योंकि शरीर को अब.... अब शरीरविद मानते हैं कि शरीर के भीतर जो शक्ति काम कर रही है, वह भी 'बॉयोइलेक्ट्रिसिटी' है। वह भी एक दैहिक-विद्युत है। और शरीर के भीतर विद्युत का तार,

विद्युत का संचालन, उसकी गति पूरे समय हो रही है।

योग को यह खयाल सदा से रहा है कि शरीर के भीतर विद्युत काम कर रही है। इस विद्युत को योग ने प्राण कहा है। यह नाम का फर्क है। यह जो शरीर के भीतर प्राण काम कर रहा है, यह विद्युत के नियम से ही चलता है। जैसे विद्युत अगर वर्तुल में घूम रही हो तो उसका ह्रास नहीं होगा। अगर उसका वर्तुल टूट जाए तो विद्युत का ह्रास होगा। विद्युत अगर अपने वर्तुल में घुमती रहे तो वह अपने को संबंधित करती है।

शरीर के भीतर भी जो विद्युत का प्रवाह है, उसका भी वर्तुल निर्मित हो जाता है सुख-आसन में। दोनों पैर, दोनों पैरों के पंजे जाँघों से जुड़ जाते हैं। दोनों हाथ एक-दूसरे के ऊपर रख लिये जाते हैं। रीढ़ सीधी हो जाती है। हाथों और पैरों की उँगलियों से शरीर की विद्युत का प्रवाह बाहर की तरफ होता है। अगर ये दोनों एक-दूसरे से हाथ जुड़ जाएँ और दोनों पैर दोनों जाँघों से जुड़ जाएँ, तो जो शरीर की विद्युत बाहर जाती है, बाहर न जाकर शरीर में ही वर्तुलाकार घूमने लगती है।

अगर शरीर की विद्युत बिलकुल बाहर न जाए--और इसके लिए और भी उपाय योगियों ने किये; लकड़ी के तख्त पर बैठते थे, वह 'नॉन-कंडक्टर' है, उससे बिजली बाहर नहीं जाती। या सिंह के चर्म पर बैठते, या मृगचर्म पर बैठते, वह सब 'नॉन-कंडक्टर' हैं। या ऊन के कंबल को बिछाकर उसपर बैठते, वह भी 'नॉन कंडक्टर' है। योग ने जितनी चीजों पर बैठने की सलाह दी कि इन पर बैठकर ध्यान करना चाहिए, वे सब 'नॉन-कंडक्टर' हैं। उनसे बिजली बाहर नहीं जाती। इसलिए शरीर की सारी बिजली शरीर में रहेगी। बाहर जाने के सब उपाय बंद हो जाते हैं। और शरीर के भीतर वर्तुल निर्मित होता है। 'सर्किट' निर्मित होता है। इस 'सर्किट' की स्थिति में शरीर का सबसे कम, कम-से-कम ह्रास होता है।

शरीर की शक्ति का सबसे ज्यादा ह्रास संभोग में होता है। क्योंकि संभोग में आपके शरीर की बिजली को फेंकनेवाला जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है, वह दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर जाता है। और दूसरे व्यक्ति की, विशेषकर स्त्री के व्यक्तित्व में बिजली को खींचने की जो क्षमता है, वह पूरी तरह से बिजली खींच ली जाती है।

सुखासन में सबसे कम शरीर की विद्युत बाहर जाती है, संभोग में सर्वाधिक। मनुष्य के जो जननेंद्रिय के केंद्र हैं, वे विद्युत के बड़े संग्रह के केंद्र हैं--'रिज़र्वायर'--वहाँ से सर्वाधिक विद्युत फेंकी जा सकती है। इसलिए कामातुर मन--

चाहे कामवासना में न भी उतरे--चौबीस घंटे अपने शरीर की विद्युत को बाहर फेंकता रहता है। इसलिए कामातुर व्यक्ति भीतर से क्षीणता को, दीनता को, ग्लानि को, और धीरे-धीरे भीतर एक आत्म-दुर्बलता को उपलब्ध होता है।

यह सारी-की-सारी व्यवस्था सुखासन की शरीर की विद्युत को भीतर एक वर्तुलाकार में घुमाने की है। एक और मजे की बात है कि जब शरीर की विद्युत बाहर नहीं जाती और वर्तुलाकार घूमती है, तो शरीर को शुद्ध करती है। उसकी हम पीछे बात करेंगे।

सुखासन का पहला तो प्रयोजन है कि रीढ़ इतनी सीध में हो कि शरीर पर सबसे कम कष्ट पड़े।

दूसरा प्रयोजन है--शरीर की विद्युत वर्तुलाकार निर्मित हो जाए, ताकि शरीर की शक्ति का कोई भी ह्रास बाहर न हो। इस अवस्था में शरीर सर्वाधिक सुख की अवस्था को अनुभव करता है, सर्वाधिक सुख में होता है।

ध्यान रहे, इस सुख से शायद आप समझ न पाएँ, यह योगियों का शब्द है। जिस चीज को आप सुख समझते हैं, उसमें एक तरह की उत्तेजना और 'एक्साइटमेंट' जरूरी है। जिसे हम सुख समझते हैं--हम कहते हैं एक आदमी को लाटरी मिल गयी, बहुत सुख में है इस समय। सुख का मतलब यह है कि इतना उत्तेजित है कि रात सो नहीं सकता। हृदय की धड़कन बढ़ गयी है, खून की चाल तेज हो गयी है, रक्तचाप बढ़ गया है, हम कहते हैं बड़े सुख में है--रात नींद नहीं आती। चौबीस घंटे कँप रहा है भीतर कुछ। बड़े सुख में है। हम जिसे सुख कहते हैं वह भी उत्तेजना है। और हम जिसे दुख कहते हैं वह भी उत्तेजना है। हम उत्तेजना को ही सुख कहते हैं, उत्तेजना को हो दुख कहते हैं।

फिर फर्क क्या है? जो उत्तेजना हमें प्रीतिकर लगती है, उसे हम सुख कहते हैं। जो उत्तेजना अप्रीतिकर लगती है, उसे दुख कहते हैं। और इसलिए ऐसा भी हो जाता है कि आज जो सुख है, वह कल दुख हो जाता है। और आज जो दुख है, वह कल सुख हो सकता है। उत्तेजना वही रहेगी, सिर्फ प्रीति और अप्रीति की बदलने की जरूरत है।

कभी, आपको खयाल न हो, जिनको आप सुख कहते हैं वे भी आपको बुरी तरह थका जाते हैं। इसलिए कोई आदमी सतत सुख में नहीं रह सकता। उसका कारण यह नहीं है कि सतत सुख के रहने की कोई असंभावना है। उसका कारण कुल इतना है कि सतत सुख में आप इस बुरी तरह टूट जाएँगे जिसका हिसाब नहीं है। बीच में अनिवार्य 'गेप' आने जरूरी हैं।

पश्चिम के एक बहुत अद्भुत मिस्टिक--जेकब बोहेम ने कहा है कि मैंने प्रेम

करके भी यह पाया कि प्रेम भी एक बीमारी है। और बीमारी इसलिए कहता हू कि बीमारी में मैं जितना नहीं टूटा, उतना प्रेम में टूटा। और बीमारी में जितना नहीं थका, उतना प्रेम में थका। और बीमारी का तो इलाज भी है, प्रेम का कोई इलाज नहीं। और बीमारी में अगर रात नहीं सो पाता था, तो लोग कहते थे अनिद्रा हो गयी। और प्रेम में भी नहीं सो पाता था रात, तब मैं सोचता था सुख है। अब मैं जानता हूँ, वह भी अनिद्रा थी।

जिन्हें हम सुख कहते हैं, वह हम, हमारी मान्यता के अनुसार प्रीतिकर उत्तेजनाएँ हैं। योग उनको सुख नहीं कहता। इस बात को ठीक से समझ लें। इसलिए कह रहा हूँ कि सुख शब्द का उपयोग किया है, इसलिए कहीं आपको और कुछ भ्रांति न हो जाए। सुख हमारे लिए उतेजना का एक रूप है। योग उसे सुख कहता है जहाँ शरीर में कोई उत्तेजना नहीं। अनुत्तेजित, 'अनएक्साइटेड' शरीर की अवस्था को योग सुख कहता है। इसलिए जिसे हम दुख कहते हैं, उसे तो योग दुख कहता ही है, जिसे हम सुख कहते हैं उसे भी दुख कहता है। सुख उस आंतरिक-समन्वय को कहता है जहाँ कोई उत्तेजना नहीं, कोई तनाव नहीं, कोई लहर नहीं। झील बिलकुल शांत है। शरीर की उर्जा बिलकुल शांत, मौन अपने में घूम रही है। कहीं कोई बाहर जाने का ख्याल भी नहीं है। अपने में तृप्त, शांत, ठहरी हुई है। सुखासन से ऐसा प्रयोजन है।

तीसरा शब्द है--'सिर, गले व शरीर को एक सीध में रख कर'। सिर गला और रीढ़ एक सीध में रखकर। अगर आप शरीरशास्त्र से परिचित हैं, तो आप जानते होंगे कि शरीरशास्त्री कहते हैं कि आपकी रीढ़ का ही आखिरी हिस्सा विकसित होकर मस्तिष्क बना है। मस्तिष्क के भीतर जो भी ग्रंथियाँ हैं, मस्तिष्क का जो भी फैलाव और विस्तार है, वह रीढ़ का ही अंग है। हम कह सकते हैं कि मस्तिष्क रीढ़ का ही एक छोर है। या उलटा भी कह सकते हैं कि रीढ़ मस्तिष्क की ही फैली हुई एक जड़ है। जो हमें पसंद हो। लेकिन एक बात तय है की रीढ़ और मस्तिष्क गहरे में संबंधित हैं। इतने गहरे में संबंधित हैं उसका हमें भी पता है, लेकिन सचेतन पता नहीं है।

रात आप सोते हैं, बिना तकिये के सोएँ तो नींद नहीं आती। कभी आपने सोचा ही न होगा कि तकिये और नींद का क्या लेना-देना? सभी जानवर बिना तकिये के सोते हैं और उन्हें नींद आती है। बच्चे भी बिना तकिये के सो जाते हैं और उन्हें नींद आती है। लेकिन जैसे-जैसे उम्र बड़ी होती है, वैसे मुश्किल होता जाता है। और एक मजे की बात है कि जैसे-जैसे सभ्यता बड़ी होती है, शिक्षा बड़ी होती है, उतने ज्यादा तकियों की जरूरत पड़ती है।

क्यों?

उसका शारीरिक कारण है भीतर। जितना मस्तिष्क सक्रिय हो जाता है, उतना संवेदनशील हो जाता है। और इसलिए रात को अगर सोना है, तो मस्तिष्क में खून कम-से-कम जाए, इसका खयाल रखना जरूरी है। जरा-सा खून मस्तिष्क में जाएगा, मस्तिष्क सक्रिय हो जाएगा, नींद मुश्किल हो जाएगी। इसलिए तकिये ऊँचे रख लेते हैं आप, मस्तिष्क ऊँचा हो जाता है, रीढ़ नीची हो जाती है, तो सारा मस्तिष्क का खून रीढ़ की तरफ बहने लगता है। अगर मस्तिष्क नीचा हो और रीढ़ ऊँची हो, या समान दोनो हों, तो खून मस्तिष्क की तरफ बहता रहेगा और नींद असंभव हो जाएगी। इसलिए शीर्षासन में नींद आना बिल्कुल असंभव है। है। और जो शीर्षासन करता है, उसकी नींद कम हो जाती है। कम हो जाएगी। शीर्षासन करनेवाला पाँच घंटे, चार घंटे में पर्याप्त नींद ले लेगा। इससे ज्यादा उसे जरूरत नहीं रह जाएगी।

लेकिन अगर शीर्षासन ज्यादा किया जाए, तो बुद्धि को नुकसान पहुँचेगा। इसलिए शीर्षासन करनेवाले बहुत बुद्धिमान देखे नहीं जाते। क्योंकि बहुत शीर्षासन करने का अर्थ होगा कि खून इतनी ज्यादा तीव्रता से मस्तिष्क में बहेगा कि मस्तिष्क के जो बहुत सूक्ष्म तंतु हैं, वे टूट जाएँगे। और जितने ज्यादा सूक्ष्म तंतु मस्तिष्क में हों, बुद्धि उतनी विकसित होती है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि आदमी के भीतर बुद्धि के विकास का कुल एक ही कारण है कि आदमी दो पैरों पर खड़ा हो गया है। और सब जानवर चार पर खड़े हैं। चार पर खड़े होने की वजह से उनके मस्तिष्क में खून बहुत बह रहा है, सूक्ष्म तंतु विकसित नहीं हो पाते। आदमी दो पैर से खड़ा हो गया, उसके मस्तिष्क में खून सबसे कम जाने लगा--क्योंकि इतने ऊपर तक पंप करना मुश्किल है खून को, कम-से-कम खून पहुँच पाता है, इसलिए आदमी के मस्तिष्क ने सूक्ष्म तंतु विकसित कर लिये हैं। ठीक ऐसे ही जैसे कि अगर कोई धीमी-सी धारा बह रही हो, तो उसमें आप पौधे लगा सकते हैं। कोई बड़ी प्रगाढ़ धारा बहने लगे, पौधे उखड़ जाएँगे। और मस्तिष्क के तंतु बहुत सूक्ष्म हैं। छोटे-से हमारे मस्तिष्क में सात करोड़ 'सेल' हैं। एक बड़ी बस्ती है। सात करोड़ जीवंत 'सेल' हैं। जरा-सा झटका इनको तोड़ देता है। तो आदमी का सारा-का-सारा विकास रीढ़ के बल दो पैर से खड़े हो जाने पर हुआ।

अगर आप विकासवादियों से पूछें, तो वे कहेंगे कि मनुष्य के जीवन में जो सबसे बड़ी क्रांति हुई, वह उस बंदर ने की जो वृक्ष से नीचे उतर कर दो पैरों से खड़ा हो गया, और दो पैर मुक्त हो गये, रीढ़ सीधी हो गयी और मस्तिष्क तक

खून की धारा कम हो गयी। जब यह कहा जाता है कि रीढ़, गला और सिर एक सीध में हों, तो वह एक दूसरी और बड़ी क्रांति के लिए सूचना है। अगर जानवरों से किसीने कहा होता कि तुम अगर दो पैरों से खड़े हो जाओ, तो तुम्हारे भीतर बुद्ध और आइंस्टीन और सुकरात जैसे लोग पैदा हो सकते हैं, तो जानवरों ने भी हँसी उड़ायी होती कि क्या मजाक करते हो! सिर्फ दो पैर से खड़े होने से बुद्ध, आइंस्टीन और सुकरात पैदा हो सकते हैं! यह जानवरों को बात जँची न होगी। यह हमको भी नहीं जँचती कि रीढ़, गले और सिर को एक सीध में रखने से ध्यान कैसे पैदा हो जाएगा, समाधि कैसे लग जाएगी?

यह और आगे का एक कदम है। अगर रीढ़, गला और मस्तिष्क बिलकुल एक सीध में रखकर आप बैठे हों, तो उनके भीतर जो विद्युत-धारा प्रवाहित होती है, उस विद्युत धारा को प्रवाहित होने के लिए सब बाधाएँ टूट जाती हैं। सीध की वजह से सीधी बह पाती है। लेकिन बैठे हों। अगर लेटकर किया हो, तो खून भी साथ में ऊपर बढ़ेगा। बैठे होना चाहिए। तो खून तो ऊपर नहीं जाएगा, सिर्फ शरीर की विद्युत ऊपर जाएगी। अगर खून कम जाए और विद्युत ज्यादा जाए, तो मस्तिष्क के जो केंद्र अभी निष्क्रिय पड़े हैं, वे सक्रिय होना शुरू हो जाते हैं। मस्तिष्क के बहुत-से केंद्र निष्क्रिय हैं। अगर मनस्विद से पूछेंगे, तो वह कहता है कि अब तक हमने अपने मस्तिष्क का दस प्रतिशत से ज्यादा उपयोग नहीं किया है। उस नब्बे प्रतिशत की क्या संभावनाएँ हैं, कहना कठिन है।

योग कहता है, सारी सिद्धियाँ—जिनकी योग ने चर्चा की है—उस नब्बे प्रतिशत से संबंधित हैं, अगर उनको भी हम प्राण दे सकें और प्राण-ऊर्जा उनमें भी प्रवाहित हो सके, तो वे केंद्र भी सक्रिय हो सकते हैं। और अभी तो वैज्ञानिकों का एक समूह जो 'साइकिक-रिसर्च' में लगा है, मन की गहन खोज में लगा है, वह चकित हुआ यह जानकर की जिन लोगों के भी पास किसी तरह की सिद्धि होती है—किसी तरह की; सिद्धि से मतलब है, एक ऐसी शक्ति जो सामान्य नहीं है। कोई चमत्कार नहीं है, कोई सोयी हुई शक्ति जो सामान्य नहीं है।

जैसे टेड सीरियो अमेरिका में एक आदमी है, वह किसी भी चीज का विचार करे, तो विचार के साथ ही उसकी आँखों में उसका चित्र भी आ जाता है। और चित्र आँखों में ही नहीं आ जाता, उस चित्र का कैमरे से फोटो भी लिया जा सकता है। उसकी आँखों में आए चित्र का। जैसे टेड सीरियो न्यूयार्क में बैठकर ताजमहल के संबंध में सोचे—उसने सोचा है ताजमहल के संबंध में—आँख बंद करके सोचता रहेगा, सोचता रहेगा, फिर वह कहेगा कैमरा तैयार कर लो, मैं आँख खोलता हूँ, ताजमहल आ गया है। फिर आँख खोलता है और आँख से तस्वीर ली जाती है,

तो आँख में ताजमहल आ जाता है, तस्वीर में ताजमहल आ जाता है। और ऐसी चीजों के भी चित्र आ जाते हैं जो उसने देखी नहीं हैं। जो और कठिन बात है।

ताजमहल अगर देखा हो, तो आदमी कल्पना भी कर सकता है, फिर भी यह असंभव है। कल्पना आँख में 'प्रोजेक्ट' नहीं होती। और कल्पना करने से आँख से चित्र नहीं लिये जा सकते हैं। लेकिन टेड सीरियो जिन चीजों को देखा ही नहीं, उन चीजों के बाबत कहने पर भी वह विचार करता है सिर्फ कि वह चीज आँख में आ जाए, और वह आँख में आ जाती है। और उसकी तस्वीरें आ जाती हैं।

टेड सीरियो के मस्तिष्क की जाँच से पता चला कि सामान्य आदमी के मस्तिष्क के जो हिस्से बेकार पड़े रहते हैं, वे उसके बेकार नहीं हैं, वे काम कर रहे हैं, उनमें विद्युत दौड़ रही है।

अब तो हमारी खोपड़ी पर 'इलेक्ट्रॉड' लगाकर जाँच की जा सकती है कि किस हिस्से में विद्युत दौड़ रही है और किसमें नहीं दौड़ रही है। 'इलेक्ट्रॉड लगाते से, जहाँ विद्युत दौड़ रही है, 'इलेक्ट्रॉड' का जो बल्ब है वह जल जाता है। और जहाँ नहीं दौड़ रही है वहाँ बल्ब नहीं जलता है। जैसे कि 'इलेक्ट्रीशियन' जाँच करता है कि बिजली चल रही है या नहीं चल रही है। ठीक वैसे ही हमारी खोपड़ी में भी बिजली दौड़ रही है या नहीं दौड़ रही है, अब जाँच की जा सकती है। बहुत बारीक, बहुत सूक्ष्म और नाजुक बिजली दौड़ रही है। लेकिन फिर भी एक मस्तिष्क में जितनी बिजली दौड़ रही है, सामान्य हालत में उससे पाँच केंडिल का बल्ब जलाया जा सकता है, कभी भी। बहुत नाजुक है, लेकिन फिर भी पाँच कैंडिल का बल्ब आपकी खोपड़ी में लटका कर जलाया जा सकता है। वह जल जाएगा। इस बिजली को जाँचा जा सकता है। टेड सीरियो के जिन हिस्सों में बिजली दौड़ रही है, उन हिस्सों में सामान्य आदमी के नहीं दौड़ती।

योग कहता है कि यह जो तीनों को अगर सीधा रखा जाए, तो जो ऊर्जा है वह ऊपर उठती है और मस्तिष्क के दूसरे हिस्सों में दौड़ना शुरू हो जाती है। उस दौड़ने के ही परिणाम सिद्धियाँ हो जाती हैं। अनेक नयी घटनाएँ मस्तिष्क में घटनी शुरू हो जाती हैं। इन तीनों को सीध में रखने का कारण वैज्ञानिक है—शरीर की ऊर्जा, शरीर की विद्युत मस्तिष्क के आखिरी छोर तक चली जाए।

दो बातें और समझ लें।

मैंने कहा कि मस्तिष्क जो है, वह रीढ़ का ही एक हिस्सा है। और आपकी जननेंद्रिय जो है, वह भी दूसरा हिस्सा है। आपके जनन का जो यंत्र है, वह रीढ़ के छोर पर है और आपके चिंतन का जो यंत्र है, वह रीढ़ के दूसरे हिस्से पर है। और इन दोनों के बीच एक ही ऊर्जा का प्रवाह है। जिसको हम काम-ऊर्जा कहें,

'सेक्स-एनर्जी' कहें, वह वही 'एनर्जी' है।

अगर वह रीढ़ के नीचे के हिस्से से जगत में प्रवेश करती है, तो हम उसे काम-ऊर्जा कहते हैं। यौन कहते हैं। और अगर वही मस्तिष्क के आखिरी हिस्से से जगत में प्रवेश करे, तो कुंडलिनी हो जाए। इस काम-ऊर्जा को ऊपर ले जाने के लिए इन तीनों का एकदम सीध में होना जरूरी है। यह बिलकुल सीधी रेखा में, मस्तिष्क, गला और रीढ़ बिलकुल एक सीधी रेखा में आ जाएँ।

चौथा शब्द है—

एकांत स्थान हो; सुख-आसन हो; सिर, गले व शरीर को एक सीध में रखा हो; 'सब भाँति शरीर को शुद्ध करके'। शरीर की शुद्धि से हमारे मन में खयाल उठता है स्नान इत्यादि करके। वह ठीक है, लेकिन बहुत कम है। शरीर की शुद्धि बड़ी घटना है। स्नान से शरीर पर जो बाहर से धूलकण या और कुछ आ गया हो, वह धुल जाता है। शरीर के रंध्र शुद्ध हो जाते हैं। शरीर के रंध्र-रंध्र से श्वाँस ली जाती है, वह श्वाँस की क्रिया शुरू हो जाती है। शायद आपको खयाल न हो कि आप नाक से ही श्वाँस नहीं लेते, पूरे शरीर से श्वाँस लेते हैं। इसलिए अगर आपकी नाक छोड़ दी जाए कि आप नाक से श्वाँस लें और सारे शरीर को ठीक से 'पेंट' कर दिया जाए कि कोई भी आपका रोआँ श्वाँस न ले सके, तो आप तीन घंटे से ज्यादा जिंदा नहीं रह सकते। नाक से आप श्वाँस लेते रहें, मुंह से ही श्वाँस ले रहे हैं। सब शरीर के रंध्र बंद कर दिये जाएँ, तो आप तीन घंटे से ज्यादा जिंदा नहीं रह सकते। तो इस भ्रांति में आप मत रहना कि आप नाक से ही श्वाँस ले रहे हैं। आपका रोआँ-रोआँ श्वाँस ले रहा है। शरीर के छिद्र-छिद्र से श्वाँस जा रही है। तो स्नान से इतनी शुद्धि हो जाती है कि सब छिद्रों के धूलकण हट जाते हैं। धूलकण हट जाने से आपका पूरा शरीर प्राणवायु को लेने लगता है। तो रोएँ-रोएँ में प्राणवायु के पहुँचने से एक ताजगी अनुभव होनी शुरू होती है। यह जो शुद्धि है—जरूरी है, काफी नहीं।

शरीर-शुद्धि बड़ा शब्द है। शरीर-शुद्धि के दो-तीन अंग समझ लेने चाहिए। एक, जो आपको कभी भी खयाल न आया होगा।

अभी-अभी अमेरिका में एक मनस्विद की मृत्यु हुई। विल्हम रेक उसका नाम है। इस सदी में जिन लोगों ने बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया है मनुष्य के ऊपर, उनमें एक आदमी था। जो भी महत्त्वपूर्ण काम करते हैं, वे मुसीबत में पड़ते हैं। विल्हम रेक जेलखाने में मरा। क्योंकि आदमी कुछ ऐसा अजीब है कि उसके लिए अगर कोई भी महत्त्वपूर्ण काम किया जाए, तो वह ठीक से बदला लेगा। बदला लेने का कारण होता है। क्योंकि अगर ठीक से आदमी पर काम हो,

तो उसकी जड़, मानी हुई मान्यताओं में से बहुत-सी मान्यताएँ गलत सिद्ध होती हैं। गलत सिद्ध होते से ही आदमी को तकलीफ शुरू हो जाती है। आदमी मानने को तैयार नहीं कि इसकी कोई मान्यता गलत है। और मजा यह है कि अपनी ही मान्यताओं के कारण वह सब तरह के दुख में पड़ा है। पूछने जाता है कि मेरा दुख कैसे मिटे? लेकिन अगर उससे कहो कि तुम्हारी मान्यताएँ ही तुम्हें दुख दे रही हैं, तुम्हीं अपने दुख के निर्माता हो, तो मान्यताओं को बदलने को तैयार नहीं है।

आदमी ऐसा है कि खुद ही अपना कारागृह बनाकर, उसमें ताला लगाकर, चाबी को फेंक देता है बाहर। और फिर चिल्लाता है कि मैं बहुत दुख में हूँ, बहुत बंधन में पड़ा हूँ, मुझे छुड़ाओ। और अगर कोई आदमी यह कहे कि यह तेरी ही मूढ़ता का फल है, तो फिर क्रोध आता है।

विल्हम रेक ने बहुत-सी बातें आदमी के संबंध में कीमती कहीं। उसने कहा कि आदमी के शरीर में आदमी की दबायी गयी सभी वासनाएँ संग्रहीत हो जाती हैं। शरीर में, मन में नहीं। दबायी गयी सभी वासनाएँ शरीर में संग्रहीत हो जाती हैं। और ये वासनाएँ शरीर में संग्रहीत होकर शरीर को अशुद्ध कर देती हैं, रुग्ण कर देती हैं, विकृत कर देती हैं।

योग इस बात को बहुत पहले से जानता है। जैसे मेरा अपना अनुभव यह है कि अगर आप अपने क्रोध को दबा लें, तो आप बहुत हैरान हो जाएँगे कि आपके दाँतों में आपका क्रोध संग्रहीत हो जाएगा। उसके कारण हैं। इसलिए क्रोध जब होता है, तो आदमी दाँत पीसने लगता है। क्रोध जब होता है, तो मुट्ठियाँ बाँध लेता है। क्रोध में आदमी इतनी जोर से मुट्ठियाँ बाँध सकता है कि अपने ही नाखून अपनी ही माँस में चुभ जाएँ। अगर आपने क्रोध को दबा लिया, तो आपकी उँगलियों में और आपके दाँतों में क्रोध संग्रहीत हो जाएगा।

विल्हम रेक तो इस नतीजे पर पहुँचा कि क्रोधी आदमियों के दाँत जल्दी गिर जाते हैं। हजारों प्रयोगों से इस नतीजे पर पहुँचा। और विल्हम रेक ने हजारों क्रोधियों के दाँतों को दबाकर उनके क्रोध को जगाने का अनूठा प्रयोग किया। जब क्रोधी अगर उसके पास आएगा तो वह सारा अध्ययन करके उसको लिटा देगा। और कुछ नहीं करेगा, चारों तरफ से उसके मसूढ़ों को दबाएगा। और उसके मसूढ़ों को दबाते से वह आदमी इतने क्रोध में आ जाएगा—अभी क्रोध का कोई कारण नहीं था—कि अनेक बार विल्हम रेक को पुलिस को बुलाकर अपने मरीजों से खुद को बचाना पड़ा। फिर तो बाद में उसे 'बॉडी गार्ड' रखना पडता था, क्योंकि कभी भी कोई मरीज उस पर हमला कर देगा। उसके दबाए क्रोध को छूना, उसको उकसाना खतरनाक है।

जानवर और आदमी के बीच का फासला कितना ही हो, बहुत फासला नहीं है। तो जानवर अपना सारा क्रोध दाँत से प्रगट करते हैं। वही उनके पास--या नाखून, या दाँत, ये दो चीजें उनकी हिंसा के साधन हैं। आदमी ने हिंसा के बहुत साधन विकसित कर लिये। और जो खोज करते हैं वे कहते हैं, इसलिए विकसित कर लिये कि आदमी के दाँत और नाखून जानवरों से बहुत कमजोर हैं, इसलिए 'सबस्टिट्यूट' की जरूरत पड़ना जरूरी हो गयी। तो हमारे खंजर, हमारी तलवारें हमारी छुरियाँ--ये हमारे दाँतों का विस्तार हैं। हमारे नाखूनों का विस्तार हैं। दूसरे जानवर हमसे मजबूत थे। हमें कुछ खोजना पड़ा जिससे हम उनसे ज्यादा मजबूत दाँत और नाखून बना लें। उससे हम जीते भी। लेकिन एक मजेदार घटना घट गयी कि जब आप छुरी से किसी को मारते हैं तो आपके नाखूनों में जो हिंसा उठ गयी थी, वह छुरी से नहीं निकलती। वह आपके नाखून में ही रह जाती है। नाखून से छुरी तक हिंसा को जाने के लिए कोई 'पैसेज' नहीं है। अगर आप किसी आदमी को गाली देते हैं और बडबड़ाते हैं और दाँत पीसते हैं तो भी बिना काटे आपके दाँतों में ऊर्जा आ जाती है, वह नहीं निकलती। और दाँतों की ऊर्जा आ जाने की जो व्यवस्था है, वह करोड़ों वर्ष के अनुभव से आयी है।

तो दाँत में हिंसा इकट्ठी हो जाती है। हिंसक आदमी सिगरेट पीने में रस पाएगा। दाँतो का उपयोग होता है। हिंसक आदमी ज्यादा बातचीत करने में रस पाएगा। दाँतों का उपयोग होता है। हिंसक आदमी कुछ नहीं मिलेगा तो गाद को मुंह में डालकर चबाता रहेगा, पान को मुंह में डालकर चबाता रहेगा, यह सब हिंसक आदमी के लक्षण हैं। दाँत चलता रहना चाहिए। तो दाँतों से थोड़ी ऊर्जा निकलती है। थोड़ी राहत मिलती है, थोड़ा हल्कापन आता है। वह किसी तरह चले। एक लिहाज से अच्छा भी है कि आप दूसरे को नहीं काटते, कम-से-कम पान चबाते हैं। अहिंसक उपाय है हिंसा को निकालने का।

लेकिन, यह मैंने उदाहरण के लिए कहा। हमारे शरीर की सारी बासनाएँ, जिनको हम दबा लेते हैं--और आदमी दबा रहा है, बुरी तरह दबा रहा है--आदमी कुछ भी नहीं निकालता ; हमारी सारी सभ्यताएँ और सारी संस्कृतियाँ और तथाकथित सारे धर्म दमन पर खड़े हैं। दबाओ सब। उसको दबा कर रोक लो। लेकिन वह दबेगा तो भीतर भर जाएगा और शरीर अशुद्ध हो जाएगा। शरीर की शुद्धि का स्नान से ज्यादा गहरा परिणाम आपके शरीर के भीतर जो दबा है, उसे निकालने से होगा।

हम जो प्रयोग कर रहे हैं ध्यान का, वह इससे जुड़ा हुआ है। उसमें आपके भीतर जो भी दबा है--क्रोध है, हिंसा है, दुख, सुख है, रोना है, हँसना है, पागलपन

है, सब दबा है--उसे फेंक देना है, उसे निकाल देना है। और ध्यान रहे, जब आप किसी पर निकालते हैं, तो आप एक चक्कर में पड़ रहे हैं जिससे छुटकारा नहीं होगा। उसे शून्य में निकाल देना है। जो आदमी अपने क्रोध को शून्य में निकालने में समर्थ हो गया--किसी पर नहीं--क्योंकि जब आप किसी पर निकालेंगे, तो फिर क्रोध की शृंखला का कोई अंत नहीं है। मैंने आपको गाली दी, फिर आपने मुझे गाली दी, फिर मैं आपको गाली दूंगा। और इसका कोई अंत नहीं है। और हर बार, हर बार क्रोध का यह प्रयोग करना अभ्यास भी बनेगा। तो क्रोध तो निकलेगा, लेकिन अभ्यास भी निर्मित होगा। और तब एक, एक दुष्ट-चक्र है, जिसमें आदमी फँस जाता है।

अगर मैं प्रगट करता रहूँ, हर किसी को गाली दूँ, हर किसी पर क्रोध करूँ, वक्त-बेवक्त हँसता रहूँ, वक्त-बेवक्त रोने लगूँ, जो भी मेरे भीतर है वह प्रगट करता रहूँ, तो भी जीना असंभव हो जाएगा। जहाँ दूसरों के साथ जीना है, वहाँ बहुत बार बहुत-सी बातें दबा ही लेनी पड़ेंगी। इसलिए दमन समाज के साथ अनिवार्य है। और शायद ही हम कभी कोई ऐसा समाज बना पाएँ, जो पूरे दमन से छुटकारा करवा दे। अच्छा समाज कम-से-कम दबाएगा, बुरा समाज ज्यादा-से-ज्यादा दबाएगा, लेकिन अच्छे-से-अच्छे समाज में जीने में दमन अनिवार्य है।

फ्रॉयड ने जिंदगी भर दमन का अध्ययन करने के बाद, बड़े निराशा में उसने कहा है कि मुझे मनुष्य का कोई भविष्य नहीं मालूम पड़ता। कभी भी आदमी कैसा भी हो, जब तक समाज में रहेगा, दुखी रहेगा। और समाज के बिना रह नहीं सकता। समाज के बिना रहेगा ही कैसे? उसने लिखा है--आदमी वैज्ञानिक था, इसलिए जो सीधा उसे लगा उसने लिखा है--उसने लिखा है कि मुझे कोई हल नहीं सूझता कि आदमी सुखी कैसे हो सकता है? समाज में रहेगा तो दमन करेगा। दमन करेगा तो अनेक तरह के आंतरिक दुख और रोग और विकृतियाँ पैदा करेगा। अगर दमन नहीं करेगा, तो समाज में जी नहीं सकेगा, जीना असंभव हो जाएगा। और इन दोनों के अतिरिक्त मार्ग नहीं सूझता है।

फ्रॉयड को नहीं सूझता है, लेकिन योग के पास मार्ग है। योग कहता है, दूसरे पर प्रगट करने की कोई भी जरूरत नहीं है, शून्य में प्रगट करो। खाली आकाश में क्रोध को प्रगट करो। और आकाश की छाती बहुत बड़ी है, लौटाएगा नहीं क्रोध को। अगर हम अपने सब दमित वेगों को प्रगट कर सकें, तो निर्जरा हो जाती हैं, तो 'कॅथार्सिस' हो जाती है। तो शरीर शुद्ध हो जाता है।

और जब शरीर शुद्ध होता है, तो ध्यान में पंख लग जाते हैं। आदमी उड़ने लगता है ध्यान में, चलना नहीं पड़ता, उड़ान शुरू हो जाती है। वे सारे पत्थर

की तरह जो हमारे भीतर दबे हुए वेग थे, वही हमें नीचे खींच रहे हैं। वही हमें नीचे खींच रहे हैं। यह जो आपने सुना होगा बहुत बार कि अनेक लोगों को ध्यान में अनुभव होता है कि वे जमीन से ऊपर उठ गये, सौ में निन्यानबे मौके पर जमीन से वे उठते नहीं हैं, लेकिन शरीर के भीतर के वेग विसर्जित हो जाने से इतना हल्कापन लगता है कि ऐसी प्रतीति होती है कि शरीर जमीन से ऊपर उठ गया। आँख खोलकर देखते हैं तो जमीन पर पाते हैं। आँख बंद करते हैं, तो लगता है कि शरीर जमीन से ऊपर है। यह लगना इतना स्पष्ट होता है कि वे यह मान भी नहीं सकते कि नहीं उठ गये हैं। यह प्रतीति इतनी साफ होती है।

इस प्रतीति का कुल कारण इतना है कि अगर शरीर के सब दमित वेग हट जाएँ, शरीर बिलकुल शुद्ध हो जाए, तो तत्काल ऊपर उठने का बोध होता है। और यह शुद्धि अगर और भी कुछ आयामों में प्रयोग की जाए, तो गुरुत्वाकर्षण छोड़कर सौ में एक आदमी तो ऊपर उठ ही सकता है। वस्तुतः ऊपर उठ सकता है। लेकिन उसके प्रयोग अलग हैं। ध्यान से उसका कोई सीधा संबंध नहीं है। पर ध्यान में यह घटना तो घटती है कि आदमी को अनुभव होता है कि मैं उठ गया, दूर हट गया, जमीन से पार हो गया, शरीर मेरा ऊपर हवा में तैर रहा है। यह प्रतीति बहुत आंतरिक है। यह शरीर की शुद्धि की प्रतीति है।

तो शरीर की शुद्धि का लक्षण आपको बताए देता हूँ। जब तक आपको ऐसा प्रतीत न होने लगे ध्यान में कि आप जमीन से ऊपर उठ गये, तब तक आप समझना कि शरीर में वेग अभी तक दबाए हुए हैं। अभी तक वेग पूरे आप निकाल नहीं रहे हैं। वेग निकालने में भी हम कंजूसी करते हैं। अगर मैं आपसे कहूँ कि दिल खोल कर रो लो, तो दिल खोलकर रो भी नहीं सकते हैं। रो भी नहीं सकते हैं दिल खोलकर। दबा हुआ है। लेकिन, भरा हुआ है भीतर। और इसलिए अक्सर होता है कि कभी आप रो लेते हैं, तो आपको हल्कापन लगता है। वह रोने की वजह से नहीं लगता है। वह लगता ही इसलिए है कि रोने में जो वेग आपके भीतर दबा था, वह निकल जाता है।

कभी आपने खयाल किया, जब आपके आँसू बह जाते हैं तो भीतर एक हल्कापन छोड़ जाते हैं। लेकिन आँसुओं का दुख से कोई भी संबंध नहीं है। आँसू खुशी में भी आ जाते हैं। आँसू हर्ष का अतिरेक हो जाए तो भी आ जाते हैं। आँसू प्रेम घना हो जाए तो भी आ जाते हैं। दुख घना हो जाए तो भी आ जाते हैं। आँसू आँखों का अपने दमन को हटाने का उपाय है। आँखों के भीतर जो भी दब जाता है, उसे फेंकने का उपाय है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि आँसू आँख का स्नान है। तो आँख में जो धूलकण

इकट्ठे हो जाते हैं, आँसू उन्हें साफ कर देता है। लेकिन सालों लगते हैं आँसू आने में। तो कभी कोई आदमी सालभर नहीं रोया, तो सालभर तक आँखों का कोई फिर स्नान नहीं होता। नहीं, आँसू बहते हैं तो आँख की धूल तो साफ कर ही जाते हैं, लेकिन यह गौण है बात। वह आँख की आत्मा को भी भीतर शुद्ध कर जाते हैं। वह आँख के आंतरिक हिस्सों को भी शुद्ध कर जाते हैं। आँख पर जो भी तनाव है—और सुख हो या दुख हो, आँख पर भारी तनाव पड़ते हैं; क्रोध हो, प्रेम हो, आँख पर भारी तनाव पड़ते हैं—वह तनाव हल्का हो जाता है। आँख 'रिलेक्स' हो जाती है। आँसू के बहाने उसका वेग बह जाता है। हमारे शरीर में जितने दबे हुए वेग हैं, उनको निकालना ही शरीर की शुद्धि है। स्नान ठीक, और गहरा स्नान भी चाहिए।

और एक दूसरी बात जो इससे भी गहरी है शरीर-शुद्धि के लिए, वह भी समझ लेना चाहिए। जब भी हम अपने को शरीर के भीतर अनुभव करते हैं, तो जिस भाँति हम शरीर के भीतर अपने को अनुभव करते हैं, उसका परिणाम शरीर की पूरी संरचना पर होता है। एक आदमी समझता है, मैं शरीर हूँ। इस आदमी के पास सर्वाधिक अशुद्ध शरीर हो जाएगा। एक आदमी समझता है, मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर के भीतर हूँ, इस आदमी के पास पहले आदमी से शुद्धतम शरीर हो जाएगा। एक आदमी सोचता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, न ही शरीर के भीतर हूँ बल्कि शरीर के पार हूँ; इस आदमी के पास शुद्धतम शरीर हो जाएगा। इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर के साथ हम जितना तादात्म्य कर लेते हैं, उतना शरीर बोझिल हो जाता है। और शरीर और हमारे बीच जितना अवकाश होता है, जितनी जगह होती है, शरीर उतना हल्का हो जाता है। हमारी चेतना और हमारे शरीर के बीच जितना फासला होता है, उस फासले में ही शरीर शुद्ध होता है। और जितना फासला कम होता है, उतना ही अशुद्ध हो जाता है। शरीर और चेतना के बीच फासला हो, यह शरीर की शुद्धि के लिए बहुत अनिवार्य बात है।

लेकिन हम सब इस भाँति जीते हैं कि अपने को शरीर ही मान कर जीते हैं। जैसे शरीर ही हैं। अगर मेरा हाथ टूट जाए, तो मुझे ऐसा नहीं लगेगा मेरा हाथ टूट गया, ऐसे लगेगा कि मैं टूट गया। मेरे पैर टूट जाएँ तो मुझे नहीं लगेगा कि मेरे पैर टूट गये, मुझे लगेगा, मैं लँगड़ा हो गया। अगर मेरा शरीर बूढ़ा हो जाए, तो मुझे ऐसा नहीं लगेगा कि मेरा शरीर बूढ़ा हो गया। यह जो तादात्म्य है शरीर के साथ, यह शरीर को अशुद्ध करता है।

क्यों करता है लेकिन अशुद्ध ?

जितना ज्यादा मैं अपने को शरीर से जोड़ लेता हूँ, उतना ही शरीर को

विश्राम नहीं मिलता। जितना ही ज्यादा मैं शरीर से जोड़ लेता हूँ, शरीर को विश्राम नहीं मिलता। शरीर को विश्राम तभी मिल सकता है जब शरीर सिर्फ मेरा एक उपकरण है, उपयोग करता हूँ, शांत छोड़ देता हूँ। रात आप सो गये, शरीर आपका उपकरण नहीं है, आप शरीर ही हैं, तो आप सो नहीं सकते। शरीर सो नहीं सकता। आपका भीतरी गोरखधंधा जारी है। वह गोरखधंधा शरीर को प्रभावित कर रहा है।

अगर आप कभी किसी सोते हुए आदमी के पास रात भर बैठ कर देखें, तो बहुत हैरान होंगे। कभी किसीने देखा नहीं था, अभी लेकिन अमेरिका में उन्होंने दस प्रयोगशालाएँ बनायीं। सोते हुए आदमी के अध्ययन के लिए, निद्रा के अध्ययन के लिए। 'स्लीप लेब' बनाए। बहुत हैरानी की बात मालूम हुई। कभी किसीने सोचा नहीं था कि आदमी नींद में यह-यह करता है। आदमी नींद में सोता कम है, ऐसा लगता है जैसे रातभर व्यायाम करता है। कभी करवट बदलता है, कभी हाथ फेंकता है, कभी मुंह बिचकाता है, कभी माथे की नसें खींचता है, कभी जीभ बाहर निकालता है, कभी बड़बड़ाता है, कभी दाँत पीसता है—कितने काम आदमी रात भर करता है! ये जब 'स्लीप-लेब' बने, तब उनको पता चला कि हद हो गयी! क्योंकि कभी आदमी की नींद का ठीक से अध्ययन नहीं किया गया। कौन किसका अध्ययन करे! सभी लोग सो जाते हैं। फिर आदमी क्या करता रहता है रात भर और रात छोटी घटना नहीं है। आदमी अगर साठ साल जिए तो बीस साल सोता है। बीस साल इस उपद्रव में उसको गुजारने पड़ते हैं। और जो वह रात में कर रहा है, वह उसके दिन की सब खबर है। वह दिन में भी यह करता रहा होगा। या करना चाहता रहा होगा, दबा लिया होगा। रात में सब छूट कर हो हो रहा है। यह जो आदमी का आंतरिक लगाव है कि मैं शरीर हूँ, उसका परिणाम है।

बुद्ध के लिए आनंद ने कहा है . . . . आनंद जब दीक्षित हुआ बुद्ध से, तो आनंद बुद्ध का बड़ा भाई था, चचेरा भाई था। बड़ा था, दीक्षा के पहले उसने बुद्ध से कहा कि मैं बड़ा भाई हूँ, दीक्षा के बाद तो तुम्हारा शिष्य हो जाऊँगा, इसलिए कुछ बातें मैं पहले ही तय कर लेना चाहता हूँ। अभी मैं बड़ा भाई हूँ। फिर पीछे तो तुम जो कहोगे वह मुझे मानना ही पड़ेगा। अभी पहले मना लेता हूँ, छोटे भाई हो अभी तुम, तो तीन बातों की मुझे अभी तुम स्वीकृति दे दो।

एक, कि चाहे तुम कहीं भी जाओ, मैं तुम्हारे साथ ही रहूँगा; तुम मुझसे कह न सकोगे कि जाओ, फलाँ जगह विहार पर चले जाओ। मैं साथ ही रहूँगा। तुम कहीं भी सोओ, कोई प्रवेश न कर सके, लेकिन मैं उसी कमरे में सोऊँगा। मुझे कह न सकोगे कि बाहर सो जाओ। और आधी रात को भी मैं किसीको

मिलना चाहूँ, तो सब नियम छोड़कर मैं मिलाने का हक़दार रहूँगा। यह जब तक मैं बड़ा भाई हूँ तब तक ये तीन की आज्ञा दे दो। तुम छोटे भाई हो, तुम्हें मैं आज्ञा देता हूँ। फिर दीक्षा ले ली उसने, फिर तो शिष्य हो गया। लेकिन ये तीन आज्ञाएँ बुद्ध ने उसकी मानीं, जीवन के अंत तक।

तो वह उनके पास ही सोता था। बीस वर्ष बुद्ध के पास सोने के बाद उसने एक दिन कहा कि मैं बड़ा हैरान हूँ, तुम जिस करवट सोते हो, जहाँ हाथ रखते हो, जहाँ पैर रखते हो, रातभर वहीं रखे रहते हो। क्या रातभर इसका भी संयम रखना चाहिए ? क्या करते हो ? हाथ जहाँ रखते हो, रातभर वहीं रखे रहते हो। पैर जहाँ रखते हो, जिस पैर पर पैर रखते हो, वहीं सुबह पाता हूँ कि रखे उठे हो। फिर तो मैंने कई रात जागकर भी बार-बार देखा, लेकिन पाया कि तुम ठीक वैसे ही पड़े हो। जरा हिलते-डुलते नहीं।

बुद्ध ने कहा, एक बार, एक बार रात में मैंने करवट बदली थी, इसके बाद नहीं बदली। लेकिन उस करवट बदलने का कारण भी यही था कि तब तक शरीर से मेरा थोड़ा लगाव रह गया था। अब शरीर वैसा ही पड़ा रहता है। मुझे करवट बदलनी है, तो भीतर बदल लेता हूँ। शरीर को क्या बार-बार हिलाना-डुलाना ?

यह जानकर बहुत हैरानी होगी कि यह बिलकुल आसान है। कठिन मालूम पड़ेगा, क्योंकि हमारी तो कोई भिन्नता ही नहीं शरीर से। तो यह हमें बहुत अजीब लगेगा कि हम करवट बदल लें, शरीर वैसे ही पड़ा रहे। लेकिन जैसे-जैसे हमारी चेतना शरीर से अलग मालूम होने लगती है, कोई भी अड़चन नहीं है। कोई भी तो अड़चन नहीं है। चेतना बदल सकती है, चेतना शरीर के बाहर आ सकती है, शरीर वहीं पड़ा रहे। चेतना शरीर के बाहर यात्रा भी कर सकती है, शरीर वहीं पड़ा रहे। तो करवट क्यों बदल नहीं सकती ? कोई अड़चन नहीं है।

अड़चन एक ही कि है हम शरीर से इस बुरी तरह जुड़े है कि हम यह सोच ही नहीं सकते कि शरीर के बिना करवट बदलें। हम कैसे करवट बदलेंगे ? शरीर को कोई कठिनाई नहीं है, कठिनाई हमको है। जब तक शरीर करवट न ले, हम कैसे करवट लेंगे ? हम हैं ही शरीर की एक छाया की भाँति। शरीर जो करे वही हम करते हैं।

यह तीसरी बात खयाल ले लें। शरीर हूँ। शरीर के भीतर हूँ। शरीर के पार हूँ। अगर शरीर को पूरा शुध्द करना है, तो यह स्मरण निरंतर रखना पड़ेगा कि मैं शरीर के पार हूँ। भीतर भी नहीं, पार। अलग ही, दूर। तो शरीर भीतरी रूप से शुध्द हो जाता है।

'समस्त इंद्रियों को एकाग्र करके'। इंद्रियाँ हैं हमारे पास। प्रत्येक इंद्रिय का अलग-अलग काम है और अलग-अलग आयाम है। आँख देखती है, कान सुनते हैं। न कान देख सकते, न आँख सुन सकती। हाथ छूते हैं, नाक गंध देती हैं। नाक छू नहीं सकती, हाथ गंध नहीं ले सकते। हर इंद्रिय 'स्पेशलाइज्ड' है, उसका एक विशेष काम है। ध्यान में जिसे गहरे जाना है, उसे इन सभी इंद्रियों को एकाग्र करना सीखना पड़ता है।

एकाग्र का अर्थ क्या है?

एकाग्र का अर्थ है कि भीतर अगर मैं--समझ लें--कि भीतर अगर मैं अपने हृदय के केंद्र को खोज रहा हूँ, मैं सारी इंद्रियों का उपयोग उसमें एकसाथ करूँ। आँख बंद करके उस केंद्र को देखने की कोशिश करूँ, और कान बंद करके उस केंद्र को सुनने की कोशिश करूँ। नाक को अंतर्मुखी करके उस केंद्र की गंध लेने की भी कोशिश करूँ। यह हमें मुश्किल मालूम पड़ेगा, क्योंकि आदमी जैसा अभी है जमीन पर, वह आँख-केंद्रित है।

तो अगर मैं आपसे कहूँ कि--परमात्मा का दर्शन, तो आपको कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी इस शब्द के प्रयोग में। क्योंकि दर्शन आँख से जुड़ा है। अगर मैं कहूँ परमात्मा की गंध, तो आपको थोड़ी अड़चन मालूम पड़ेगी, क्योंकि गंध की तरफ से हमने परमात्मा को कभी नहीं सोचा। हम परमात्मा की तरफ आँखों से ही सोचते हैं। इसलिए सारी दुनिया की भाषाओं में उस अनुभूति के लिए जिन शब्दों का हम प्रयोग करते हैं, वह आँख से बने हैं। हिंदी में हम उसे कहते हैं--द्रष्टा। वह आँख से बना है। जब कोई आदमी उसका दर्शन करता है, तो 'दर्शन' कहते ह। जब कोई दर्शन कर लेता है, तो उसको 'द्रष्टा' कहते हैं। अँग्रेजी में, जब कोई उसका दर्शन कर लेता है तो उसको 'सीअर' कहते हैं। जब किसीको उसका दर्शन उपलब्ध होता है, तो उसको 'विज़न' कहते हैं। लेकिन ये सब आँख से बँधे हुए शब्द हैं।

पूरी मनुष्यजाति 'आई-ओरिएंटेड' है। आँख से बँधी हुई है। लेकिन आँख तो सिर्फ इंद्रिय है। जैसी और इंद्रियाँ हैं। इसलिए अंधे आदमी को कभी-कभी दिक्कत होती होगी कि मुझे कैसा दर्शन होगा उसका? कि मेरे पास तो आँख ही नहीं है! कोई बाधा नहीं। 'सभी इंद्रियों को एकाग्र करके'। इसका अर्थ यह है कि एक-एक इंद्रिय की तराफ से कोशिश मत करो। एक इंद्रिय की कोशिश से हो सकता है बहुत देर लगे, और यह भी हो सकता है कि आपकी वह इंद्रिय इतनी सक्रिय न हो--सभी की आँखें एक बराबर सक्रिय नहीं हैं।

एक चित्रकार जब देखता है तो उसकी आँख बहुत सक्रिय होती हैं। और

हम करीब-करीब अंधे की तरह देखते हैं उन चीजों को, जिनको चित्रकार आँखवाले की तरह देखता है। एक फूल के पास से हम रोज गुजर सकते हैं और हमको कुछ भी दिखायी न पड़े, और एक चित्रकार पागल होकर नाचने लगे। सूरज हमारे सामने भी ऊगता है. . . .

वॉनगॉग, एक डच पेंटर अपने मित्र के साथ सूर्यास्त देख रहा है। वॉनगॉग उससे कहता है कि देख सूर्यास्त। तो उसका मित्र कहता है कि हाँ, ठीक है, फिर अपनी चर्चा शुरू कर देता है। मित्र उसे हिलाता है, वॅानगॉग को कहता है कि तुम मेरी बातें नहीं सुन रहे हो मालूम पड़ता है। वॅानगॉग बोला कि जब सूर्यास्त हो रहा हो तब मेरी सभी इंद्रियाँ उसकी तरफ चली जाती हैं। अभी मैं सुन भी नहीं सकता, अभी मैं सूर्यास्त को सुन रहा हूँ। अभी मैं देख भी नहीं सकता कुछ, अभी मैं सूर्यास्त को देख रहा हूँ। अभी तुम इत्र भी छिड़क दो यहाँ तो मुझे गंध न आएगी। अभी मैं सूर्यास्त की गंध ले रहा हूँ। अभी मेरे सारे प्राण सब तरफ से सूर्य की तरफ चले गये हैं।

सब, समस्त इंद्रियों को एकाग्र करने का अर्थ है कि वह जो ध्यान का अंतर्प्रयोग हो रहा है, उसको किसी एक इंद्रिय की तरफ से कोशिश मत करें, सभी इंद्रियों की तरफ से कोशिश करें। सभी इंद्रियों का अंतरभाग उसकी तरफ झुका दें।

इंद्रियों के दो भाग हैं। एक बहिर्भाग है। आँख का एक हिस्सा, जिससे हम बाहर देखते हैं। आँख एक दूसरा हिस्सा, जिससे हम भीतर देख सकते हैं। कान का एक हिस्सा, जिससे हम बाहर सुनते हैं, कान का दूसरा हिस्सा, जिससे हम भीतर सुन सकते हैं।

योग ने इंद्रियों को दो हिस्सों मे बाँटा है। एक को बहिरइंद्रिय कहा है और एक को अंतरइंद्रिय कहा है। जितनी बहिरइंद्रियाँ हैं, उतनी ही अंतरइंद्रियाँ हैं। वह जो अंतरइंद्रियों को भाग है, समस्त इंद्रियों का एक साथ उसी केंद्र की तरफ प्रवाह कर देने का नाम इंद्रियों को एकाग्र करना है। और जब इंद्रियाँ एकाग्र होती हैं, तो परिणाम बड़े अद्‌भुत होते हैं।

दो परिणामों का फर्क पड़ता है। एक तो आपको पता भी नहीं होगा कि आपकी कौन-सी इंद्रिय सर्वाधिक शक्तिशाली है। जब आप सबको जोड़ देते हैं, तो जो सर्वाधिक शक्तिशाली है, उसकी तरफ से आपको अनुभव होना तत्काल शुरू हो जाता है। अब यह हो सकता है कि जिसकी आँख कमजोर हों, अंतरइंद्रिय भी कमजोर हो आँख की, वह बैठकर भीतर कोशिश करता रहे कि प्रकाश दिखायी पड़े, वह दिखायी न पड़ेगा।

मेरे पास लोग आकर कहते हैं, वे कहते हैं कि हमें प्रकाश दिखायी नहीं पड़ता, अँधेरा ही दिखायी पड़ता है। उसका कारण कुल इतना है कि उनका अंतरचक्षु ठीक से काम नहीं कर रहा। छोड़ें, देखने से क्या लेना-देना है, सुनना शुरू करें।

इसलिए जिन लोगों के कान का अंतर-हिस्सा महत्त्वपूर्ण होता है, उनके लिए मंत्र बड़े सहयोगी होते हैं। जिनका आँख का अंतर-हिस्सा महत्त्वपूर्ण होता है उनके लिए मंत्र बिलकुल बेकार होते हैं। क्योंकि अंतर-हिस्सा आँख का जिसका मजबूत है, वह कितना ही मंत्र रटता रहे, उससे कुछ भी न होगा। क्योंकि मंत्र से आँख का कोई संबंध नहीं जुड़ता। लेकिन अगर कान का हिस्सा भीतर का मजबूत है, तो फिर मंत्र से तत्काल संबंध जुड़ जाता है। और इसीलिए जो मंत्र से अनुभव को उपलब्ध होते हैं, वे खबर देते हैं कि उनका कान ....

सुगंध से भी हो सकता है। मुहम्मद को सुगंध से बड़ा रस था। इसलिए मुसलमान अभी भी नकल में बिचारे इत्र वगैरह लगाते रहते हैं। इत्र वगैरह लगाने से कुछ भी न होगा! लेकिन मुहम्मद को परमात्मा की जो प्रतीति हुई, वह गंध के मार्ग से हुई। और मुहम्मद का कान निश्चित ही कमजोर रहा। इसलिए संगीत से उन्हें कोई अर्थ कभी मालूम नहीं हुआ। मस्जिद के सामने अब भी संगीत बजाना बंद है। मुहम्मद को संगीत से कुछ भी रस नहीं आया कभी। कोई हर्जा की बात नहीं है। इसलिए संगीत को तो वर्जित ही कर दिया। लेकिन, तब खतरा हो सकता है। तब खतरा हो जाता है, क्योंकि हम व्यक्तियों के आधार पर अगर सबके लिए नियम बनाते हैं तो खतरे हो जाते हैं। किसीको सुगंध से हो सकता है, किसीको संगीत से हो सकता है, किसीको दृश्य से हो सकता है, किसीको रंग से हो सकता है। कहा नहीं जा सकता! एक-एक आदमी एक अनूठा विश्व है। एक-एक आदमी! तब सभी इंद्रियों को जोड़ दो।

इसलिए योग कहता है, किसी एक इंद्रिय का जोर क्यों देना! पता नहीं कौन-सी इंद्रिय तुम्हारी सक्रिय हो सके, तीव्र हो सके। पता नहीं जन्मों-जन्मों में तुमने किसी इंद्रिय का सर्वाधिक प्रयोग किया हो! पता नहीं किस कारणों से, अनंत-अनंत कारणों के कारण तुम्हारा कौन-सा अंतरइंद्रिय का भाग बिलकुल तैयार हो छलाँग लगाने को। इसलिए तुम चिंता मत करो, चुनाव मत करो, सभी इंद्रियों को इकट्ठा संग्रहीत कर दो।

'सब इंद्रियों को एकाग्र करके, श्रध्दा और भक्ति से अपने गुरु को प्रणाम करके'। श्रद्धा और भक्ति के संबंध में बहुत बातें मैंने की हैं, उसे हम अभी बात न करें। 'अपने गुरु को प्रणाम करके'। इस संबंध में जरूर कुछ बात समझ लेनी चाहिए।

पश्चिम में गुरु को समझना बहुत मुश्किल पड़ा है। पश्चिम के पास गुरु जैसा कोई शब्द नहीं है। पश्चिम की किसी भाषा में गुरु जैसा शब्द नहीं है। क्योंकि गुरु की धारणा ही नहीं है। 'टीचर' है, 'मास्टर' है, पर उनका गुरु से कोई लेना-देना नहीं है।

गुरु का ठीक अर्थ होता है, परमात्मा का तो हमें कोई भी पता नहीं है, लेकिन अगर किसी भी दिशा से, किसी भी व्यक्ति से, कहीं से भी हमें परमात्मा की झलक भी मिलती हो, तो वह गुरु हो गया। गुरु का मतलब है, जिससे हमें परमात्मा की पहली झलक मिली हो। जिससे। इससे कोई संबंध नहीं वह कौन है! हो सकता है उसे भी पता न हो। उसे भी पता न हो! लेकिन जिससे भी हमें परमात्मा की पहली झलक मिली हो, वह गुरु। गुरु का कुल मतलब ही इतना है कि जिसके माध्यम से हम पहली दफे होश से भरे कि जगत में परमात्मा भी हो सकता है।

तो गुरु का अर्थ शिक्षक नहीं है। गुरु का अर्थ उद्‌बोधक है। गुरु का अर्थ समझानेवाला नहीं है, बतानेवाला नहीं है; गुरु का अर्थ है, जिसके द्वारा बता दिया गया। उसे भी पता न हो, उसके होने मात्र से हमें कुछ एहसास हुआ। उसके होने मात्र से हमें कोई गंध मिली। हमें कोई झलक आयी, हमें कोई स्पर्श हुआ। और हमारा सारा जीवन का कोण, जीवन को देखने का ढंग बदल गया उस दिन के बाद।

बुद्ध के पास सारीपुत्त गया है। सारीपुत्त परम ज्ञान को उपलब्ध हो गया। सारीपुत्त को धर्म के प्रचार के लिए यात्राओं पर भेज दिया गया। सारीपुत्त स्वयं बुध्द हो गया है, लेकिन रोज वह डायरी रखता है कि बुद्ध इस समय किस गाँव में होंगे। नक्शा रखता है--बुद्ध किस दिशा में होंगे। रोज सुबह-साँझ उस दिशा में वह लेट जाता है, बुद्ध के चरणों में सिर रखता है। हजारों मील दूर से, सैकड़ों मील दूर से। उसके शिष्य उससे पूछते हैं कि यह आप क्या करते हो? यह आप किसको नमस्कार करते हो? कोई हमें दिखायी नहीं पड़ता।

तो सारीपुत्त ने कहा कि मुझे भी कुछ दिखायी नहीं पड़ता था, तब जिस आदमी में मुझे पहली दफा दिखायी पड़ा, उसको नमस्कार किये जाता हूँ। पर शिष्यों ने कहा, अब तो आप भी परमज्ञान को उपलब्ध हो गये! सारीपुत्त ने कहा कि जिस अवस्था को मैं आज उपलब्ध हुआ हूँ, इसकी पहली झलक उस आदमी में मुझे मिली थी। और मैं जानता हूँ कि अगर वह झलक मुझे न मिली होती तो जो मैं आज हूँ, वह नहीं हो सकता था। मैं तब बीज था और बुद्ध में मैंने वृक्ष को देखा। और तब पहली दफे मेरे प्राणों में, आकंठ मेरे प्राणों में भर

गयी वह अभीप्सा कि मैं भी यह वृक्ष हो जाऊँ।

यह सूत्र कहता है : 'अपने गुरु को प्रणाम करके।' वह जिस व्यक्ति में भी जिस शक्ति में भी, जहाँ भी परमात्मा के होने की पहली झलक मिली हो, परमात्मा पहली दफा अर्थपूर्ण मालूम पड़ा हो, परमात्मा के अस्तित्व की तरफ पहली दफा दृष्टि गयी हो, उसको स्मरण करके। हृदय के अंतर्प्रवेश के लिए यह स्मरण महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि वह गुरु आपके भविष्य की घोषणा है। जो आप हो सकेंगे, वह उसकी घोषणा है। वह अभी है। जो कल आपको होगा, वह उसके लिए आज है। जो आपका भविष्य है, वह उसका वर्तमान है। आपको अपने भविष्य की भी रूपरेखा कुछ पता नहीं, लेकिन उस गुरु का स्मरण आपके भविष्य को दिशा देगा। आपकी जीवन-ऊर्जा को बहने का मार्ग बनाएगा। उसके स्मरण का कुल मतलब ही इतना है कि मेरी सारी जीवन-ऊर्जा अब एक दिशा में बहेगी।

अगर बुद्ध को सारीपुत्त ने स्मरण किया है, तो स्मरण का मतलब यह है, स्मरण ध्यान के पहले—यह ध्यान में उतरने के पूरे प्रयोग की बात हो रही है—ध्यान में उतरने के पहले यह स्मरण, क्योंकि ध्यान में उतर जाने के बाद जो शक्ति जाग्रत होगी, वह इस स्मरण की रेखा को पकड़ कर बहना शुरू होगी। वह जो बीज टूटेगा और अंकुर बनेगा, वह इसी वृक्ष की धारणा को लेकर बड़ा होगा।

'गुरु को स्मरण करके अपने हृदय-कमल से सब दोषों को निकाल कर, दुख व शोक से परे हुए उस विशुद्ध भक्ति-तत्त्व का सम्यक चिंतन करना ही ध्यान है।'

'अपने हृदय-कमल से सब दोषों को निकालकर।' शरीर के दोष हमने निकाल दिये, हृदय के दोष भी निकाल देने चाहिए। हृदय भी शुद्ध कर लेना चाहिए। हृदय के क्या दोष हैं? बुद्ध ने चार ब्रह्म-विहार कहे हैं। वे हृदय के दोष निकालने के उपाय हैं। और अलग-अलग धर्मों में अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया है। लेकिन बातें मौलिक हैं और वे करीब-करीब एक हैं। हृदय के दोष क्या हैं?

तो बुद्ध ने कहा है, करुणा के भाव से हृदय को भर लेना; तो हिंसा, क्रोध, दूसरे को दुख पहुँचाने की वृत्ति, ईर्ष्या, वे सब दोष हैं, वे बाहर निकल जाएँगे। तो बुद्ध अपने भिक्षु से कहते थे कि पहले ध्यान में जाने से पहले करुणा का भाव कर लेना, समस्त जगत के प्रति बेशर्त। एक मजेदार घटना घटी।

बुद्ध एक गाँव में रुके हैं और एक आदमी को उन्होंने ध्यान की दीक्षा दी है। उससे कहा कि करुणा का पहला सूत्र कि ध्यान के लिए बैठे तो समस्त जगत के प्रति मेरे मन में करुणा का भाव भर जाए, इससे शुरू करना। उसने कहा और सब तो ठीक है, सिर्फ मेरे पड़ोसी को छुड़वा दें, उसके प्रति करुणा करना बहुत मुश्किल है। बहुत दुष्ट है। और बहुत सता रखा है उसने। और मुकदमा भी चल रहा है।

और झगड़ा-झाँसा भी है। और गुंडे भी उसने इकट्ठे लगा रखे हैं, मुझे भी लगाने पड़े हैं। सारे जगत के प्रति करुणा में मुझे जरा-भी दिक्कत नहीं है, यह पड़ोसी भर को छोड़ दें। क्या इतने से कोई दिक्कत आएगी ध्यान में? सिर्फ एक पड़ोसी!

बुद्ध ने कहा, सारे जगत को छोड़, सिर्फ एक पड़ोसी पर ही करुणा करना काफी होगा। क्योंकि दोष जो भरा है वह उस पड़ोसी के लिए है, सारे जगत से कोई लेना-देना नहीं है। करुणा, वह दोष का परिहार करेगी जो हमारे चित्त में इकट्ठे होते हैं।

दूसरा बुद्ध ने कहा, मैत्री। समस्त जगत के प्रति मैत्री का भाव। समस्त जगत में आदमी ही नहीं, सब कुछ।

तीसरा बुद्ध ने कहा है, मुदिता। प्रफुल्लता का भाव, प्रसन्नता का भाव। ध्यान रखना कि जब हम प्रफुल्लित होते हैं तब जगत के प्रति हमारे भीतर से कोई भी दोष नहीं बहता। और जब हम दुखी होते हैं, हम सारे जगत को दुखी करने का आयोजन सोचने लगते हैं। दुखी आदमी सारे जगत को दुखी देखना चाहता है। उससे ही उसको सुख मिलता है। और कोई सुख नहीं है उनका। जब तक आप उनसे ज्यादा दुखी न हों, तब तक वह सुखी नहीं हो पाते।

दुखी आदमी को जब चारों तरफ दुख दिखायी पड़ता है, तब वह बड़ी निश्चितता से बैठ जाता है। बुद्ध ने कहा है तीसरा, मुदिता। प्रफुल्लता से बैठना। हृदय को प्रफुल्लता से भरना।

और चौथा बुद्ध ने कहा है, उपेक्षा। कुछ भी हो जाए—अच्छा हो कि बुरा, फल मिले कि न मिले, ध्यान लगे कि न लगे, ईश्वर से मिलन हो कि न हो; असफलता आए, सफलता आए; श्रेय, अश्रेय, कुछ भी हो, उपेक्षा रखना। दोनों में समतुल रहना। दोनों में चुनाव मत करना। ये चार को बुद्ध ने कहा है।

करीब-करीब सभी धर्मों में इनसे आसपास कुछ बातें कही हैं। लेकिन बुध्द ने इन चार में समस्त धर्मों के सार को इकट्ठा कर दिया। इनसे हृदय के दोष अलग हो जाएँगे। ध्यान इनके बाद सुगम बात होगी, सहज बात होगी।

'दुख व शोक से परे उस विशुद्ध भक्ति-तत्त्व का चिंतन-मनन ध्यान' भक्ति-तत्त्व के संबंध में मैंने बात की है। इस हृदय में, इस... शरीर हो शुद्ध, आसन हो, एकांत हो, हृदय के सारे विकार हट गये हों, तब इस हृदय में समस्त अस्तित्व के प्रति जो आत्मीयता, एकता, एकत्व का भाव है, वही भक्ति है। इस क्षण में मैं इस जगत के साथ एक हूँ, अस्तित्व के साथ एक हूँ, इसका ध्यान ही ध्यान है।

अब इस पूरे सूत्र को मैं पढ़ देता हूँ—

'ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा से भरे, संन्यास के भाव में ठहरे हुए, स्नान

आदि से अपने शरीर को शुद्ध करके सुखासन लगाकर, सिर, गले व शरीर को एक सीध में रखकर, समस्त इंद्रियों को एकाग्र करके, श्रध्दा व भक्ति से अपने गुरु को प्रणाम करके, हृदय-कमल से सब दोषों को निकालकर दुख व शोक से परे उस विशुद्ध भक्ति-तत्त्व का चितन करना ही ध्यान है।' उसकी चिंतना में डूब जाना ही ध्यान है।

इतना ही।

अब हम ध्यान में प्रवेश करें। दो-तीन बातें। जो लोग तेजी से करें, वे मेरे करीब तीनों ओर आ जाएँ। और जो लोग धीरे करने को हों, वे पीछे हट जाएँ।

अचिन्त्यं अव्यक्तं अनंतरूपं शिवं प्रशान्तं अमृतं ब्रह्मयोनिम्।
तदाऽदिमध्यान्त विहीनमेकं विभुं चिदानन्दं अरूपं अदभुतम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार मुनि लोग ध्यान के द्वारा उस चिंतन की सीमा में न आनेवाले, व्यक्त न होनेवाले, जिसके अनंत रूप हैं, जो कल्याण करने वाला है, अद्वैत है, जो ब्रह्म का मूल कारण है, जिसका कोई आदि, मध्य और अंत ही नहीं है, जो अद्वितीय, सर्वव्यापक और चैतन्य तथा आनंदमय है, जिसका कोई रूप नहीं है और जो विलक्षण है–– उसको प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

छठवाँ प्रवचन; माउंट आबू, २८ मार्च १९७२, प्रातः

ध्यान के द्वार। ध्यान के द्वार उस आयाम में, जहाँ विचार का कोई प्रवेश नहीं; जहाँ सोचने का कोई उपाय नहीं, जहाँ समझने की तर्क की, तर्कना की कोई स्थिति नहीं; जहाँ मात्र अनुभूति ही शेष रह जाती है। इस ध्यान में जो उपलब्ध होता है, उस उपलब्ध होनेवाले के संबंध में इस सूत्र में संकेत किये गये हैं। इस सूत्र के एक-एक शब्द को बहुत-बहुत गहराई से समझ लेना जरूरी है।

पहला शब्द है-- 'अचिंत्य'। जिसके संबंध में चिंतन न हो सके। जिसके संबंध में विचार न हो सके। जिसके संबंध में बुद्धि असमर्थ हो जाए। ऐसे अनुभव का द्वार है-- ध्यान।

विचार हम कर सकते हैं, किसके संबंध में? जो ज्ञात है उसके संबंध में विचार होता है। शायद सोचा न होगा। आप जो भी विचार करते हैं, वह आपको पहले से ही ज्ञात है। आप अज्ञात के संबंध में विचार नहीं कर सकते। करेंगे भी कैसे? जो आपको ज्ञात ही नहीं है, उसके संबंध में विचार कैसे करियेगा? तो विचार तो जुगाली की तरह है। बहुत-से जानवर जुगाली करते हैं। खाये हुए को चबाते हैं।

विचार जुगाली है। विचार पहले आपको मिल जाता है, फिर आप उसीको जुगाली करते हैं। लेकिन ज्ञात होना चाहिए तो ही आप विचार कर सकते हैं। अज्ञात का कोई विचार नहीं हो सकता। अज्ञात को सोचियेगा ही कैसे? जिसे जाना ही नहीं है, उसके संबंध में विचार की कोई गति नहीं है। और जीवन का जो परम सत्य है, वह अज्ञात है, वह 'अननोन' है। जीवन का जो परम रहस्य है, वह ज्ञात नहीं है। उसे सोचना संभव नहीं है। लेकिन जो अज्ञात है, वह भी ज्ञात बन सकता है। फिर सोच सकते हैं।

यहाँ एक बात और समझ लेनी जरूरी है। जीवन का परम रहस्य ज्ञात तो है ही नहीं, उसे अज्ञात कहना भी ठीक नहीं है, वह अज्ञेय है। 'अननोन' ही नहीं,

'अननोएबल' है। क्योंकि अगर अज्ञात कहें .... इस पहाड़ के पीछे क्या है, वह अज्ञात है। कोई व्यक्ति पहाड़ के पीछे जाकर अगर आपको खबर दे दे, तो ज्ञात हो जाएगा। लेकिन ब्रह्म में जाकर भी कोई आपको खबर दे तो भी ज्ञात नहीं होगा। क्योंकि खबर इतनी फीकी है, इतनी सीमित है कि उस रहस्य के संबंध में कुछ भी नहीं कह पाती। आज तक उस रहस्य के संबंध में जो भी कहा गया है, वह सभी आदमी की असमर्थता का सूचक है।

इसलिए बुध्द जैसा व्यक्ति तो उस संबंध में बात ही करना बंद कर दिया था। बद्ध से कोई पूछता था ब्रह्म के संबंध में, तो वह चुप रह जाते थे। इससे बड़ी भ्रांति हुई। अनेकों ने समझा कि वह ब्रह्म को मानते ही नहीं। लेकिन वह इतने चुप थे इस संबंध में कि वह यह भी नहीं कहते थे कि मैं उस संबंध में कुछ न कह सकूंगा। क्योंकि बुद्ध का कहना था कि यह भी उस संबंध में कुछ कहना हो गया। मैं कुछ न कह सकूंगा---यह भी उस संबंध में कुछ कहना हो गया। कुछ तो मैंने कह ही दिया। इतना भी कहने को वह राजी नहीं थे।

जीवन का परम रहस्य अज्ञात ही होता तो फिर हम जीवन के परम रहस्य को भी विश्वविद्यालय में पढ़ सकते थे। क्योंकि वह ज्ञात बनाया जा सकता था।

यहाँ एक खयाल ले लें।

वैज्ञानिक एक खोज करता है। जब तक यह खोज नहीं होती तब तक उसकी विषय-वस्तु अज्ञात होती है। फिर एक वैज्ञानिक खोज लेता है। एक एडीसन, एक आइंस्टीन, एक न्यूटन खोज लेता है, फिर वह ज्ञात हो गयी। फिर सारी दुनिया के स्कूल के बच्चे भी उसको पढ़ लेते हैं और जान लेते हैं। फिर हर एक को उसे खोजता नहीं पड़ता। विज्ञान एक व्यक्ति खोज लेता है, फिर सभी जान जाते हैं। फिर प्रत्येक को उसे खोजने की जरूरत नहीं रह जाती। जो अज्ञात था, वह ज्ञात हो गया।

परमात्मा ऐसा नहीं है। अनेकों ने उसे खोज लिया फिर भी वह अब तक ज्ञात नहीं हो सका। तो हमें उसे अज्ञात की कोटि में नहीं रखना चाहिए। वह अज्ञेय की कोटि है। अज्ञेय का मतलब है, जो जान-जाकर भी अजाना रह जाता है। जान भी लेते हैं लोग, कह भी देते है उसके संबंध में, फिर भी वह हमारा विचार नहीं बन पाता। हमारी धारणा नहीं बन पाती। उसकी शिक्षा नहीं दी जा सकती। उसके लिए कोई शिक्षाशास्त्र काम नहीं करेगा।

इससे दूसरी बात भी खयाल ले लें कि जीवन के सभी अनुभव सामूहिक हैं--एक जान लेता है, सारा समूह जान लेता है--परमात्मा वैयक्तिक अनुभव है। एक जानता है तो गूंगे का गुड़ हो जाता है, दूसरे से कह नहीं पाता है। जबान रुक

जाती है। होंठ बंद हो जाते हैं। यह भी मजे की बात है कि ईश्वर के संबंध में जो नहीं जानता, वह कुछ बोल भी सकता है; जो जानता है, उसे बोलना बहुत कठिन हो जाता है। यह विचित्र मालूम होगा कि जो नहीं जानते, वे बोल सकते हैं उसके संबंध में। वे इसीलिए बोल सकते हैं कि उन्हें पता ही नहीं हैं। उन्हें यह पता ही नहीं है कि जिसे वे शब्दों में रख रहे हैं, वह शब्दों में रखा नहीं जा सकता। शब्द उन्होंने सुने हैं, उन्हीं शब्दों को वे दोहरा देते हैं।

इसलिए पंडित को कभी ऐसी असमर्थता मालूम नहीं पड़ती कि ईश्वर के संबंध में कहा नहीं जा सकता। पंडित कहता रहता है। संतों को निरंतर असमर्थता होती है। और संत बार-बार कहता है तो भी कहता है साथ में कि मैं उसे कह नहीं पाया हूँ। वह अनकहा रह गया। मैंने चेष्टा की, मैं असफल हो गया। पंडित कभी असफल नहीं होता। वह सदा सफल मालूम पड़ता है। और ज्ञानी सदा ही असफल मालूम पड़ता है। कहता है, चेष्टा करता है और फिर पाता है कि नहीं, वह बात पीछे छूट गयी, वह मैं कह नहीं पाया। कुछ ऐसा है जैसे हम हवा को मुट्ठी में बाँधने का प्रयास करें। जब तक नहीं बाँधते तब तक मुट्ठी में हवा होती है। और जब बाँधते हैं तब बाहर निकल जाती है। अनुभव में तो परमात्मा होता है और जैसे ही हम शब्द में बाँधते हैं, निकल जाता है। शब्द मुट्ठी की तरह काम करते हैं। न कहें, होता है; कहें, खो जाता है। जिन्होंने कहा, उन्होंने सिर्फ असमर्थता बतायी। जिन्होंने नहीं कहा, उन्होंने अपने मौन से इतना ही कहा कि नहीं कहा जा सकता है। वैयक्तिक है अनुभव, सामूहिक नहीं है। और अचित्य कहने का यही प्रयोजन है कि आप उसके संबंध में चिंतन न कर पाएँगे।

इसलिए कोई अगर कहता हो कि मैं ईश्वर के संबंध में चिंतन कर रहा हूँ, तो एकदम ही गलत कहता है। चिंतन कर रहा होगा, लेकिन जिसके संबंध में कर रहा है वह ईश्वर नहीं हो सकता। वह कुछ और होगा। इसका मतलब हुआ कि जिस संबंध में आप चिंतन कर सकते हैं, समझ लेना कि वह ईश्वर नहीं है। आप राम के संबंध में चिंतन कर सकते हैं। लेकिन राम के उस हिस्से के संबंध में जो ज्ञात है। उनका आकार, उनकी आँखें, उनका शरीर, उनके शब्द, उनका आचरण, यह सब ज्ञात है, इस संबंध में आप चिंतन कर सकते हैं। लेकिन जो ज्ञात है, वह परम सत्ता नहीं है। इस सब के भीतर जो अज्ञात रह गया है, वही परम सत्ता है। इस सब के भीतर जो छिपा रह गया है। राम का आचरण ईश्वर नहीं है। आचरण तो ज्ञात हो गया है। राम के आचरण के भीतर जो अंतस् था, वही ईश्वर है। राम के शब्द ईश्वर नहीं हैं, वे तो ज्ञात हो गये। शब्दों के पीछे जो निःशब्द था, वही ईश्वर है, लेकिन वह अज्ञात रह गया।

बुद्ध की मृत्यु का दिन और आनंद रो रहा है, सिर पीट रहा है। और बुद्ध उसे समझाते हैं कि तू क्यों व्यर्थ रो रहा है। तो आनंद कहता है, व्यर्थ मैं नहीं रो रहा। बुद्ध अब नहीं होंगे, अब खो जाएँगे, अब विसर्जित हो जाएँगे, मैं न रोऊँ तो क्या करूँ? तो बुद्ध हँसते हैं और उसे कहते हैं, जिसे तू सोचता है कि विसर्जित हो जाएगा, वह तो मैं था ही नहीं। जिसे तू सोचता है कि मर जाएगा, वह मैं कब था? वह मैं कभी था ही नहीं। तो जिसके संबंध में तू रो रहा है, वह मैं नहीं हूँ। और अगर तू मेरे संबंध में रो रहा है, तो व्यर्थ रो रहा है। मैं जैसा था वैसा ही रहूँगा। उसमें कोई अंतर पड़नेवाला नहीं।

लेकिन यह जो बुद्ध हैं, जिसके संबंध में बुद्ध कह रहे हैं, यह वही बुद्ध नहीं है जिसके संबंध में आनंद रो रहा है। इन दोनों का कहीं मेल नहीं है। अगर आनंद चिंतन करे बुद्ध का, तो वह बुद्ध को छोड़कर चिंतन करेगा। उसका उसे पता ही नहीं है। वह चिंतन करेगा उनकी मुद्राओं का, उनके उठने-बैठने का, उनकी वाणी का, उनकी आँखों का, वह तो बुद्ध नहीं हैं। यह तो ऐसे हुआ कि जिस मकान में बुद्ध रहते हैं, जब हम बुद्ध का चिंतन करें तो हम मकान की तसवीर सोचने लगें। उस मकान से क्या लेना-देना है!

हम जब भी चिंतन करते हैं परमात्मा का, तो हम किसी रूप का चिंतन करते हैं, जिससे परमात्मा प्रगट हुआ होगा, लेकिन परमात्मा का चिंतन नहीं कर सकते। वह अचिंत्य है। तो फिर हम उस तक कैसे पहुँचें? हम सारा चिंतन छोड़ दें तो उस तक पहुँच सकते हैं।

परमात्मा का चिंतन नहीं हो सकता। चिंतन न हो, तो परमात्मा हो सकता है। सारा विचार रुक जाए, विचार की प्रक्रिया ठहर जाए, सब समाप्त हो जाएँ, भाषा खो जाए, मन मौजूद न रहे; सिर्फ चैतन्य रह जाए, सिर्फ भीतर जानना मात्र रह जाए और जानने में कोई विषय न हो—जैसे दर्पण है।

दर्पण की दो अवस्थाएँ हैं। जब दर्पण में किसीकी तस्वीर बनती है, यह एक अवस्था है। जब दर्पण खाली होता है, किसीकी तस्वीर नहीं बनती, यह दूसरी अवस्था है। जब दर्पण में किसीकी तस्वीर बनती है, तो दर्पण तस्वीर से आच्छादित हो जाता है। दर्पण में विषय होता है। जब कोई तस्वीर नहीं बनती, तो दर्पण शुद्ध होता है। अनाच्छादित होता है, निर्मल होता है। और उसमें कोई विषय नहीं होता है।

हमारी चेतना दर्पण की तरह है। जब चेतना में विचार चलते हैं तो चेतना आच्छादित हो जाती है। और जब चेतना निर्विचार होती है, कोई विचार नहीं चलता, तब चेतना निर्मल, शांत हो जाती है। उस शांत स्थिति में जानने को कुछ

भी नहीं होता, मात्र जानने की क्षमता रह जाती है। 'जस्ट नोइंग'। इस अवस्था को ही ध्यान कहते हैं। और इस ध्यान में ही उस अचिंत्य का पता चलता है। पता! इस ध्यान में ही वह अचिंत्य अनुभव में आता है। विचार में नहीं।

तो विचार और अनुभव का एक फर्क और समझ लें। विचार सिर्फ बुद्धि में उठती हुई तरंगों का नाम है, अनुभव समस्त अस्तित्व में। जब परमात्मा अनुभव होता है, तो रोएँ-रोएँ को अनुभव होता है। खून की बूँद-बूँद को, हड्डी के टुकड़े, टुकड़े को। चेतना के कण-कण को। आपका समस्त अस्तित्व उसे अनुभव करता है। जब आप विचार करते हैं तो सिर्फ आपकी बुद्धि का एक कोना उसके संबंध में सुने हुए, जाने हुए शब्दों को दोहराये चला जाता है। बुद्धि आपका अस्तित्व नहीं है वह आपका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। वह आप प्रामाणिक रूप से आप नहीं हैं।

हम इसे ऐसा अगर समझें तो अच्छा होगा।

बुद्धि आपके भीतर समाज का घुस गया कोना है। आपका अस्तित्व है, उसमें समाज ने जो-जो आपको सिखाया है, वह आपकी बुद्धि है। उसको आप दोहराए चले जा सकते हैं। इसलिए जब एक हिंदू सोचता है ईश्वर के संबंध में तो राम का खयाल आता है। जब एक मुसलमान सोचता है, तो राम का खयाल नहीं आता। जब एक ईसाई सोचता है, तो जीसस का खयाल आता है। जब एक जैन सोचता है तो न जीसस का खयाल आता है, न राम का खयाल आता है। तो खयाल तो आपको जो दिये गये हैं वही आ जाते हैं।

खयाल उधार हैं। विचार आपकी संपदा नहीं, केवल आपका संग्रह है। बाहर से। उसको आप जुगाली कर सकते हैं। इस जुगाली से वह नहीं मिलेगा। यह जुगाली पूरी रुक जानी चाहिए और चेतना का दर्पण ऐसा हो जाना चाहिए कि उसमें कोई प्रतिबिंब नही बचे। जिस दिन कोई प्रतिबिंब नहीं बचता उस दिन अचिंत्य झलकता है।

तो पहला शब्द 'अचिंत्य' है।

दूसरा शब्द है—'अव्यक्त'। उसे अगर जानना है तो व्यक्त में मत खोजना। 'मेनीफेस्ट' में मत खोजना। इसका अर्थ नहीं है कि वह व्यक्त में नहीं है। वह व्यक्त में है, लेकिन व्यक्त ही नहीं है। व्यक्त उसकी परिधि है, अव्यक्त उसका अंतस् है।

सुना है मैंने, मोझर्ट के संबंध में। बड़ा संगीतज्ञ था। एक दिन उसने एक अनूठे संगीत की व्यवस्था को जन्म दिया। संगीत बंद हो गया है। केवल एक मात्र उसका मित्र सुनने आया है। संगीत बंद हो गया, मोझर्ट शांत हो गया, वाद्य शून्य हो गये, लेकिन जो मित्र आया है, वह अभी भी डोले चला जा रहा है। बहुत देर

हो गयी तो मोझर्ट ने मित्र को हिलाया और कहा कि अब तो सब बंद हो गया, अब तुम क्यों हिले चले जा रहे हो ? तो उस मित्र ने कहा कि जब तक तुम बजा रहे थे, तब तक तो जो था, वह व्यक्त था। व्यक्त तो खो गया, अब अव्यक्त में मैं आनंदित हो रहा हूँ। तो वह तो संगीत की परिधि थी सिर्फ, अब मैं संगीत के केंद्र पर डूब रहा हूँ। बाधा मत डालो।

व्यक्त में ही अगर उसे खोजने जाएँगे, वही तो चेष्टा विज्ञान की है कि हम सत्य को व्यक्त में ही खोजेंगे। तो अगर आदमी में परमात्मा है तो विज्ञान कहता है हम चीर-फाड़ करेंगे, विश्लेषण करेंगे और जो व्यक्त है उसमें जाँच कर लेंगे—है या नहीं। व्यक्त की जाँच हो जाती है, भीतर कोई आत्मा मिलती नहीं। क्योंकि आत्मा अव्यक्त है। और जो व्यक्त है, वह केवल शरीर की परिधि है। तो व्यक्त को अगर काटेंगे, पीटेंगे, तो अव्यक्त खो जाएगा। ऐसे ही जैसे एक सुंदर फूल खिला है, गुलाब का फूल खिला है और अगर मैं कहूँ सुंदर है, तो आप पूछें कि सौंदर्य कहाँ है ? तो हम फूल को काटकर-पीटकर देखेंगे, विश्लेषण करेंगे, प्रयोगशाला में जाँच करेंगे कि सौंदर्य कहाँ है ? फूल कट जाएगा, जो हाथ में आएगा वह सौंदर्य नहीं होगा, कुछ और होगा। रासायनिक-तत्त्व होंगे, वे हमारे हाथ में लग जाएँगे। रंग निचुड़ आएगा, वह हमारे हाथ में लग जाएगा। फूल में जो-जो वस्तु है, वह हमारे हाथ लग जाएगी। हम बोतलों में बंद करके एक-एक चीज को अलग 'लेबल' लगाकर रख देंगे, लेकिन एक बात पक्की है, उन बोतलों में वह बोतल नहीं होगी जिसपर लिखा हो—सौंदर्य।

और तब हम कह सकते हैं बिलकुल तर्क-व्यवस्था से कि सौंदर्य था ही नहीं। क्योंकि सब हमने जाँचकर देख लिया, एक भी चीज छोड़ी नहीं, सब इन बोतलों में बंद है—पूरा-का-पूरा फूल इन बोतलों में बंद है। नाप लो वजन, जितना वजन फूल का था उतने वजन की चीजें बंद हैं, सब पूरा मौजूद है, सौंदर्य कहीं है नहीं।

सौंदर्य अव्यक्त था। फूल व्यक्त था। फूल से प्रगट हो रहा था वह अव्यक्त। ऐसा हम समझें कि फूल की व्यक्त भूमि को अव्यक्त ने अपना आवास बनाया था। आपने भूमि हटा ली, अव्यक्त तिरोहित हो गया। वीणा को कोई बजा रहा है तो हम सोचते हैं कि वीणा के तार में ही संगीत है, तो हम गलती में पड़ जाएँगे। तार सिर्फ तार है। और कितनी ही जाँच-पड़ताल करो, तार में संगीत नहीं मिलेगा। या सोचते हो कि वीणा के वाद्य को लकड़ी को तोड़-फोड़ कर संगीत का पता चलेगा, तो भी पता नहीं चलेगा। वीणा तो केवल माध्यम बनती है अव्यक्त के प्रगट होने का। अगर वीणा में ही खोज की तो संगीत का कोई पता नहीं चलेगा।

और अगर वीणा टूट गयी, और वीणा को तोड़कर, टुकड़े तोड़कर जाँच कर

ली, तब तो फिर कोई उपाय भी नहीं रहेगा अव्यक्त को प्रगट होने का। वीणा तो केवल माध्यम बनती है अव्यक्त को प्रगट होने का। और जब संगीतज्ञ वीणा को कसता है, सँवारता है, तब वह क्या कर रहा है ? तब वह इतना ही कर रहा है, ताकि वीणा उपयुक्त माध्यम बन सके अव्यक्त के उतरने का। तब वह वीणा के माध्यम को सँभाल रहा है, ताकि अव्यक्त अपने पैर रख सके वीणा के तारों पर, प्रगट हो सके। योग्य हो जाए अव्यक्त के। वीणा बजा लेना उतना कठिन नहीं, जितना वीणा को अव्यक्त के प्रगट होने योग्य बनाना।

इसलिए जो असली कलाविद है, वह सिर्फ बजाना जानता हो तो कलाविद नहीं है। वीणा को बजने की हालत में लाना जानता हो तो ही कलाविद है। क्योंकि बजाना तो बहुत आसान है, लेकिन अव्यक्त और व्यक्त के बीच में एक तारतम्य निर्मित करना बहुत कठिन है।

अव्यक्त है जीवन का जो परम रहस्य है। उसे व्यक्त में खोजना मत, व्यक्त को सीमा मत बनाना। और हमेशा व्यक्त के भीतर भी जाओ तो अव्यक्त पर ध्यान रखना। वृक्ष को देखना, तो वृक्ष की रूपरेखा पर मत रुक जाना। वृक्ष की रूपरेखा में जो छिपा हुआ जीवन-प्रवाह है, उसको स्मरण करना। उस पर ध्यान रखना। व्यक्ति को देखना तो उसकी आँखें, उसके चेहरे, उसके शरीर में मत अटक जाना। उसकी आँखों में, उसके शरीर में जो आभा प्रगट हो रही है, जो आभामंडल निर्मित हो रहा है, उस पर ध्यान रखना, तो अव्यक्त की प्रतीति होगी। अव्यक्त उसका अनिवार्य स्वभाव है और इसलिए वह व्यक्त होते-होते भी अव्यक्त रह जाता है। उसकी मौलिक जो गहनतम अवस्था है, केंद्र जो है, वह सदा अव्यक्त रह जाता है। परिधि पर अभिव्यक्ति होती है।

जैसे कोई जाए सागर के तट पर और लहरों को ही सागर समझ ले। हालाँकि हमने भी कभी खयाल नहीं किया होगा। सागर को देखकर आप आते हैं, तो आप कहते हैं, सागर को देखकर आ गये। आप आते हैं केवल लहरों को देखकर। क्योंकि सागर की छाती पर तो लहरें ही हैं। सागर तो बहुत गहरे में है। लेकिन लहरों को देख कर हम लौट आते हैं और कहते हैं—सागर को देख आए। अगर ठीक कोई शिक्षक आपको भेजे, तो वह कहेगा—लहरों को सागर मत समझ लेना। लहरों में भी सागर है, माना, लेकिन सागर लहरों से बहुत ज्यादा है। लहरों के भीतर झाँकना। तो सागर तो सिर्फ वही जान पाएगा जो तट से न देखकर लौटे, डुबकी लगाए। क्योंकि डुबकी लगे तो ही लहरों से छुटकारा होता है। तट पर खड़े होकर तो लहरों में झाँकियेगा भी कैसे ? तट छोड़ना पड़ेगा।

कबीर ने कहा है: 'मैं बौरी खोजन गयी रही किनारे बठ।' बड़ा पागल

था मैं कि मैं खोजने गया उसको और किनारे बैठ रहा। और सोचता था किनारे बैठे-बैठे उसे खोज लूंगा। किनारे से तो जो दिखायी पड़ेगा, वह लहरें हैं, कूदना ही पड़ेगा। डूबने का मतलब ही इतना है कि लहरों से नीचे उतर जाना, तो सागर का अनुभव होगा। जितनी बढ़ेगी गहराई, उतना ही सागर का अनुभव होगा।

अव्यक्त का अर्थ है—सोचना मत, डूबना। सोचना तट पर खड़ा रह जाना है। विचार से लहरें पकड़ में आ जाएँगी, जो लहरों का प्राण है गहन, वह अछूता रह जाएगा।

तीसरा शब्द है—'अनंत रूप'। अव्यक्त है अर्थात् अरूप है। अव्यक्त का अर्थ हुआ कि अरूप है। अचित्य का अर्थ हुआ कि अरूप है। और फिर ऋषि कहता है, अनंत रूप भी है।

इसे थोड़ा समझें।

सिर्फ अरूप ही अनंत रूप हो सकता है। जिसका खुद का कोई रूप हो, वह अनंत रूप नहीं हो सकता। अगर मेरा एक रूप है, तो मैं उस रूप से बँधा हुआ हो गया। लेकिन, अगर मेरा कोई रूप नहीं है, तो फिर मेरे भीतर एक तरलता है, मैं किसी भी रूप में हो सकता हूँ। इसलिए परमात्मा वृक्ष हो सकता है, पत्थर हो सकता है, आकाश हो सकता है, फूल हो सकता है, पशु हो सकता है, मनुष्य हो सकता है, कुछ भी हो सकता है। उसका अपना कोई रूप नहीं, इसीलिए अनंत रूप हो सकता है। अगर उसका अपना कोई रूप है, तो फिर अनंत रूप नहीं हो सकता।

जगत में जितनी चीजें हमें दिखायी पडती हैं, उन सब के रूप हैं। उन सबके रूपों के भीतर जो जीवन की धारा वह रही है, वह अरूप है। इसलिए कोई भी रूप लिया जा सकता है। सागर किसी भी तरह की लहर बन सकता है। छोटी, बड़ी, भयानक, कुछ भी। सागर कोई भी लहर बन सकता है, क्योंकि सागर लहर नहीं है। और सागर किसी भी तरह की लहर से अभिव्यक्त हो सकता है, क्योंकि कोई खाश लहर से अभिव्यक्त होने का बंधन नहीं है।

अरूप का अर्थ होता है—तरल। इसे हम ऐसा समझें कि अगर मैं पानी को एक गिलास में डाल दूँ, तो पानी गिलास का रूप हो जाता है। एक घड़े में भर दूँ, तो घड़े का रूप हो जाता है। और जैसी जगह डाल दूँ, पानी वैसा रूप ले लेता है। पानी का अपना कोई रूप नहीं है। तरल है। लेकिन, पत्थर को मैं एक गिलास में डाल दूँ, तो कोई अंतर नहीं पड़ता। पत्थर अपना रूप थिर रखता है। घड़े में डाल दूँ, तो भी अपना रूप स्थिर रखता है। पत्थर तरल नहीं है, ठोस है। लेकिन फिर भी पानी का एक रूप है, तरल हो भला। रूप बदल जाते हों, लेकिन पानी

आग नहीं हो सकता। पानी पत्थर नहीं हो सकता। तो पानी की तरलता का भी एक रूप है।

पानी बहुरूप हो सकता है, लेकिन पानी रहकर ही। पानी के बाहर रूप नहीं बदल सकता। तरल है, तो बहुरूप ले सकता है, लेकिन पानी की सीमा में। परमात्मा तरल है, किसी भी सीमा में नहीं। असीम है। उसकी तरलता असीम है। इसलिए वृक्ष भी हो सकता है, पत्थर भी हो सकता है, पानी भी हो सकता है। और अब तो वैज्ञानिक भी कहते हैं कि हम जैसे-जैसे पदार्थों को तोड़कर नीचे पहुँच रहे हैं, वैसे-वैसे अनुभव होता है कि सभी पदार्थ एक ही ऊर्जा से निकले हैं, एक ही 'एनर्जी' से निकले हैं।

पहले 'अलकेमिस्ट', और दुनिया भर में न-मालूम कितने-कितने लोग इस कोशिश में रहे हैं कि किसी तरह लोहा सोना हो जाए। कभी वे सफल तो नहीं हुए लेकिन उनकी आशा अब पूरी हो गयी है। अब विज्ञान कहता है, कोई अड़चन नहीं है। लोहा सोना हो सकता है, क्योंकि लोहे और सोने के भीतर जो ऊर्जा है, वह एक है। कुछ 'इलेक्ट्रॉन्स घटाने और बढ़ाने की बात है। सिर्फ संख्या का फर्क है। कहीं 'इलेक्ट्रॉन्स' दस हैं, कहीं बाहर हैं, कहीं पंद्रह हैं, कहीं बीस हैं—कोई भी संख्या हो, लेकिन फर्क 'इलेक्ट्रॉन्स' की संख्या का है, 'इलेक्ट्रॉन्स' का कोई फर्क नहीं है। तो जहाँ अगर किसी तत्त्व में बीस 'इलेक्ट्रॉन्स' हैं, और किसी तत्त्व में पच्चीस 'इलेक्ट्रॉन्स' हैं, तो पाँच 'इलेक्ट्रॉन्स' जोड़ने की जरूरत है, वह तत्त्व दूसरा तत्त्व हो जाएगा।

लोहा सोना हो सकता है। प्रयोग हो गये हैं, उसमें कोई अड़चन नहीं रही। बजार में नहीं आता उस तरह का सोना, क्योंकि उसे सोना बनाने में साधारण सोसे बहुत महँगा पड़ता है। उसका कोई मतलब नहीं है। 'इलेक्ट्रॉन्स' को जोड़ना और घटाना बहुत महँगी प्रक्रिया है, इसलिए बनाया नहीं जाता। अन्यथा बनाने में अब कोई बाधा नहीं है। मिट्टी सोना हो सकती है, सोना मिट्टी हो सकता है। अब कोई अड़चन नहीं रही है। क्योंकि अब हम अणु के विस्फोट को उपलब्ध हो गय हैं। अणु के विस्फोट का अर्थ है कि अब हम 'इलेक्ट्रॉन' घटा और बढ़ा सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि एक ही तरल वस्तु नीचे छिपी है। पदार्थगत खोज से भी यह अनुभव में आया, लेकिन अभी विज्ञान को यह खयाल में नहीं आया है—'इलेक्ट्रॉन' घटा और बढ़ाकर हम लोहे का सोना बना सकते हैं, लेकिन अभी तक कोई समझ में बात नहीं आ सकी कि किस चीज को घटाएँ-बढ़ाएँ कि पदार्थ चेतना बन जाए। किस चीज को घटाएँ-बढ़ाएँ कि चेतना पदार्थ बन जाए।

योग का सारा-का-सारा संबंध उस सूत्र से है कि किस चीज को बढ़ाएँ कि

पदार्थ चेतना बन जाए। किस चीज को घटाएँ कि चेतना पदार्थ बन जाए। ध्यान उस प्रक्रिया का नाम है। ध्यान बढ़े, तो पदार्थ चैतन्य होने लगता है। ध्यान घटे तो चेतना पदार्थ होने लगती है। ध्यान की मात्रा का बढ़ जाना ही पदार्थ का रूपांतरण है आत्मा में। अगर ध्यान परिपूर्ण हो जाए, तो सारा जगत परमात्मा हो जाता है। क्योंकि तब हमें दिखायी पड़ने लगता है—हर जगह वही। हर लहर में सागर। लहर भूल ही जाती है। और यह भी मजे की बात है कि अगर आपको लहर खयाल में रहे, तो सागर भूल जाएगा। अगर सागर खयाल में रहे, तो लहर भूल जाएगी। दोनों एक-साथ खयाल में नहीं रह सकते। जाकर कभी कोशिश करें।

जाकर कभी कोशिश करें। ठीक ऐसी ही कोशिश है जैसे कि एक आदमी एक-एक वृक्ष को खयाल में रखे, तो जंगल खो जाएगा। और जंगल को खयाल में रखे, तो एक-एक वृक्ष खो जाएगा। यह दोनों बातें एक-साथ नहीं हो सकती हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि आप एक-एक वृक्ष को भी व्यक्तिशः खयाल में रखें और साथ ही युगपत् जंगल भी खयाल में रखें। यह नहीं हो सकता। क्योंकि जंगल का मतलब ही यह है कि व्यक्तिगत वृक्ष खो गया, एक भीड़ रह गयी। निराकार भीड़। और वृक्ष का मतलब ही यह है कि वह जो भीड़ थी, खो गयी, एक-एक व्यक्ति हो गया। ठीक ऐसे ही लहर का खयाल हो, सागर खो जाएगा; सागर का खयाल हो, लहर खो जाएगी।

यही तो कारण है कि शंकर जैसे मनीषी को जगत माया अनुभव में आयी। वह कोई सैद्धांतिक बात नहीं है। सैद्धांतिक रूप से भी लोगों को याद आयी। जैसे पश्चिम में बर्कले को याद आयी। बर्कले ने भी कहा है कि जगत माया है। लेकिन वह सैद्धांतिक है। बर्कले का कोई अनुभव नहीं है। विचार से, तर्क से सोचकर उसने अनुभव किया कि जगत की वास्तविकता सिद्ध नहीं की जा सकती, इसलिए अवास्तविक है।

शंकर और बर्कले को अनेक लोगों ने तुलना की है। लेकिन वह तुलना बिलकुल गलत है। अनेक लोगों ने शंकर और बर्कले पर बड़े अन्वेषण किये हैं, वे सब अन्वेषण गलत हैं। गलत इसलिए हैं कि बर्कले को कोई भी ध्यान का अनुभव नहीं है। उसका सारा अनुभव विचार का है। शंकर की कोई भी निष्पत्ति विचार की नहीं है, सारी निष्पत्तियाँ ध्यान की हैं। इसलिए उनके बीच तुलना नहीं हो सकती। भला उन्होंने एक ही वक्तव्य दिया हो।

बर्कले भी कहता है कि जगत स्वप्नवत् है और शंकर भी कहते हैं कि जगत स्वप्नवत् है। यह दोनों वक्तव्यों में तुलना हो सकती है। लेकिन वह वक्तव्यों की तुलना ठीक नहीं है। क्योंकि दोनों वक्तव्य दो अलग तरह की चेतनाओं से निकलते

हैं। बर्कले कहता है, क्योंकि वास्तविकता सिद्ध नहीं की जा सकती है, इसलिए। और शंकर कहते हैं कि मैंने एक दूसरी वास्तविकता को जाना, जिसके सामने यह वास्तविकता खो जाती है, इसलिए। मैंने जिस दिन ब्रह्म को जाना, उस दिन से जगत रहा ही नहीं, क्योंकि दोनों एक-साथ नहीं रह सकते। जब तक जगत दिखायी पड़ता है तब तक ब्रह्म दिखायी नहीं पड़ता। जब ब्रह्म दिखायी पडता है, तो जगत दिखायी नहीं पड़ता। यह दोनों एक-साथ नहीं रह सकते हैं। क्योंकि जगत का मतलब ही यह है-- लहर की तरफ से देखना। और ब्रह्म का मतलब ही यह है कि सागर की तरफ से देखना।

अव्यक्त, अचिंत्य, अरूप है, इसलिए अनेक रूपों में प्रगट होता है। सभी रूप उसके हैं और फिर भी कोई रूप उसका नहीं है, यह अनेक रूप का अर्थ है।

'कल्याण करनेवाला है'। मंगलदायी है। परमात्मा मंगलदायी है। वह परम तत्त्व मंगलदायी है, ऐसा हम सुनते हैं। लेकिन हमारे मन में जो खयाल आता है, जब भी हम कहते हैं परमात्मा कृपालु है, मंगलदायी है, उससे मंगल बरसता है, तो हमसे भूल होती है। हमसे भूल होगी, क्योंकि हमारे मन में मंगल का जो अर्थ होता है वह स्पष्ट नहीं है। परमात्मा मंगलदायी है, तो उससे हमें ऐसा ही खयाल आता है जैसे हम किसी दयावान व्यक्ति के पास जाएँ और कहें कि फलाँ व्यक्ति बहुत दयावान है, बहुत शुभाकांक्षी है, कल्याण करनेवाला है। लेकिन जिस व्यक्ति के संबंध में हम ऐसा सोचते हैं, वह अकल्याण भी कर सकता है। अदयालु भी हो सकता है, क्रूर भी हो सकता है, कठोर भी हो सकता है। दया के विपरीत भी जो है, वह भी उसके भीतर मौजूद है। इसलिए दया उसे करनी पड़ती है और अ-दया उसे रोकनी पड़ती है।

अच्छे-से-अच्छा आदमी भी, अच्छे को करना पड़ता है उसे और बुरे को रोकना पड़ता है। क्योंकि बुरा मौजूद है। इसलिए अच्छा आदमी एक गहरे संघर्ष में चलता है। वह हमेशा बुरे को रोकना पड़ता है, अच्छे को करना पड़ता है। इसलिए अच्छा आदमी भी, चूँकि अच्छा उसे करना पड़ता है, धीरे-धीरे अच्छा करने के अहंकार से भर जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि बुरे आदमी उतने अहंकारी नहीं होते हैं, जितने अच्छे आदमी अहंकारी होते हैं। बुरे आदमी एक लिहाज से सरल होते हैं। जो करना है, कर लेते हैं। बुरा भी कर लेते हैं। और बुरा करने की वजह से कभी उन्हें ऐसा नहीं लगता कि हम... हम कुछ हैं, अच्छे हैं, तो अहंकार निर्मित नहीं होता। कारागृह में जाएँ तो जो लोग वहाँ बंद हैं, वे आपके तथाकथित साधु-महात्माओं से ज्यादा सरल हैं। उन्हें खयाल ही नहीं कि हम भी कुछ हैं। क्योंकि बुरा करते हैं, कैसे कुछ हो सकते हैं। लेकिन अच्छा

करनेवाला आदमी तो गहरे अहंकार से पीड़ित हो जाता है। सूक्ष्म अस्मिता घनी हो जाती है। अपराधी दूसरों के प्रति अपराध करता है, अच्छा आदमी अपने प्रति अपराध करता है। क्योंकि वह अहंकार खुद के ही ऊपर साफ हो जाता है।

परमात्मा को कल्याणकर कहने का अर्थ बिलकुल दूसरा है। उसका अर्थ यह है कि उसका स्वभाव, इस अस्तित्व का मौलिक स्वभाव मंगलदायी है। मंगल करता नहीं वह, आप उसके निकट जाएँ, मंगल होना शुरू हो जाता है। यह उसका कृत्य नहीं है, यह उसका स्वभाव है।

जैसे मैं बगीचे की तरफ जाऊँ, तो जैसे-जैसे पास पहुँचता हूँ, ठंढी हवाएँ आनी शुरू हो जाती हैं। बगीचा कोई ठंढी हवाएँ भेजता नहीं है। और ऐसा भी नहीं है कि जब कोई नहीं निकलता बगीचे के पास, तो बगीचा अपनी ठंढी हवाओं को रोक लेता हो। या कभी दुश्मन निकल आता हो, या ऐसा आदमी निकल आता हो जो बगीचे को प्रेम न करता हो, तो बगीचा अपनी ठंढी हवाओं को रोक लेता हो। न, बगीचे को इससे प्रयोजन ही नहीं है। यह बगीचे का स्वभाव है कि उसके आसपास ठंढी हवा होगी ही। जब आप पास पहुँचते हैं, हवाओं की ठंढक बढ़ने लगती है। और आसपास पहुँचते हैं तो फूलों की सुगंध आने लगती है। यह भेजा नहीं जा रहा है। यह बगीचे के होने में ही निहित है। इसका मतलब हुआ कि बगीचा चाहे भी तो इससे अन्यथा नहीं कर सकता है। गरम हवा भेजना भी चाहे तो बगीचे के पास कोई उपाय नहीं है। और दुर्गंध भेजना भी चाहे तो बगीचे में ऐसे कोई फूल नहीं खिलते हैं।

परमात्मा मंगलदायी है। इसका अर्थ है कि जैसे-जैसे हम उसके निकट जाते हैं, हमें मंगल का अनुभव होता है। खयाल रखना, यह हमारा अनुभव है। यह हमारा अनुभव है कि परमात्मा मंगलदायी है। परमात्मा को इसका कोई भी पता नहीं है। अगर पता भी हो, तो पता तभी होता है जब विपरीत मौजूद हो। अगर आपको पता चलता है कि फलाँ व्यक्ति को मैं प्रेम करता हूँ तो उसका मतलब ही यह है कि आपके भीतर घृणा मौजूद है। नहीं तो पता नहीं चलेगा। पता कैसे चलेगा ? अगर आप कहते है, फलाँ व्यक्ति को मैंने क्षमा कर दिया, उसका मतलब ही यह है कि क्रोध मौजूद है। नहीं तो क्षमा का पता कैसे चलेगा ? विपरीत के कारण ही पता चलता है।

परमात्मा को पता नहीं चलता कि वह मंगलदायी है। अगर उसे पता चल जाए तो वह गैर-मंगल भी कर सकता है। इसलिए परमात्मा को हम व्यक्ति की भाषा में सोचें ही न। क्योंकि जिसको कुछ पता नहीं चलता वह व्यक्ति नहीं है, सिर्फ शक्ति है। पता चलने के जोर से ही व्यक्ति निर्मित होता है। मुझे पता चलता

है कि मैंने प्रेम किया, पता चलता है कि मैंने क्रोध किया, पता चलता है कि मैंने क्षमा की, यह पता जिस केंद्र को चलता है वही व्यक्ति बनता है। जब कोई पता नहीं चलता---परमात्मा को कुछ भी पता नहीं चलता, इसका यह मतलब नहीं है कि वह अज्ञानी है। इसका कुल मतलब इतना है कि विपरीत उसके भीतर नहीं है। इसलिए सब होता है, लेकिन पता नहीं चलता। वह एक चैतन्य का विस्तार है। व्यक्ति नहीं, एक चैतन्य। चैतन्य का, शक्ति का अरूप विस्तार है।

यह हमारा अनुभव है कि उसके पास जाते हैं तो मंगल होने लगता है, उससे दूर जाते हैं तो अमंगल होने लगता है। यह जो अमंगल होता है, यह उसके कारण नहीं होता है, हमारे दूर जाने के कारण होता है। यह जो मंगल होता है, यह भी उसके कारण नहीं होता है, हमारे पास जाने के कारण होता है। तो हम इसे ऐसा अच्छा होगा कहना कि परमात्मा के पास जाने की जो प्रतीति है, उसका नाम मंगल है, और परमात्मा से दूर जाने की जो प्रतीति है, उसका नाम अमंगल है। यह हमारी प्रतीति है। अगर हम परमात्मा में पूरी छलाँग लगा लें तो हमें भी मंगल का पता नहीं चलेगा।

तो जिस दिन मंगल का भी पता न चले, उस दिन जानना कि उससे एकता सध गयी। जब तक मंगल का पता चलता रहे, तब तक जानना कि पास जा रहे हैं। मंगल बढ़ता जा रहा है, आनंद बढ़ता जा रहा है, शांति बढ़ती जा रही है, लेकिन पास जा रहे हैं। जिस दिन इनका भी पता न चले, उस दिन समझना कि छलाँग लग गयी। उसमें ही हो गये।

इसलिए बुद्ध जैसे आदमी को हम कहते हैं, परम शांत। कहना नहीं चाहिए। अशांत भी वह नहीं हैं, अब शांत भी न रहे। क्योंकि शांति का अनुभव अशांत व्यक्ति को ही चलता है। बीच-बीच में अशांति आती रहे तो उन दोनों के बीच में जो वक्त मिलता है, उसको हम शांति कहते हैं। दो अशांतियों के बीच में शांति का अनुभव होता है। अगर एक अशांति के बाद फिर अशांति आए ही नहीं, तो थोड़े ही दिनों में शांति का अनुभव भी खो जाता है। शांत होता है व्यक्ति, लेकिन अनुभव नहीं रह जाता, अनुभोक्ता नहीं रह जाता।

फिर कहा है---'अद्वैत है'। वह दो नहीं है। सारे जगत में जिन्होंने भी उसे खोजा है, उन्होंने कहा है, वह एक है। सिर्फ भारत में 'एक' शब्द का प्रयोग जानकर पसंद नहीं किया। भारत ने सदा कहा---वह दो-नहीं है। सारे जगत में जिन्होंने भी खोजा है, उन्होंने कहा है, वह एक है। 'वन'। लेकिन भारत को कभी भी उसे एक कहना नहीं रुचा। जानते हुए कि वह एक है, भारत को कभी भी उसे एक कहना पसंद नहीं पड़ा---और कारण हैं उसके। क्योंकि भारत ने उसे कहने के लिए सब

तरह से, अधिकतम ठीक से प्रगट करने के लिए जितने उपाय किये हैं, उतने मनुष्यजाति की किसी कौम ने कभी नहीं किये हैं। उसके संबंध में जरा-सी भी भूल न हो, इसकी जितनी चेष्टा हमने की है, किसीने भी कभी नहीं की है। और ऐसा भी नहीं लगता है कि इस चेष्टा में और आगे भी कुछ जोड़ा जा सकता है। कठिन मालूम पड़ता है। करीब-करीब ऐसा लगता है कि इस आयाम को हमने उसकी पूर्णता तक स्पर्श किया है।

इसलिए यह कहने में भी हमें कठिनाई पड़ी है। क्योंकि एक कहने से तत्काल दो का खयाल आता है। जब भी हम कहते हैं परमात्मा एक है, तो आपके मन में तत्काल दो पैदा हो जाता है। दो पैदा होने का कारण है। क्योंकि एक अपने-आप में मूल्यहीन है जब तक कि और बड़ी संख्याओं के विस्तार का हिस्सा न हो। एक का मतलब ही तब होता है जब दो भी हो, तीन भी हो, चार भी हो, पाँच भी हो, तभी एक का मतलब होता है। पूरा गणित का विस्तार एक में छिपा हुआ है। इसलिए जब हम कहते हैं, एक, तो चित्त के भीतर जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह दो की है। और कहने से भारत को कम प्रयोजन है, आपके भीतर क्या सुना जाता है उससे ज्यादा प्रयोजन है।

इस बात को समझें, यह बहुत मूल्यवान है। हमारी यह फिकिर कम है कि क्या कहा जाए, हमारी यह फिकिर ज्यादा है कि क्या समझा जाए। क्योंकि अंततः समझ काम करेगी, कहा हुआ काम नहीं करेगा। इसलिए बड़ा उल्टा शब्द हमने कहा। हमने कहा, वह दो-नहीं है, अद्वैत। जब कहा जाता है वह दो-नहीं है, तो आपके भीतर एक का रूप निर्मित होता है। जब कहा जाता है कि दो-नहीं है, तो आपके भीतर गहन अंतस् में जो प्रतीति आती है, वह एक की। और जब कहा जाता है, एक है, तो अंतस् में जो शृंखला शुरू हो जाती है, वह संख्याओं की है। आपके चित्त पर जो चित्र निर्मित होता है, वह 'दो-नहीं' कहने से एक का निर्मित होता है, और वह एक भिन्न है——कहे गये एक से।

कहें एक, तो और बात है। कहें दो-नहीं, तब भी आपके भीतर जो एक का धीमा-सा आभास होता है, वह आभास परोक्ष है, 'इनडाइरेक्ट' है। वह सिर्फ आभास है। मुट्ठी में पकड़ नहीं आती है। सिर्फ गहन में कहीं कोई स्वर गूंज जाता है एक का, जिसपर आप भी सचेत नहीं होते। उस अचेतन में एक के भाव को उतारने के लिए भारत ने उसको निरंतर कहा——दो-नहीं। यह मनुष्य और मनुष्य के बीच संवाद करने के बहुत गहरे निष्कर्षों का परिणाम है। बहुत बार आदमी से कह-कहकर जाना गया है कि उसके भीतर क्या निर्मित होता है, उसकी चेतना में क्या घटित होता है।

और चेतना में अक्सर उल्टा घटित होता है। जैसे आप दर्पण के सामने खड़े होते हैं, आपको खयाल नहीं आता कि आपका उल्टा प्रतिबिंब दर्पण में बनता है। खयाल में नहीं आता, रोज आप दर्पण के सामने खड़े होते हैं, खयाल में नहीं आता। लेकिन किताब का पन्ना दर्पण के सामने करें, तब आपको तत्काल खयाल में आ जाएगा। यह तो अक्षर उल्टे हो गये! असल में सभी प्रतिबिंब उल्टे बनते हैं। कोई प्रतिबिंब सीधा नहीं बन सकता। जब आप नदी के तट पर खड़े होते हैं और आपका प्रतिबिंब बनता है, तो वह उल्टा होगा। प्रतिबिंब बनने की प्रक्रिया में चीजें उल्टी हो जाती हैं। हो ही जाएँगी। आपकी दायीं आँख बायीं तरफ बनेगी, बायीं आँख दायीं तरफ बनेगी। इसलिए जब आप मुझे देखते हैं तो आपकी आँख में जो प्रतिबिंब बनेगा, वह उल्टा बनेगा। मैं जब आपको देखता हूँ तो मेरी आँख तो दर्पण का काम करेगी, जो प्रतिबिंब बनेगा, वह उल्टा बनेगा।

सब प्रतिबिंब उल्टे बनते हैं। सब प्रतिध्वनियाँ उल्टी होती हैं। इस गहरे अनुभव के कारण भारत ने कभी भी ब्रह्म को एक नहीं कहा। क्योंकि एक कहने से जो प्रतिबिंब बनता है, वह उल्टा है। इसलिए हमने पसंद किया कहना, अद्वैत। दो नहीं है। तो जो प्रतिबिंब बनता है, वह परोक्ष में, सूक्ष्म में एक का है। वही प्रतीति को जोर देने के लिए नकारात्मक शब्द का प्रयोग किया।

'जिसका कोई आदि नहीं, मध्य नहीं, अंत नहीं'। जो न कभी प्रारंभ होता, न कभी समाप्त होता, ये दो बातें हमारी समझ में आ जाएँगी, लेकिन तीसरी बात थोड़ी कठिन है। वह आपके खयाल में कभी आयी ही नहीं होगी। यह तो आपने बहुत बार सुना होगा कि परमात्मा का न कोई आदि है, न अंत है। लेकिन यह ऋषि कहता है—— उसका कोई मध्य भी नहीं है। जब हम कहते हैं कि न आदि है, न अंत है, तो हमारा मतलब होता है, उसका मध्य-मध्य है। होगा ही मतलब। अगर किसी चीज का न कोई प्रारंभ है और न अंत है और फिर भी है, तो उसका मतलब हुआ कि उसमें मध्य-ही-मध्य है। जहाँ भी पाओ, वहीं मध्य है। अगर वह चीज है और अगर आप कहते हैं, न उसका आदि, न अंत, और न उसका मध्य, तो फिर वह रही ही नहीं। फिर रहेगी कहाँ? उसका होना कहाँ होगा?

लेकिन यह ऋषि ज्यादा वैज्ञानिक है। क्योंकि जिसका न आदि है, न अंत है, उसमें कोई मध्य हो कैसे सकता है? क्योंकि मध्य का मतलब ही होता है आदि और अंत के बीच। मध्य का मतलब ही क्या होता है? दोनों छोरों के बीच में जो है। और जब दोनों छोर ही नहीं हैं तो बीच कैसे होगा? फिर भी वह है। तब उसके होने को हमें किसी और ढंग से सोचना पड़ेगा। फिर यह आदि, अंत और मध्य की भाषा बिलकुल छोड़ देनी पड़ेगी। वह है।

इसे हम एक और तरह से खयाल में ले लें तो शायद खयाल में आ जाए। समय को हम तीन हिस्सों में बाँटते हैं। अतीत, वर्तमान, भविष्य। अगर परमात्मा है, तो उसके लिए कुछ भी अतीत नहीं हो सकता और उसके लिए कुछ भी भविष्य नहीं हो सकता। अगर परमात्मा है और उसके लिए भी भविष्य है—— तो भविष्य का मतलब यह होता है कि जो ज्ञात नहीं है। अगर परमात्मा है और उसके लिए भी भविष्य है, तो उसका मतलब हुआ, उसके लिए भी कुछ अज्ञात। तो उसके लिए कोई भविष्य नहीं हो सकता है, उसके लिए कोई अतीत नहीं हो सकता है।

ऐसा समझें कि अतीत और भविष्य और वर्तमान हमारी सीमित दृष्टि के परिणाम हैं। हमें थोड़ा-सा हिस्सा दिखायी पड़ता है अस्तित्व का, उतने हिस्से को हम वर्तमान कहते हैं। जब वह नहीं दिखायी पड़ता तो वह अतीत हो जाता है। और जब तक नहीं दिखायी पड़ता था, तब तक भविष्य होता है। समझो एक आदमी एक वृक्ष के नीचे बैठा है, रास्ते के किनारे, दोनों तरफ रास्ता साफ है, कुछ दिखायी नहीं पड़ता। एक आदमी वृक्ष के ऊपर बैठा है, उसे एक बैलगाड़ी दिखायी पड़ती है रास्ते पर आती हुई। वह आदमी नीचे चिल्लाकर कहता है कि एक बैलगाड़ी रास्ते पर आ रही है। नीचेवाला आदमी कहता है, कोई बैलगाड़ी रास्ते पर नहीं है। भविष्य में हो सकती है, कहीं कोई दिखायी नहीं पड़ती। फिर बैलगाड़ी दिखायी पड़ती है। तो वृक्ष पर बैठे आदमी को जो बैलगाड़ी वर्तमान में थी, वह अब उसके लिए वर्तमान होगी—— नीचे बैठे आदमी को।

फिर बैलगाड़ी रास्ते से गुजरती है और खो जाती है। नीचेवाला आदमी कहता है, बैलगाड़ी अतीत में चली गयी। अब नहीं दिखायी पड़ती। लेकिन ऊपर-वाला आदमी कहता है कि अभी भी दिखायी पड़ती है। तो नीचेवाले आदमी को जो भविष्य था, वर्तमान था, अतीत था, वह वृक्ष पर बैठे आदमी को वर्तमान है—— तीनों। लेकिन उससे भी ऊँचे वृक्ष की ऊँचाई पर कोई बैठा हो तो जब इसके लिए भी वर्तमान-अतीत के भेद आ जाएँगे तब भी उसे भेद न आएगा। उसके ऊपर कोई बैठा हो, तो जब इसके लिए भी भेद आ जाएँगे तब भी उसे अभेद बना रहेगा।

परमात्मा से मतलब है कि जिसके पार और कुछ भी नहीं। तो उसका अर्थ हुआ, उसके लिए कोई अतीत अतीत नहीं होगा, कोई भविष्य भविष्य नहीं होगा। तो हमें खयाल आता है कि उसके लिए सभी कुछ वर्तमान होगा। मतलब मध्य होगा। लेकिन यह कहता है, उसके लिए मध्य भी नहीं होगा। क्योंकि जिसने भविष्य नहीं जाना, जिसने अतीत नहीं जाना, वह किस चीज को वर्तमान कहेगा। वर्तमान तो हम कह ही तब सकते हैं जब अतीत और भविष्य के बीच में हमें कोई अनुभव हो। अतीत और भविष्य का ही अनुभव नहीं होता तो वर्तमान का क्या अनुभव

होगा! परमात्मा के लिए वर्तमान भी नहीं हो सकता। न अतीत, न भविष्य, न वर्तमान।

इसलिए रहस्यवादियों ने कहा है कि परमात्मा के सामने समय नहीं है। कोई समय नहीं है। कालातीत। कोई काल नहीं है। ठीक ऐसे ही, चूँकि उसके पास कोई समय नहीं है, समय की कोई धारणा नहीं है, कोई स्थिति नहीं है, वह कभी प्रारंभ नहीं हुआ, सदा से है। कभी अंत नहीं होगा, सदा रहेगा। लेकिन उसका बीच का भाग हम किसको कहें? तो ऋषि कहता है—— न आदि, न उसका कोई अंत, न उसका कोई मध्य। वह बस है। और यह विभाजन उस पर लागू नहीं होता। उसपर कोई विभाजन लागू नहीं होता। वह अविभाज्य है। और हम सब जो भी सोच सकते हैं वह बिना विभाजन के नहीं सोच सकते हैं। इसलिए अचिंत्य है।

हम जो भी सोचेंगे, उसमें विभाजन होगा ही। हमारे पास कोई उपाय नहीं है। विभाजन हम करेंगे ही। बच्चा होगा, जवान होगा, बूढ़ा होगा; जन्म होगा, मृत्यु होगी; सुख होगा, दुख होगा; अँधेरा होगा, प्रकाश होगा, हम विभाजन करेंगे ही। आप कोई ऐसी चीज जानते हैं जो अविभाज्य हो? मनुष्य के अनुभव में ऐसी कोई चीज नहीं जो अविभाज्य हो। उसमें विभाजित होगा ही। असल में मनुष्य का मन बिना विभाजन के कुछ समझ ही नहीं सकता। और अस्तित्व अवि-भाज्य है। वह कहीं, कहीं विभाजित नहीं होता। कहीं विभाजित नहीं होता। यह जो अविभाज्य अस्तित्व है, इसकी सूचना दी है ऋषि ने—— न मध्य, न अंत, न आदि—— अद्वितीय है।

हमें लगेगा, कहने की कोई जरूरत नहीं है। जरूरत है। अद्वैत में कहा कि वह दो नहीं है, अद्वितीय में कहा कि उस जैसा कोई दूसरा नहीं। बेजोड़ है, अतु-लनीय है, 'इनकंपेरेबल' है। इसीलिए तो हम उसके संबंध में कुछ नहीं कह पाते हैं। क्योंकि जब तक दूसरा न हो, कहना बहुत मुश्किल है। हम एक आदमी को कह पाते हैं सुंदर है, क्योंकि किसी कुरूप से उसकी तुलना की जा सकती है; नहीं तो सुंदर कैसे कहियेगा? अगर एक ही आदमी पृथ्वी पर हो, तो वह सुंदर होगा या कुरूप? वह बुद्धिमान होगा या बुद्धू? अगर एक ही आदमी है तो वह बिल-कुल बेजोड़ होगा। उसके बाबत कुछ भी कहना मुश्किल होगा। उसको बुद्धू कहिये तो किसकी तुलना में? उसको बुद्धिमान कहिये तो किसकी तुलना में?

यह तो हमारी समझ में आ जाएँगे, लेकिन और थोड़ा उतरेंगे तो उसके संबंध में कुछ भी कहना मुश्किल है। वह बीमार होगा कि स्वस्थ? तुलना न होने से कुछ भी कहने का उपाय नहीं रह जाएगा। वह अतुलनीय हो जाएगा। वह जैसा है वैसा है। उसके बाबत कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए कहा,

अद्वितीय। उस जैसा कोई दूसरा नहीं।

इनमें से किसी एक भी गुण पर बहुत जोर देने से धर्मों की पृथकताएँ पैदा हो जाती हैं। जैसे हिंदू-धर्म ने अद्वैत पर जोर दिया। इस्लाम ने अद्वितीय पर। इस्लाम का केंद्र है, अद्वितीय, 'इनकंपेरेबल'। इसलिए कुरान कहती है: मेरे सिवाय और कोई अल्लाह नहीं। मैं ही हूँ, मेरे सिवाय और कोई दूसरा नहीं।

लेकिन मुसलमानों ने इसे बड़ा गलत समझा। वे इसको अद्वितीय का अर्थ नहीं दे पाए। उन्होंने समझा कि इसका मतलब यह है कि मुसलमानों के ईश्वर के सिवाय जितने सब ईश्वर हैं, तोड़-फोड़ डालो। क्योंकि वह एक ही। एक-दूसरे को बचने ही मत दो, क्योंकि वह एक ही। लेकिन वे ठीक से समझ लेते, तो दूसरे को तोड़ने में भी दूसरे को स्वीकार कर लिया। जिसको तोड़ने की जरूरत पड़ी, वह था। जिसको तोड़ने के लिए श्रम करना पड़ा, उसको मान लिया।

अगर परमात्मा अद्वितीय है, तो उसका मतलब ही यह है कि कुछ भी हो वह उसी परमात्मा के अद्वितीय रूप का हिस्सा होगा, और कोई उपाय नहीं है। अगर वह निराकार है, तो आकार को तोड़ने से उसका निराकर होना सिद्ध नहीं होगा। आकार में भी उस निराकार को देखने से ही सिद्ध होगा। क्योंकि अगर आकार को तोड़ना पड़ता है, तो इतना ही मान लिया कि आकार भी होता है, जो तोड़ा जा सकता है। बनाया जा सकता है, तोड़ा जा सकता है। आकार है। तब तो उसका अर्थ यह हुआ कि निराकार परमात्मा है और आकार भी हो सकता है। तो फिर परमात्मा के अलावा भी इस जगत में कुछ होता है। तो फिर वह अद्वितीय न रहा। फिर दूसरे को हमने स्वीकार कर लिया।

इस लिहाज से भारतीय मनीषा की समझ बहुत गहरी है। भारतीय मनीषा कहती है कि आकार में भी वही निराकार है। और उसी निराकार से सब आकार जनमते हैं और उसीमें लीन होते हैं। अद्वितीय है वह, लेकिन उसका मतलब यह नहीं कि उसे बहुत-बहुत रूपों में नहीं देखा जा सकता। हर रूप में देखा जा सकता है। फिर भी वह अद्वितीय है, क्योंकि वह एक ही है, दूसरा नहीं है। इसलिए 'इनकंपेरेबल' है, अतुलनीय है।

'सर्वव्यापक है'। क्योंकि सभी कुछ वही है। 'चैतन्य है, आनंदघन है'। चैतन्य पर बड़ा जोर है। ऐसा भारतीय रहस्य का अनुभव है कि श्रेष्ठतम में निकृष्ट समा जाता है, लेकिन निकृष्ट में श्रेष्ठतम नहीं समाता। यही विवाद है। बड़ा विवाद है।

नास्तिक और आस्तिक के बीच, पदार्थवादी और अध्यात्मवादी के बीच जो विवाद है, वह यही है। वह विवाद यह है कि पदार्थवादी कहता है कि सभी

चीजें 'रिड्यूस' की जानी चाहिए, सभी चीजें घटायी जानी चाहिए उस मौलिक तत्त्व पर जिससे शक्ति यह निर्मित हुई। जैसे अगर आदमी है, तो आदमी क्या है? पदार्थवादी कहेगा कि हम इसके भीतर की सारी चीजों को जाँच-पड़ताल कर लेते हैं, इन्हीं का जोड़ है। अगर इसमें चेतना भी दिखायी पड़ती है, तो वह भी इसी जोड़ का परिणाम है। वह इस जोड़ से ज्यादा नहीं है। पदार्थवादी चीजों को उनके मूल में ले जाना चाहता है।

अध्यात्मवादी का सोचने का ढंग बिलकुल भिन्न है। वह प्रत्येक चीज को उसके आत्यंतिक शिखर पर ले जाना चाहता है। वह कहता है जो आत्यंतिक शिखर है, तो वह यह नहीं कहेगा कि मनुष्य सिर्फ पदार्थ का जोड़, बल्कि वह कहेगा कि चूँकि मनुष्य में चेतना प्रगट हो गयी इसलिए चेतना के भीतर ही पदार्थ का सारा जोड़ घटित हुआ है। चेतना के कारण ही घटित हुआ है। श्रेष्ठतम जब प्रगट हो जाता है, तो अध्यात्मवादी का कहना है कि श्रेष्ठतम बड़ा है। अपने मौलिक आधारों से बड़ा है। जिन चीजों से मिलकर बना है, उनसे बृहत्तर है।

पदार्थवादी और अध्यात्मवादी की भाषा को अगर हम समझें तो वे बहुत भिन्न भाषा नहीं बोलते। उनकी भाषा एक अर्थ में एक-सी है, सिर्फ उनकी दिशाएँ भिन्न होती हैं। पदार्थवादी कहता है, पदार्थ ही सब कुछ है। अगर चेतना भी पैदा होगी तो उसीकी 'बाइप्रॉडक्ट,' उसीकी उप-उत्पत्ति, अलग उसको सोचने की कोई जरूरत ही नहीं। अध्यात्मवादी कहता है, आत्मा ही सब कुछ है; और अगर पदार्थ भी प्रगट होता है तो वह उसीकी उप-उत्पत्ति है। पदार्थवादी कहता ह, पदार्थ से चेतना निर्मित होती है। अध्यात्मवादी कहता है, चेतना की मूर्छा से ही पदार्थ निर्मित होता है।

इन दोनों के कहने के ढंग में बहुत फर्क नहीं है। दिशाओं में जमीन-आसमान का फर्क है। और उसके परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण होंगे। अगर हम यह मान लें कि आदमी पदार्थ का ही जोड़ है, तो विकास की सारी संभावना खो जाएगी। इसलिए पदार्थवाद के साथ विकास असंभव है। उत्क्रांति असंभव है, रूपांतरण असंभव है। लेकिन अध्यात्मवाद के साथ संभावना खुलती है। क्योंकि श्रेष्ठ को हम स्वीकार करते हैं तो श्रेष्ठ के होने की आकांक्षा पैदा होती है।

अगर परमात्मा है तो नीत्से ने बहुत अद्‌भुत बात कही है। नीत्से ने कहा है कि यदि परमात्मा है, तो फिर मेरी आत्मा बिना परमात्मा हुए कभी राजी नहीं हो सकती। अगर है, तो फिर कोई उपाय नहीं है मेरे लिए, फिर मुझे परमात्मा होना ही पड़ेगा। क्योंकि फिर उससे कम में कोई तृप्ति नहीं हो सकती। तो श्रेष्ठ को स्वीकार करने के साथ ही व्यक्ति की चेतना में नयी अभीप्सा का जन्म हो

जाता है। इस अभीप्सा के लिए दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं--चैतन्य, परमात्मा चेतना है; और आनंदमय, और परमात्मा आनंद है।

'जिसका कोई रूप नहीं, जो विलक्षण है, ध्यान के द्वारा मनुष्य उसे उपलब्ध करते हैं।'

अब यह मैं पूरा सूत्र आपको कह दूं--

'इस प्रकार मुनि लोग ध्यान के द्वारा उस चिंतन की सीमा में न आनेवाले, व्यक्त न होनेवाले; जिसके अनंत रूप हैं, जो कल्याण करनेवाला, जो अद्वैत है, जो ब्रह्मा का मूल कारण है, जिसका कोई आदि, मध्य और अंत नहीं; जो अद्वितीय, सर्वव्यापक, चैतन्य, आनंदमय है; जिसका कोई रूप नहीं, जो विलक्षण है, उसको प्राप्त करते हैं।'

ध्यान द्वार है इस अचिंत्य, अद्वितीय, अद्वैत, अरूप, अनंतरूप, चैतन्य आनंदघन का। ध्यान विधि है इस परम रूपांतरण के लिए। ध्यान से जो बचेगा, वह परमात्मा से बच जाएगा। ध्यान से जो नहीं गुजरेगा, वह उस विराट में नहीं पहुँच सकता। जैसे नदियों को किनारों के बीच से गुजरना पड़ता है, सागर तक पहुँचने के लिए, ऐसे चेतना को ध्यान के किनारों से गुजरना पड़ता है उस अनंत सागर तक पहुँचने के लिए।

अब हम ध्यान के लिए तैयार हो जाएँ। कोई मित्र देखने को आ गये हों तो यहाँ 'ग्राउंड' में न रहें।

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्त साक्षिं तमसः परस्तात् ।। ७ ।।

जिसे उमासहाय, परमेश्वर, नीलकंठ और त्रिलोचन के नामों से पुकारा जाता है, जो समस्त चराचर का स्वामी और शांतिस्वरूप है, जो समस्त भूतों का मूल कारण और साक्षी है, जो अविद्या (तमस) से दूर है-- उसको मुनिजन ध्यान से प्राप्त करते हैं ।। ७ ।।

सातवाँ प्रवचन; माउंट आबू, २८ मार्च १९७२, रात्रि
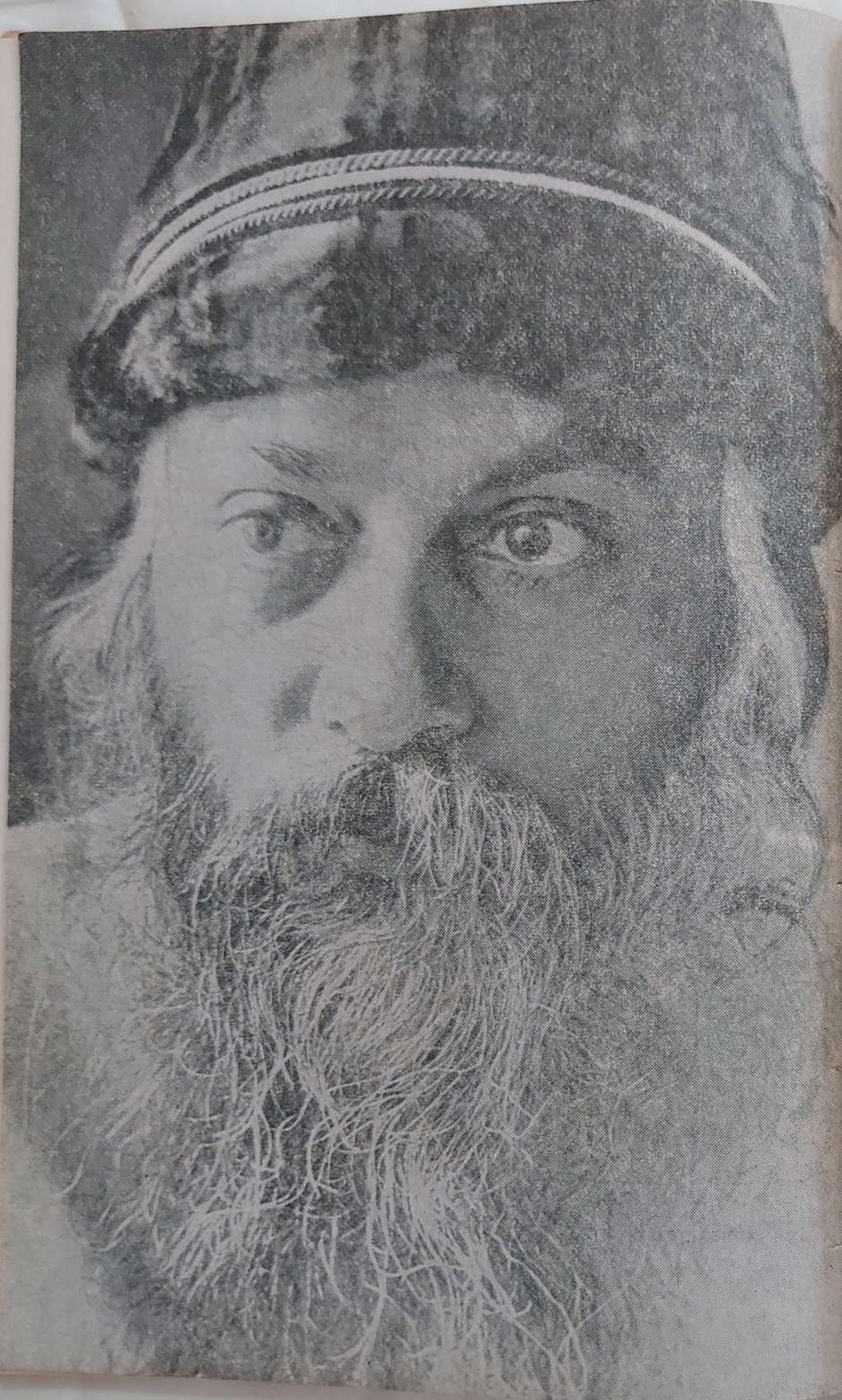
जानना हो, तो ध्यान की वैसी अवस्था चाहिए, जब ध्येय कुछ भी न रह जाए। ऐसी चेतना चाहिए, जब चैतन्य ही बचे, विषय कोई भी न हो। दर्पण ही हो, प्रतिफलन बिलकुल न रहे। लेकिन बड़ी दूर की है ऐसी स्थिति। बहुत मुश्किल मालूम पड़ेगी। उस तक पहुँचना असंभव-जैसा दिखेगा। क्योंकि एक क्षण को तो हमारा मन ठहर नहीं पाता और एक क्षण को तो विचार से छुटकारा नहीं है। एक छोटे-से विचार को भी अलग करना हो तो पराजय हाथ लगती है। तो कैसे होगा यह कि सारे विचार समाप्त हो जाएँ! एक जरा-सी तरंग तो हटा नहीं पाते हैं, कैसे होगा कि चित्त बिलकुल ही निष्तरंग हो जाए! विचार से छुटकारा मुश्किल मालूम पड़ता है, तो निर्विचार कैसे घटित होगा! और अगर यही हो शर्त कि बिना निर्विचार हुए परमतत्त्व को नहीं जाना जा सकता, तो हमारे हृदय में निश्चित ही निराशा पैदा होगी। गहन निराशा पैदा होगी। और लगेगा कि शायद यह बात पाने की हमारे बस की तो नहीं है। हमसे यह नहीं हो सकेगा।

इसलिए समस्त ज्ञानियों ने जिन्होंने जाना है उसे, उन्होंने निरंतर यह कहते हुए कि वह नहीं पाया जा सकता किसी पर ध्यान करने से, फिर भी ध्यान के लिए विषय बताए हैं। यह कहते हुए कि किसी विचार से उस तक नहीं पहुँचा जा सकता, फिर भी विचार के माध्यम सुझाए हैं कि इन विचारों का उपयोग करने से निर्विचार तक जाने की सीढ़ी बन सकेगी। इसलिए समस्त धर्म अपनी गहनता में, गहराई में भलीभाँति जानते हैं कि उस तक पहुँचना तो केवल शून्यचित व्यक्ति के लिए संभव होगा। लेकिन शून्यचित्तता बड़ी कठिन है। तो शून्यचित्तता और हमारी स्थिति के बीच में कुछ सीढ़ियाँ बनानी जरूरी मालूम पड़ती हैं।

ध्यान के संबंध में कैवल्य उपनिषद में आत्यंतिक बात कहने के बाद इस सूत्र को लिया है। यह सूत्र बीच की सीढ़ी बनाता है। इसमें हम परमात्मा के किसी आकार को मानकर यात्रा शुरू करते हैं। यह आकार अंतिम नहीं है। इस आकार पर रुकना भी नहीं है, इस आकार पर पूर्णता भी नहीं है। पूर्णता तो वहीं

होगी जहां सब आकार खो जाएँगे। लेकिन हम इतने आकारों से घिरे हैं कि इतने आकारों में घिरे मन को समझ में ही आना मुश्किल है कि निराकार में कैसे हो सकेंगे। इसलिए यह सूत्र बीच की एक कड़ी को निर्मित करता है।

वह कड़ी यह है कि बहुत आकारों को छोड़ें, एक आकार को पकड़ें, ताकि आकार भी छोड़ा जा सके और निराकार में प्रवेश हो। इस एक आकार की ही इसमें चितना है। इस आकार के संबंध में कुछ शब्द हम समझ लेंगे, तो फिर यह सूत्र खयाल में आ जाएगा।

'जिसे उमासहाय, परमेश्वर, नीलकंठ और त्रिलोचन के नामों से पुकारा जाता है, जो समस्त चराचर का स्वामी और शांतिस्वरूप है, जो समस्त भूतों का कारण और साक्षी है, जो अविद्या (तमस) से दूर है--उसीको मुनिजन ध्यान से प्राप्त करते हैं।' कैसे बनाएँ उसका आकार जिसका कोई आकार नहीं है? यह आकार बहुत तरह से बनाया जा सकता है। इस आकार को बनाते वक्त हमारे चित्त में, जो निराकार को समझाने में समर्थ नहीं हो पाता है, कुछ ऐसी आकार की भूमिका दी जाए कि भूमिका इस चित्त के समझ में भी आ सके, और फिर ऐसी भी न हो जाए कि पकड़ जाए तो छूट न सके। एक आदमी सीढ़ियों से चढ़ता है। सीढ़ी की खूबी यह है कि उसपर हम चढ़ें भी और उससे हम हट भी जाएँ। सीढ़ी पर पैर रखते हैं छोड़ देने के लिए ही। आदमी एक मंजिल से दूसरी मंजिल पर चढ़ता है तो हर सीढ़ी को पकड़ता है और हर सीढ़ी को छोड़ता है। और अंत में सारी सीढ़ियों को छोड़कर दूसरी मंजिल में प्रवेश करता है।

सीढ़ी पकड़नी पड़ती है, छोड़ने के लिए ही। अगर कोई ऐसा समझे कि सीढ़ी को ही पकड़ लेना है, तो पहली मंजिल भी खो जाएगी और दूसरी भी नहीं मिलेगी। बहुत बार ऐसा होता है, तथाकथित बहुत-से धार्मिक व्यक्तियों से, संसार से भी उनका पैर छूट जाता है और परमात्मा तक भी पैर नहीं पहुँच पाता है। और उनकी स्थिति त्रिशंकु की हो जाती है। न वे यहाँ के होते हैं, न वे वहाँ के होते हैं। न घर के होते हैं न घाट के होते हैं। और उसका एकमात्र कारण यही है कि सीढ़ी पकड़ जाती है। और सीढ़ी पर होना बहुत खतरनाक है। क्योंकि सीढ़ी कोई निवास नहीं है। सीढ़ी कोई मुकाम नहीं है। इससे तो बेहतर था पहली मंजिल पर ही रहते। वहाँ भी निवास हो सकता था। क्षणभंगुर ही सही, लेकिन फिर भी निवास था।

क्षणभंगुर को छोड़ दिया, शाश्वत में प्रवेश न हुआ और सिर्फ सीढ़ी को पकड़कर बैठ गये; तो जीवन बड़ी ही दुविधा का हो जाता है। और तथाकथित धार्मिक आदमियों का जीवन बड़ी दुविधा का हो जाता है। उससे तो कभी-कभी

सांसारिक आदमी भी ज्यादा प्रसन्न और स्वस्थ मालूम पड़ता है। कम-से कम-कहीं उसका घर है।

निश्चित ही जो परमात्मा के घर में प्रवेश कर जाते हैं उनके आनंद का हिसाब लगाना मुश्किल है। सांसारिक के पास वैसा कुछ भी नहीं है। उसकी खुशी, उसका सुख आनंद के सामने ऐसे फीके पड़ जाते हैं जैसे सूरज के सामने छोटा-सा दिया फीका पड़ जाए। लेकिन जो बीच में अटक जाता है, दोनों सीढ़ियों के, दोनों मंजिलों के बीच की सीढ़ी को पकड़ कर अटक जाता है, उसकी दशा सांसारिक से भी बुरी हो जाती है।

इसलिए मैं देखता हूँ, मेरे पास न-मालूम कितने धार्मिक लोग आते हैं, उनकी पीड़ा देखकर मैं हैरान हो जाता हूँ। धार्मिक आदमी को पीड़ा तो होनी ही नहीं चाहिए। उनकी पीड़ा भी समझने जैसी है। उनकी पीड़ा यही होती है कि बुरे लोग दुनिया में मजा कर रहे हैं और भले लोग दुनिया में बड़ी मुसीबत में हैं। भला आदमी कभी मुसीबत में होता नहीं। और हो, तो जानना चाहिए भला नहीं होगा। क्योंकि भले आदमी का अर्थ ही यह होता है कि जिसने मुसीबतों के भी सुखद पहलू को देखना शुरू कर दिया।

भला आदमी और शिकायत में कोई मेल नहीं है। लेकिन अगर भला आदमी भी शिकायत करता है, तो उसका कुल कारण इतना है, वह वही सब चाहता है जो बुरे आदमी को मिल रहा है, लेकिन बुरा करने की हिम्मत भी उसकी नहीं है। एक चोर ने बड़ा मकान बना लिया है, वह भी मकान बनाना चाहता है और चोरी भी नहीं करना चाहता। तो वह चाहता यह है कि मैंने चोरी नहीं की, तो इससे बड़ा मकान मुझे मिलना चाहिए। क्योंकि मैंने चोरी नहीं की, इसलिए मकान मुझे मिलना चाहिए। और चोरी न करने का कारण यह नहीं है कि धन पर उसका मोह नहीं है। क्योंकि धन पर और मोह न होता तो इस बड़े मकान को देखकर ईर्ष्या भी नहीं जनमती। धन पर उसका मोह पूरा है। लेकिन सौ में से निन्यानबे भले आदमी सिर्फ भय के कारण भले होते हैं। चोरी की हिम्मत नहीं है। चोरी का साहस नहीं है। और नपुंसकता से कहीं कोई दुनिया में भलापन पैदा नहीं होता।

तो यह आदमी भीतर से चोर की सारी आकांक्षाओं से भरा है, सिर्फ इसमें चोर की हिम्मत की कमी है। इसलिए जब चोर मकान बना लेता है तब इसे भारी पीड़ा और ईर्ष्या होती है। और तब यह कहता है कि भले आदमी बड़ा दुख उठा रहे हैं और बुरे आदमी बड़ा मजा ले रहे हैं। यह जो आदमी है, यह त्रिशंकु है। यह सीढ़ी पर अटका हुआ है। यह छलांग भी नहीं लगा पाया परम रहस्य में और यह वहाँ से भी हट गया है जहाँ से इसका मन अभी हटा नहीं था।

इससे दूसरी बात भी आपको कह दूँ कि सीढ़ी को पकड़ते ही वे हैं जिनसे नीचे की मंजिल वस्तुतः नहीं छूटी होती है। अगर वस्तुतः नीचे की मंजिल छूट जाए तो जो नीचे की मंजिल छोड़ सकता है, वह सीढ़ी पकड़ेगा ? जो आदमी नीचे की मंजिल छोड़ सकता है, वह सीढ़ी को पकड़ने का कारण उसे नहीं रह जाता। नीचे की मंजिल छोड़ तो देता है आदमी, उस छोड़ने के पीछे भी, जैसा मैंने कहा तथाकथित भले आदमी के पीछे भय कारण होता है, ऐसे ही तथाकथित त्यागियों के पीछे लोभ कारण होता है। वे संसार छोड़ देते हैं, किसी लोभ के वश में।

यह हमें थोड़ा जानकर हैरानी होगी कि संसार को त्याग करनेवाले सौ में से निन्यानबे लोग लोभ के कारण ही त्याग करते हैं। शास्त्रों में पढ़ लेते हैं, गुरुओं से सुन लेते हैं और उनके लोभ की घनी मात्रा जग जाती है। और उन्हें लगता है कि संसार में क्या रखा है, इसको छोड़ दो। तो जहाँ, जहाँ मिल सकता हो असली सुख, उसको ही पाने के लिए इसको छोड़ दो। इस संसार का छोड़ना उनके लिए एक सौदा है। तो मन से तो नहीं छूट पाता, सीढ़ी पर तो पहुँच जाते हैं, फिर सीढ़ी को नहीं छोड़ पाते हैं: क्योंकि भय लगने लगता है। भय यह लगने लगता है कि कहीं सीढ़ी भी छूट गयी—संसार भी छूट गया, कहीं सीढ़ी भी छूट गयी और वह जो परम रहस्य है वह मिला, न मिला !

और ध्यान रहे, वह परम रहस्य जब तक मिल न जाए, तब तक उसके संबंध में कुछ भी पता नहीं होता कि वह मिलेगा भी कि नहीं मिलेगा। यह भी पता नहीं होता। यह भी पक्का नहीं होता। उसका मिल जाना सुनिश्चित है, यह मिलकर ही पता चलता है। इसीलिए तो श्रद्धा पर इतना जोर है। श्रद्धा का मतलब यह है कि जो अनिश्चय में कूदने को तैयार है। 'इनसिक्योरिटी' में, असुरक्षा में कूदने को तैयार है। जो कहते हैं, ठीक है, मिलेगा, नहीं मिलेगा, यह कूदकर ही देख लेंगे। अभी से यह भी पक्का वचन लेकर नहीं चलते हैं, कि मिलेगा तो ही कूदेंगे। जिस आदमी ने ऐसा कहा कि मिलेगा तो ही कूदेंगे, वह कभी कूदेगा ही नहीं। क्योंकि मिलने का कोई पता मिलने के पहले कैसे चल सकता है ?

आज ही मुझे एक पत्र मिला है एक मित्र का। उन्होंने मुझे लिखा है—शांति नहीं है, आनंद नहीं है, जीवन में कोई अर्थ नहीं है। कहीं कोई परमात्मा है, ऐसी श्रद्धा भी नहीं आती। कहीं कोई शांति हो सकती है, कहीं कोई आनंद हो सकता है, ऐसी आस्था भी नहीं बनती। फिर भी आपसे चाहता हूँ कि मुझे मार्ग दिखाएँ। इस तरह के बहुत व्यक्तियों से मैं परिचित हूँ। क्योंकि इनको अगर मार्ग भी दिखाया जाए तो उसपर भी आस्था नहीं आती, उसपर भी श्रद्धा नहीं आती, उसमें भी कोई अर्थ दिखायी नहीं पड़ता। क्योंकि सवाल मार्ग का नहीं है। मार्ग तो बहुत हैं और

साफ हैं। लेकिन सवाल तो उस आँख का है, उस भरोसे का है। क्योंकि मार्ग दिखायी नहीं पड़ता है। मंजिल तो कभी दिखायी नहीं पड़ती है। मंजिल तो उसे दिखायी पड़ेगी जो मार्ग पर चलेगा। इन सबको, इन सबको आकांक्षा यह है कि मार्ग पर चलने के पहले मंजिल दिखायी पड़ जाए, भरोसा आ जाए कि है। यह असंभव है। और इसी असंभावना के कारण श्रद्धा का इतना मूल्य है।

श्रद्धा का अर्थ है कि रास्ता दिखायी पड़ता है, मंजिल दिखायी नहीं पड़ती, लेकिन मैं चलता हूँ। मैं चलता हूँ। और ध्यान रहे, चलने से ही मंजिल निर्मित होती है और दिखायी पड़ती है। अगर श्रद्धा सघन हो तो शायद चलने की भी जरूरत नहीं है। श्रद्धा सघन हो तो मंजिल सामने ही प्रगट हो जाती है। श्रद्धा की सघनता पर निर्भर है। श्रद्धा विरल हो तो रास्ता बहुत लंबा हो जाता है। श्रद्धा बिलकुल न हो तो रास्ता अंतहीन हो जाता है। अश्रद्धा हो, रास्ता 'सर्कुलर' हो जाता है, गोल घूमने लगता है। फिर उसमें घूमते रहो, घूमते रहो और कहीं भी पहुँचाता हुआ मालूम नहीं पड़ता।

श्रद्धा से मंजिल क्यों सामने आ जाती होगी, इसे थोड़ा समझ लेना उचित है। तो ही सीढ़ी छूट सकती है और तब यह सूत्र आसान हो जाएगा। नहीं तो, कठिन पड़ेगा। असल में मंजिल अगर बाहर होती तो चलकर मिल जाती।

यहाँ एक खयाल ले लें।

कोई आदमी माउंट आबू रोड से माउंट आबू की तरफ चले, उसे श्रद्धा बिलकुल न हो, तो भी माउंट आबू पहुँच जाएगा। श्रद्धा बिलकुल न हो, बल्कि विधायक रूप से अश्रद्धा हो—वह यह भी कहे कि मैं किसी माउंट आबू को नहीं मानता, फिर भी अगर वह रास्ते पर चले तो माउंट आबू पहुँच जाएगा।

होश में न आया हो, बेहोशी में उठाकर लाया गया हो, तो भी पहुँच जाएगा। क्योंकि माउंट आबू पहुँचनेवाले पर निर्भर नहीं है। लेकिन जिस यात्रा की हम चर्चा कर रहे हैं, वह सारी-की-सारी मंजिल पहुँचने वाले पर निर्भर है। वह बाहर अगर मंजिल होती तो श्रद्धा की कोई जरूरत न थी। वह मंजिल भीतर है।

अगर हम ठीक समझें तो ऐसा है कि जिस दिन हम मंजिल पर पहुँचेंगे तो हम स्वयं पर ही पहुँचेंगे, और कहीं पहुँचनेवाले नहीं हैं। और अगर श्रद्धा न हो तो उसका अर्थ है कि हमें स्वयं पर ही भरोसा नहीं है। हम बाहर के कितने ही रास्तों पर चलते रहें, मंजिल आंतरिक घटना है और वह मंजिल हमारे भाव से निर्मित होती है। जितना सघन होता है भाव, उतनी निर्मित होती है। उतनी निखरती है, उतनी प्रगट होती है।

वह जो प्रगट होता है, उसे हम ऐसा समझें वह एक कली है। कली अभी फूल नहीं है, लेकिन फूल हो सकती है। लेकिन जरूरी नहीं कि फूल हो ही। कली भी रह सकती है। यह भी हो सकता है कि फूल हो जाए, यह भी हो सकता है कली रहकर ही गिर जाए। किस बात पर निर्भर करेगा कली का फूल होना? कली का फूल होना उस कली के नीचे अंतर में बहती हुई रसधारा पर निर्भर करेगा। कितने बलपूर्वक उस पौधे मे रस की धार बह रही है, इसपर निर्भर करेगा। वह रस धारा अगर बल में बह रही है, तो कली खिल जाएगी और फूल बन जाएगी। और अगर वह रसधार क्षीण है, मुर्दा है, गतिमान नहीं है तो कली कली रह जाएगी और फूल नहीं बन पाएगी।

कली के भीतर फूल छिपा है, संभावना की तरह। वास्तविकता की तरह नहीं, संभावना की तरह। एक स्वप्न है अभी तो, लेकिन साकार हो सकता है। लेकिन कली की अपनी रसधार पर निर्भर करेगा।

परमात्मा एक स्वप्न है मनुष्य की आत्मा में छिपा। अगर मनुष्य की आत्मा को हम कली समझें, तो परमात्मा फूल है। लेकिन आदमी की अपनी जीवन-रसधार पर ही निर्भर करेगा। उसी रसधार का नाम श्रध्दा है। कितने बलपूर्वक, कितने आग्रहपूर्वक, कितनी शक्ति से, कितनी त्वरा से अभीप्सा है भीतर? कितने जोर से पुकारा है हमने जीवन को? कितने जोर से हमने खींची है जीवन की प्राणवत्ता अपनी तरफ? कितने जोर से हम संलग्न हुए हैं, कितने जोर से हम समर्पित हुए हैं? कितना एकाग्र भाव से हमने चेष्टा की है? इस सब पर निर्भर करेगा कि कली फूल बने कि न बने।

तो जो आदमी कहता है श्रध्दा तो नहीं है, रास्ता बता दें, वह ऐसी कली है जो कह रही है—रसधार तो नहीं है लेकिन रास्ता बताएँ कि मैं फूल कैसे हो जाऊँ? रास्ता बताया जा सकता है, लेकिन व्यर्थ होगा। क्योंकि रास्ते का सवाल उतना नहीं है, जितना चलनेवाले की आंतरिक शक्ति का है।

श्रद्धा का अर्थ इतना ही है कि मैंने इकट्ठी की अपने प्राणों की सारी शक्ति, दाँव पर लगा दी। दाँव कठिन है, क्योंकि कली को फूल का कुछ भी पता नहीं है। कली यह भी सोच सकती है कि यह दाँव कहीं चूक न जाए। कहीं ऐसा न हो कि फूल भी न बन पाऊँ और पास की संपदा थी, जो रसधार थी, वह भी चूक जाए। यह डर है, यह भय है। यह भय है। कली को सोचना पड़ेगा कि मैं दाँव लगाऊँ, कहीं ऐसा न हो कि जिस रसधार से मैं महीनों तक कली रह सकती थी वह रसधार भी चूक जाएँ दाँव में, फूल भी न बन पाएँ और मेरी जिंदगी भी नष्ट हो जाए। यही भय आदमी को धार्मिक नहीं होने देता। डर लगा ही रहता है कि जो है,

कहीं वह न छूट जाए। और जो नहीं है, वह मिले न मिले, क्या पता!

इस अज्ञात में छलाँग लगाने की हिम्मत ही श्रध्दा है।

कली छलाँग लगा लेती है। फूल बन जाती है और फूल बनकर मिटने का मजा ही और है। और कली रहकर गिर जाना बड़ा दुखदायी है। फूल बनकर मिटने का मजा और है। क्योंकि पूरा फूल अगर खिल गया हो, तो मिटना एक सुख है। मिटना एक आनंद है। क्योंकि पूरा फूल बन जाने के बाद विश्राम है। स्वाभाविक है। लेकिन कली अगर गिरकर नष्ट हो जाए तो बड़ा पीड़ादायी है। क्योंकि अभी कुछ पूर्णता भी न हुई थी। अभी जो प्रगट होना था, वह प्रगट भी न हुआ था। अभी जो गीत उस कली को गाना था, वह गाया नहीं गया। अभी जो नृत्य उस कली को करना था, वह हो नहीं पाया। अभी चाँद-तारों से बातें करनी थीं और हवाओं के साथ खेलना था। और अभी जीवन का जो सब कुछ छिपा था, वह सब छिपा ही रह गया।

भारतीय पुनर्जन्म की कल्पना म यह कली का ही पुनरावर्तन है। जो अधूरा मरेगा, वह बार बार पैदा होगा। अधूरा मरने का मतलब है कि वह जो आकांक्षा रह गयी पूरे होने की, वह पुनः जन्म लेगी। जब तक कि फूल न बन जाए कली, तब तक पुनर्जन्म होता रहेगा।

आवागमन से मुक्ति का एक ही अर्थ है। वह अर्थ वैसा नहीं है जैसा कि मंदिरों में बैठे हुए लोग सोचते रहते हैं कि हे परमात्मा, आवागमन से छुटकारा दिलाओ। यह परमात्मा के हाथ का काम नहीं है। कली की प्रार्थना नहीं सुनी जा सकती। क्योंकि कली ने अभी पात्रता ही पैदा नहीं की कि वह प्रार्थना कर सके। यह तो फूल की प्रार्थना है कि अब मैं पूरा हुआ हूँ, अब मैं मिटना चाहता हूँ। मिटना चाहना आखिरी आकांक्षा है और पूर्णता पर, परिपक्वता पर उपलब्ध होती है। कोई बुद्ध कह सकता है कि ठीक, अब बात समाप्त हुई! अब मैं समाप्त होना चाहता हूँ।

हमारा मन तो कहता है, किसी तरह बचे रहें, किसी तरह बचे रहें, मिट न जाएँ। यह कली का डर है। यह फूल की गरिमा है कि फूल कहे कि ठीक, अब मैं मिटना चाहता हूँ। यह मिटना चाहने का मतलब यह है कि जीवन का सारा अर्थ पूरा हुआ। अभिप्राय निष्पन्न हुआ। जिसके लिए जीवन था, वह घटना घट गयी। जान लिया, जी लिया, हो लिया। अब, अब मिटना एक विश्राम है। अब उस परम में लीन हो जाना एक गहन विराम है। आनंदपूर्ण है।

लेकिन कली का तो पुनर्जन्म होगा। क्योंकि कली अधूरी है। अधूरी है, अधूरी है, यही भाव आपने अनेक लोगों को मरते हुए देखा होगा। कभी कोई एकाध

आदमी मरते देखा है जिसके मरते वक्त श्वाँस-श्वाँस न कह रही हो--अधूरा हूँ, अधूरा हूँ, कुछ भी पूरा नहीं हुआ, कुछ भी पूरा नहीं हुआ, कुछ भी पूरा नहीं हुआ। हर आदमी यही कहता हुआ मरता दिखायी पड़ेगा--कुछ भी पूरा नहीं हुआ, सब अधूरा है। और अभी मुझे उठाए ले रहे हो। तो सारे प्राण वापिस लौटने के लिए आतुर हैं। पूर्ण हुए बिना आवागमन से कोई छुटकारा नहीं।

यह जो पूर्ण होना है, यह कली की छलाँग लगाने के साहस पर निर्भर है। दुस्साहस कहना चाहिए। क्योंकि कली को फूल होने का कोई भी पता नहीं है। लेकिन सिर्फ एक गहरे में आकांक्षा पूरे होने की जरूर है। इस भाव को अगर साधक सँभाल पाए और तैयार हो जाए कूदने को। मतलब यह हुआ कि तैयारी है उसकी कि जो मैं हूँ, मिट जाऊँ, लेकिन जो मुझे होना चाहिए वह होने के लिए मैं सब कुछ दाँव पर लगाने को तैयार हूँ, तो वह इसी क्षण भी पूर्ण हो सकता है। कली इस क्षण भी खिल सकती है। खिलने में कितनी देर लगेगी, यह उसकी रसधार पर ही निर्भर करेगा। रसधार अगर अभी पूर्ण शक्ति से बह जाए, तो पंखुड़ियाँ अभी खिल जाएँगी। इसी क्षण! पंखुड़ियाँ फिर यह न कहेंगी कि अभी तो जल्दी थी। कभी भी जल्दी नहीं है। काफी देर पहले ही हो चुकी है। बहुत-बहुत बार हम कली होकर मिल चुके, और मिट चुके हैं। तो देर तो पहले ही काफी हो चुकी है। जल्दी बिलकुल नहीं है। कभी भी हो जाए तो यह काफी है। काफी समय के बाद हुई घटना है। लेकिन यह रसधार उपलब्ध होनी चाहिए। श्रद्धा आध्यात्मिक जीवन के खिलने में रसधार है।

इस श्रद्धा के आत्यंतिक छलाँग में सीढ़ी पकड़ जाएगी, अगर श्रध्दा की कमी होगी। तो किसी तरह हम संसार छोड़ देंगे, फिर सीढ़ी पर डरते हुए खड़े हो जाएँगे। फिर सीढ़ी के पार तो अज्ञात है। उसमें उतरने में भय लगेगा। सीढ़ी ज्ञात मालूम पड़ेगी। सीढ़ी बनायी जाती ही इसलिए कि एक ज्ञात और अज्ञात के बीच में एक मध्यबिंदु बन जाए, जिससे यात्रा सुगम हो जाए। लेकिन वही मध्यबिंदु जकड़न भी बन सकता है। यह हम पर निर्भर करेगा कि हम उसका क्या उपयोग करते हैं। वह 'जंपिंग बोर्ड' भी हो सकता है। हम पर निर्भर करेगा। और हम वहीं अपना बिस्तर-बोरिया रखकर निवास भी बना सकते हैं। वह हम पर निर्भर करेगा।

यह जो सूत्र है, बीच के 'जंपिंग बोर्ड' के लिए है। छलाँग लगाने के लिए स्थलमात्र है।

सूत्र में कहा है. . . .प्रतीक शब्द है; जिसने इस उपनिषद को लिखा है वह शिव का भक्त है। शिव उसके लिए अनंत के प्रतीक हैं। ऐसे भी शिव बहुत अद्‌भुत

प्रतीक हैं। मनुष्य ने बहुत प्रतीक खोजे हैं, लेकिन शिव जैसा अनूठा प्रतीक बहुत मुश्किल है। सारे जगत में परमात्मा के लिए जितने शब्द हमने खोजे हैं, उनमें शिव का कोई भी मुकाबला नहीं है।

उसके कारण हैं।

शिव का अर्थ ही है--शुभ। अच्छा। लेकिन शिव के व्यक्तित्व में, जिसे हम बुरा कहें वह सब भी मौजूद है। जिसे हम बुरा कहें, वह सब मौजूद है। शिव का अर्थ ही है शुभ, लेकिन शिव को हमने विध्वंस का देवता माना है। विनाश का। उसीसे अंत होगा जगत का। हैरानी की बात मालूम पड़ती है कि जो शुभ है, शिव है, वह विध्वंस का देवता होगा। लेकिन बड़ी कीमती बात है।

हम कभी यह मान ही न पाए कि इस जगत का अंत अशुभ से हो। इस जगत का अंत उस पूर्णता में हो जहाँ शुभ का सारा फूल खिल जाए। अंत जो हो, वह अंत ही न हो, वह पूर्णता भी हो। अंत जो हो, वह सिर्फ मृत्यु ही न हो बल्कि महाजीवन का अंतिम शिखर भी हो।

और हमारी शुभ की जो धारणा है, वह भी बड़ी अद्‌भुत है। दुनिया में जहाँ भी शुभ की धारणा की गयी है, वह अशुभ के विपरीत है। इसलिए भारत को छोड़कर सारे जगत में सभी धर्मों ने, जो भारत के बाहर पैदा हुए, दो ईश्वर मानने की मजबूरी प्रगट की है। दो ईश्वर से मेरा मतलब है, एक को वे ईश्वर कहते हैं, एक को वे शैतान कहते हैं। बुराई का भी एक ईश्वर है। उसको अलग करना पड़ा है। भलाई का एक ईश्वर है, उसको अलग करना पड़ा है। और जब मैं कहता हूँ कि दो ईश्वर, तो मैं कई कारणों से कहता हूँ।

अँग्रेजी में शब्द है, 'डेविल'। वह संस्कृत के देव शब्द से ही बना है। वह भी देवता है। बुराई का देवता है। बुराई का देवता अलग निर्मित करना पड़ा है। क्योंकि भारत के बाहर कोई भी मनीषा इतनी हिम्मत की नहीं हो सकी कि बुराई और भलाई को एक ही व्यक्तित्व में निहित कर दें। यह बड़ा साहस का काम है। सोच ही नहीं पाते हैं। हम भी नहीं सोच पाते हैं। जब हम कहते हैं फलाँ आदमी महात्मा है, तो फिर हम सोच ही नहीं पाते हैं कि उसमें कुछ भी . . . .जैसे क्रोध महात्मा कर सके, यह हम सोच ही नहीं पा सकते। लेकिन शिव क्रोध कर सकते हैं। और साधारण क्रोध नहीं, कि भस्म कर दें! और हिंदू-मन कहता है कि शिव से दयालु कोई भी नहीं है, बहुत भोले हैं। जरा-भी कोई मना ले, तो किसी भी बात के लिए राजी हो जाते हैं। ऐसा वरदान भी आदमी माँग सकता है कि खुद ही झंझट में पड़ें। तो यह आदमी अनूठा मालूम होता है। यह प्रतीक अनूठा मालूम होता है।

बुराई और भलाई को हमने कभी भी दो विपरीत चीजें नहीं माना है। क्योंकि विपरीत मानकर ही जगत दो खंड में बँट जाता है और द्वैत शुरू हो जाता है। और फिर अगर विपरीत है भलाई और बुराई, तो फिर भलाई की जीत सुनिश्चित नहीं है। बुराई भी जीत सकती है। अगर बुराई और भलाई के बीच संघर्ष है, तो फिर भलाई की जीत सुनिश्चित नहीं है। फिर कौन तय करेगा कि अंत में ईश्वर ही जीतेगा और शैतान नहीं जीत जाएगा ? जहाँ तक रोज का सवाल है, शैतान जीतता हुआ दिखायी पड़ता है। रोज तो शैतान जीतता हुआ दिखायी पड़ता है। क्या पक्का है कि अंततः भी शैतान नहीं जीतेगा ? अगर दो शक्तियाँ हैं इस जगत में, तो आज तक का जो अनंत इतिहास है आदमी का, उसमें कोई भी ऐसा क्षण नहीं मालूम पड़ता जब बुराई न रही हो। बुराई और भलाई सदा ही संघर्षरत रही हैं।

तो अनंत इतिहास कहता है कि वे दोनों सदा ही लड़ती रही हैं। या तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वे समान शक्तिशाली हैं। इसलिए कोई अंतिम जीत तय नहीं हो पाती है। कभी कोई जीतता लगता है, कभी कोई जीतता लगता है। फिर भी अगर गौर से हम देखें तो निन्यानबे मौके पर बुराई जीतती लगती है। एक मौके पर भलाई जीतती लगती है। तो ऐसा डर लगता है कि कहीं बुराई ज्यादा मजबूत तो नहीं है। जैसे ही हम बुराई और भलाई को बाँट दें, खतरा शुरू हो जाता है। और इसमें फिर कोई अंत नहीं हो सकता। कोई अंत नहीं हो सकता कि कौन जीतेगा ? और अगर यह निश्चित ही न हो कि अंततः शुभ जीतता है, तो शुभ की सारी चेष्टा व्यर्थ हो जाती है।

लेकिन भारत और ढंग से सोचता है। भारत बुराई को भलाई के विपरीत नहीं मानता। भारत बुराई को भलाई में आत्मसात कर लेता है। इसे हम ऐसा समझें, भारत क्रोध को अनिवार्य रूप से बुरा नहीं कहता। भारत कहता है कि क्रोध अगर शुभ के लिए हो तो शुभ हो जाता है। क्रोध अगर शुभ के लिए हो तो शुभ हो जाता है।

भारत कहता है कि शक्तियाँ सब तटस्थ हैं। विज्ञान अभी इस बात को अनुभव करता है कि शक्तियाँ सब तटस्थ हैं। शक्ति न शुभ होती है, न बुरी होती है। भारत कहता है क्रोध भी शक्ति है। एक ऊर्जा है, एक 'एनर्जी' है। तो क्रोध भी शुभ हो सकता है, अगर शुभ की सेवा में हो। अशुभ हो सकता है, अगर अशुभ की सेवा में हो। लेकिन क्रोध अपने-आप में न शुभ है, न अशुभ। मेरे हाथ में एक तलवार है, वह न शुभ है और न अशुभ है। मैं किसीकी गर्दन काटकर लूट भी सकता हूँ; और लूटते की, गर्दन कटते आदमी की रक्षा भी कर सकता हूँ। तलवार

अपने में तटस्थ है। भारता मानता है, सभी शक्तियाँ तटस्थ हैं। किसलिए उनका उपयोग होता है, इसपर सब कुछ निर्भर करेगा।

हम अशुभ को एक अलग देवता नहीं बनाते हैं। केवल शक्तियों का एक दुरुपयोग बताते हैं। शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता है। शक्ति का सदुपयोग किया जा सकता है। और सदुपयोग अंत में जीतेगा। क्योंकि दुरुपयोग करनेवाले को ही दुख लाता है। इसलिए अंततः दुरुपयोग जीत नहीं सकता। क्योंकि जिस चीज से मुझे ही दुख मिलता जाता हो, मैं कब तक उसे कर सकता हूँ ? कितना ही करता रहूँ, अंततः मैं उससे छूट ही जाऊँगा, क्योंकि दुख के साथ संबंध तय रखना असंभव है। जिस दिन मुझे पता चलेगा कि यह दुख मैं ही निर्मित कर रहा हूँ, उसी दिन मैं सदुपयोग में बदल दूँगा अपनी शक्ति को। अशुभ शुभ के विपरीत कोई शक्ति नहीं है। अशुभ और शुभ एक ही शक्ति के सदुपयोग और दुरुपयोग हैं। और वह शक्ति परमात्मा की है।

तो शिव के व्यक्तित्व में हमने समस्त शक्तियों को स्थापित किया है। अमृत है उनका जीवन। मृत्युंजय हैं वह, लेकिन जहर उनके कंठ में है। इसलिए नीलकंठ हम उनको कहते हैं। उनके कंठ में जहर भरा हुआ है। जहर पी गये हैं। मृत्युंजय है, अमृत उनकी अवस्था है, मर वह सकते नहीं हैं, शाश्वत हैं और जहर पी गये हैं। शाश्वत जो है, वही जहर पी सकता है। जो मरणधर्मा है, वह जहर कैसे पिएगा ?

और यह जहर तो सिर्फ प्रतीक है। शिव के व्यक्तित्व में जिस-जिस चीज को हम जहरीली कहें, वे सब उनके कंठ में हैं। कोई स्त्री उससे विवाह करने को राजी नहीं थी। कोई पिता राजी नहीं होता था। उमा का पिता भी बहुत परेशान हुआ था। पागल थी लड़की, ऐसे वर को खोज लायी, जो बेबूझ था! जिसके बाबत तय करना मुश्किल था कि वह क्या है ? परिभाषा होनी कठिन थी। क्योंकि वह दोनों ही था। बुरे-से-बुरा उसके भीतर था। भले-से-भला उसके भीतर था। और जब बुरा भीतर होता है तो हमारी आँखें बुरे को देखती हैं, भले को नहीं देख पातीं। क्योंकि बुरे को हम खोजते रहते हैं। बुरे को हम खोजते रहते हैं। कहीं भी बुरा दिखायी पड़े तो हम तत्काल देखते हैं, भले को तो हम बामुश्किल देखते हैं। भला बहुत ही हम पर हमला न करे, माने ही न, किये ही चला जाए, तब कहीं मजबूरी में हम कहते हैं—होगा, शायद होगा। लेकिन बुरे की हमारी तलाश होती है।

तो अगर लड़की के पिता को शिव में बुरा-ही-बुरा दिखायी पड़ा हो, तो कोई हैरानी की बात नहीं है। लेकिन भीतर जो श्रेष्ठतम, शुद्धतम शुभत्व है, वह भी था। और दोनों साथ थे, और दोनों इतने संतुलित थे कि वह जो व्यक्ति था, दोनों के

पार हो गया था।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

जब बुराई और भलाई पूर्ण संतुलन में होती हैं, तो संत पैदा होता है। संत भले आदमी का नाम नहीं है। भले आदमी का नाम सज्जन है। बुरे आदमी का नाम दुर्जन है। भलाई और बुराई को, दोनों जो इस ढंग से आत्मसात कर ले कि वे दोनों संतुलित हो जाएँ और एक-दूसरे को काट दें; बराबर मात्रा में हो जाएँ और एक-दूसरे को काट दें, तो दोनों के पार जो व्यक्तित्व पैदा होता है, वह संत है। संत एक गहन संतुलन है।

इसलिए आप यह मत समझना कि संत में बुराई नहीं होती है। संत में बुराई और भलाई सम मात्रा में होती है। वह इतनी सम होती हैं कि दोनों एक-दूसरे से कट जाती हैं। ऋण और धन बराबर हो गये होते हैं। और संत उनके पार हो गया होता है। लेकिन संत उनमें से किसीका उपयोग भी कर सकता है।

यह शिव जो है, संतत्व की आखिरी धारणा है। इस उपनिषद का ऋषि शिव का भक्त है। उसने शिव को प्रतीक माना है ध्यान का। उसने कहा है कि जिसे उमा का सहायक, जिसे उमा का प्रेमी, जिसे उमा का रक्षक, परमेश्वर कहा है; जिसे हमने नीलकंठ कहा है, जिसे हमने त्रिलोचन कहा है, इन सब नामों से जिसे हमने पुकारा है। इसमें तीन नाम उपयोग किये हैं। एक तो उमा का सहायक या उमा का प्रेमी, या उमा का पति, या उमा का आधार।

यह भी थोड़ा सोच लेने जैसा है। जैसे मैंने कहा, शुभ और अशुभ, वैसे ही शिव अकेले ही व्यक्ति हैं जिसमें स्त्री और पुरुष सम हो गये हैं। इसलिए हमने अर्धनारीश्वर की मूर्ति बनायी। वह बेजोड़ है सारे जगत में। कहीं भी ऐसी कोई मूर्ति नहीं है किसी परमात्मा की कल्पना की, जहाँ स्त्री और पुरुष को हमने आधा-आधा अंग रखा हो। दुनिया के अधिकतम ईश्वर पुरुष हैं। कुछ आदिम जातियों के ईश्वर स्त्रैण हैं—काली माता है, या और। लेकिन आमतौर से अधिक ईश्वर पुरुष हैं। यह दोनों ही बातें अधूरी हैं। क्योंकि अगर ईश्वर पुरुष है, तो स्त्री का व्यक्तित्व कभी भी पुरुष के समान नहीं हो सकता। वह हमेशा नंबर दो का व्यक्तित्व होगा।

इसलिए ईसाइयत ईश्वर को पुरुष मानती है तो स्त्री को सिर्फ आदमी की हड्डी से, पसली से बना हुआ मानती है। एक 'सेकेंडरी' घटना है। एक द्वितीय कोटि की घटना है। जरूरत पड़ी आदम को, अकेले में उसका मन नहीं लगता था, तो एक खिलौने की तरह स्त्री उसकी एक हड्डी से निकाल कर बना दी गयी। पर इससे ज्यादा इसका कोई मूल्य नहीं है। ईसायइत के पास ईश्वर की स्त्रैण . . .

स्त्रैण तत्त्व को भी ईश्वर में प्रवेश करने का कोई उपाय नहीं है। कोई उपाय नहीं है। ईश्वर के तीन रूप ईसाइयत ने माने हैं—'गॉड दॅ फादर, गॉड दॅ सन एंड दॅ होली घोस्ट'। ईश्वर : पिता, ईश्वर : पुत्र और ईश्वर : पवित्र आत्मा। लेकिन तीनों में से कोई भी स्त्रैण नहीं है। सभी पुरुष हैं।

फिर ईश्वर को माननेवाले आदिम समाज भी हैं। लेकिन उनके पास पुरुष धारणा नहीं है। जिन समाजों में स्त्री की सत्ता थी उन्होंने ईश्वर को स्त्रैण बना लिया। ये सामाजिक दुर्घटनाएँ हैं, इनसे ईश्वर का कोई संबंध नहीं है।

लेकिन शिव अकेला ही एक प्रतीक है, जिसमें हमने स्त्री और पुरुष को बराबर मात्रा दी है। आधा अंग पुरुष का, आधा अंग स्त्री का। और मजे की बात है कि आधा अंग स्त्री का और आधा अंग पुरुष का हो, तो फिर दोनों का संतुलन काट देता है। और व्यक्तित्व दोनों के पार हो जाता है। यह वैज्ञानिक गणित है कि जहाँ भी दो विरोधी चीजें सम हो जाती हैं, तो व्यक्तित्व तत्काल तीसरा हो जाता है। वह पार हो जाता है, दोनों के। वह फिर वही नहीं रह जाता है।

तो पहली बात कही है कि उमासहायक। यह बहुत मजेदार बात है—उमा के सहायक। या उमा के प्रेमी, या उमा के मित्र, या उमा के पति। लेकिन दोनों को बराबर, दोनों को बराबर रखने की दृष्टि है। और दोनों बराबर हों, तो ही हम लैंगिक-भेद से ईश्वर को पार ले जाते हैं।

'नीलकंठ'। तो मैंने कहा कि जहर पी गये हैं। जहर पी गये हैं, तो जहर पी ही वह सकता है, जिसे अमृत का आश्वासन इतना गहन हो कि जहर कुछ कर सकेगा यह प्रश्न और संदेह ही न उठे। मरने को सहज वही तैयार हो सकता है जिसे पता ही हो कि मरना होता ही नहीं।

आज एक मित्र संन्यास लेने आये थे। विचारशील हैं। पढ़े-लिखे हैं। तो उन्होंने कहा कि इसीलिए संन्यास नहीं ले रहा हूँ कि अगर संन्यास लूँ और आपको स्वीकार कर लूँ तो फिर मेरा व्यक्तित्व खो जाएगा। तो मैंने उनसे कहा कि अगर तुम्हें व्यक्तित्व में इतना शक है अपने, तो वह होगा ही नहीं। इतना शक है कि संन्यास लेने से व्यक्तित्व खो जाएगा, तो वह होगा ही नहीं। अगर तुममें व्यक्तित्व हो, तो तुम निर्भय होकर संन्यास ले सकते हो। सच तो यही है कि जब भी कोई व्यक्तित्व किसीके चरणों में जाता है, तो वही जा सकता है चरणों में जिसे इतना भरोसा हो कि चरणों में छोड़कर भी कुछ भी तो खोया नहीं। यह अपने भरोसे से ! व्यक्तित्व का इतना भरोसा हो तो समर्पण भी हो सकता है।

शिव जहर पी गये हैं, क्योंकि अमृत का ऐसा सघन भरोसा है। वह जहर कंठ में ही अटक कर रह गया है। इसके बड़े प्रतीकात्मक अर्थ हैं। इसे थोड़ा खयाल

में लेना चाहिए।

वह जहर कंठ में अटक कर रह गया। कंठ हमारे व्यक्तित्व की पहली परिधि है। समझें कि कंठ हमारे व्यक्तित्व का द्वार है। उसके बाद ही हमारे व्यक्तित्व का महल है। वह द्वार से भीतर नहीं जा सका है जहर। लेकिन अगर हम जहर पी लें, तो हम फौरन मर जाएँगे।

मर जाने का कारण यह है कि कंठ के पार हमारा कोई व्यक्तित्व ही नहीं है। कंठ ही हमारा व्यक्तित्व है। हम अगर ठीक से समझें तो हम जो बोलते हैं, सोचते हैं, कहते हैं, चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, मानते हैं, वह सब हमारे कंठ तक है। कंठ से नीचे कुछ भी नहीं है।

एक आदमी कह रहा है, मैं आस्तिक हूँ। यह कंठ के नीचे की आवाज नहीं है। एक आदमी कह रहा है, मैं भगवान को मानता हूँ, यह कंठ से नीचे की आवाज नहीं है। यह कंठ के बिलकुल ऊपर है। कंठ को काटकर कर दो अलग, नीचे इस आवाज का कोई पता नहीं चलेगा। यह सिर्फ कंठ से उठ रहा है। हमारा व्यक्तित्व कंठ-केंद्रित है।

आदमी ने कंठ का बहुत विकास किया। वाणी का, भाषा का, विचार का। सारा विचार कंठ पर निर्भर है। और इसलिए आदमी की जिंदगी कंठ के बाहर ही और कंठ के ऊपर ही चलती है। उसके नीचे का सब लोक अंधकार हो गया। कंठ के नीचे के सब केंद्र अँधेरे में छुप गय।

शिव ने जहर पीया तो कंठ पर रुक गया, क्योंकि कंठ तक जो भी है वह मरणधर्मा है।

इसे ठीक से समझ लें।

कंठ तक जो भी है वह मरणधर्मा है। शब्द और भाषा और वाणी और इस सबका कोई मूल्य नहीं है। ये सब मृत्यु की सीमा के भीतर हैं। यहाँ तक तो काम कर जाएगा। अगर कंठ के पार भी आपके पास कुछ हो तो ही आप अमृत-धर्मा हो सकते हैं। शिव का जहर रुक गया कंठ में, क्योंकि वहाँ तक तो मृत्यु का वास है। वहाँ तक जा सकता है जहर, उसके पार अमृत है। उसके पार जहर नहीं जा सकता है।

शिव का कंठ नीला पड़ गया है जहर के कारण। इसका एक और अर्थ भी है। वह भी हम खयाल में ले लें। शिव के कंठ में जहर जाने के बाद, शिव के कंठ के नीले पड़ जाने के बाद वे परम मौनी हो गये। वे बोलते ही नहीं। वे चुप ही हो गये। उनकी चुप्पी बहुत अद्‌भुत है और कई आयामों में फैली हुई है।

पार्वती की मृत्यु हो गयी। शिव मान न पाए कि पार्वती भी मर सकती है।

न मानने का कारण था। जिस पार्वती को वह जानते थे उसके मरने का कोई सवाल नहीं था। लेकिन जिस देह में पार्वती थी, वह तो मर ही गयी। तो बड़ी मीठी कथा है। ऐसी मीठी कथा दुनिया के इतिहास में दूसरी नहीं है। शिव पार्वती की लाश को कंधे पर रखकर पागल की तरह पृथ्वी पर घूमते हैं। लाश को कंधे पर रखकर घूमते हैं। ये जितने तीर्थ हैं भारत में, कथा यह है कि जहाँ-जहाँ पार्वती का एक-एक अंग गिर गया, वहाँ-वहाँ एक-एक तीर्थ बन गया। उस लाश के टुकड़े गिरते जाते हैं, वह लाश सड़ती जाती है, और जगह-जगह जहाँ-जहाँ एक-एक अंग गिरता जाता है वहाँ-वहाँ एक-एक तीर्थ निर्मित होता जाता है।

और शिव घूमते हैं। बोलते नहीं कुछ, कहते नहीं कुछ, सिर्फ रोते हैं, उनकी आँख से आँसू टपकते जाते हैं। कंठ तो अवरुद्ध है। बोलने का कोई उपाय नहीं रहा। अब हृदय ही बोल सकता है। तो सिर्फ उनकी आँख से आँसू टपकते हैं। और कंधे पर लाश लिये वह घूम रहे हैं। और जगह-जगह खबर हो गयी कि शिव पागल हो गये हैं। यह भी कोई बात है! ईश्वर ऐसा करें कि अपने . . . . अपने प्रिय की लाश को लेकर ऐसा घूमें। तो बड़ी कठिनाई होगी हमें। क्योंकि ईश्वर से हमारा अर्थ यह होता है-- जो बिलकुल वीतराग है। जिसमें कोई राग नहीं है। उसे क्या प्रयोजन है। प्रेयसी उसकी मर जाए तो मर जाए, न मरे तो न मरे। जिए तो ठीक, न जिए तो ठीक। उसे क्या प्रयोजन। यह शिव का लेकर घूमना विचित्र मालूम पड़ता है। लेकिन शिव को समझना हो तो हमें कुछ और तरह से सोचना पड़े।

शिव और पार्वती के बीच इतना भी भेद नहीं है कि पार्वती को दूसरा कहा जा सके। तो विराग भी क्या हो और वीतराग भी क्या हो! राग का भी कोई सवाल नहीं है। यह पार्वती और शिव के बीच ऐसा तादात्म्य है, ऐसी एकता है, यह शिव स्त्री और पुरुष का ऐसा जोड़ है कि हमको लगता है कि पार्वती का शरीर लेकर घूम रहे हैं। उनका घूमना करीब-करीब वैसा ही है जैसा मेरा एक हाथ बीमार हो जाए, गल जाए और इसको लेकर मैं घूमूँ। क्या करूँगा और? इसमें कोई फासला ही नहीं है। इसमें कोई फासला ही नहीं है।

और इसलिए तो यह कथा मीठी है कि पार्वती के अंग जहाँ-जहाँ गिरे, इस शिव के प्रेम और शिव की आत्मीयता की इतनी गहन छाया उनमें है कि उसके सड़े हुए अंगों के स्थानों पर धर्मतीर्थ निर्मित हुए। ये धर्मतीर्थ निर्मित होने का अर्थ ही केवल इतना है। इन्हें हमें प्रेमतीर्थ कहना चाहिए। इतने गहन प्रेम में और ईश्वर की स्थिति का व्यक्ति, बड़े दूर के छोर हैं। क्योंकि ईश्वर से हमारा मत-लब ही यह होता है कि जो सब राग इत्यादि से बिलकुल दूर खड़े होकर बैठा है। इसलिए जैन हैं, या और कोई जो वैराग्य को बहुत मूल्य देते हैं, वे सोच

नहीं सकते कि शिव को ईश्वरत्व की धारणा मानना कैसे ठीक है ; वे यह भी नहीं सोच पाते कि राम को कैसे ईश्वर माना जाए, जब सीता उनके बगल में खड़ी है ! क्योंकि यह सीता का बगल में खड़ा होना सब गड़बड़ कर देता है । यह फिर जैन की समझ के बहार हो जाएगा ।

उसका कारण है ।

क्योंकि उसने जो प्रतीक चुना है ईश्वर के लिए, वह परम वैराग्य का है। लेकिन वह अधूरा है । क्योंकि तब संसार और ईश्वर विपरीत हो जाते हैं । संसार हो जाता है राग और ईश्वर हो जाता है वैराग्य। शिव राग और वैराग्य दोनों का संयुक्त जोड़ है। और तब एक अर्थों में जीवन के समस्त द्वैत को संग्रहीत कर लेते हैं ।

तीसरे शब्द का प्रयोग किया है-- 'त्रिलोचन'। तीन आँखवाले। दो आँखें हम सब को हैं। तीसरी भी हम सब को है, उसका हमें कुछ पता नहीं है । और जब तक तीसरी भी हमारी सक्रिय न हो जाए और तीसरी आँख भी हमारी देखने न लगे, तब तक हम, तब तक हम परमात्म-सत्ता का कोई भी अनुभव नहीं कर सकते हैं । इसलिए उस तीसरी आँख का एक नाम शिवनेत्र भी है ।

यह भी थोड़ा समझ लें ।

क्योंकि सब द्वैत के भीतर ही तीसरे को खोजने की तलाश है। आपकी दो आँखें द्वैत की सूचक हैं । इन दोनों आँखों के बीच में, ठीक संतुलित मध्य में तीसरी आँख की धारणा है । इन दोनों आँखों के पार है। वह फिर दोनों आँखें उस आँख के मुकाबले संतुलित हो जाती हैं। दायाँ-बायाँ दोनों खो जाता है। अँधेरा, प्रकाश, दोनों खो जाता है। दो आँखें समस्त द्वैत की प्रतीक हैं। ये दोनों खो जाती हैं। और फिर एक आँख ही देखनेवाली रह जाती है । उस एक आँख से जो देखा जाता है, वह अद्वैत है; और दो आँख से जो देखा जाता है, वह द्वैत है।

दो आँख से जो भी हम देखेंगे वह संसार है और वहाँ विभाजन होगा। और उस एक आँख से जो हम देखेंगे वही सत्य है, और अविभाज्य है। इसलिए शिव का तीसरा नाम है-- त्रिलोचन। उनकी तीसरी आँख पूर्ण सक्रिय है। और तीसरी आँख पूर्ण सक्रिय होते ही कोई भी व्यक्ति परमात्म-सत्ता से सीधा संबंधित हो जाता है ।

'इन तीन नामों से'. . . .और-और अनेक नामों से जिसे पुकारा गया है. . . .'जो इस समस्त चराचर का स्वामी और शांतिस्वरूप है'। यह सब विपरीत भी है। क्योंकि स्वामी किसी भी चीज का हो, शांतिस्वरूप नहीं हो सकता है । जैसे ही आप किसी चीज के स्वामी बने कि अशांति शुरू हुई । स्वामी बनना ही मत, नहीं तो अशांति शुरू होगी । क्योंकि स्वामी का मतलब यही है कि कोई दास बना लिया गया।

और जो दास बन गया, वह आपसे बदला लेगा। स्वतंत्रता उसकी कुंठा में पड़ गयी। वह आपसे बदला लेगा ।

पतियों ने स्वामी बनकर जैसे कष्ट उठाए हैं, उसका हिसाब लगाना मुश्किल है ! क्योंकि जिसके वे स्वामी बने हैं, वह चौबीस घंटे उसको बताता ही रहेगा कि स्वामी असली कौन है, ठीक से समझ लो ! तो पत्नी को चौबीस घंटे सिद्ध करने में लगा रहना पड़ता है कि स्वामी कौन है। पत्र वगैरह में वह लिखती है कि स्वामी, आपकी दासी, लेकिन चौबीस घंटे बताती है कि स्वामी कौन है ! एक संघर्ष अनिवार्य है। जहाँ भी स्वामित्व है, वहाँ अशांति होगी ही। स्वामित्व अशांति की शुरुआत है। जब तक पति स्वामी के पद से नीचे नहीं उतरता, तब तक उसके और पत्नी के बीच कोई मैत्री संभव नहीं है।

लेकिन इसमें, सूत्र में कहा है कि स्वामी सारे जगत का, सबका और शांति-स्वरूप। तो इसका अर्थ ही यह हुआ कि यह स्वामित्व किसी और गुणधर्म का होगा। यह स्वामित्व दावेदार नहीं है। परमात्मा कभी आकर आपसे नहीं कहा है कि मैं स्वामी हूँ सबका। हाँ, अनेक-अनेक लोगों ने जरूर उसके चरणों में जाकर कहा है कि मैं दास हूँ, तुम स्वामी हो। यह वक्तव्य दूसरे की तरफ से आया है। यह वक्तव्य परमात्मा की तरफ से नहीं आया है। परमात्मा की तरफ से स्वामित्व का कोई दावा नहीं है। इसलिए परमात्मा शांत है। अन्यथा परमात्मा की गति वैसी हो जैसी कभी किसी 'पोलिटीशियन' की कभी नहीं हुई है। अगर वह दावा करे कि मैं स्वामी हूँ, इस सारे चराचर का, तो यह सारा चराचर जगत उसको इसका मजा चखा दे ! स्वामी तुम कैसे हो ?

परमात्मा के स्वामित्व की उद्घोषणा नहीं है। इसलिए कोई चिल्लाकर भी कहता रहे कि तुम हो ही नहीं, तो भी उसकी तरफ से कोई उत्तर नहीं आता। क्योंकि उतना उत्तर भी स्वामित्व का दावा हो जाएगा। उतना उत्तर भी स्वामित्व का दावा हो जाएगा। निरुत्तर, परमात्मा मौन है।

उसके स्वामित्व का अनुभव उन्हें होता है जो उसके दास बन जाते हैं। यह दास बन जाना बहुत अलग है ! दास बनाए जाते हैं, दास बनते नही हैं। दुनिया में कोई किसी का दास बनता नहीं है, दास बनाये जाते हैं। और जब दास बनाए जाते हैं, तो कोई मालिक की घोषणा करता है। और तब अशांति स्वाभाविक हो जाती है। लेकिन परमात्मा की खोज में जानेवाला व्यक्ति अपने हाथों दास बन जाता है-- उसका, जो कभी मालिक बनने की बात ही नहीं उठाता।

यह जो दासता है स्वेच्छा से वरण की गयी, यह बहुत मजेदार है। यह मजे-दार दो कारणों से है। एक तो जब कोई स्वेच्छा से, अपने ही संकल्प से परमात्मा

के चरणों का दास हो जाता है, तो वह परमात्मा को ही मालिक नहीं बनाता, वह अपना भी मालिक हो जाता है। क्योंकि अपने ही हाथ से किसीका दास बन जाना बड़ी-से-बड़ी मालकियत है। बड़ी-से-बड़ी शक्ति का सबूत है। क्योंकि चित्त राजी नहीं होता दास बनने को। बिलकुल राजी नहीं होता। प्राण गवाही नहीं देते हैं। सब रग-रग, रोआँ-रोआँ इनकार करेगा। लेकिन कोई आदमी, और ऐसी अवस्था में जबकि परमात्मा आता नहीं कहने कि दास बनो, मिलता नहीं, मालकियत की घोषणा नहीं करता, कोई आदमी अपने ही हाथ जाता है, उसके अज्ञात चरणों में रख देता है सिर और कहता है कि मैं दास हुआ, तुम मेरे स्वामी हो। यह आदमी उसको तो मालिक बना ही रहा है, आदमी यह भी कह रहा है कि मैं अपना मालिक हूँ। अपने मन का, अपने संकल्प का, अपनी वासना का, अपनी आकांक्षा का, अपनी कामना का, अपनी आत्मा का मालिक हूँ। चाहूँ तो यह मालकियत मेरी इतनी बड़ी है कि मैं दास भी बन सकता हूँ। बिना बनाए।

जो बनाए जाने से बनता है, उसकी आत्मा कमजोर होती है। जो बिना बनाए बन जाता है, उसकी आत्मा सबल हो जाती है। अगर मैं आपको किसी तरह गुलाम बना लूँ तो मैं आपकी आत्मा को कमजोर करूँगा। अगर आप बनने को राजी हो गये जबरदस्ती में, तो आपकी आत्मा टूट जाएगी। नष्ट हो जाएगी। ठीक इसके विपरीत अगर आप गुलाम बनने को राजी हो जाएँ, बिना किसी बनानेवाले के, तो आपकी आत्मा बलशाली हो जाएगी।

मुझे खयाल आता है— निरंतर मैं कहता रहता हूँ— डायोजनीज घूमता था एक जंगल में। कुछ लोगों नें उसे पकड़ लिया। यह बहुत अद्भुत आदमी था। यूनान में महावीर के मुकाबले यह अकेला आदमी हुआ, नग्न ही रहता था। बड़ा सुंदर व्यक्तित्व था उसका। बड़ा बलशाली, गरिमावान। कुछ लोग गुलामों के बाजार की तरफ गुलाम बेचने जा रहे थे। इसको जंगल में अकेला देखकर उन्होंने सोचा कि अगर यह फंदे में फँस जाए तो अच्छे दाम मिल सकते हैं। यह बेचा जा सकता है बाजार में। लेकिन हिम्मत, उसको आठ आदमी भी पकड़ पाएँ तो मुश्किल मालूम पड़ता है। बहुत बलशाली है, बहुत गरिमावान है, आत्म-प्रतिष्ठ !

उनको चिंता, मसगुले में पड़े देखकर डायोजनीज ने कहा कि मालूम होता है तुम किसी चिंता में पड़े हो। अक्सर लोग मुझसे पूछने आते हैं। किन्हीं की कोई समस्या होती है तो मैं हल कर देता हूँ। अगर तुम्हारी कोई समस्या हो तो मुझे बताओ। उन्होंने कहा बड़ी मुश्किल हुई ! समस्या कुछ ऐसी है कि कैसे बताएँ ? डायोजनीज ने कहा तुम बेफिक्री से बताओ। तो उन्होंने कहा मामला यह है, हम सोच रहे हैं कि तुम्हें गुलाम कैसे बना लें ? और जंजीरों में बाँधकर तुम्हें हम

बजार में ले जाकर बेचना चाहते हैं। अच्छे दाम मिल जाएँगे।

डायोजनीज ने कहा कि नेक इरादा है, और इसमें अड़चन कुछ भी नहीं है। डायोजनीज उठकर खड़ा हो गया। यह लोग घबड़ाए। यह आदमी खतरनाक मालूम पड़ता है। डायोजनीज ने उनका झोला निकाला, उसमें से जंजीरें निकालीं, हाथ में जंजीरें बाँधीं, जंजीरों की लगाम उनके हाथ में दे दीं और कहा कि रास्ता कौन-सा है, चलो। पर उन्होंने कहा, तुम यह कर क्या रहे हो ? डायोजनीज ने कहा हम अपने मालिक हैं। हम गुलाम भी हो सकते हैं। हम अपने मालिक हैं। कोई हमें इस दुनिया में गुलाम नहीं बना सकता। लेकिन हम चाहें तो बन सकते हैं, कोई हमें रोक नहीं सकता। अब तुम हमें रोक न पाओगे। अब तुम्हें हमें ले चलना ही पड़ेगा। अब हम बाजार में बिकेंगे ही।

बड़े डरते हुए, पहली दफा ऐसा हुआ कि मालिक पीछे चलने लगा और गुलाम आगे चलने लगा। और वह इतनी तेजी से चलता था—बहुत स्वस्थ आदमी था—कि पसीने-पसीने लथपथ हो गये, उसके साथ भागना पड़ा करीब-करीब उन्हें। और कई बार उन्होंने कहा कि डायोजनीज जरा धीरे भी चलो। डायोजनीज ने कहा, हम अपने मालिक हैं, और हम किसीकी सुनते नहीं हैं।

बाजार में पहुँच गये, भीड़ इकट्ठी हो गयी। उन लोगों की इतनी हिम्मत न पड़े किसीसे कहने की कि हम एक गुलाम को पकड़ लाये हैं। बल्कि वह ऐसा मालूम पड़ा कि उसके कुछ सेवक वगैरह हैं। यह क्या मामला है ! डायोजनीज ने कहा, पागलो, घोषणा करो! बाजार उठने के करीब है। साँझ हो गयी है, डायोजनीज तख्ते पर उठकर खड़ा हो गया चढ़कर, जिसपर गुलाम नीलाम किये जा रहे थे, और डायोजनीज ने चिल्लाकर जो बात कही, वही कहने को मैंने यह कहानी कही है।

उसने चिल्लाकर कहा कि गुलामो, सुनो ! एक मालिक आज बाजार में बिकने आया है।

यह जो मालकियत है, यह कुछ, कुछ और ही आयाम है चेतना का। परमात्मा के चरणों में जो अपने हाथ से गुलाम बन जाता है, उसकी मालकियत का हिसाब लगाना मुश्किल है। लेकिन परमात्मा सबका स्वामी और शांतिस्वरूप है। उसके स्वामित्व में कोई अशांति नहीं है, क्योंकि कोई दावा नहीं है।

'समस्त भूतों का मूल कारण और साक्षी है'। सभी भूत उससे निष्पन्न होते हैं, प्रगट होते हैं, उसमें लीन होते हैं। और इन सबके जीवन में जो भी घटित होता है, वह उसका देखनेवाला भी है। वह उसका साक्षी भी है, इसे थोड़ा खयाल में लेना उचित होगा, क्योंकि एक मौलिक धारणा है।

पश्चिम के धर्म कहते हैं कि परमात्मा नियंता है। 'कंट्रोलर' है। पूरब का धर्म कहता है, परमात्मा साक्षी है, 'विटनेस' है। क्योंकि परमात्मा अगर नियंता है तो उसे प्रतिपल अपनी मालकियत की घोषणा करनी पड़ेगी। अगर वह नियंता है तो उसे घड़ी-घड़ी हिसाब रखना पड़ेगा कि तुम क्या कर रहे हो ? यह मत करो। इसलिए हम यहूदी-ईश्वर की भाषा सुनें, हमें बहुत कठोर मालूम पड़ेगी--कि मैं जला दूंगा, मैं आग लगा दूंगा, मैं मिटा डालूंगा। अगर तुमने ऐसा किया तो नर्कों में सड़ाऊंगा। इस तरह की भाषा यहूदी-ईश्वर के मुंह में डाली गयी है। क्योंकि वह नियंता है,। कहता है, तुमने अगर ऐसा किया है, तो मैं उसका बदला तुम्हें यह चुकाऊंगा।

लेकिन ऐसी भाषा भारतीयों ने कभी ईश्वर के मुंह में डालने की कल्पना भी नहीं की है। क्योंकि बेहूदी है। और अगर नियंता मानते हैं, तो फिर इस तरह की भाषा उसके मुंह में रखनी पड़ेगी। अगर नियंता मानते हैं, तो फिर चाहे कितने भद्र शब्दों में रखें, यह भाषा उसके मुंह में रखनी पड़ेगी। फिर वह घड़ी-घड़ी हर चीज में कहेगा-- यह करो और यह मत करो। और जो ऐसा करेगा, उसे यह मिलेगा, और जो ऐसा नहीं करेगा, वह दंड पाएगा। वह चौबीस घंटे, ईश्वर जो है, वह एक पोलिस फौज हो जाएगा। एक नियंत्रक शक्ति हो जाएगी।

जो केवल साक्षी है, वह केवल देखता है कि तुम क्या कर रहे हो। वह इतना भी नहीं कहता कि यह मत करो। वह सिर्फ देखता है। और उसका सिर्फ देखना काफी नहीं है तो कहना क्या है ? कहना भी क्या करेगा ? पर साक्षी उसे कहने का बहुत गहरा कारण है। और वह गहरा कारण साधना से जुड़ा है। अगर आप भी अपने जीवन के नियंता न रहकर साक्षी हो जाएँ, तो आप ईश्वरत्व को उपलब्ध होने शुरू हो जाएँगे।

हम सब अपने जीवन के नियंता हैं। यह बुरा विचार नहीं आना चाहिए, यह अच्छा विचार आना चाहिए; यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए; हम नियंता हैं। हम अपनी छोटी-छोटी दुनिया के ईश्वर हैं। नियंता, ईश्वर।'कंट्रोलर,। सो बड़ा दुख हम पाते हैं। कुछ नियंत्रण तो कर नहीं पाते हैं, सिर्फ पीड़ा पाते हैं। यह नहीं होना चाहिए, यह होना चाहिए--और जो नहीं होना चाहिए वह होकर रहता है। और जो नहीं होना चाहिए वह होता है। रोज-रोज टूटते हैं। और जो नियंता, जो अहंकार है भीतर, यह सिर्फ पीड़ा की एक लंबी कथा हो जाती है।

नहीं, अपनी-अपनी छोटी दुनिया में एक-एक आदमी भी अगर साक्षी हो जाए, वह सिर्फ जाने कि ऐसा हो रहा है, रोके न, बाधा न डाले, अच्छे-बुरे का हिसाब न करे, सिर्फ देखता रहे, अगर बिल्कुल निष्पक्ष हो यह दर्शन, तो बुरा भी गिर जाता

है और भला भी गिर जाता है। इस निरीक्षण के समक्ष न बुरा दिखता है, न भला दिखता है। दोनों गिर जाते हैं। इस निरीक्षण की, साक्षी की क्षमता व्यक्ति में पैदा हो जाए तो ही उसे पता चलता है कि इस विराट विश्व के भीतर परमात्मा किस अवस्था में होगा। वह साक्षी की अवस्था में होगा।

छोटा-छोटा परमात्मा हमारे भीतर है। छोटी-छोटी दुनिया हमारे चारों तरफ है। उसमें हम दो तरह का व्यवहार कर सकते हैं। नियंता का या साक्षी का। ईश्वर को साक्षी कहने से प्रयोजन है कि हम भी अपनी-अपनी छोटी दुनिया में साक्षी हो जाएँ तो हम ईश्वर हो जाते हैं। और एक बार हमें साक्षी का पता चल जाए, तो हमें पता चलता है कि ईश्वर की शक्ति उसके साक्षी होने की शक्ति है।

'अविद्या से दूर जो है, मुनिजन उसका ध्यान करते हैं'। ऐसी ईश्वर की धारणा का जो साक्षी है, नियंता नहीं; जो शुभ-अशुभ दोनों का संतुलन होकर दोनों के अतीत हो गया; जो न अच्छा है, न बुरा, दोनों के पार है; जो द्वैत में नहीं देखता, दो आँखों से नहीं देखता, एक तीसरी आँख से जीता और देखता है, एक अद्वैत की दृष्टि जहाँ एकमात्र अनुभव रह गयी है, ऐसे ईश्वर की धारणा, ऐसे ईश्वर का ध्यान, ऐसे ईश्वर में समाधि मुनिजन करते हैं।

तो अगर ईश्वर की धारणा ही बनानी हो-- बिना धारणा बनाये चल जाए तो बहुत शुभ-- अगर धारणा ही बनानी हो तो फिर बहुत सोचकर बहुत वैज्ञानिक धारणा बनानी चाहिए। और यह, यह जो कहा गया है, बहुत सोचकर, बहुत वैज्ञानिक है। और इससे छलाँग लगाने में कठिनाई नहीं पड़ेगी। क्योंकि साक्षी में छलाँग का सूत्र छिपा हुआ है। जिस चीज के भी हम साक्षी हो जाएँ उससे हमारा तादात्म्य निर्मित नहीं हो पाता। उसके साथ हम एक नहीं हो पाते। उससे हम दूर बने रहते हैं।

अगर यह ईश्वर की धारणा का भी सहारा लें और इसके भी साक्षी बने रहें, तो शीघ्र ही इस धारणा के भी पार उठ जाने में अड़चन न आएगी। सीढ़ी छूट जाएगी और संसार से हम उस दूसरे संसार में छलाँग लगा लेंगे, जिसे ब्रह्म कहें, ईश्वर कहें, मोक्ष कहें, निर्वाण कहें-- जो भी कहना चाहें।

आज के लिए इतना ही।

अब हम ध्यान की तैयारी करें।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्र सोऽक्षर परमः विराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्नि स चन्द्रमाः ॥ ८ ॥
स एव यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ ९ ॥
सर्वं भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम्पश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥ १० ॥

उसी को ब्रह्मा, शिव, इंद्र, अक्षर ब्रह्म, परम विराट, विष्णु, प्राण, काल-अग्नि व चंद्रमा कहते हैं ॥ ८ ॥

वह व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्कर से छूट जाता है, जो इस तत्त्व को समझ लेता है कि जो पहले हो चुका है, अथवा आगे होगा, वह सब वही है । इसको छोड़कर मोक्ष का अन्य कोई रास्ता नहीं है ॥ ९ ॥

वह मनुष्य परमात्मा को पा लेता है, जो आत्मा को समस्त भूतों में और समस्त भूतों को आत्मा में व्याप्त देखता है । इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ १० ॥

आठवाँ प्रवचन; माउंट आबू, २९ मार्च १९७२, प्रातः

सभी नाम इशारे अनाम की ओर

इस परम रहस्य के नाम हैं अनेक; क्योंकि मूलतः, वस्तुतः उसका कोई नाम नहीं है। नाम के संबंध में सबसे पहले थोड़ी बातें समझ लें।

प्यास है मनुष्य के मन में गहरी, प्रार्थना उठती है, लेकिन उस अनाम को पुकारें कैसे ? रोना भी हो उसके चरणों में तो कहाँ उसके चरण खोजें ? प्राणों में गूँज भी उठती हो उसके लिए, किस दिशा में जाए वह गूँज ? पैर दौड़ना भी चाहते हों उसकी ओर, कहाँ है उसका मंदिर ? कोई उसका पता-ठिकाना नहीं, कोई उसकी राह नहीं, कोई उसकी दिशा नहीं। क्योंकि सब दिशाएँ उसकी हैं। और इंच-इंच उसका मंदिर है।

आदमी की बड़ी कठिनाई है। क्योंकि आदमी दिशा में ही चल सकता है, अदिशा में आदमी चलेगा कैसे ? और आदमी राह पर ही चल सकता है। सभी राहें जिसकी हों, या कोई राहें जिसकी न हों, वहाँ चलना उसे असंभव हो जाता है। और आदमी जब भी पुकारेगा तो उसे नाम चाहिए। स्मरण के लिए ही सही, उसे नाम चाहिए।

लेकिन परमात्मा का कोई नाम नहीं है। परमात्मा की तो बात दूर, इस जगत में किसी चीज का भी कोई नाम नहीं है। हम कहते हैं, हम उपयोग करते हैं, वह उपयोग भी जरूरी है। लेकिन उपयोग में खतरा भी है। क्योंकि नाम का इतना उपयोग होता है कि धीरे-धीरे वस्तु जो अनाम थी, वह गौण हो जाती है और नाम महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

एक बच्चा पैदा होता है, कोई नाम लेकर आता नहीं है। कोरा कागज होता है। लेकिन इस विराट जगत में उसके ऊपर कोई नाम चिपकाना ही पड़ेगा, नहीं तो उसे बुलाना ही मुश्किल पड़ेगा। उससे बात करनी असंभव हो जाएगी। एक झूठा नाम उस पर लगा देंगे तो सब आसान हो जाएगा। उसे बुला सकेंगे, बात कर सकेंगे, इंगित-इशारा कर सकेंगे। उससे कुछ कह सकेंगे। संवाद संभव हो जाएगा, संबंध निर्मित होगा। यह बड़े मजे की बात है कि वास्तविक बच्चे से संबंध निर्मित

होना मुश्किल है, लेकिन एक नाम जो कि वास्तविक नहीं है, सब संबंधों का आधार बन जाएगा।

सब नाम आदमी के दिये हुए हैं, वस्तुएँ अनाम हैं। अस्तित्व अनाम है। खतरा शुरू हो गया उपयोगिता के साथ ही। बिना नाम के बच्चे का जीना मुश्किल होगा। और नाम के साथ जीते-जीते धीरे-धीरे यह भूल ही जाएगा वह कि मैं बिना नाम के पैदा हुआ था और बिना नाम के ही मरूँगा। और चाहे कितना ही नाम मेरे ऊपर लिख दिया गया हो, मेरे भीतर नाम का कोई प्रवेश नहीं हो सकता। अनाम ही मैं जियूँगा। दूसरे भला मुझे नाम से पुकारें, कहीं मैं भी इस भ्रांति में न पड़ जाऊँ कि यह नाम ही मैं हूँ। लेकिन सभी इस भ्रांति में पड़ जाते हैं।

फिर आदमी नाम के लिए जीने लगता है, मरने लगता है। लोग कहते हैं, नाम को बचाने के लिए जान दे देंगे। नाम की इज्जत, गैर-इज्जत, प्रतिष्ठा बड़ी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अगर आपका नाम किसीने ठीक से न लिया, तो भी पीड़ा पहुँचती है। अगर नाम में आपके किसीने थोड़ी भूल-चूक कर दी, तो भी कष्ट होता है। नाम काफी गहरे उतर गया मालूम पड़ता है। उपयोगिता तक ठीक था, लेकिन यह तो प्राण बन गया। और जो प्राण था—जो अनाम है—वह भूल जाएगा।

जैसे व्यक्ति के लिए नाम की जरूरत पड़ जाती है, उसके बिना जीवन को चलाना कठिन है, वह एक उपयोगिता है, अनिवार्य उपयोगिता है, वैसे ही जब भी, जब भी उस परम सत्य की खोज में कोई लगता है तो उसे लगता है कि कोई नाम है। इन नामों के भी फायदे हैं, इन नामों के भी खतरे हैं।

इसलिए पहले सूत्र में कैवल्य उपनिषद के ऋषि ने शिव की चर्चा की है, वह उसका प्यारा नाम है। लेकिन तत्काल दूसरे सूत्र में वह कहता है—और सब नाम भी उसीके हैं। यह भ्रांति न हो जाए कि वही एक नाम महत्त्वपूर्ण है। इसलिए ऋषि कहता है उसीको—जिसकी उसने चर्चा की है पहले सूत्र में—ब्रह्मा भी कहा है, शिव भी कहा है, इंद्र भी कहा है, अक्षर ब्रह्म भी कहा है, परम विराट भी कहा है, विष्णु भी कहा है, प्राण भी कहा है, काल-अग्नि भी कहा है, चंद्रमा भी कहा है। यह सभी नाम उसके हैं। और भी हजार नाम हैं। लेकिन इन नामों में जो मौलिक कोटियाँ हो सकती हैं, वह सब संग्रहीत कर ली गयी हैं। जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यह तीन हिंदू-चिंतना की कोटियाँ हैं। फिर हिंदू जितने भी नाम हैं वह उन तीन में से किसी एक से संबंधित होंगे।

तो यह तीन मूल कोटियाँ हैं। और इन तीन मूल कोटियों का कारण है। हिंदू-चिंतन कई अर्थों में बहुत वैज्ञानिक है। मनोवैज्ञानिक है। और उसने जो कुछ भी निर्धारित किया है, वह किसी गहरी जरूरत को सोचकर निर्धारित किया है।

मनुष्य के भीतर भी तीन प्रकार के मन हैं। और मनुष्य भी तीन तरह के मनुष्य हैं। और हम मनुष्यों को बाँटें, तो उसमें तीन तरह के मनुष्य हमें मिलेंगे।

तीन की संख्या हिंदू-चिंतन में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। और पहले तो ऐसा सोचा जाता था कि यह सिर्फ सांकेतिक है, लेकिन विज्ञान जितने गहरे गया वस्तुओं में, उतना ही विज्ञान को लगा कि तीन की इकाई महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ती है। क्योंकि जब अणु का विस्फोट किया तो पता चला कि अणु के जो घटक-अंग हैं, वह तीन हैं। 'इलेक्ट्रॉन', 'न्यूट्रॉन', 'पॉजीट्रॉन'। वह अणु के घटक-अंग हैं। तीन से मिलकर ही इस जगत की मौलिक इकाई निर्मित हुई है। और फिर उसी मौलिक इकाई पर सारा जगत निर्मित है। अगर इस जगत को तोड़ते जाएँ नीचे, तो तीन की संख्या उपलब्ध होती है और तीन के बाद तोड़ें तो कुछ भी उपलब्ध नहीं होता, शून्य हो जाता है। उस शून्य को हमने परम सत्य कहा है। अनाम। उस शून्य से जो पहली इकाई निर्मित होती है तीन की, उसको हमने ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहा है।

और ब्रह्मा, विष्णु महेश कहना और भी अर्थों में गहरा है। यह तीन की संख्या ही की बात नहीं है। 'इलेक्ट्रॉन', पॉजीट्रॉन' और 'न्यूट्रॉन' जिन चीजों की सूचना देते हैं, यह तीन शब्द भी उन्हीं की सूचना देते हैं। इन तीन विद्युतकण में जिनसे जगत का मौलिक आधार बना हुआ है, विज्ञान की दृष्टि में एक तत्त्व विधायक है, एक निषेधक है और एक तटस्थ। एक 'पॉजिटिव' है, एक 'निगेटिव' है, एक 'न्यूट्रल' है। और इन तीन—ब्रह्मा, विष्णु, महेश में भी एक 'पॉजिटिव' है, एक 'निगेटिव' है और एक 'न्यूट्रल' है। इसमें ब्रह्मा 'पॉजिटिव है, विधायक है। ब्रह्मा को हिंदू-चिंतन मानता है कि वह सृष्टि का आधार है। उससे ही सृष्टि निर्मित होती है। वह निर्माता है। विधानतरता है, वह विधायक है। शिव विध्वंसक है। निषेधक है। वह तत्त्व इस सृष्टि को लीन करता है, विलीन करता है, समाप्त करता है—'निगेटिव' है। विष्णु इन दोनों के मध्य में तटस्थ है, वह सम्हालता है। न वह निर्माण करता है, न वह विध्वंस करता है। वह केवल बीचका सहारा है। जितनी भर सृष्टि होती है, वह तटस्थ-भाव से उसे सम्हालता है।

न तो 'न्यूट्रॉन,' 'पॉजीट्रॉन' शब्दों का कोई मूल्य है। क्योंकि वह भी दिये गये नाम हैं। न ब्रह्मा, विष्णु, महेश का कोई मूल्य है। वह भी दिये गये नाम हैं। लेकिन धर्म जब नाम देता है और विज्ञान जब नाम देता है, तो एक फर्क होता है। वह फर्क यह होता है कि विज्ञान जब नाम देता है, तो वह नाम जो होते हैं, अवैयक्तिक होते हैं। और धर्म जब कोई नाम देता है तो वह नाम वैयक्तिक होते हैं, 'पर्सनल' होते हैं। क्योंकि धर्म का प्रयोजन इससे कम होता है कि नाम जिसके संबंध में इशारा कर रहा है उसको बताएँ, इससे ज्यादा होता है कि उस इशारे पर

जो चलेगा, उसका उससे संबंध हो जाए जिसके प्रति इशारा किया गया है। संबंध बनाने के लिए व्यक्ति निर्मित करना पड़ता है।

जैसे 'न्यूट्रॉन' से कोई संबंध निर्मित नहीं हो सकता। आप प्रयोगशाला में उसका उपयोग कर सकते हैं, हिला-डुला सकते हैं, काट-पीट सकते हैं, गतिमान कर सकते हैं, आप उपयोग कर सकते हैं उसका, लेकिन 'न्यूट्रॉन' से आपका कोई संबंध निर्मित नहीं होता। क्योंकि 'न्यूट्रॉन' कोई व्यक्ति नहीं है। लेकिन शिव से आपका संबंध निर्मित हो सकता है, क्योंकि वह व्यक्ति है। धर्म और विज्ञान जो शब्दावली का प्रयोग करते हैं, उसमें यह बुनियादी फर्क है।

विज्ञान के शब्द 'इमपर्सनल' होंगे। अवैयक्तिक होंगे। धर्म के शब्द 'पर्सनल' होंगे, वैयक्तिक होंगे। एक व्यक्ति निर्मित होना चाहिये शब्द से। लेकिन कहीं यह भ्रांति न हो जाए कि यह तीन तीन हैं इसलिए हमने त्रिमूर्ति निर्मित की। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के तीन चेहरे एक ही मूर्ति में बनाए। यह तीन तीन तरह के 'फंक्शन' हैं। लेकिन जिससे यह, जिसका यह काम कर रहे हैं, वह इन तीनों के भीतर एक है। उसका कोई चेहरा नहीं है। यह तीन चेहरे तीन प्रक्रियाओं के हैं। स्वयं अस्तित्व का कोई चेहरा नहीं है। वह 'फेसलेस' है।

इसलिए अगर ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति आपको मिले, तीनों चेहरे अलग कर दें, फिर जो बच जाए वह अस्तित्व का सूचक है। और यह तीनों चेहरे अस्तित्व की तीन अभिव्यक्तियाँ हैं। और विज्ञान स्वीकार करता है कि अस्तित्व निर्मित नहीं हो सकता इन तीन शक्तियों के बिना। विधायक न हो तो अस्तित्व का जन्म नहीं होता। विध्वसंक न हो तो जो चीज जन्म हो जाए वह फिर कभी रूपांतरित नहीं हो सकती। और अगर स्थापक न हो, तो जन्म भी हो जाए तो कोई चीज स्थिति को उपलब्ध नहीं हो सकती। यह तीन तो अनिवार्य हैं किसी भी वस्तु के होने के लिए।

तो धर्म के विज्ञान के यह तीन मौलिक अणु हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। यह तीन उसके नाम हैं। फिर जगत में जितने भी देवी-देवता निर्मित हुए हैं, नाम निर्मित हुए हैं, उन तीन में से किसी एक से संबंधित होंगे। इसलिए हिंदू कहते हैं कि फलाँ अवतार विष्णु का अवतार है। उसका मतलब यह है, वह विष्णु की कोटि में आता है। फलाँ अवतार शिव का अवतार है: तो वह शिव की कोटि में आता है। फलाँ अवतार ब्रह्मा का अवतार है, तो वह ब्रह्मा की कोटि में आता है। लेकिन आप देखें—सभी अवतार विष्णु के हैं। क्योंकि ब्रह्मा का काम निर्माण के साथ समाप्त हो जाता है। अवतरण की कोई जरूरत नहीं है। शिव का काम विध्वंस में पड़ेगा। अवतरण की कोई जरूरत नहीं है। विष्णु ही अवतरित होता चला जाता

है जब तक सृष्टि है।

तो चाहे राम हों, चाहे कृष्ण हों, चाहे कोई भी हो, विष्णु ही अवतरित होता चला जाता है। यह विष्णु के अवतार की जो शृंखला है, कहती है कि स्थापक जो है उसको ही आना पड़ेगा बार-बार। निर्माता एक बार इशारा करेगा, निर्माण हो जाएगा। विध्वंसक एक बार विध्वंस करेगा समाप्त हो जाएगा। लेकिन जो सम्हालेगा पूरे समय, उसे ही बार-बार आना पड़ेगा। इसलिए अवतरण सिर्फ विष्णु का है।

यह तीन हिंदू-दृष्टि से ऋषि ने विचार में ले लिये हैं। लेकिन औरों की भी गणना की है। इंद्र को भी गिना है। इंद्र परम शक्ति का नाम नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की कोटि का नाम नहीं है। लेकिन व्यक्तियों पर अगर हम ध्यान दें, तो इन परम कोटि तक पहुँचनेवाले व्यक्तियों की दृष्टि. . . . ऐसे व्यक्ति खोजना जिनकी इतनी गहराई तक दृष्टि पहुँचती हो कि वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश के प्रति प्रेम से भर जाएँ, कठिन है। क्योंकि इन तीनों का जो उपयोग है, वह अत्यंत वैज्ञानिक है। ब्रह्मा से आप क्या माँग सकते हैं। इनका जो उपयोग है वही अस्तित्व के मूल आधार में है। लेकिन आदमी कमजोर है। बहुत कमजोर है। उसकी कमजोरी इतनी गहन है कि वह इतने मौलिक आधारों तक तो उसका कोई संबंध निर्मित नहीं हो पाएगा।

इसलिए सारे जगत के धर्मों ने ईश्वर की धारणा की और देवताओं की भी धारणा की। देवता की धारणा उनके लिए है जो ईश्वर की धारणा तक न जा सके।

तो तीन हम बातें समझ लें।

तो परम अस्तित्व है निराकार। बुद्ध जैसे लोग उससे संबंधित होते हैं। इसलिए वह ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सबको कह देते हैं बेकार। यह जानकर मजा होगा कि जब बुद्ध को निर्वाण, समाधि उपलब्ध हुई, जब पहली बार वह ज्ञान को उपलब्ध हुए तो बौद्ध-कथाएँ बड़ी मधुर हैं। हिंदुओं को उससे चोट भी बहुत पहुँची। उन सबको चोट पहुँची जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश को परम मानते थे। जब बुद्ध को ज्ञान हुआ तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सभी हाथ जोड़कर बुद्ध के चरणों में सिर रखकर उपस्थित हुए। यह कथा बड़ी मधुर है। यह कथा यह कहती है कि परम अस्तित्व ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी पार है। और जब किसी व्यक्ति को परम अस्तित्व में प्रवेश मिला तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उसे नमस्कार करेंगे ही।

बुद्ध को ज्ञान हो गया, लेकिन बुद्ध चुप रह गये। क्योंकि बुद्ध को लगा, जो मैं कहना चाहता हूँ उसे कहना मुश्किल है और अगर कह भी दूँ तो उसे समझेगा

कौन ? सात दिन तक बुद्ध चुप बैठे रहे। कथा कहती है कि देवताओं में बड़ी हलचल मच गयी। देवताओं में ! आदमियों को तो खबर ही नहीं है। देवताओं में बहुत हलचल मच गयी। वह बड़े उदास होने लगे, क्योंकि बुद्ध जैसी घटना कभी-कभी कल्पों में घटती है। और अगर बुद्ध चुप रह गये तो उनका होना, न-होना इस विराट चेतन जगत के लिए किसी संबंध का न रह जाएगा। पर सात दिन उन्होंने प्रतीक्षा की। क्योंकि बुद्ध उस परम अवस्था में थे जहाँ देवता भी मौजूद हो तो बाधा पड़े। इसलिए वह दूर खड़े हुए सात दिन तक प्रतीक्षा किये कि बुद्ध बोलें, कि बुद्ध बोलें। वे भी आतुर थे कि जानें उस परम अस्तित्व के संबंध में।

यह बहुत मजे की बात है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी आतुर थे कि जानें उस परम घटना के संबंध में, जिसको बुद्ध उपलब्ध हुए। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उसके बाहरी चेहरे हैं। वह जो तीनों चेहरों के भीतर छिपा है, बुद्ध वहाँ प्रवेश कर गये। उनसे पूछें क्या है वहाँ ? सात दिन बुद्ध चुप रहे, तब फिर उन्हें बाधा डालनी पड़ी। तब उन्होंने चरणों में जाकर बुद्ध से निवेदन किया कि आप बोलें। बुद्ध ने कहा जो मैं बोलूँगा, जो मैंने जाना, उसे कहा नहीं जा सकता। अगर कहूँ भी तो उसे समझेगा कौन ? ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह भी न कह सके कि कम-से-कम हम समझ लें। क्योंकि वह भी बाहरी चेहरे हैं अस्तित्व के। अंतरात्मा नहीं, द्वारपाल हैं।

उदास हो गये, रोने लगे, प्रार्थना करने लगे, फिर उस तीनों ने मिलकर विचार किया और बुद्ध को कहा कि हम आपकी बात समझते हैं कि जो आप कहना चाहते हैं, वह नहीं कहा जा सकता। कभी नहीं कहा गया। सदा से हमने सुना है कि वह कहा नहीं जा सकता। और यह भी हम मानते हैं कि आप कहेंगे तो कोई समझ न पाएगा। कोई समझ भी लेगा तो आचरण कठिन है। लेकिन फिर भी हम प्रार्थना करते हैं कि कुछ ऐसे लोग भी हैं जो बिलकुल सीमांत पर खड़े हैं। सीमांत पर खड़े हैं। संसार में ही हैं, लेकिन आखिरी सीमा पर खड़े हैं। और आपका बोलना मात्र कि बुद्ध बोलें—यह नहीं कि क्या बोलें—आपका बोलना मात्र, आपका होना मात्र उनके लिए धक्का हो जाएगा और वह छलाँग लगा देंगे। और अगर आप सौ लोगों से बोलें और एक भी छलाँग लगा गया तो भी बड़ी अनुकंपा है। इसलिए बुद्ध राजी हुए।

इससे हिंदू-मन को चोट पहुँची। जिस हिंदू-मन को चोट पहुँची, वह समझ नहीं पाया। उसे चोट पहुँची कि बुद्ध के सामने देवताओं को, ब्रह्मा, विष्णु, महेश को खड़ा करना, यह कथा अच्छी नहीं है। लेकिन यह कथा बड़ी मूल्यवान है और हिंदू-विचार के अत्यंत अनुकूल है। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश को हमने केवल

एक संसार का निर्माता, सम्हालनेवाला, मिटानेवाला माना है। वह इस संसार के ही हिस्से हैं। 'फंक्शनरीज' हैं। जिस दिन संसार विलीन हो जाता है, वह भी विलीन हो जाते हैं। उनका फिर कोई मूल्य नहीं रह जाता है। तब जो शेष रह जाता है, उसमें ही प्रवेश है समाधि में। लेकिन उस परम तक जाना तो बहुत मुश्किल ! ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक भी जाना बहुत मुश्किल है। आदमी को और भी नीचे की हैसियत के देवता चाहिए, जिनसे उसका संबंध निर्मित हो सके। तो आदमी ने ऐसे देवता निर्मित किये। इंद्र उनका प्रतीक है।

इस सूत्र में इंद्र उन सब देवताओं का प्रतीक है, जो मनुष्य की कामनाओं से निर्मित हुए हैं, मनुष्य की वासनाओं से निर्मित हुए हैं। आदमी माँगता है जिनसे कुछ। इसलिए अगर हम वेद को पढ़ें, तो वेद में सौ में से निन्यानबे सूत्र इंद्र आदि देवताओं के लिए प्रयुक्त हैं। और जितने सूत्रों में इंद्र आदि देवताओं की प्रार्थना की गयी है, वे सब प्रार्थनाएँ मनुष्य के मन की अत्यंत साधारण वासनाएँ हैं। किसीकी गाय ने दूध देना बंद कर दिया है तो वह प्रार्थना करता है—हे इंद्र, मेरी गायों का दूध वापिस लौट आए। किसीके खेत में वर्षा नहीं हुई है, वह प्रार्थना करता है—हे इंद्र, मेरे खेत में वर्षा हो जाए।

इस संबंध में दो-तीन बातें ख्याल लेनी जरूरी हैं—कि हिंदू-चिंतन सब तरह के मनुष्यों को मार्ग मिल सके, इसकी चेष्टा है। अब जिसकी गाय का दूध खो गया है, जिसके खेत में वर्षा नहीं हुई है, जिसकी पत्नी बीमार हो गयी है, जिसका बच्चा अपंग हो गया है, यह परम विराट से क्या प्रार्थना करे ? उस परम विराट के समक्ष तो वाणी चुप हो जाएगी, और प्रार्थना नहीं की जा सकती। यह ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी क्या कहे। क्योंकि इतने छोटे काम उनके काम नहीं हैं। यह पूरे जगत को बनाना, मिटाना, यह उनकी व्यवस्था है। यह कमजोर आदमी कहाँ जाए ? इसके मन को कहाँ संतोष होगा ? यह कहाँ अपने बोझ को रख सकेगा ? वह विराट इतना बड़ा है कि उस पर बोझ रखने का उपाय नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश इतने दूर की क्रियाओं में संलग्न हैं जिससे इन व्यक्ति का कोई लेना-देना नहीं—कि जगत बने, कि जगत मिटे, कि जगत सँभले। यह इसकी कल्पना के भी बाहर है।

इसका अपना छोटा-सा जगत है, जहाँ इसका बच्चा बीमार है, जहाँ घर का छप्पर गिर गया, जहाँ गाय को दूध नहीं आया, यह इसका छोटा-सा जगत है। इस छोटे-से जगत में ब्रह्मा, विष्णु का उपयोग करना ऐसे ही है—जहाँ सुई की जरूरत हो वहाँ तलवार का उपयोग करना। उससे और कपड़ा फट जाएगा। तो इसके लिए और एक कोटि हिंदू-चिंतन ने निर्मित की, जो इंद्रादि देवताओं की है। इसलिए

बुद्ध का या महावीर का वेद के प्रति कोई अच्छा भाव नहीं है। उससे भी हिंदू-मन को बहुत चोट लगी है। उपनिषदों का भी वेद के प्रति बहुत अच्छा भाव नहीं है। कृष्ण का भी वेद के प्रति बहुत अच्छा भाव नहीं है। हो नहीं सकता। वह कारण यह नहीं है कि वेद के प्रति बुरा भाव है, वह कारण कुल इतना है कि वेद निन्यानबे मौकों पर अति साधारण आदमी के जगत की चिंता में संलग्न हैं।

'एक दृष्टि से देखा जाए तो वेद परम ग्रंथ नहीं रह जाते हैं। पर एक दृष्टि से देखा जाए तो परम मानवीय ग्रंथ हो जाते हैं। 'ट्रू ह्यूमन'। और आदमी के निकट परमात्मा को लाना पड़ेगा, तो ही आदमी परमात्मा के निकट जा सकता है। एक तो उपाय है कि आदमी उठे, उठे, उठे और परमात्मा के निकट जाए। ऐसे बहुत कम आदमी हैं जो इतना उठें, इतना उठें और परमात्मा के निकट जाएँ। एक उपाय यह है कि परमात्मा को हम उतारें, उतारें, उतारें और आदमी के निकट लाएँ। तो इंद्र उस उतारने की प्रक्रिया की आखिरी कड़ी है। इसलिए इस सूत्र में इंद्र आदि देवताओं की भी गणना की है।

फिर कुछ और शब्दों का भी प्रयोग किया है। 'अक्षरब्रह्म'। कुछ लोग हैं, विशेषकर दार्शनिक चिंतना के लोग, उनके लिए व्यक्तिवाची सभी शब्द अर्थहीन हैं। जैसा मैंने कहा कि सामान्यतया अगर व्यक्ति न हो परमात्मा, तो हमारा संबंध नहीं बन पाता। ऐसे ही जो दार्शनिक चिंतन के लोग हैं, अगर व्यक्ति हो परमात्मा तो उनका संबंध नहीं बन पाता। व्यक्ति होते ही से उन्हें बेचैनी शुरू हो जाती है। उन्हें निराकार, निर्व्यक्ति चाहिए।

जैसे शंकर हैं। तो ब्रह्म से नीचे की कोई भी बात शंकर के लिए खटकेगी। इसका कारण नीचे की बात नहीं है। इसका कारण शंकर की अपनी ऊँचाई है। शंकर को ब्रह्मा, विष्णु, महेश अपने से भी नीचे मालूम पड़ेंगे। अति मानवीय मालूम पड़ेंगे। तो शंकर के लिए, या शंकर के जैसे व्यक्तित्व के लिए अक्षरब्रह्म--यह एक प्रतीक है। इसके भीतर वे सब नाम आ जाते हैं, चाहे हीगल ने दिये हों, चाहे कांट ने दिये हों, चाहे दुनिया के और किसी कोने के अलग चिंतकों ने दिये हों, 'एब्सोल्यूट' कहा हो, कोई और नाम दिया हो, वे सब नाम अक्षरब्रह्म में समा जाते हैं।

अक्षरब्रह्म का अर्थ है, वह आत्यंतिक ऊर्जा जो कभी क्षय को उपलब्ध नहीं होती। जो सदा बनी रहती है। सब परिवर्तनों के बीच। विनाश, सृजन, सबके बीच जो ऊर्जा बनी ही रहती है--वह अक्षरब्रह्म है। परम विराट है। अक्षरब्रह्म में उस ऊर्जा का तो संकेत है जो सदा बनी रहती है, लेकिन विस्तार का कोई संकेत नहीं है। उसकी विराटता का कोई संकेत नहीं है। कुछ लोग हैं, जिनके लिए परमात्मा

विराट की तरह अवतरित होता है। कुछ लोग हैं, जहाँ भी विराट होता है उन्हें परमात्मा की झलक मिलती है। विराट सागर को देखकर, विराट आकाश को देखकर। जहाँ भी फैलाव है अंतहीन। शाश्वत ऊर्जा में एक तरह का फैलाव है। विराट आकाश में दूसरे तरह का फैलाव है।

दोनों को समझ लें।

शाश्वत ऊर्जा में जो फैलाव है वह समय की धारा का है। जो पहले भी थी, अभी भी है, आगे भी होगी। 'टाइम डायमेन्सन,' काल में फैला हुआ है। आकाश, अभी फैला हुआ है, इसी वक्त फैला हुआ है, सब दिशाओं में। तो आकाश का फैलाव 'स्पेस डायमेन्सन' है। तो कुछ लोग हैं जो काल-फैलाव को अनुभव कर पाते हैं। कुछ लोग हैं जो इसी क्षण जो आकाश का, स्थान का, 'स्पेस' का फैलाव है, उसको अनुभव कर पाते हैं। व्यक्तियों पर निर्भर करेगा। जैसे विचारक आदमी होगा तो काल-फैलाव को अनुभव कर सकेगा। ध्यानी होगा तो अभी, इसी क्षण आकाश के फैलाव को अनुभव कर सकेगा।

तो अक्षरब्रह्म कहा है विचारकों के लिए। वह उनकी कोटि है। फिर जितने विचारकों ने नाम दिये हों, वह उस कोटि के भीतर आते हैं। और परम विराट कहा है ध्यानियों के लिए। क्योंकि ध्यानी के लिए समय मिट जाता है, ध्यानी के लिए समय बचता ही नहीं। 'टाइमलेसनेस' में, कालातीत में प्रवेश हो जाता है। तो इसी क्षण वह विराट की तरह अनुभव होता है।

खयाल ले लें।

आकाश का विराट अभी मौजूद है। एक नदी का विराट पीछे फैला हुआ है, आगे फैला हुआ है। कितनी ही लंबी नदी दो, आगे और पीछे की तरफ फैली हुई है। आकाश अभी, यहीं, सब तरफ फैला हुआ है। ध्यान में विराट, परम विराट का अनुभव होता है। तो ध्यानियों ने जो शब्द चुने हैं, वह परम विराट-जैसे हैं। विचारकों ने जो शब्द चुने हैं, वह अक्षरब्रह्म-जैसे हैं।

लेकिन इतने से ही बात समाप्त नहीं होती। कुछ और धाराएँ भी मनुष्य की चेतना में उतरती हैं। जैसे, प्राण। योगियों ने उसे प्राण की तरह जाना है। योग की जो परमात्मा के लिए शब्दावली है, उसमें महाप्राण, विराट प्राण, प्राण, इस शब्द का प्रयोग है। क्योंकि योगी का जो मार्ग है, वह अपने शरीर के भीतर छिपे हुए प्राण के अनुभव का है। वह अनुभव जब गहन होने लगता है, तो वही प्राण अपने बाहर भी सब तरफ अनुभव होने लगता है। एक घड़ी आती है कि सारा जगत प्राण-ऊर्जा से भर जाता है।

बर्ड्सन ने अभी-अभी इसी सदी में जो शब्द उपयोग किया है, वह है 'इलान

वाइटल'। उसका मतलब है, प्राण। परमात्मा के लिए। योगी प्राण पर ही सारा काम कर रहा है। इसलिए योग की मौलिक प्रक्रिया प्राणायाम है। प्राणायाम का अर्थ है, प्राण का विस्तार। प्राण का फैलाव, प्राण का अंतहीन फैलाव। ऐसी अवस्था ले आनी है जब मेरा प्राण सारे जगत के प्राण में फैल जाए। तब जिसका अनुभव होगा, उसे महाप्राण कहो, प्राण कहो, कोई भी नाम दो। योग को ईश्वर के दूसरे नाम कभी प्रीतिकर नहीं रहे हैं, क्योंकि योग तो एक बड़ी वैज्ञानिक प्रक्रिया है प्राण के संशोधन की।

यह प्राण शब्द एक अर्थ में वैज्ञानिक है। जैसे मैं कहूँ कि हमेशा ऐसा होता है, जिस दिशा से आदमी खोजता है उसी दिशा का शब्द अंततः . . . जैसे कि विज्ञान ने खोज की, खोज की, तो विद्युत-कण, या विद्युत-ऊर्जा आखिरी शक्ति मिली। क्योंकि सारी खोज ही विद्युत की थी। धीरे-धीरे-धीरे-धीरे वह शब्द मौलिक हो गया और जो अंत में पाया गया उसका नाम विद्युत-ऊर्जा हो गया। ठीक इसी तरह योग ने भी शरीर के भीतर छिपी हुई विद्युत की खोज शुरू की। उसका नाम प्राण है। और खोजते-खोजते जितनी गहराई बढ़ी, उतना ही योग को अनुभव हुआ कि सभी कुछ प्राण का ही रूपांतरण है। यह वृक्ष भी प्राण का एक रूप है, पत्थर भी प्राण का एक रूप है, मनुष्य भी प्राण का एक रूप है। इस जगत में जो भी घटित हो रहा है, उसकी मौलिक इकाई प्राण है। एक कोटि यह है, इसलिए 'प्राण' को ऋषि ने जगह दी।

दो शब्द रह जाते हैं। 'काल-अग्नि' और 'चंद्रमा'। 'काल-अग्नि'। यह जानकर आप चकित होंगे कि सिर्फ महावीर ने आत्मा को जो नाम दिया है, वह हैरान करने वाला है। महावीर ने आत्मा को समय कहा, 'टाइम'--सिर्फ एक ही आदमी ने। सिर्फ एक ही आदमी ने, सिर्फ एक जैनों की परंपरा ने विराट को जो नाम दिया है, जीवन के आत्यंतिक को जो नाम दिया है, वह है--समय। इसलिए जैन ध्यान को सामायिक कहते हैं। समय में प्रवेश कर जाना। उनका शब्द बड़ा कीमती है। ध्यान से भी ज्यादा कीमती है। क्योंकि ध्यान में फिर भी कहीं भ्रांति बनी रहती है कि किसीका ध्यान। सामायिक में वह भी बात समाप्त हो गयी, सिर्फ समय में प्रवेश कर जाना ही ध्यान है। स्वयं में प्रवेश कर जाना ही ध्यान है। और स्वयं का नाम समय है।

काल-अग्नि, 'टाइम-फायर'। समय को जिन्होंने आत्मा का नाम माना, उनके मानने के बड़े कारण हैं। इसे हम जरा पीछे लौटकर देखें, तो खयाल में आ जाए। एक पत्थर पड़ा है। पत्थर का विस्तार स्थान में होता है, समय में नहीं होता। पत्थर का जो विस्तार है वह स्थान में है, समय में नहीं है। पत्थर को समय का

कोई भी पता नहीं है।

इसलिए जैन कहते हैं, पत्थर के पास सबसे स्थूल आत्मा है। उसे समय का कोई पता नहीं है। पौधा है। उसका भी विस्तार, फैलाव स्थान में है, लेकिन कहीं-न-कहीं प्राथमिक रूप में उसे समय का भी बोध है। बहुत स्थूल में लेकिन समय का बोध है। पौधा बढ़ता है समय में, बड़ा होता है। सिर्फ जैनों ने यह स्वीकार किया था अतीत में कि पौधे को समय का थोड़ा अनुभव है। हालाँकि सिद्ध करना बहुत मुश्किल था। लेकिन अब विज्ञान ने सिद्ध किया है कि पौधे को समय का अनुभव है। पौधे को उम्र का अपना थोड़ा-सा बोध है। उसे अनुभव है थोड़ा-सा कि वह कितनी देर से इस जगत में है। लेकिन अतीत का है, भविष्य का उसे कोई अनुभव नहीं है।

फिर पशु है। तो पौधे को जैन मानते हैं कि उनके पास थोड़ी विकसित आत्मा है। इसलिए पौधे को भी चोट मारना हिंसा जैनों की दृष्टि में है, और ठीक है। उसको भी दुख पहुँचाना . . . . महावीर ने तो कहा है कि सूख कर फल गिर जाए, तभी उसे खाना शाकाहार है। कच्चे को तोड़ लेना तो मांसाहार है। क्योंकि पौधे को चोट तो पहुँचने ही वाली है। महावीर सिद्ध कर नहीं पाते थे, लेकिन मैंने पीछे आपको कहा कि अब विज्ञान सिद्ध करता है कि पौधे को चोट का अनुभव होता है। हिंसा होती है और बहुत निरीह पर हिंसा है। क्योंकि वह कोई उत्तर नहीं दे सकता, कोई प्रतिकार नहीं कर सकता। बोल भी नहीं सकता कि मैं दुखी हो रहा हूँ।

इसलिए महावीर ने वर्जित कर दिया अपने भिक्षुओं को वर्षा में चलना। उसका कारण यह नहीं था कि वर्षा में भिक्षु को तकलीफ होगी। वर्षा में रास्तों पर पौधे उग आते हैं, घास उग आती है, उनको पीड़ा होगी। इसलिए सूखी जगह पर ही चलना। वर्षा में सूखी जगह उन दिनों खोजनी मुश्किल थी चलने के लिए, तो चलना ही मत। मल-विसर्जन के लिए महावीर ने अपने साधुओं को कहा है कि सूखी जगह में ही मल-विसर्जन करना। घास-पात हो तो मल-विसर्जन मत करना। क्योंकि वहाँ जीवन है। एक बहुत प्राथमिक आत्मा वहाँ है। वहाँ समय का बोध पैदा हो चुका है। इसलिए वहाँ नुकसान मत पहुँचाना, किसीको चोट मत पहुँचाना।

अब यह हैरानी की बात है कि अब जाकर इस सदी में विज्ञान को थोड़ा-सा खयाल आना शुरू हुआ है कि पौधे को भी प्रतीतियाँ होती हैं। महावीर की संवेदनशीलता बड़ी अद्भुत है। कहते हैं मल-विसर्जन भी पौधा हो, घास-पात हो तो मत करना। इतना भी चोट उसे मत पहुँचाना। इतना भी दुख उसे मत देना

स्मरण रखना कि वहाँ भी व्यक्तित्व है।

फिर पशु हैं, महावीर कहते हैं उनके पास और भी विकसित समय है। उनको समय का और भी बोध होता है। वह थोड़ा-सा भविष्य का भी स्मरण रख लेते हैं। थोड़ा-सा! जैसे पशु कल का भोजन भी इकट्ठा कर लेता है। पौधा नहीं करता। पौधा नहीं कर सकता। कल का उसे कोई पता ही नहीं है। पक्षी हैं, वर्षा का इंतजाम कर लेते हैं। उसका मतलब है कि उन्हें आनेवाले समय का कहीं-न-कहीं कोई स्थूल बोध है कि कल मुसीबत हो सकती है। चीटियाँ भोजन इकट्ठा करती हैं वर्षा के लिए। बड़ी मेहनत उठाती हैं। अपनी-अपनी. . . . जो-जो ला सकती हैं, लाकर इकट्ठा कर लेती हैं, क्योंकि वर्षा में जाना बाहर मुश्किल होगा। उसका मतलब है कि 'फ्यूचर ओरिएंटेशन', भविष्य का थोड़ा-सा खयाल है। तो महावीर कहते हैं, पशुओं में और भी बड़ा समय है। महावीर कहते हैं यह समय ही उनके भीतर आत्मा के विकास की खबर दे रहा है।

और आदमी के भीतर समय का बड़ा विस्तार है। कोई पशु अपनी मौत के बाबत नहीं सोच पाता। वह बहुत लंबा भविष्य है। कोई पशु! इसलिए पशु मौत से बहुत निश्चिंत है। उनको मौत का कोई अनुभव नहीं है। खयाल भी नहीं है। वह पहले से मौत के संबंध में कोई चिंतन-मनन नहीं कर सकते। इस लिहाज से एक तरह सुखी हैं। क्योंकि मौत उन्हें पीड़ा नहीं देती है, जब आती है तब आ जाती है। लेकिन मौत के पहले उनके मन में कोई मौत का चिंतन नहीं चलता। इसलिए पशु धर्म को पैदा नहीं कर पाते हैं, क्योंकि धर्म पैदा ही तब होता है जब मौत भी आपके समय के चिंतन का अंग बन जाती है।

तो महावीर कहते हैं मनुष्य श्रेष्ठतम है आत्माओं में, क्योंकि उसे मौत का बोध है। लेकिन मनुष्यों में भी वे श्रेष्ठतम हैं जिन्हें मौत के बाद के भी जन्मों का बोध है। क्योंकि उनका समय और भी विस्तीर्ण हो गया। और उनमें भी वे और श्रेष्ठतम हैं जिन्हें समस्त जन्मों और मौतों के पार परम अस्तित्व का बोध है। क्योंकि उनका समय आत्यंतिक रूप से विकसित हो गया है। जिन्हें आवागमन के पार जाने का भी बोध है, वह भी उनकी चिंता है, वह फिर श्रेष्ठतम आत्माएँ हो गयीं।

तो महावीर ने समय के आधार पर ही सारी आत्माओं का विभाजन किया है। और तब उन्होंने आत्मा को नाम ही समय का दिया, कि आत्मा को कोई अलग नाम देने की जरूरत नहीं है। आत्मा अर्थात् समय-बोध, 'टाइम कॉन्ससनेस'।

तो ऋषि ने काल-अग्नि—वह जो समय की अग्नि है, वह जो जीवंत

आग है समय की, किन्हीं-किन्हीं ने परम शक्ति को वह भी नाम दिया है—उसकी भी गणना कर ली है।

और अंतिम, 'चंद्रमा'। चंद्रमा और भी हैरान करता है। क्योंकि जिस चंद्रमा को हम जानते हैं, उस चंद्रमा से इस चंद्रमा का कोई भी संबंध नहीं है। इसलिए लोग मुझसे आकर पूछते हैं कि अब तो वैज्ञानिक चंद्रमा पर उतर गये, हमारे शास्त्रों में कहे हुए चंद्रमा का क्या होगा? उससे कोई संबंध ही नहीं है। उससे संबंध हो तो आप मुसीबत में पड़ें। उससे संबंध है ही नहीं। चंद्रमा एक अन्य साधकों की कोटि का प्रतीक है।

तांत्रिकों ने मनुष्य की नाड़ियों का गहन शोधन किया है। जैसे योग ने मनुष्य के प्राण-ऊर्जा का शोधन किया है, वैसे तांत्रिकों ने मनुष्य की अंतर्नाड़ियों का गहन शोधन किया है। और उन नाड़ियों को उन्होंने दो हिस्सों में बाँटा है। एक, जो सूर्य कहते हैं वह, और एक को चंद्र। सूर्य उन नाड़ियों को कहते हैं, जो उत्तेजक हैं, आग्नेय हैं, गर्म हैं। इसलिए सूर्य कहते हैं। चंद्र उन नाड़ियों को कहते हैं जो शांत हैं, शीतल हैं, मौन हैं। और तंत्र की दृष्टि है कि चंद्र और सूर्य नाड़ियों के ही मेल से व्यक्तित्व निर्मित है। और चंद्र और सूर्य के ही मेल से अस्तित्व निर्मित है। और इन दोनों का संतुलन ही साधना है।

इसे हम यूँ समझें। सूर्य जीवन का आधार है। जीवेषणा का। ऊर्जा, दौड़, वासना, सब सूर्य हैं। इसलिए सूर्य के ऊगते ही जगत वासनाग्रस्त हो जाता है। सूर्य के ऊगते ही सारे जगत में जीवन की लहर दौड़ जाती है। पक्षी जाग जाते हैं, मनुष्य उठ आता है, जीवन की खोज शुरू हो जाती है। सूर्य के ढलते ही जीवन ढल जाता है। अँधेरा हो जाता है, रात हो जाती है। लोग वापिस गिर जाते हैं तंद्रा में।

लेकिन रातें दो तरह की होती हैं। एक अँधेरी रातें हैं, एक उजाली रातें हैं। अँधेरी रात का नाम है मूर्छा, उजाली रात का नाम समाधि। रात में तो सभी गिरते हैं। वे भी जो दिन-भर के थक गये, जीवन भर में थक गये, थक कर गिर गये, वे भी निद्रा में गिर जाते हैं। फिर सुबह होगी, फिर सूरज निकलेगा। लेकिन एक वह भी हैं जो सूरज की इस दौड़ से सिर्फ थक ही नहीं गये और मूर्छा में ही नहीं गिर गये, बल्कि सूरज की दौड़ की व्यर्थता को भी जान गये और शांत होने की, शीतल होने की, चंद्र के साथ एक होने की दिशा में संलग्न हो गये।

तो स्वयं के भीतर जो नाड़ियाँ चंद्र की तरफ ले जाती हैं, शांति की तरफ ले जाती हैं, उन सब समूह, उस अनुभव-समूह का नाम चंद्रमा है। तो इस चंद्रमा को जो उपलब्ध हो जाता है, तंत्र की भाषा में वह परम विराट को उपलब्ध हो जाता है। ऐसी अवस्था पानी है जहाँ जीवन तो हो, लेकिन इतना शांत जैसे मृत्यु। जीवन

हो, लेकिन इतना शांत जैसे मृत्यु। जिस दिन जीवन और मृत्यु का यह मेल हो जाता है, उस घड़ी का नाम चंद्रमा है। यह सब प्रतीक शब्द हैं।

'उसीको ब्रह्मा, शिव, इंद्र, अक्षर ब्रह्म, परम विराट, विष्णु, प्राण, काल-अग्नि और चंद्रमा कहते हैं।'

'वह व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्कर से छूट जाता है, जो इस तत्त्व को समझ लेता है'। इस तत्त्व को, यह अनेक नामों वाले तत्त्व को समझ लेता है। यह विराट अनाम है, ऐसा समझ लेता है। ऐसा समझ लेता है कि सभी नाम उसके हैं। नामों से भी नहीं बँधता है जो, वही छूट पाता है। अगर नामों से भी बँध जाता है, तो नया संसार निर्मित हो जाता है।

'जो ऐसा समझ लेता है कि जो पहले हो चुका है, अथवा आगे होगा, वह सब वही है'। जो पहले हुआ है, जो हो रहा है, जो होगा, सब नाम उसके हैं। सब रूप जो हुए, हो रहे हैं, होंगे, वे भी उसके हैं। सब घटनाएँ जो घटी हैं, घट रही हैं, घटेंगी, वे भी उसकी हैं। जो समस्त अनुभवों से उसीको ही स्मरण करने लगता है, जो समस्त दिशाओं से उसीको देखने लगता है, जो सब इशारों को उसीकी तरफ झुका देता है, कोई इशारा कहीं और नहीं जाता। 'इसको छोड़कर मोक्ष का और कोई रास्ता नहीं है'। ऐसा अनुभव होने लगे कि सभी रास्ते उसकी तरफ जाते हैं, सभी दिशाएँ उसकी हैं, सभी नाम उसके हैं, सभी स्वर उसके हैं, सभी कुछ उसका। ऐसी प्रतीति की सघनता के अतिरिक्त मोक्ष का और कोई उपाय नहीं है।

इसे थोड़ा समझ लें।

इसका मतलब यह हुआ कि आपका मोक्ष नहीं हो सकता। जब तक आप हैं तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। जब आप बिल्कुल शून्य हो जाते हैं, तब मोक्ष होता है। जब सभी कुछ उसका हो जाता है और आपका कुछ भी नहीं रह जाता, तभी मोक्ष होता है। इसलिए आमतौर से जब हम भाषा में कहते हैं तो हमारे मन में होता है––मेरा मोक्ष। मेरा मोक्ष कैसे हो जाए, मेरी मुक्ति कैसे हो जाए ? मेरा निर्वाण कैसे हो जाए ?

गलत है बिलकुल ! क्योंकि मेरे से ही तो मुक्त होना है। यह मुझ का ही तो निर्वाण होना है। यह मुझ को ही तो मिटना है। इस मुझ को ही तो खोना है। इसका कोई मोक्ष नहीं हो सकता। यह वैसे ही भ्रांत है जैसे किसी आदमी को बीमारी हो और वह कहे कि मेरी बीमारी स्वस्थ कैसे हो जाए। बीमारी को कहीं स्वस्थ होना है ! बीमारी को नहीं होना है, ताकि स्वास्थ्य हो जाए। मुझे नहीं होना है, ताकि मोक्ष हो जाए। मेरा मोक्ष ––ऐसी कोई चीज नहीं होती। मोक्ष होता है, वहाँ मैं नहीं होता है। मैं होता हूँ, वहाँ मोक्ष नहीं होता है। मोक्ष

का मतलब है, परम स्वतंत्रता। सब चीजों से स्वतंत्रता हो जाए, लेकिन मेरा भी बना रहे, तो यह भी बंधन है।

तो ऋषि कहता है, इसको छोड़कर मोक्ष का और कोई उपाय नहीं है कि सभी कुछ उसका हो जाए। सभी कुछ ! सुख भी उसका, दुख भी उसका। सफलता उसकी, असफलता उसकी। हार उसकी, जीत उसकी। जन्म उसका, मृत्यु उसकी। सभी कुछ उसका हो जाए अशेष भाव से, कुछ भी शेष न बचे मेरे पास जिसे कह सकूँ मेरा। जब तक मैं कह सकता हूँ कुछ भी मेरा, तब तक मैं बंधन में जियूँगा। क्योंकि आत्यंतिक अर्थों में 'मेरा' ही मेरा बंधन है।

'वह मनुष्य परमात्मा को पा लेता है जो आत्मा को समस्त भूतों में और समस्त भूतों को आत्मा में व्याप्त पाता है––व्याप्त देखता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है'।

'वह मनुष्य परमात्मा को पा लेता है, जो आत्मा को समस्त भूतों में, समस्त भूतों को आत्मा में व्याप्त देखता है'। इसका अर्थ हुआ जो सीमाएँ तोड़ देता है। इसका अर्थ हुआ, जो सीमांत हटा लेता है। यह वृक्ष उसे ऐसा नहीं दिखायी पड़ता कि––'तू'। यह शरीर उसे ऐसा नहीं दिखायी पड़ता कि ––'मैं'। उसका 'मैं' वृक्ष में प्रवेश कर जाता है, वृक्ष का 'तू' उसमें प्रवेश कर जाता है। इस जगत में 'मैं'-'तू' की कोई सीमा-रेखा नहीं रह जाती। 'मैं'-'तू' की सीमा-रेखा का अर्थ है कि मैं अपने को पृथक माने चला जा रहा हूँ।

एक बहुत बड़े जिविश विचारक मार्टन ने एक किताब लिखी है––'आइ एंड दाऊ'। मैं और तुम। मार्टन यहूदी चिंतक हैं। कीमती चिंतक हैं इस सदी के। दो-चार बड़े चिंतकों में इस सदी में वह एक आदमी हैं। लेकिन यहूदी-चिंतन मैं और तू के पार नहीं जा पाता। बड़ी गहन खोज की है उन्होंने मैं और तू के संबंधों की। कहते हैं कि जीवन का जो भी श्रेष्ठतम अनुभव है, वह मैं और तू की आत्यंतिक संबंध-स्थिति में निर्मित होता है।

यहूदी-चिंतन की धारणा ऐसी है कि कोई व्यक्ति अकेला विकसित नहीं हो सकता। यह सही है एक अर्थ में। अकेला व्यक्ति हो ही नहीं सकता और होगा तो बहुत दीन-दरिद्र होगा। यह थोड़ा समझने जैसा है। क्योंकि पूरब में हम सबने इससे विपरीत सोचा है। हम सबने ऐसा सोचा है कि आदमी जितना एकांत में चला जाए, अकेले में चला जाए, बिलकुल अकेला हो जाए, उतना विकसित होगा। यहूदी-चिंतन दूसरी तरफ से सोचता है। वह कहता है कि जितना अकेले में चला जाएगा उतना दीन-हीन हो जाएगा। क्योंकि संबंधों के बिना 'ग्रोथ' कहाँ है ? संबंधों के बिना विकास कहाँ है ?

तो जितने गहन संबंध होंगे, व्यक्ति उतना विकसित होगा। और संबंधों की जो आत्यंतिक गहनता है, वह मैं और तू की निकटता है। किसीको जब हम तू कह पाते हैं, तो उसके माध्यम से हम भी एक ऊँचाई पर पहुँच जाते हैं। किसीको जब हम प्यार से पुकार पाते हैं, तो उस पुकार में ही हम बदल भी जाते हैं। तो ठीक है, यह आयाम कीमती है। और खासकर दो तरह के जगत में लोग हैं। और इसीलिए पूरब और पश्चिम दो तरह के लोगों के प्रतीक बन गये।

जुंग ने दो तरह के व्यक्तित्व माने हैं और ठीक माने हैं। एक है 'इंट्रॉवर्ट', अंतर्मुखी। और एक है 'एक्स्ट्रॉवर्ट', बहिर्मुखी। जो 'इंट्रॉवर्ट' है, अंतर्मुखी है, वह एकांत में ही विकसित होता है। उसको जितना अकेलापन मिल जाए, उतना ही वह विकसित होता है। दूसरे की मौजूदगी उसे नुकसान पहुँचाती है। जब भी वह भीड़ से वापिस लौटता है, तो उसे लगता है कुछ खोकर लौटा। जब भी किसीसे मिलता है तो उसे लगता है, कुछ नीचे उतरना पड़ा। जब भी किसीसे बात करता है तो उसे लगता है, कुछ विघ्न हुआ। जब वह मौन में होता है, एकांत में होता है, कोई नहीं होता, अकेला होता है, तब उसे लगता है, उसकी आत्मा आकाश की तरफ उड़ रही है। यह अंतर्मुखी है। पूरब इस अंतर्मुखता का प्रतीक है।

इसलिए पूरब में जो भी धर्म पैदा हुए, उन सबने जोर दिया है--एकांत अकेलापन, संन्यास, संबंध से छुटकारा, मुक्ति। पश्चिम में जितने धर्मों ने फैलाव किया— और वह सभी धर्म यहूदी-धर्म से पैदा हुए हैं, भारत के बाहर। भारत के भीतर जितने धर्म पैदा हुए हैं, उनका मूल-आधार हिंदू है; भारत के बाहर जितने धर्म पैदा हुए, उनका मूल-आधार यहूदी है।

दुनिया में हिंदू और यहूदी ही मौलिक धर्म हैं। बाकी सब धर्म शाखाएँ हैं। हिंदू अंतर्मुखी है। और यहूदी बहिर्मुखी है। इसलिए हिंदू यहूदी को बिलकुल नहीं समझ सकता। यहूदी हिंदू को बिलकुल नहीं समझ सकता। इन दोनों के बीच मेल बड़ा मुश्किल है। बड़ा मुश्किल इसलिए है कि 'टाइप' अलग है। यहूदी कहता है कि अकेला! अकेले में तो आदमी मर जाएगा। क्षीण हो जाएगा। सब विकास संबंध का है। जितनी समृद्धि होगी संबंधों की, आदमी की चेतना उतनी विकसित होगी। इसलिए यहूदी फकीर बिना पत्नी के नहीं होगा। यहूदी फकीर बिना बच्चों के नहीं होगा। यहूदी फकीर समाज का हिस्सा और अंग होगा। भागेगा नहीं। वह सोच ही नहीं सकता। बल्कि यहूदी फकीर के संबंध दूसरों के संबंधों से ज्यादा होंगे। क्योंकि उसका मतलब ही यह है कि वह ज्यादा संबंधों में ज्यादा बढ़ेगा। ज्यादा विकसित होगा। 'इंटररिलेशनशिप', 'रिलेटेडनेस', जुड़ना दूसरे से बढ़ने का उपाय है।

इसको आत्यंतिक रूप से यहूदी-चिंतन कहता है कि आखिर में व्यक्ति 'मैं' रह जाएगा और विराट 'तू' हो जाएगा। सारा जगत 'तू' हो जाएगा और व्यक्ति 'मैं' रह जाएगा। तब जो मिलन होगा, उसमें व्यक्ति की आत्मा पूर्ण विकास को उपलब्ध होगी। लेकिन यहूदी-चिंतन इसके पार नहीं जाता।

यह सूत्र इसके पार जाता है।

यह सूत्र कहता है कि जब तक तू तू जैसा स्पष्ट है और मैं मैं जैसा स्पष्ट हूँ, तब तक कितना ही गहन संबंध हो जाए, अंतिम नहीं है। दूरी बनी ही है। फासला कायम है। तो मैं किसीको कितना ही प्रेम करूँ और जब तक वह मुझे 'तू' मालूम पड़ रहा, और मैं 'मैं' मालूम पड़ रहा हूँ, हम कितने ही निकट आ जाएँ, दूरी कायम रहेगी। यह 'तू' और 'मैं' के बीच जरा-सी दूरी है, पर दूरी है। और एक मजा है दूरी का कि जितनी कम हो, उतनी ज्यादा अखरती है। जितनी कम हो उतनी ज्यादा अखरती है। उतनी चुभती है। जितनी ज्यादा हो, पता ही नहीं चलता है। पता चलता ही है दूरी का तब, जब बहुत कम बचती है। और तब बहुत पीड़ा देती है।

इसलिए प्रेमी जिस पीड़ा में पड़ते हैं उसका आत्यंतिक कारण है, दूरी का इतना कम हो जाना और मिटना नहीं। मिटती है नहीं और इतनी कम हो जाती है कि आशा भी बँधती है कि मिट जाएगी। और मिटती है नहीं। और हर बार इतने करीब होने से टकराहट शुरू हो जाती है, और दूरी मिटती नहीं। और दूरी का, दूरी का बोध भी साफ होने लगता है। जितनी दूरी कम होती है, एक अर्थ में उतनी ज्यादा हो जाती है। क्योंकि उतनी अखरती है, चुभती है, और मन होता है कि अब तो टूट सकती थी, अब तो बिलकुल किनारा करीब था, अब तो हम हाथ बढ़ाते और टूट जाता। और हाथ बढ़ाते हैं और हाथ मिल नहीं पाते हैं। दूरी कायम ही रह जाती है। तो अगर परमात्मा के हम इतने भी निकट पहुँच जाएँ, कि ठीक प्रेमी की तरह 'मैं' और 'तू' की भाषा हो सके, तो भी दूरी रह जाती है।

यह उपनिषद का ऋषि कहता है, जब तक आत्मा सर्वभूतों में, सबमें न दिखायी पड़ने लगे और जब तक सर्वभूत स्वयं में न दिखायी पड़ने लगें; और जब तक 'तू' 'मैं-जैसा' न हो जाए, और जब तक 'मैं' 'तू-जैसा' न हो जाए तब तक, तब तक दूरी कायम रहेगी। यह आखिरी छलाँग है। जिसमें प्रेमी प्रेयसी हो जाता है, प्रेयसी प्रेमी हो जाती है। यह आखिरी छलाँग है, जिसमें भक्त भगवान हो जाता है, भगवान भक्त हो जाता है। यह आखिरी छलाँग है, जब पता नहीं चलता कि कौन कौन है। कौन कौन है, यह पता नहीं चलता।

ऋषि कहता है, वह मनुष्य परमात्मा को पा लेता है जो आत्मा को समस्त

भूतों में और समस्त भूतों को आत्मा में व्याप्त देखता है। इसके अतिरिक्त दूसरा और कोई उपाय नहीं है। यह आखिरी बात है जहाँ तक समझ सोच सकती है, विचार सकती है। जहाँ तक हम थोड़ी अपनी चेतना को दौड़ा सकते हैं, खयाल में ले सकते हैं। इसके बाद खयाल का जगत समाप्त हो जाता है, और विचार का कोई उपाय नहीं रह जाता।

इतना ही।

अब हम ध्यान की तैयारी करें।

आत्मानं अरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणीम् ।
ज्ञान निर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः ॥ ११ ॥

ज्ञानी लोग अंतःकरण को नीचे की अरणि बनाते हैं और प्रणव को ऊपर की, और इन दोनों से ज्ञान के मंथन का अभ्यास करते हैं। इससे जो ज्ञानाग्नि उत्पन्न होती है, उसमें अपने समस्त दोषों को जलाकर संसार-बंधन से छूट जाते हैं ॥ ११ ॥

नौवाँ प्रवचन; माउंट आबू, २९ मार्च १९७२, रात्रि
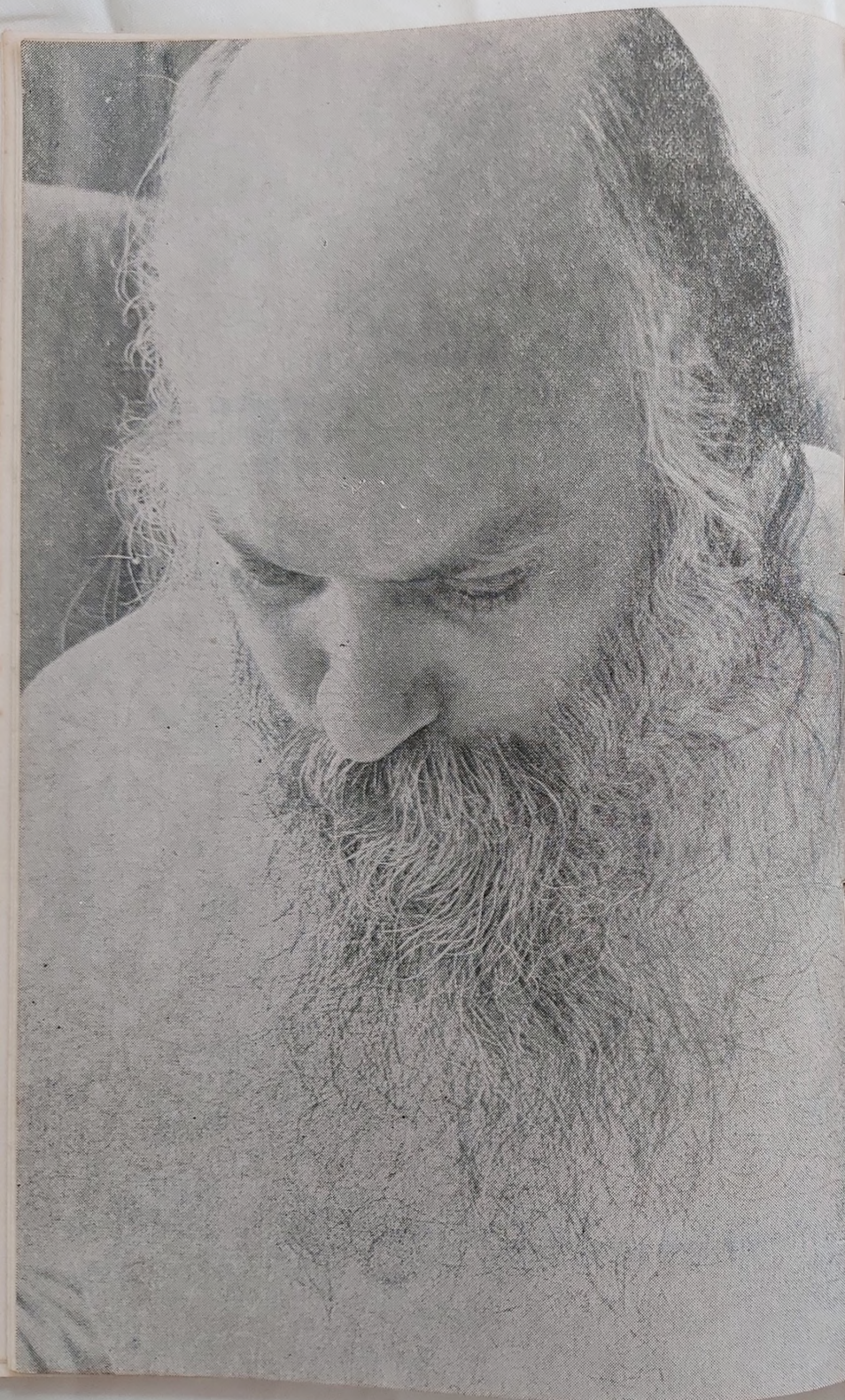
धर्म अंतःकरण की तलाश है

सूत्र में प्रवेश के पहले सूत्र के कुछ आधारभूत शब्दों को समझ लें। पहला आधारभूत शब्द इस सूत्र में हैं—— अंतःकरण। अंतःकरण के साथ थोड़ी कठिनाई है। क्योंकि जिसे हम अंतःकरण कहते हैं, वह अंतःकरण नहीं है। और जो अंतःकरण है, उसका साधारणतः हमें कभी पता ही नहीं चलता।

हम किसे अंतःकरण कहते हैं?

एक आदमी चोरी को जाता है। कदम उठाता है चोरी के लिए, भीतर कोई कहता है चोरी मत करो, चोरी पाप है। एक आदमी मांस खाने जाता है, भीतर कोई कहता है मांस मत खाओ, मांस खाना बुरा है। कोई शराबघर में जाता है, भीतर कोई कहता है शराब मत पिओ। इस आवाज को हम अंतःकरण कहते हैं, 'कांसियंस' कहते हैं। पर यह अंतःकरण नहीं है। यह तो समाज की आवाज है हमारे भीतर, हमारी अपनी आवाज नहीं। यह हमारी आत्मा की आवाज़ नहीं है। यह तो समाज की सिखावन है। यह तो समाज की शिक्षा है। तो यदि गैर-मांसाहारी घर में आप हुए हैं, शाकाहारी घर में पैदा हुए हैं, और बचपन से ही सुना है कि मांसाहार पाप है, मांसाहार बुरा है, तो ही मांसाहार करते समय आपका अंतःकरण कहेगा—— बुरा है, पाप है, मत करो। यह आपकी आवाज नहीं है, क्योंकि मांसाहारी के घर में जो बड़ा होता है, उसमें यह आवाज सुनायी नहीं पड़ती।

अगर इसे हम अंतःकरण कहें तो हमें मानना पड़ेगा कि दुनिया में कई तरह के अंतःकरण हैं। तब तो हमें मानना पड़ेगा कि परमात्मा की जो आंतरिक आवाज है, वह भी बहुत तरह से बोलती है। किसीको कहती है कि मांसाहार करो, किसीको कहती है मांसाहार मत करो।

समाज के नियम की भिन्नता के कारण यह भिन्नता है, यह अंतःकरण की आवाज नहीं। जिस दिन अंतःकरण की आवाज सुनायी पड़ती है और अंतःकरण उपलब्ध हो जाता है, उस दिन जगत के कोने-कोने में वह आवाज एक ही है। वह

दो आवाजें नहीं होतीं। हिंदू का अंतःकरण और, मुसलमान का अंतःकरण और; ईसाई और जैन का अंतःकरण, ऐसे कोई अंतःकरण नहीं होते। लेकिन जिसे हम अंतःकरण कहते हैं, वह हिंदू का अलग होता है, जैन का अलग होता है, बौद्ध का अलग होता है। हिंदू में भी ब्राह्मण का अलग होता है, क्षत्रिय का अलग होता है, शूद्र का अलग होता है।

समाज ने बड़ी होशियारी की है। इसके पहले कि हमें पता चले कि हमारी भीतर की आवाज क्या है, समाज एक आवाज को भीतर बिठा देता है, और हमें समझा देता है कि यही हमारे भीतर की आवाज है। समाज की मजबूरी है। समाज को करने का कारण है। तो समाज को दोष देना व्यर्थ है, क्योंकि समाज की अपनी मुसीबत है। वह जो भीतर का अंतःकरण है, वह सभी लोग खोज ही नहीं पाते और अगर समाज कोई भी अंतःकरण पैदा न करे, तो आदमी पशु-जैसा हो जाएगा। तो समाज आप पर छोड़ नहीं सकता कि जब आप खोजेंगे अंतःकरण, तब तक आपको छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि भय है इस बात का कि आप बिलकुल पशु-जैसे न हो जाएँ। खोजना तो दूर रहा, कहीं ऐसा न हो कि समय बीत जाए तो फिर समाज भी आपको अंतःकरण देने में असमर्थ हो जाए।

इसलिए जिन-जिन समाजों में धर्म का प्रभाव शिथिल हुआ है, जिन-जिन समाजों में पारिवारिक-शिक्षण कम हुआ है, जिन-जिन समाजों में शिक्षा का काम निरपेक्ष सरकारों ने ले लिया है, वहाँ असली अंतःकरण की आवाज तो पैदा ही नहीं होती, नकली अंतःकरण की आवाज भी समाप्त हो जाती है। और आदमी करीब-करीब मनुष्य से नीचे के तल की स्वच्छंदता में जीना शुरू कर देता है। समाज की मजबूरी है। आप पर भरोसा नहीं किया जा सकता। इसलिए समाज इसके पहले कि आप अपने अंतःकरण को खोजें, एक 'सब्स्टीटयूट कांसियंस', एक परिपूरक अंतःकरण आपके भीतर निर्मित करता है।

तो हर समाज अलग करेगा, क्योंकि हर समाज की समझ, मान्यता, परंपरा, संस्कृति भिन्न है। एक समाज सोच भी नहीं सकता कि चचेरी बहन से शादी हो सकती है। सोच ही नहीं सकता। लेकिन दूसरा समाज सुविधापूर्ण रूप से कर सकता है। न केवल सुविधापूर्ण रूप से, बल्कि जब तक चचेरी बहन मिले तब तक किसी और से शादी करना व्यर्थ ही माने। अड़चन जरा-भी नहीं है। समाज की मान्यता के ऊपर निर्भर है। और समाज की मान्यता हजारों साल के विशेष भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक परंपरा का हिस्सा है।

ऐसे लोग हैं— हिंदुस्तान में ऐसे लोग हैं, राजस्थान में ऐसे लोग हैं—जिनमें यह परंपरा रही है कि जब तक लड़का चोरी करने में कुशल न हो, उसका विवाह

न हो सके। लड़कीवाला पूछेगा कि लड़के ने कितनी चोरियाँ कीं, कितने डाके डाले? कभी जेल गया है या नहीं? अगर लड़के ने चोरी ही नहीं की, डाका ही नहीं डाला, जेल भी नहीं गया, तो ऐसे निकम्मे लड़के के साथ शादी कौन करेगा!

चोरों के समाज हैं। तो वहाँ चोरी नियम है। वहाँ चोरी में कुशलता योग्यता है। पख्तून हैं, पाकिस्तान की सीमा पर . . . . मेरे एक मित्र पख्तूनिस्तान की यात्रा पर थे। उन्होंने लौटकर मुझे कहा कि जब हम यात्रा पर भीतर प्रवेश किये पख्तूनों के इलाकों में, तो हमें कहा गया कि साँझ के बाद कभी भी जीप में मत चलना, क्योंकि पख्तून लड़के अक्सर ही ड्राइवरों को निशाना बना लेते हैं। उन्होंने कहा लेकिन हमारा किसीसे झगडा नहीं, कोई निशाना क्यों बनाएगा? उन्होंने कहा झगड़े का सवाल नहीं है, निशाना सीखने के लिए; जवान लड़के हैं, निशाना सीख रहे हैं, तो एक ड्राइवर जा रहा है, गाड़ी जा रही है, वे गोली मार देंगे। अगर आप चिड़िया को निशाना बनाकर सीखने के लिए मार सकते हैं, तो हर्ज क्या है; आदमी को भी निशाना बनाया जा सकता है, सीखने के लिए। और फिर जब अंत में आदमियों को ही मारना है, तो चिड़ियों को बीच में क्यों फँसाना; निशाना ठीक ही जगह लगाना सीखना चाहिए। मगर पख्तून लड़के को कोई अंतःकरण में ऐसा भाव पैदा नहीं होगा कि मैं यह क्या कर रहा हूँ! क्योंकि उसके समाज में यह कोई सवाल नहीं है।

जापान में आत्महत्या बड़ा गौरवपूर्ण कृत्य है। अगर कोई भी व्यक्ति अपने किसी कर्तव्य से च्युत हो जाता है, तो यह शालीनता की बात है कि वह तत्काल आत्महत्या कर ले। यह इज्जत की बात है। नैतिक बात है। और जापान के आदमी का अंतःकरण कहता है कि इसी वक्त आत्महत्या कर लो। अगर नहीं करोगे तो यह अपराध है। इसलिए जापान में 'हाराकिरी' बड़ा सम्मान्य कृत्य है। दुनिया में कहीं नहीं है। हमको कठिन लगेगा। लेकिन यहाँ हमारे मुल्क में भी जैनों ने 'संथारा' को सम्मान्य कृत्य माना है। अगर कोई व्यक्ति उपवास करके नियमपूर्वक, धर्मपूर्वक, ध्यान करता हुआ अपने शरीर को विसर्जित कर दे, तो इसे आत्महत्या जैन नहीं कहते। यह 'संथारा' है। और इसका बड़ा सम्मान होगा। क्योंकि इस व्यक्ति ने शरीर का ठीक से त्याग किया है। लेकिन किसी भी दूसरे मुल्क में यह आत्महत्या समझी जाएगी। और यह आदमी कानून के सामने अपराधी हो जाएगा।

अगर हम दुनिया के रीति-नियमों का खयाल करें, तो हमें पता चलेगा कि करोड़ों अंतःकरण हैं। यह अंतःकरण नहीं है। अंतःकरण तो हर आदमी के भीतर एक-सा है। वह आवाज तो बिलकुल एक-सी है। वह स्वर तो बिलकुल एक-सा है। यह समाज के स्वर हैं। लेकिन बच्चों को पता भी नहीं होता तब से उसे हम

समाज के स्वर उसके भीतर डालना शुरू कर देते हैं। हम उसे जो सिखा देते है, वह सीख जाता है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि सात वर्ष के पहले आदमी अपना पचहत्तर प्रतिशत ज्ञान सीख जाता है। पचहत्तर प्रतिशत, जिससे जीवन चलेगा। तो अंतःकरण तो करीब-करीब सात साल के भीतर निर्मित हो जाता है। और यह अंतःकरण फिर बदलना बहुत कठिन है। क्योंकि यह आधार बन जाता है। इसके ऊपर ही व्यक्ति खड़ा होता है। और इसके आधार पर उसके जीवन का सारा-का-सारा भवन निर्मित होता है और जब भी वह कोई काम करने जाता है तो इसी अंतःकरण से आवाज आती है। और इस अंतःकरण से विपरीत है, तो आवाज आती है कि यह मत करो। समाज इस अंतःकरण को दोहरा इंतजाम करने के लिए बनाता है।

समाज बाहर कानून बनाता है, ताकि कोई आदमी गलत न कर सके। लेकिन बाहर का कानून कितना ही कुशलता से बनाया जाए, उससे भी ज्यादा कुशल अपराधी सदा उपलब्ध हो जाते हैं। क्योंकि आखिर आदमी ही कानून बनाता है, तो आदमी उससे ज्यादा कुशलता से कानून से बचकर अपराध करने की क्षमता भी खोज लेता है। फिर कितना ही सख्त इंतजाम हो बाहर, बाहर का इंतजाम अपराधों से मुक्ति दिला नहीं सकता। तो समाज एक दूसरी व्यवस्था करता है, भीतर अंतःकरण निर्मित करता है। ताकि बाहर अपराध का भय रोके और भीतर खुद की अंतरात्मा रोके कि मत करो, यह पाप है।

और कानून से तो कोई बच भी सकता है, लेकिन अपने अंतःकरण के सामने निंदा से बचना बहुत मुश्किल है। इसलिए जो आदमी अंतःकरण की मानकर चलता है, समाज उसको आदर देता है। जो नहीं मानकर चलता, उसको अनादर देता है। जो आदमी मानकर चलता है, उसे पुण्य की संपदा मिलती है। जो नहीं मानकर चलता है, उसे पाप मिलता है। जो मानकर चलता है, उसे स्वर्ग का प्रलोभन समाज देता है। जो नहीं मानकर चलता, उसको नर्क में डालने का दंड देता है। यह सारी भीतरी व्यवस्था है।

तो एक अदालत बाहर है, जो बाहर से रोकती रहेगी। और एक अदालत भीतर है समाज की, जो भीतर से रोकती रहेगी। इन दोनों के बीच में व्यक्ति कसा जाता है, ताकि वह गलत न हो जाए। यह हो सकता है कि वह गलत होने से बच सके, लेकिन गलत होने से बच जाना अच्छा नहीं है। यह हो सकता है कि वह अनैतिक न हो पाए इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच में, लेकिन अनैतिक न होना नैतिक होना नहीं है। यह हो सकता है वह अपराधी न हो, असामाजिक न हो, लेकिन असामाजिक और अपराधी न होना धार्मिक होना नहीं है। यह सिर्फ निषेध की

व्यवस्था है।

जो आदमी बुरा नहीं करता है, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है कि वह अच्छा करता है। और सचाई तो यह है कि जो आदमी बुरा करना चाहता है आर इस व्यवस्था के कारण--बाहर की और भीतर की, दोनों सामाजिक-व्यवस्थाएँ हैं--इस व्यवस्था के कारण नहीं कर पाता है, तो एक तरफ से नहीं कर पाता तो दूसरी तरफ से करने के उपाय खोजता है। एक दरवाजे से चूकता है तो दूसरा दरवाजा खोलता है। घूम-फिर कर मार्ग खोजता है और बुराई कर लेता है। हाँ, बुराई की शकल बदल जा सकती है। बुराई का ढंग बदल जा सकता है।

लेकिन जिस बुराई को व्यक्ति ने जबरदस्ती दबाया है, वह कहीं-न-कहीं से विस्फोट होने का मार्ग खोजती रहती है। वह विष की तरह भीतर हो जाती है और कहीं से भी फोड़ा बनकर निकलती है। इस कारण से सारी-की-सारी मनुष्यजाति बहुत गहरे में रुग्ण हो गयी है। अगर समाज दंड नहीं दे पाता तो उसका खुद का समाज द्वारा निर्मित अंतःकरण आत्मनिंदा, आत्मग्लानि, आत्म-अपराधि, हीनता से भर जाता है। वह भी दंड हो जाता है। लेकिन जिसको हम नैतिक कहते हैं, जो अपराध से भी बच जाता, अदालत से बच जाता, आत्मनिंदा से बच जाता, वह भीतर न-मालूम कितने मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है।

इस सदी के और समस्त मनुष्यजाति के इतिहास के सबसे बड़े मनसविद और मनसरोगों के ज्ञाता सिग्मंड फ्रॉयड ने कहा कि जब तक आदमी को नैतिक बनाने की कोशिश चलेगी तब तक मानसिक रोगों से छुटकारा नहीं हो सकता। खतरनाक वक्तव्य। है लेकिन एक जानकार का वक्तव्य है, जिसने लाखों मानसिक मरीजों को देखकर, अध्ययन करके, विश्लेषण करके, मनोचिकित्सा करके यह नतीजा दिया है कि जबतक आदमी को नैतिक बनाने की चेष्टा चलती है, तब तक मानसिक रोगों से छुटकारे का कोई उपाय नहीं दिखायी पड़ता। क्योंकि हम एक तरफ से बुराई को दबा देते हैं, वह बुराई दूसरी तरफ से निकलना शुरू होती है। और ध्यान रहे, जब वह दूसरी तरफ से निकलती है तो ज्यादा विकृत होकर निकलती है। 'परवर्टेड' होकर निकलती है। उसका स्वाभाविक मार्ग छिन जाता है। और कई बार ऐसा होता है कि एक बीमारी रोकते हैं, तो वह दस होकर निकलती है। जैसे एक झरने को रोक दें तो दस धाराओं में फूटकर बह जाए।

फ्रॉयड से भी लोग पूछते थे कि फिर उपाय क्या है? क्या आदमी को नैतिक बनाना बंद कर दें? तो फ्रॉयड कहता है, नैतिक बनाना बंद किया कि सारी सभ्यता और सारी संस्कृति खो जाएगी। और अगर संस्कृति और सभ्यता बनाए रखनी है तो नैतिक बनाना पड़ेगा, लेकिन परिणाम में आदमी मानसिक-रूप से ग्रस्त

होता रहेगा, बीमार होता रहेगा। इसलिए जितना सभ्य समाज हो, उतनी ज्यादा मानसिक बीमारी हो जाती है। मात्रा सभ्यता के साथ बढ़ती है। तो फ्रॉयड ने कहा है कि सभ्यता को अगर रखना है, तो उसका यह अनिवार्य फल है, भोगना ही पड़ेगा।

मगर यह बड़ी दुखद बात है और अवसाद से भरती है मन को। यह दोनों ही बातें योग्य नहीं मालूम पड़तीं कि आदमी असभ्य हो जाए, असंस्कृत हो जाए, पशुओं-जैसा हो जाए। यह भी मन मानने को नहीं करता। और यह भी मानने को नहीं करता कि पूरी जमीन एक पागलखाना होती चली जाए। और धीरे-धीरे लोग इतने मानसिक-रोगों से भर जाएँ, जैसाकि आज हो गया है। आज जो बहुत सभ्य मुल्क हैं, वहाँ आज सामान्य चिकित्सक की बजाय मानसिक चिकित्सक की माँग बढ़ती चली जाती है। और सामान्य बीमारियाँ सामान्य हो गयी हैं। उनके इलाज की कोई दिक्कत नहीं है, उनका इलाज हो जाता है, चिकित्सा खोज ली गयी है, मन की बीमारियाँ असामान्य रूप से भारी होती जा रही हैं। उनका इलाज मुश्किल मालूम होता जा रहा है। और इलाज करने, खोजने जाते हैं तो जितनी जटिलताएँ दिखायी पड़ती हैं वे घबरानेवाली हैं।

पिछले पचीस वर्षों के मनस्विदों की खोज का यह परिणाम है कि अगर एक पागल आदमी को ठीक करना हो, तो पहले वे उसी आदमी को ठीक करते थे; अब वे कहते हैं कि इस पागल आदमी को हम तब ही ठीक कर सकते हैं जब इसके पूरे परिवार को ठीक करें, क्योंकि यह परिवार के कारण पागल है। और अब मनोवैज्ञानिक यह भी कहते हैं कि परिवार को ठीक करने से क्या होगा, इसका परिवार भी एक समूह का हिस्सा है। और वह समूह पूरा-का-पूरा कुछ पागलपन से भरा है, इसलिए यह परिवार पागल हो जाता है, इसलिए इस परिवार का एक आदमी पागल हो जाता है। और मजे की जो बात है वह यह है कि वे कहते हैं, अगर बीस परिवारों का एक समूह हो तो जो परिवार सबसे ज्यादा संवेदनशील होगा, ईमानदार होगा, वह सबसे पहले पागल हो जाएगा। उस परिवार में जो आदमी सबसे ज्यादा संवेदनशील होगा और ईमानदार होगा, वह सबसे पहले पागल हो जाएगा। क्योंकि बेईमान आदमी पागल होने से बचने का रास्ता निकाल लेता है। वह कहता कुछ है, करता कुछ है, पागल नहीं होता वह। लेकिन अगर बहुत ईमानदारी से, वह जो कहता है वही करे, तो मुसीबत में पड़ जाता है। यह बड़ी मुश्किल बात है।

सारी नीति कहती है कि आचार और विचार एक-सा होना चाहिए। लेकिन हमें आदमी मिलते नहीं जिनके आचार और विचार एक-से हों। जिनको हम कहते हैं कि इनके आचार और विचार एक-से हैं उनका भी परीक्षण वैज्ञानिक हमें पता

नहीं है करना, नहीं तो पता चले कि एक-से नहीं हैं। अगर बिलकुल एक-से हों, तो वह आदमी पागल हो जाएगा, अगर समाज के अंतःकरण को मानकर चला है तो। अगर वह पागल नहीं है, तो वह कहीं-न-कहीं इंतजाम कर रहा है। उसके जीवन के पीछे के दरवाजे भी हैं। जिनसे निकलकर वह अपने पागलपन का निकास कर लेता है।

यह अंतःकरण इस सूत्र का अंतःकरण नहीं है, यह पहली बात खयाल ले लें। इस सूत्र में जिस अंतःकरण की बात है, वह वह अंतःकरण है जब व्यक्ति इस अंतःकरण को बिलकुल ही हटाकर अपने भीतर झाँकता है। समाज की समस्त पर्तों को हटाकर, समाज को सब तरह से अलग करके; समाज ने जो-जो डाला है भीतर, समाज ने जो-जो आरोपित किया है, समाज ने जो-जो संस्कार निर्मित किये हैं, उनकी परछाईं भी न पड़े, उन सबको दूर हटाकर, एक तरफ रखकर जब कोई अपने भीतर झाँकता है, तब उसे पहली बार उस अंतःकरण का पता चलता है जो हमारे शरीर में हमें वैसे ही मिला है जैसे आँखें मिली हैं, हृदय मिला है, बुद्धि मिली है। वह हमारे जीवन का अनिवार्य अंग है। उस अंतःकरण की जब शुद्धि हमारे खयाल में आ जाए और उसकी आवाज सुनने की कला हमें आ जाए, तब फिर इस जीवन में विचार और आचरण में कोई फर्क नहीं होता। और तब इस जीवन में आदमी कभी भी ऐसा नहीं कहेगा कि मुझे ठीक तो कुछ और लगता है, लेकिन करता मैं कुछ और हूँ। तब जो ठीक लगता है, वही होता है।

सुकरात ने कहा है, ज्ञान ही आचरण है। वह उसी ज्ञान की बात कर रहा है, जो अंतःकरण से होता है। ज्ञान और आचरण में फिर कोई फर्क नहीं है। अगर फर्क है तो समझना कि आप जिस अंतःकरण की बात कर रहे हैं, वह आपका अंतःकरण नहीं है। उस आंतरिक अंतःकरण का अनुभव और ठीक वैसा ही हो जाता है, जैसा कोई आग में जानते हुए कि हाथ जल जाता है और हाथ नहीं डालता। क्योंकि जानता है कि जल जाता है। और कभी ऐसा नहीं कहता कि मैं जानता हूँ कि हाथ जल जाता है, फिर भी क्या करूँ, डालता हूँ। उस अंतःकरण की आवाज पर आदमी वैसे ही चलता है जैसे आदमी को मकान के बाहर निकलना हो तो दरवाजे से निकलता है। और वह यह नहीं कहता कि मुझे मालूम तो है कि दरवाजा कहाँ है, लेकिन क्या करूँ, कमजोरी कि दीवाल से निकल जाता हूँ, सिर फूट जाता है। मालूम तो है कि दरवाजा कहाँ है!

नहीं, वैसा आदमी कभी नहीं कहता कि मुझे मालूम है कि ठीक क्या है, फिर भी मैं गलत करता हूँ। क्योंकि वैसी अंतःकरण की स्थिति में जानना और होना, जानना और करना समअर्थी हो जाता है। फिर आदमी वैसा नहीं कहता कि मुझे

पता तो है कि क्रोध बुरा है, लेकिन क्या करूँ, हो जाता है। मुझे पता तो है कि गाली नहीं देनी थी, बुरी है, पीछे पछताता भी हूँ, लेकिन क्या करूँ, हो जाता है। ध्यान रहे, यह जो हमारे चित्त की दशा है, यह बता रही है कि हमारा करना कहीं और से आ रहा है और हमारी समझ उतनी गहरी नहीं जहाँ से करना आ रहा है।

तो मेरा ऊपर का अंतःकरण--समाज ने मुझे सिखाया है, कि क्रोध बुरा है तो मैं जानता हूँ क्रोध बुरा है, लेकिन गहरे में मेरा जो व्यक्तित्व है, वह इससे ज्यादा गहरा है। वह क्रोध करता है और मैं अवश हो जाता हूँ, मेरा कोई वश नहीं चलता। हाँ, एक ही काम मैं कर सकता हूँ--जो कि थोथे अंतःकरण वाले लोगों को निरंतर करना पड़ता है--वह है : पश्चात्ताप। कर लूँगा, फिर पछता लूँगा। और मजे कि बात यह है कि कितना ही पश्चात्ताप करो, इससे जो किया है उसमें बदलाहट नहीं आती। आज क्रोध करूँगा, साँझ पछताऊँगा, कल सुबह फिर क्रोध करूँगा, कल साँझ फिर पछताऊँगा। और तब पछतावा क्रोध का एक अनिवार्य हिस्सा मात्र हो जाएगा।

और यह भी आप जानकर हैरान होंगे, आमतौर से हम सोचते हैं कि पछताने वाला आदमी अच्छा है, कम-से-कम बेचारा क्रोध करता है तो प्रायश्चित्त तो करता है। कोई बात नहीं, आज क्रोध होता है, प्रायश्चित्त होता है, धीरे-धीरे प्रायश्चित्त की समझ बढ़ेगी तो क्रोध बंद हो जाएगा। बात बिलकुल उल्टी है। आदमी प्रायश्चित्त इसलिए नहीं करता कि वह क्रोध को बंद करने वाला है, प्रायश्चित्त इसलिए करता है कि क्रोध से उसके भीतर स्वयं के अहंकार को चोट लगती है; प्रायश्चित्त से उसको वह पोंछ डालता है। फिर पुरानी जगह खड़ा हो जाता है, जहाँ क्रोध करने के पहले खड़ा था। अब वह फिर क्रोध करने में समर्थ है।

अगर मैं सोचता हूँ कि मैं अच्छा आदमी हूँ--और सभी लोग सोचते हैं कि हम अच्छे आदमी हैं--मैं सोचता हूँ कि मैं अच्छा आदमी हूँ, मैं सोचता हूँ कि मैं कभी क्रोध नहीं करता, और कभी करता भी हूँ तो वह दूसरे लोग ऐसी स्थिति बना देते हैं, इसलिए करता हूँ। या दूसरों में सुधार करने के लिए करता हूँ। ऐसे हम न-मालूम कितने 'रेशनलाइजेशन' अपने-आप को समझाने के लिए करते हैं। फिर मैं क्रोध करता हूँ, तो फिर मुझे चोट लगती है। मेरे ही सामने मेरा अहंकार दीन हो जाता है। मुझे लगता है, कहाँ गया वह अच्छा आदमी! तो क्या मैं अच्छा आदमी नहीं हूँ? क्रोध तो मैंने किया। तो अब मेरे अच्छे जो आदमी की प्रतिमा खंडित हो गयी, उसे पूरा करने का उपाय पश्चात्ताप है। अब मैं पछताता हूँ। बुरा किया, बहुत बुरा किया, ऐसा नहीं करना चाहिए था। हो गया। अघट था, घट गया। नियति थी, भाग्य था, मूर्छा आ गयी, खयाल न रहा, स्थिति ऐसी हो गयी, हजार

बहाने खोजकर मैं पछता लेता हूँ। मान लेता हूँ कि बुरा किया।

इसका मतलब आप समझते हैं?

इसका मतलब यह है कि आदमी तो मैं अच्छा ही हूँ। बुरा हो गया, आदमी बुरा नहीं हूँ। आदमी का बुरा होना और बुरे कर्म के हो जाने में बड़ा फर्क है। एक वृक्ष है, उसमें एक पत्ता सूखा हुआ है, इससे कोई वृक्ष सूखा हुआ नहीं होता। आदमी तो मैं अच्छा ही हूँ। करोड़ कृत्य में एक कृत्य बुरा हो जाता है, तो उससे आदमी तो बुरा नहीं हो जाऊँगा। पश्चात्ताप करके सूखे पत्ते को काटकर गिरा देता हूँ, वृक्ष फिर हरा हो जाता है। फिर मैं मान लेता हूँ कि आदमी तो अच्छा ही हूँ, एक बात बुरी हो गयी, इससे कोई मैं बुरा नहीं हो जाता हूँ। किससे बुरा नहीं हो जाता! फिर पश्चात्ताप भी मैंने कर लिया। बुरे आदमी कहीं पश्चात्ताप करते हैं! माफी भी माँग सकता हूँ, क्षमा भी माँग सकता हूँ। लेकिन, यह मैं सिर्फ पुनः स्थिति वही-की-वही पाने की कोशिश कर रहा हूँ, जो क्रोध के पहले मेरी थी। उसे जिस क्षण मैं पा लूँगा, मैं फिर उसी जगह आ गया जब मैं पुनः क्रोध कर सकता हूँ। मैं पुनः क्रोध करूँगा। जिस अंतःकरण को हम अंतःकरण समझते हैं, वह हमें सिर्फ इसी दमन, पश्चात्ताप, विकृति में ले जाता है। लेकिन समाज को उपादेयता है। समाज थोड़ा नियंत्रण करने में समर्थ हो जाता है।

इस सूत्र में जिस अंतःकरण की बात है वह वह अंतःकरण है, जिसे हम कहें समाज से अस्पर्शित, मेरी ही भीतर की मेरी ही चेतना की जो आवाज है, सहज-स्फूर्त मेरा ही जो स्वर है, उसकी तलाश। धर्म अंतःकरण की तलाश है।

क्या है मेरा अंतःकरण?

जीसस एक गाँव के बाहर ठहरे हुए हैं। गाँव के लोग एक स्त्री को पकड़कर लाते हैं और कहते हैं कि व्यभिचारिणी है। और हमारे शास्त्र में लिखा है कि व्यभिचारिणी को पत्थरो से मारकर मार डालना चाहिए, आप क्या कहते हैं? उस शास्त्र का जीसस को भी पता था। जीसस ने भी बचपन से उसी शास्त्र को पढ़ा-सुना था। जीसस भी उसी समूह के अंग थे। और वे गाँव के लोग जानकर ही यह मामला लाए थे। क्योंकि वे जानना चाहते थे कि अगर जीसस कहें कि नहीं, वह शास्त्र गलत है, तो हम जीसस को ही पत्थरों से मार डालें; और अगर जीसस कहें कि शास्त्र सही है, तो हम जीसस के सामने ही इस स्त्री की हत्या करें और फिर जीसस से पूछें कि तुम्हारी शिक्षाओं का क्या हुआ! जिनमें तुम कहते हो कि अगर कोई एक गाल पर चाँटा मारे तो दूसरा उसके सामने कर देना। और जिनमें तुम कहते हो कि शत्रु को भी प्रेम करना। और जिनमें तुम कहते हो कि बुराई का भी प्रतिरोध न करना-- 'रेसिस्ट नाट इविल', ऐसा तुम कहते हो, उसका क्या हुआ?

तो एक पहेली में जीसस को फँसाना चाहा।

जीसस ने आँख बंद कर ली, फिर जीसस ने आँख खोली—– यह क्षणभर का आँख बंद करना और खोलना जीसस का अपने अंतःकरण में उतरना था—– और जीसस ने कहा कि शास्त्र बिलकुल ठीक कहता है कि जो व्यभिचार करे, उसे पत्थरों से मार डालो। लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि शास्त्र में एक बात छूट गयी है। और वह यह है कि पत्थर मारने का अधिकारी वही है जिसने कभी व्यभिचार न किया हो, या व्यभिचार का विचार न किया हो। तो अब तुम पत्थर उठा लो। तब तो भीड़ में जो समाज के नेता थे, आगे खड़े थे, वे धीरे-धीरे पीछे सरकने लगे। जीसस ने कहा कोई भाग न पाए, क्योंकि आज इस स्त्री की हत्या करनी ही है, और सामने आए वह आदमी पत्थर उठाकर जो कह सकता हो कि मैंने व्यभिचार का विचार नहीं किया, व्यभिचार नहीं किया। भीड़ छँट गयी।

थोड़ी ही देर में उस निर्जन जगह में जीसस और उस स्त्री के सिवाय कोई भी न बचा। उस स्त्री ने जीसस के चरणों पर सिर रख दिया और कहा कि मुझे दंड दो। क्योंकि उनसे तो मैं कह सकती थी कि मैं व्यभिचारिणी नहीं हूँ, लेकिन तुमसे कैसे कहूँ! उनसे मैं लड़ सकती थी कि वे मेरे ऊपर अन्याय कर रहे हैं, लेकिन तुमसे मैं कैसे कहूँ! मुझे दंड दो। जीसस ने कहा मैं तुझे दंड देनेवाला कौन? जीसस ने फिर क्षण भर को आँख बंद की, आँख खोली, उस स्त्री को कहा कि तू जा। क्योंकि उस परम शक्ति के सामने ही तेरा निर्णय हो सकता है। मैं निर्णय करनेवाला कौन?

यह अंतःकरण की आवाज है।

यह जीसस का बार-बार भीतर झाँकना, निश्चित ही जीसस के अंतःकरण ने कुछ बात कही जो दुनिया में जिसके पास भी अंतःकरण होगा, यह ही बात कहेगा। क्या हक है उसे, जो खुद व्यभिचारी रहा हो, किसीको व्यभिचारी कहने का भी क्या हक है? लेकिन जीसस तो व्यभिचारी भी नहीं थे, उन्हें तो हक था पत्थर मार देने का। लेकिन जीसस ने फिर अपने अंतःकरण में झाँका और कहा कि मैं कौन हूँ तेरा निर्णय करनेवाला? न मैंने तुझे बनाया, न मैंने तुझे जीवन दिया, न मैं तेरे जीवन का नियंता हूँ, तो मैं निर्णायक कैसे हो सकता हूँ? तो मैं इतना ही कहता हूँ तुझसे कि दूसरों के निर्णायक मत बनना। तू जा सकती है।

यह किसी समाज की आवाज नहीं है। ऐसा किसी शास्त्र में लिखा नहीं है। ऐसा किसी समाज ने किसीको सिखाया नहीं। यह अनसीखी, 'अनलर्न्ड' सहज-स्फुरणा है। अगर बुद्ध से पूछेंगे, तो यही आवाज निकलेगी। अगर महावीर से पूछेंगे, तो यही आवाज निकलेगी। यह आवाज व्यक्तियों की आवाज नहीं है,

व्यक्तियों के भीतर जो छिपा है सर्वात्मा, निर्व्यक्ति; व्यक्तियों के भीतर जो छिपी है चैतन्य की ऊर्जा, उसकी आवाज है। इसका नाम है अंतःकरण। उसकी तलाश करनी पड़े। हमारे पास है तो, लेकिन छिपा है। प्रगट बिलकुल नहीं है। है तो, क्योंकि हम हैं; चेतना है, तो चेतना की अपनी वाणी, अपनी आवाज है। लेकिन छिपी है। और जो आवाजें हमसे निकलती रहती हैं, वे दूसरों की आवाजें हैं, जो हममें डाली गयी हैं। वे आवाजें ग्रामोफोन रिकॉर्ड की आवाजें हैं, वे हमारे अंतः-करण की आवाजें नहीं हैं। ग्रामोफोन रिकॉर्ड की तरह हमारे भीतर 'ग्रूव्ज' बनाए हैं समाज ने, उस पर सुई घूमती है बुद्धि की, आवाज आ जाती है, लगता है यह बुरा, वह भला।

यह भला और बुरा एक तरफ जो करने की क्षमता रखता हो और भीतर उतरने का साहस जुटाता हो कि मैं देखूँ उस जगह को, जिस दिन मैं पैदा नहीं हुआ था उस दिन भी जो जगह मेरी थी; जब मैं गहन अँधेरी रात में सो जाता हूँ, सुषुप्त हो जाता हूँ, सपने भी खो जाते हैं, तब भी जो जगह मेरी है; जब मैं मरूँगा, शरीर गलेगा, टूटेगा, नष्ट हो जाएगा, तब भी जो जगह मेरी होगी, उस जगह को खोजूँ, वही है अंतःकरण।

खोजने की एक प्रक्रिया आपको कहूँ। जब भी आपके भीतर लगे कि यह भला, वह बुरा; यह ठीक, वह गैर-ठीक; तब जरा निरीक्षण करें, यह जिस समाज में आप पैदा हुए हैं उसका प्रतिफलन है। आपका विवेक।

शंकर ने छोटी उम्र में संन्यास लिया। बूढ़ी माँ थी —– बड़ी उम्र में शंकर पैदा हुए थे। पिता चल बसे थे। तो बूढ़ी माँ हिम्मत न जुटा पाती थी कि शंकर संन्यास ले लें। नदी में तैरते थे तो मगर ने शंकर का पैर पकड़ लिया, तो सारा गाँव बचाने को इकट्ठा हो गया, माँ भी भागी हुई आयी। तो शंकर ने चिल्लाकर पूछा कि मैं मगर से प्रार्थना कर सकता हूँ और आशा है मुझे कि पैर छूट जाए, लेकिन संन्यास के बाबत क्या? अगर संन्यास के लिए तू राजी हो, तो मुझे लगता है कि मगर पैर छोड़ देगा। माँ ने यह देखकर कि मरने से तो संन्यास ही बेहतर—– और इससे कम में कोई राजी नहीं होता—– कह दिया कि मैं वायदा करती हूँ, तू संन्यास ले लेना, मगर बच। पता नहीं मैत्री रही होगी गहरी शंकर और उस मगर में, किन्हीं जन्मों के संबंध रहे होंगे, मगर ने पैर छोड़ दिया। शंकर बच गये, संन्यास लिया।

लेकिन माँ ने जाते वक्त कहा कि एक वायदा कि मेरा अंतिम दाह-संस्कार तू ही करना। यह उलझन की बात थी उन दिनों। शंकर कहाँ होंगे, कहाँ भटकते होंगे— पैदल थी यात्रा, सारे मुल्क में भटकना था! भिखारी होंगे। फिर भी

वायदा उन्होंने किया। फिर माँ बीमार पड़ी, खबर मिली, शंकर भागने लगे। शिष्यों ने, साथियों ने समझाया कि कौन माँ, कौन पिता! संन्यासी का कोई माता-पिता है! और दिये थे वायदे अज्ञान में। माया है सारा संसार, तुम्हीं कहते हो। कैसा वायदा, कैसा वचन! कौन पूरा करनेवाला है! सब सपना है। तुम ही कहते हो। शंकर आँख बंद करके बैठ गये और फिर उठकर उन्होंने कहा कि नहीं, जाना ही पड़ेगा। होगा संसार माया, होंगे सब संबंध झूठे, लेकिन मेरे भीतर जो छिपा है वह कहता है जाना ही पड़ेगा।

लेकिन शक हो सकता है, शक हो सकता है हमें कि यह असली अंतःकरण हो, न हो। क्योंकि आखिर माँ, दिया वचन, यह संस्कार की ही छाप हो सकती है। समाज की ही छाप हो सकती है। कि दिया हुआ वचन है, माँ को दिया है, माँ मरती होगी, आखिरी क्षण है, यह समाज की छाप हो सकती है। लेकिन शीघ्र ही पता चल गया साथियों को, शिष्यों को कि वह समाज की आवाज नहीं थी।

शंकर गाँव में पहुँचे, नंबूद्रीपाद ब्राह्मण का परिवार था। श्रेष्ठतम दक्षिण के ब्राह्मण। गाँव ने इन्कार कर दिया कि संन्यासी बेटा कैसे दाह-संस्कार कर सकता है? ब्राह्मणों का गाँव था—संन्यासी जो हो गया उसका कौन माँ और कौन पिता, कैसे संन्यासी बेटा दाह-संस्कार कर सकता है! यह नहीं हो सकता। यह तो संन्यास भ्रष्ट हो जाएगा।

शंकर ने कहा कि दाह-संस्कार तो मैं करूँगा ही। कोई गाँव में अर्थी में सम्मिलित होने न आया। माँ वजनी थी, शरीर भारी था, शंकर दुबले-पतले। बड़ी मुश्किल पड़ गयी, इसको मरघट तक ले जाना मुश्किल हो गया। तो शंकर ने आँख बंद की, उठायी तलवार, तीन टुकड़े माँ के शरीर के किये, एक-एक टुकड़े को एक-एक बार ले जाकर मरघट पहुँचे। इस आदमी के पास समाजवाला अंतःकरण नहीं हो सकता! यह जो माँ के शरीर को तीन टुकड़े कर सके। मित्र भी घबड़ाए, शिष्य भी घबड़ाए, उन्होंने कहा हद कर दी! वचन क्या पूरा करना है, कोई सीमा भी होती है! तुम क्या कर रहे हो? तो शंकर ने कहा, जगत माया है। और शरीर तो मर ही गया। और शरीर को काटने में क्या दिक्कत है! मैंने पूछ लिया अपने भीतर से।

समाज जो संस्कार देते हैं—समाज, सभी समाज देते हैं—उन्हें एक तरफ हटाए. . . . हटाना पड़े, और फिर धीरे-धीरे भीतर निरीक्षण करना पड़े, एक घड़ी ऐसी आ जाती है भीतर जब साफ-साफ दिखायी पड़ने लगता है क्या समाज का है और क्या मेरा है। क्योंकि जब स्वयं की आवाज आती है तो उसके विपरीत कोई आवाज नहीं आती। वह एक-स्वर होती है। समाज की कैसी ही आवाज हो, उसके

विपरीत की आवाज सदा मौजूद होती है। चाहे कितना ही अंतःकरण कहता हो—तथाकथित अंतःकरण—कि चोरी बुरी है, एक हिस्सा कहता है करो भी, कौन देख रहा है! एक हिस्सा कहता है मांसाहार बुरा है, दूसरा हिस्सा कहता है सारी दुनिया कर रही है। तुम्हीं भले होने के लिए किसलिए पीछे पड़े हो? कोई तुमने भले होने का ठेका लिया है? कि शराब बुरी है। सारी दुनिया पी रही है। तुम क्यों अपना जीवन नष्ट कर रहे हो, पिओ!

अंतःकरण की आवाज का एक लक्षण आपसे कहूँ, उसका विरोधी स्वर सदा मौजूद होता है। तथाकथित अंतःकरण में। असली अंतःकरण का विरोधी स्वर मौजूद नहीं होता। एक ही स्वर होता है। उसके विरोध की कोई आवाज नहीं होती। तो जब तक आपको विरोधी स्वर की खनक मिलती रहे, तब तक जानना कि यह समाज के द्वारा दिया गया अंतःकरण है। यह परमात्मा के द्वारा दिया गया अंतःकरण नहीं। जिस दिन एक स्वर उपलब्ध हो जाए. . . .शंकर ने कहा कि काटेंगे, उठायी तलवार और काट ही डाला। एक क्षण को भी शंकर के मन में न हुआ कि जरा सोच तो लूँ, माँ के शरीर को काटना! यह कहीं हिंसा न हो जाए, यह मातृहत्या न हो जाए! यह मैं क्या कर रहा हूँ, यह कभी नहीं किया गया! किसी बेटे ने नहीं काटा। और फिर शंकर जैसे बेटे ने तो कभी नहीं काटा। मगर नहीं, वह काटकर और जाकर जला आए और बड़े प्रसन्न थे। काम निपट गया था। एक स्वर है।

फिर जिंदगी में, पूरी जिंदगी किसीने कभी नहीं सुना कि शंकर को एक दफे भी ऐसा खयाल भी आया हो कि मैंने कुछ गलत किया। आप अपने अंतःकरण—जिसको आप अंतःकरण कहते हैं, तथाकथित—उसकी अगर मानें तो भी पछताना पड़ेगा, न माने तो भी पछताना पड़ेगा। यह दूसरा लक्षण आपको कहता हूँ। माने तो भी पछताना पड़ेगा। न करें चोरी, मान लें, पछताएँगे जिंदगी भर कि चूक गये। सारे लोग कर गुजरे, समय था, अवसर हाथ में आया था, खो गये। फलाने ने की, नहीं पकड़ाया; फलाने ने की, वह मंत्री हो गया; फलाने ने की, उसने यह कर लिया। और हम भूखे मर रहे हैं। कहाँ की बात में पड़ गये! कर लें, तो भी पछताएँगे। क्योंकि कर लें तो दीनता पकड़ेगी, ग्लानि पकड़ेगी, अपराध पकड़ेगा कि ना करते तो अच्छा होता।

अंतःकरण समाज के द्वारा दिया गया हर हालत में पश्चात्ताप लाता है। हर हालत में। क्योंकि दो स्वर हैं। आप एक की ही मान सकते हैं, दूसरे का क्या होगा? दूसरा हिस्सा प्रतीक्षा करेगा, आपको पश्चात्ताप करवाएगा। उसकी मानेंगे तो पहला प्रतीक्षा करेगा, वह आपको पश्चात्ताप करवाएगा। लेकिन जिस अंतः-

करण का इस सूत्र में संकेत है, उसकी आवाज मानकर कभी कोई पश्चात्ताप नहीं होता। कभी !

तीसरा लक्षण आपसे कहूँ। जिस अंतःकरण में हम जीते हैं, इसकी स्मृति बनती है। क्योंकि कोई भी कृत्य पूरा तो होता नहीं, अधूरा रह जाता है। क्योंकि आधा हिस्सा तो खिलाफ रहता है, अधूरा रहता है। चोरी भी करते हैं तो आधे-आधे मन से होती है। पूरा चोर आपने देखा ? ऐसा एकाध आदमी खोज सकते हैं आप जो पूरा बेईमान हो ? पूरा बेईमान का मतलब है कि जिसके भीतर जरा-भी कहीं खयाल न उठता हो कि गलत कर रहा हूँ, बुरा कर रहा हूँ, नहीं करना चाहिए। कहीं कोई दबी आवाज न कहती हो कि यह बेईमानी है। नहीं, पूरा बेईमान खोजना मुश्किल है। और इन बेईमानों की दुनिया में पूरा ईमानदार आदमी भी खोजना मुश्किल है। जिसके मन में ऐसा न उठता हो कि कर ही लेते तो क्या बिगड़ जाता था। वह उठता ही रहता है। इस अंतःकरण की अगर मानकर चलियेगा तो इसकी स्मृति बनती है। क्योंकि अधूरा कृत्य रहता है, अटका रह जाता है मन में। लगता है पूरा कर लेते। जिस अंतःकरण की इस सूत्र में चर्चा है, उसकी कोई स्मृति नहीं बनती। पूर्ण कृत्य की कोई स्मृति नहीं होती। वह होता है और खो जाता है।

इसलिए चौथी आपसे आखिरी लक्षणा कहूँ। इस अंतःकरण को मानकर आप चलेंगे तो कर्म का बंध होता है, क्योंकि कर्म अधूरा होता है, और उसके साथ स्मृति बनती है और चिपट जाती है मन में और छूटती नहीं, छूटती नहीं। अगर कर्म पूरा हो, 'टोटल एक्ट' हो, कोई स्मृति नहीं बनती, कर्म का कोई बंधन नहीं बनता, चित्त सदा मुक्त रहता है। आपने जो किया है पूर्ण हृदय से, वह आपके हृदय पर बोझ नहीं होता। इसलिए अगर मुझसे पूछें तो मैं कहूँगा, अधूरे मन से जो किया जाता है वही पाप है; पूरे मन से जो किया जाता है वही पुण्य है। अगर मुझसे पूछें तो पाप और पुण्य की ऐसी परिभाषा है। जो अधूरे मन से किया जाता है वह पाप है, चाहे आपने मंदिर बनाया हो अधूरे मन से। और जो पूरे मन से किया जाता है, वह पुण्य है, चाहे आपने चोरी ही क्यों न की हो। हालाँकि पूरे मन से चोरी नहीं की जा सकती।

इस अंतःकरण का, इस शब्द अंतःकरण का पहला खयाल ले लें।

दूसरा शब्द है—प्रणव। ओंकार, ओम्।

भारतीय साधना के बहुत-बहुत रूप हैं। बड़े भेद हैं उनमें। बड़ी विपरीतताएँ हैं। बड़े विवाद हैं। जैसे तीन बड़े भारतीय स्वर हैं साधना के—जैन, बौद्ध, हिंदू। तीनों में बड़े सैद्धांतिक विवाद हैं। कहीं कोई तालमेल नहीं दिखायी

पड़ता। हिंदू मानते हैं ईश्वर को भी, आत्मा को भी। जैन मानते हैं सिर्फ आत्मा को। ईश्वर को नहीं मानते। बौद्ध न मानते ईश्वर को, न आत्मा को। बड़े मौलिक भेद हैं। लेकिन एक बड़े मजे की बात है कि ओम् के संबंध में तीनों एक-साथ राजी हैं। प्रणव के संबंध में जरा-भी विवाद नहीं। छोटी-छोटी चीज पर विवाद हैं और कहीं कोई तालमेल नहीं है, लेकिन यह ओम् शब्द के संबंध में कोई विवाद नहीं है। तो लगता है कि ओम् जो है, वह कोई सैध्दांतिक बात नहीं है, वैज्ञानिक बात है।

और न केवल भारत में, भारत के बाहर जो तीन बड़े धर्म हैं—यहूदी, इस्लाम और ईसाइयत—ओम् के संबंध में उनका भी कोई विवाद नहीं है, यद्यपि वे उसको 'अमीन' कहते हैं। बस इतना ही फर्क है। और 'ओम्' जो है और 'अमीन' जो है, भाषाशास्त्री कहते हैं वह एक ही चीज है। उनमें कोई फर्क नहीं है। वह सिर्फ भाषा में उस ध्वनि को पकड़ने में फर्क हुआ है।

इसलिए आपसे यह बात कहना चाहता हूँ, ओम् एक शब्द है पूरे मनुष्यजाति के इतिहास में जिसमें दुनिया के छः महत्त्वपूर्ण धर्म राजी हैं। जिसे वे स्वीकार करते हैं कि इसमें कुछ है।

इस शब्द में क्या है ?

इसे हम दो-तीन प्रकार से खयाल में लें। एक, मनुष्य का मन जो है, वह शब्दों का समूह है। आपके मन में क्या है सिवाय शब्दों के ? अगर आपसे हम सारे शब्द बाहर निकाल लें, तो आपका मन नहीं बचेगा। आपका मन करीब-करीब ऐसा है जैसे कि प्याज होती है—सब छिलके बाहर निकाल लें तो प्याज में पीछे कुछ बचता नहीं। ऐसा ही आपका मन है। शब्दों के छिलके। सब शब्द बाहर निकाल लें तो पीछे क्या बचेगा ? मन तो नहीं बचेगा, शून्य बचेगा। सोचें थोड़ा आप कि आपके पास कोई शब्द न बचे, तो आपके पास कौन-सा मन बचेगा ? क्या बचेगा ? शब्दों का समूह है मन। और इसी मन से हम सब कुछ कर रहे हैं। बुरा या भला, दुख या सुख, संसार या मोक्ष, जो भी हम कर रहे हैं इस मन से कर रहे हैं।

यह ओम् एक शब्द है—शब्द कहना ठीक नहीं है, एक ध्वनि है, क्योंकि इसका कोई अर्थ नहीं। शब्द उस ध्वनि को कहते हैं जिसमें कुछ अर्थ हो—ओम् एक ऐसा शब्द है जिसका कोई अर्थ नहीं है, सिर्फ ध्वनि, लेकिन इस ध्वनि में समस्त मूल-ध्वनियों का सार है। अ, उ, म, ये तीन मूल-ध्वनियाँ हैं। जैसे मैंने कल आपको कहा कि भारतीय-मनीषा को तीन का बड़ा बोध है; और जैसा मैंने आपको कहा—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ये जीवन के तीन अंग हैं; जैसा मैंने आपको कहा कि 'इलेक्ट्रॉन', 'न्यूट्रॉन', पॉजिट्रॉन' फिजिक्स की दृष्टि में पदार्थ के तीन आधार

हैं, ऐसे ही भारतीय-मनीषा की दृष्टि में अ, उ, म समस्त भाषा, समस्त वाणी, समस्त शब्दों के तीन आधार हैं। सब ध्वनियाँ इन तीन ध्वनियों के जोड़ हैं। तो मौलिक तीन ध्वनियाँ ओम् में हैं। हम ऐसा कह सकते हैं कि ओम् जो है, ध्वनि की दृष्टि से 'एटॅम' है। ध्वनि की दृष्टि से अणु है। 'इलेक्ट्रॉन,' 'पॉजीट्रॉन', 'न्यूट्रॉन,' तीन विद्युत कणों से मिलकर परमाणु निर्मित होता है—पदार्थ का। अ, उ, म, तीन से निर्मित होकर जो परमाणु बनता है, वह है मन का।

ओम् मन का परमाणु है। और सूक्ष्मतम परमाणु है। इससे सूक्ष्म कोई परमाणु नहीं हो सकता। इसको हम तोड़ दें, जैसा कि वैज्ञानिक कहते हैं कि अगर हम 'इलेक्ट्रॉन,' 'न्यूट्रॉन' और 'पॉजीट्रॉन' को तोड़ दें तो हमारे हाथ से परमाणु खो जाता है शून्य में, फिर पीछे कुछ मिलता नहीं, फिर पीछे कुछ पकड़ में नहीं आता, सब निराकार हो जाता है; लेकिन उसके टूटते ही विराट ऊर्जा पैदा होती है, जिसको हम अणु-विस्फोट कहते हैं। वह अणु-विस्फोट 'इलेक्ट्रॉन', 'न्यूट्रॉन' और 'पॉजिट्रॉन,' इन तीनों के अलग हो जाने से। इन तीनों के बीच जो ऊर्जा छिपी थी, जो अनंत शक्ति छिपी थी, इन तीनों के हटते ही 'रिलीज' होती है। छूटती है। एक परमाणु-बम हमने गिरा कर देखा हिरोशिमा पर। पाँच मिनिट के भीतर एक लाख बीस हजार आदमी राख हो गये। एक छोटा-सा परमाणु—जो आँख से दिखायी नहीं पड़ता—उसका विस्फोट है। उन तीनों के जुड़े रहने से उतनी शक्ति उसके भीतर छिपी है। छूटते ही इतनी शक्ति बाहर विसर्जित होती है।

ठीक भारतीय-मेधा ने भी—क्योंकि भारतीय-मेधा ने पदार्थ पर बहुत मेहनत नहीं की; क्योंकि उसे लगा कि पदार्थ की मेहनत कहीं ले नहीं जाती; पदार्थ पर मेहनत करके भी देख ली तो भी आदमी को कुछ उपलब्ध नहीं होता; वहम होता है कि मिल रहा है, मिल रहा है, मिल रहा है और हाथ खाली रह जाते हैं—तो भारतीय-मेधा ने पदार्थ पर मेहनत छोड़कर मन पर मेहनत शुरू की। क्योंकि जिस मन को ही सुख-दुख होते हैं, उसे ही क्यों न बदल डालें। जिन वस्तुओं से सुख-दुख होते हैं उन्हें इकट्ठा करने के बजाय, जिस मन को सुख-दुख होते हैं उसे ही क्यों न बदल डालें, यह भारतीय दृष्टि निर्मित हुई। यह बहुत अनुभव से हुई।

उन सब चीजों को इकट्ठा कर लिया जिनसे सुख मिलता है, फिर भी पाया कि इकट्ठे होते ही उससे सुख नहीं मिलता। जिनसे दुख मिलता है उनको अलग करके भी देख लिया, अलग हट जाने पर दुख किसी और से मिलना शुरू हो जाता है लेकिन समाप्त नहीं होता। अंततः पाया कि वस्तुओं से सुख-दुख का कोई सीधा

संबंध नहीं है। सुख और दुख के लिए वस्तुएँ सिर्फ खूँटियों का काम करती हैं। घर में हम जाते हैं, खूँटी पर कोट टाँग देते हैं। अगर खूँटी न मिली तो दरवाजे पर टाँग देते हैं। दरवाजा न मिला, खिड़की पर टाँग देते हैं। कोट कहीं-न-कहीं टँगता ही है, खूँटी से कोई बहुत प्रयोजन नहीं है। इसलिए खूँटी तोड़ दो, बड़ी कर लो, कुछ फर्क नहीं पड़ता, कोट टँग ही जाता है।

भारतीय-मन ने जाना कि वस्तुएँ केवल खूँटियों का काम करती हैं और मन उन पर टँगता है, कोट की तरह। तो अगर दुखी मन है, तो हर खूँटी पर दुखी हो जाता है। सुखी मन है, हर खूँटी पर सुखी हो जाता है। शांत मन है, हर खूँटी पर शांत रहता है। अशांत मन है, हर खूँटी पर अशांत हो जाता है। इसलिए सवाल खूँटियाँ बदलने का नहीं, इस मन को ही बदल लेने का है। तो मन की खोज शुरू की। और मन की खोज में जो विश्लेषण उन्हें लगा, उसमें उन्होंने पाया कि ओम् जो है, प्रणव जो है, वह मन का परमाणु है। क्या इस परमाणु का भी विस्फोट हो सकता है? अगर हो सके तो इस परमाणु से भी ऊर्जा पैदा होगी। क्या इस परमाणु का भी 'एक्सप्लोजन' हो सकता है? योग कहता है—हो सकता है। और इसका अगर विसर्जन हो जाए, अगर यह टूट जाए तो भीतर ऊर्जा पैदा होगी। भीतर अग्नि पैदा होगी। और वही अग्नि व्यक्ति को, उसके अहंकार को, उसके कर्मों को, उसके पापों को, उसके पुण्यों को, उसने जो भी किया है—उसके अतीत को—उसके समस्त बोझ को, उसके समस्त भार को राख कर देती है। यही अग्नि।

अब इस सूत्र को हम पढ़ें।

'ज्ञानी लोग अंतःकरण को नीचे की अरणि बनाते हैं और प्रणव को ऊपर की, और इन दोनों से ज्ञान के मंथन का अभ्यास करते हैं। उससे जो ज्ञानाग्नि पैदा होती है, उसमें अपने समस्त दोषों को जलाकर बंधन से छूट जाते हैं।'

आपने शायद अरणि देखी हो? लकड़ियों को रगड़कर आग पैदा हो जाती है। उन पुराने दिनों में, जब यह उपनिषद लिखा गया, तब आग को पैदा करने का वही सर्वसुलभ उपाय था। या तो चकमक का पत्थर होता है, उनको दो को रगड़ो; या अरणि विशेष तरह की लकड़ी होती है, उन दोनों को रगड़ो, तो अग्नि पैदा हो जाती है।

तो यह सिर्फ प्रतीक है। इस प्रतीक में ऋषि ने कहा है कि अंतःकरण को नीचे की अरणि, नीचे की लकड़ी और ओम् को ऊपर की लकड़ी, ऊपर की अरणि, और इन दोनों की रगड़ से जो पैदा होती है वह अग्नि व्यक्ति के समस्त अतीत को, समस्त कर्मों को, समस्त अज्ञान को जलाकर राख कर देती है और व्यक्ति मुक्त

हो जाता है।

तो ओम् एक अरणि। इस ओम् का आंतरिक-उच्चार—उसकी मैं तुमसे बात करूँगा। पहली बात, अंतःकरण की खोज। क्योंकि आपका जो थोथा सामाजिक अंतःकरण है, उसमें आग-माग बिल्कुल पैदा नहीं हो सकती। उसमें कुछ पैदा नहीं हो सकता। वह अरणि नहीं बन सकता। इसलिए मैंने अंतःकरण की इतनी बात आपसे की। पहले इस अंतःकरण की खोज, फिर ओम् का आंतरिक-उच्चार।

तो ओम् को हम तीन तरह से उच्चार कर सकते हैं। एक तो जोर से, ओंठों के द्वारा। वह बहिर-उच्चार है। फिर हम ओंठों को बंद कर लें, जीभ को भी उपयोग न करें, लेकिन भीतर मन में ही उच्चार करें। वह नंबर दो का उच्चार है। वह मध्य का उच्चार है। फिर एक तीसरा और आंतरिक-उच्चार है, जब हम न तो ओंठों का उपयोग करें, न कंठ का उपयोग करें, न मन का उपयोग करें, और सिर्फ ओम् गूंजता रह जाए। जब यह तीसरा उच्चार संभव हो जाता है, तो ओम् की जो परम आण्विक स्थिति है वह हमारे हाथ में आ जाती है। और नीचे का अंतः-करण हमारे पास हो और यह ओम् की परम आण्विक, सूक्ष्मतम मात्रा हमारे साथ हो, तो इन दोनों की रगड़ से जो अग्नि पैदा होती है, वही ज्ञानाग्नि है।

तो पहले तो उच्चार करके बाहर ही ओम् का अभ्यास करना होता है। पहले तो ओंठ से ही, वाणी से ही ओम् का उच्चार करके अभ्यास करना होता है। फिर ओंठ बंद कर लें, फिर मन से ही उच्चार करें।

प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग समय लगता है। 'इंटेंसिटी' पर, त्वरा पर निर्भर है। कितनी तीव्रता से, तो जल्दी भी हो जाता है। कितनी सघनता से, कितनी प्यास से, तो जल्दी भी हो जाता है।

फिर जब मन का उच्चार इतना सहज हो जाए कि आप कोई भी काम करते रहें और मन का उच्चार चलता रहे, आप भूल जाएँ तो भी चलता रहे—हो जाता है—आप रास्ते पर चल रहे हैं, उच्चार चल रहा है; आप काम कर रहे हैं, उच्चार चल रहा है; भोजन कर रहे हैं, उच्चार चल रहा है; फिर तो धीरे-धीरे ऐसी हालत हो जाती है कि आप बात भी कर रहे हैं तो उच्चार चल रहा है। जब उच्चार इतना स्वाभाविक हो जाए कि आप सो भी रहे हैं, उच्चार चल रहा है; सोते हैं तो भी उच्चार चलता रहता है, सुबह नींद खुलती है तो जो पहली बात स्मरण में आती है, वह उच्चार का अनुभव आता है कि उच्चार चल रहा है, पता चलता है कि रात वह चलता ही रहा।....

स्वामी राम अमरीका से वापिस लौटे, तो सरदार पूर्णसिंह उनके पास थे,

हिमालय में। एक रात, आधी रात है, दोनों एक कमरे में सोए हैं, पूर्णसिंह की नींद टूट गयी—अचानक राम-राम की आवाज कमरे में सुनायी पड़ी। तो वे बहुत हैरान हुए। क्या रामतीर्थ जग रहे हैं, राम का उच्चार कर रहे हैं? गये। राम-तीर्थ तो सो रहे हैं, उनकी नाक से घर्राटे की आवाज आ रही है। वे तो गहरी नींद में हैं, पर आवाज आ रही है। क्या कोई मकान के आसपास आवाज कर रहा है? डरे हुए बाहर गये। टार्च जलाकर सब तरफ देख आए। एकांतवन है, कहीं कोई नहीं है। बरांडा खाली है, दूर-दूर तक कोई दिखायी नहीं पड़ता। लेकिन बरांडे में जाने पर पता चला कि आवाज थोड़ी कम हो गयी। भीतर आए तो आवाज बढ़ गयी। समझ में आया कि आवाज तो कमरे के भीतर ही है, लेकिन कमरा तो एक ही है। बिस्तर के दोनों के नीचे झांक कर देखा, कहीं कोई नहीं है। झाँक कर जब देख रहे थे, तो राम की खाट के पास गये तो वहाँ आवाज और ज्यादा मालूम पड़ी। तो राम के हृदय पर कान रखकर देखा तो पता चला वहाँ आवाज आ रही है। पैर के पास रखकर देखा तो पता चला आवाज आ रही है। हाथ के पास रख कर देखा तो पता चला आवाज आ रही है। राम की यह आवाज पूरे शरीर में ध्वनित हो रही है। घबड़ा गये। चौंककर राम को उठाया कि यह क्या हो रहा है? तो राम ने कहा इसमें क्या बात है। यह बहुत दिनों से चल रहा है। मैं भी चौंक जाता था, खुद ही चौंक जाता था कि यह कोई दूसरा तो नहीं कर रहा है। लेकिन अब यह सहज हो गया है। यह भीतर चलता ही रहता है, चलता ही रहता है। तू थोड़ा शांत रहा होगा, इसलिए तुझे सुनायी पड़ गया, शांति से सो जा।

जब ऐसी अवस्था बन जाती है, तब तीसरी संभावना खुल सकती है। तब फिर करना ही नहीं पड़ती। तब मन को भी अलग किया जा सकता है कि मैं करूँगा ही नहीं अपनी तरफ से। शांत बैठ जाऊँगा, मैं करूँगा ही नहीं; न ओंठ से, न मन से, न कोई संकल्प से, कुछ करूँगा ही नहीं। तब अचानक पता चलता है कि आवाज तो हो रही है। मैं सुन रहा हूँ। जब मेरे भी भीतर मैं सुननेवाला हो जाता हूँ, करनेवाला नहीं, तब परम आण्विक-स्थिति ओम् की उपलब्ध होती है। तब अरणि बन जाता है ओम्। और तब इस ओम् का जो विस्फोट है, नीचे की अंतःकरण की अरणि से टकराकर जो विस्फोट होता है, यह विस्फोट व्यक्ति के भीतर सब—सब जो व्यर्थ है, सबको जला जाता है। उसके बाद व्यक्ति वही नहीं है जो था। दूसरा हो गया। यह दूसरा ही जन्म है। पुराना आदमी समाप्त ही हो गया। इसका उससे कोई लेना-देना ही नहीं। इन दोनों के बीच कोई 'कंटिन्यूटी', कोई सातत्य भी नहीं है। वह गया, यह दूसरा ही आदमी है।

और जब तक ऐसी अंतर-अग्नि न जल जाए, तब तक व्यक्ति संसार के बंधन से मुक्त नहीं होता।

अंतिम बात, हमारे भीतर अस्तित्व ने वह कुंजी रख दी है, जिसका हम कभी भी उपयोग करें तो मुक्त हो सकते हैं। न उपयोग करें, वह हमारी जिम्मेवारी है।

इतना ही।

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वं ।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रतपरितृप्तिमेति ॥ १२ ॥
स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके ।
सुषुप्ति काले सकलेविलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥ १३ ॥

मनुष्य माया के वशीभत होकर शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है और सब तरह के कर्मों को करता है। वही मनुष्य विषय-वासना और मद्यपान आदि विचित्र भोगों को भोगकर जाग्रत अवस्था में तृप्त होता है ॥ १२ ॥

माया से कलिपत जीवलोक में वही मनुष्य स्वप्नावस्था में शरीर के सुखों व दुखों को भोगता है और सुषुप्तावस्था में जब समस्त माया का प्रपंच समाप्त हो जाता है, तब तमोगुण से पराजित होकर सुख का अनुभव करता है ॥ १३ ॥

दसवाँ प्रवचन; माउंट आबू, ३० मार्च १९७२, प्रातः
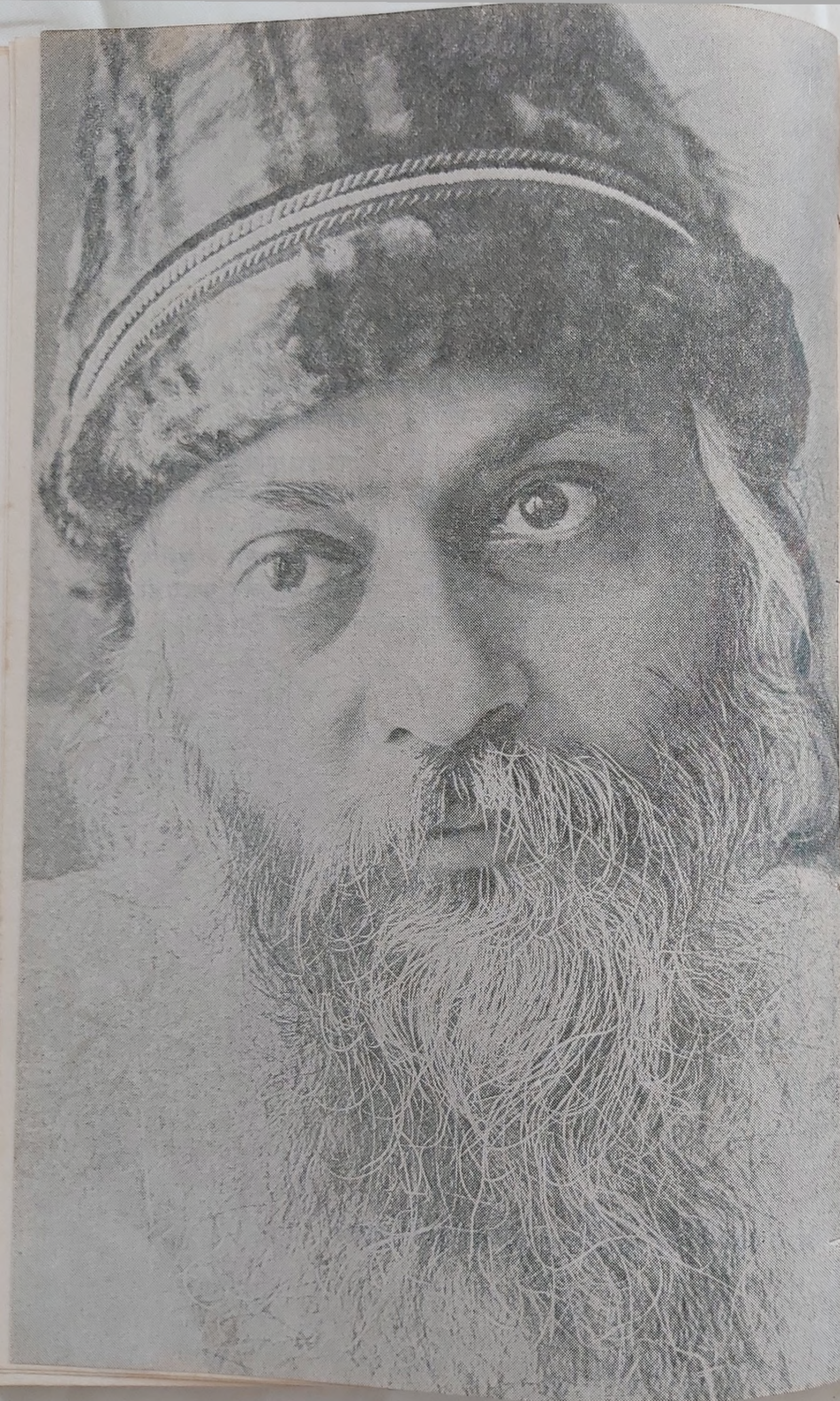
तृप्ति का सम्मोहन जीवनक्रांति में बाधा

थोड़े-से शब्दों को पहले समझ लें ।

'मनुष्य माया के वशीभूत होकर शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है, और सब तरह के कर्मों को करता है ।' माया से वशीभूत होकर शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है । माया शब्द को सबसे पहले हम समझ लें । साधारणतः लोग समझते हैं, माया उसे कहते हैं जो नहीं है । इसलिए अँग्रेजी में उसका अनुवाद लोग 'इलूजन' करते हैं । वह अनुवाद गलत है ।

माया का अर्थ भ्रम नहीं है । माया का अर्थ सम्मोहन है, 'हिप्नोसिस' । माया का अर्थ है, मनुष्य के मन की ऐसी क्षमता है कि वह जो भी मान ले वैसा ही उसके मन के समक्ष होना शुरू हो जाता है । उसकी मान्यता ही यथार्थ बन जाती है । वह जैसा स्वीकार कर ले, जैसा अंगीकार कर ले, वैसा ही घटना शुरू हो जाता है । माया मनुष्य के मन की एक क्षमता है और इसीका बड़ा विस्तार पूरे जगत में दिखायी पड़ता है । सारे मनुष्य मिलकर सारे जगत में जो सम्मोहन की अवस्था पैदा करते हैं, वह पूरे जगत की माया बन जाता है । जैसे एक आदमी पागल है तो एक आदमी पागल है । अगर पूरा समूह पागल हो जाए तो वह समूह जो पैदा करेगा वह पूरे ही जगत को पागल कर देगा ।

माया मन की सम्मोहित होने की क्षमता का नाम है । सम्मोहन का अर्थ है कि हम जैसा मानते हैं, वैसा होना शुरू हो जाता है ।

थोड़े-से खयाल लेंगे तो समझ में आ जाएगा ।

अगर आपने किसी 'हिप्नोटिस्ट' को, सम्मोहन करने वाले को, सम्मोहनविद को देखा हो––किसी मेक्सकोली को, या किसी और को––न देखा हो तो भी कोई बात नहीं, छोटा-सा प्रयोग कहीं भी करके देख ले सकते हैं, खुद भी । यहाँ इतने लोग बैठे हैं, अगर हम सारे लोग अपनी मुट्ठियाँ बंद कर लें और एक पाँच मिनट तक सोचते रहें कि यह मुट्ठियाँ अब खुल नहीं सकेंगी, यह मुट्ठियाँ खुल न सकेंगी, ऐसा पाँच मिनट सोचते रहें, फिर पाँच मिनट के बाद मैं आपसे कहूँ

कि अब खोलिये मुट्ठियाँ पूरी ताकत लगाकर, तो कम-से-कम तीस प्रतिशत लोग मुट्ठियाँ नहीं खोल पाएँगे। और जितनी कोशिश करेंगे, उतना ही पाएँगे कि मुट्ठी खोलना असंभव है। अपनी ही मुट्ठी! तीस प्रतिशत लोग मुट्ठी नहीं खोल पाएँगे। इससे ज्यादा भी संभव हो सकता है। मगर तीस का तो होगा ही और जितनी आप कोशिश करेंगे खोलने की उतना ही पाएँगे कि आपके वश के बाहर हुआ जा रहा है, मुट्ठी और बँधती जा रही है। और मजा यह है कि मुट्ठी आपकी है। और सदा खोलते रहे हैं, और आज क्या हो गया!

वह जो पाँच मिनट आपने भाव किया कि अब मुट्ठी नहीं खुल पाएगी, वह सम्मोहन की क्षमता का उपयोग है। मुट्ठी बँध गयी!

अगर हम एक व्यक्ति को, दो दूर कुर्सियाँ रख दें, पाँच फिट की दूरी पर, एक कुर्सी पर उसका सिर रखें, दूसरी कुर्सी पर उसके थोड़े-से पैर आ जाएँ और उसको कहें कि लेट जाओ तो फौरन नीचे गिर जाएगा, क्योंकि कमर झुक जाएगी। कमर के लिए कोई सहारा चाहिए। लेकिन इस व्यक्ति को जमीन पर पहले लिटा दें और सम्मोहित कर दें और उसको कहें कि चाहे कुछ भी हो जाए तुम्हारी कमर नहीं झुकेगी। फिर पाँच-सात मिनट के बाद इसको उठाकर कुर्सी पर रख दें, यह लकड़ी के तख्ते की तरह दोनों कुर्सियों पर रख जाएगा। न केवल इतना बल्कि अब इसकी कमर पर बीच पर एक आदमी सवार होकर बैठ जाए तो भी उसकी कमर झुकनेवाली नहीं है। क्या हुआ इसको? इसके मन की सम्मोहन की क्षमता का प्रयोग हुआ और शरीर इस क्षमता का अनुगमन करता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हमारे जीवन की सौ में से नब्बे घटनाएँ हमारे सम्मोहन से घटती हैं। एक आदमी खाँसना शुरू करता है, अचानक सबको खाँसी आनी शुरू हो जाती है। एक आदमी उठकर पेशाब करने चला जाएगा, न-मालूम कितने लोग उठकर जाने लगेंगे। आपको पता नहीं है, यह सिर्फ सम्मोहन है। यह सिर्फ अपनी क्षमता अपने को सम्मोहित कर लेती है। अभी तक आप बैठे थे, कोई खाँसी न थी। लेकिन एक खाँसा कि आपको खाँसी का खयाल आया। खयाल आते से आपके सम्मोहन को पकड़ा। सम्मोहन को पकड़ते ही से आपके गले में खराश शुरू हुई। अब आप खाँसेंगे, अब आप बच नहीं सकते। यह 'सजेशन' है, यह मंत्र का काम किया। अब आप इसका अनुगमन करेंगे

गाँव में महामारी फैल जाती है। आप कभी ख्याल किये हैं, संक्रामक बीमारी फैल जाती है, लोग एकदम बीमार पड़ने लगते हैं। लेकिन डॉक्टर और नर्सेज दिन रात उन्हीं मरीजों की सेवा करते रहते हैं और बीमार नहीं पड़ते हैं। अगर बीमारी 'इनफेक्शियस' है, तो सबसे पहले उनको लग जानी चाहिए। सिर्फ

सम्मोहन। कि अब यह डॉक्टर जानता है कि मैं डॉक्टर हूँ। यह सम्मोहन उसको बीमारी के प्रवेश से रोकता है। वह दूसरे की सेवा में इस तरह रत है कि बीमारी का मंत्र उस पर काम नहीं कर पाता। और बाकी लोग बीमार पड़ते चले जाते हैं।

मनस्विद कहते हैं कि इसमें बीमारी के कीटाणु जितना काम करते हैं, वह गौण है; इसमें सम्मोहन की क्षमता जितना काम करती है वह प्रमुख है। बीमार होते हैं, स्वस्थ होते हैं, यहाँ तक कि मनस्विद कहते हैं कि अगर एक मुल्क में लोग सत्तर साल तक जीते हैं तो मुल्क के मनस् में यह सम्मोहन बैठ जाता है कि इससे ज्यादा तो जिआ नहीं जा सकता। शरीरशास्त्री कहते हैं कि मनुष्य का शरीर कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता कि इतनी जल्दी क्यों मर जाए। बहुत जी सकता है। लेकिन अगर मुल्क में सत्तर साल की सीमा है लोगों के ख्याल में, तो वह सत्तर साल के करीब-करीब पहुँचते आप ही सम्मोहित हो जाते हैं कि अब मरने का वक्त करीब आ रहा। अब बूढ़ा होने का वक्त करीब आ रहा। अब मरने का वक्त करीब आ रहा।

गाँधीजी को ख्याल था कि वह एक सौ पच्चीस वर्ष जिएँगे, वह जी सकते थे। इसमें किसी और शक्ति का प्रयोग नहीं है। वह जीवन भर से सोच रहे थे एक सौ पच्चीस वर्ष जियूँगा, यह सम्मोहन काम करता। अगर उनकी हत्या न की जाती तो यह सम्मोहन काम करता। और अगर इसमें और गहरे उतरें, तो गोडसे उनकी हत्या कर सका, इसमें भी उनका स्वयं का थोड़ा हाथ स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि हत्या के छः महीने पहले से उन्होंने एक सौ पच्चीस वर्ष जीने का खयाल छोड़ दिया था। और छः महीने से वह कहने लगे थे, अब तो परमात्मा मुझे उठा ले। भीतर कहीं मरने का भाव बैठना शुरू हो गया था।

जीवन बहुत रहस्यपूर्ण है। अगर मैं मरने के भाव को भीतर बिठाना शुरू कर दूँ, यह जीवन में यहाँ सब संयुक्त है, कोई मुझे मारने के भाव से संक्रमित हो जाएगा। और हम दोनों के मेल से घटना घटेगी, जिम्मेवार अकेला वही होगा।

जीसस के बाबत कहा जाता है कि उनको सूली चढ़ा दी गयी, फिर वे पुनरुज्जीवित हो गये। यह सिर्फ सम्मोहन की गहन घटना है। जीसस को निरंतर ख्याल था कि मुझे मार डालो तो परमात्मा मुझे पुनरुज्जीवित करेगा। क्योंकि यहूदी-शास्त्रों में कहा हुआ है कि जो पैगंबर होगा, जो क्राइस्ट होगा, वह मारा जाएगा और पुनरुज्जीवित होगा। जीसस को ख्याल था कि वही मैं आदमी हूँ, जिसका शास्त्रों ने विचार किया है। उनके शिष्यों को ख्याल था कि वही आदमी हैं जीसस। इसलिए हिम्मत से वे सूली पर चले गये। सूली का उन्हें जरा-भी भय नहीं था, क्योंकि उन्हें पता था कि मैं पुनरुज्जीवित हो जाऊँगा।

अगर इसको मनस्शास्त्र की तरफ से सोचें तो ऐसा दिखायी पड़ता है कि जब उनको सूली दी गयी, तो वे सिर्फ गहरे बेहोश हो गये--लेकिन इस भरोसे से, इस आश्वासन से कि मैं पुनरुज्जीवित हो जाऊँगा। यह बेहोशी 'हिप्नोसिस' है। यह बेहोशी आत्म-सम्मोहन है। मर रहा हूँ, यह उन्होंने स्वीकार कर लिया। लेकिन उस स्वीकार के पीछे एक गहरा मंत्र काम कर रहा था कि मैं तीन दिन के बाद पुनरुज्जीवित हो जाऊँगा। वह गहरे 'कोमा' में, बेहोशी में चले गये। यह बेहोशी स्व-निर्मित थी।

और जब दुश्मनों ने जाना कि वह मर गये हैं, तो उनकी लाश को पास की एक गुफा में रखकर वे चले गये। तीन दिन बाद गुफा खाली पायी गयी। और जीसस के अनेक शिष्यों ने जीसस को अलग-अलग स्थानों पर देखा। फिर इसके बाद ईसाइयत के पास जीसस का कोई रेकॉर्ड नहीं है कि फिर जीसस का क्या हुआ? अगर जीसस पुनरुज्जीवित हो गये तो फिर वे कब मरे? उनके पास कोई रेकॉर्ड नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीसस पुनरुज्जीवित हो गये, फिर उन्होंने जेरूसलम छोड़ दिया। क्योंकि वहाँ दुबारा मारे जाने के सिवाय कोई उपाय न था। वह हिंदुस्तान चले आए और श्रीनगर के पास एक छोटे-से-गाँव में रहे और वहीं मरे। उस छोटे-से गाँव का नाम आज भी बेथेनहॅम है। और गाँव में आज भी एक कब्र है, जो ईसा की कब्र कही जाती है।

यह पुनरुज्जीवन, यह मृत्यु गहरे सम्मोहन से घटित हुई। वस्तुतः ही जीसस मर गये हों तो फिर पुनरुज्जीवित होने का कोई उपाय नहीं है। मरे ही नहीं थे। एक गहरे सम्मोहन में चले गये थे, तीव्र तंद्रा में उतर गये थे, जहाँ श्वाँस भी खो जाती है, हृदय की धड़कन भी बंद हो जाती है। सम्मोहन की यह भी क्षमता है कि अगर आप चाहें तो अपनी नाड़ी को कम-ज्यादा कर सकते हैं, बड़ी आसानी से। आप थोड़ा नाड़ी पर हाथ रख कर गिनती कर लें, फिर पाँच मिनट सोचते रहें कि नाड़ी की गति बढ़ रही है, बढ़ रही है, और पाँच मिनट बाद आप फिर नाड़ी को नापिये, आप पाएँगे नाड़ी की गति बढ़ गयी। सूत्र आपके हाथ में आ गया। अब चाहें, आप घटा लें। अभ्यास करते-करते एक दिन आप इस जगह आ सकते हैं कि नाड़ी बंद हो जाए और आप जीवित हों। फिर आप हृदय से भी प्रयोग कर सकते हैं। उसकी धड़कन को घटाने-बढ़ाने का प्रयोग करें, फिर घटाते-घटाते उस जगह ले आएँ जहाँ हृदय की धड़कन शून्य हो जाए। तो एक छः महीने में आपकी हृदय की धड़कन बंद हो जाएगी और आप जीवित होंगे।

शरीर हमारे मन की आज्ञा मानकर ही चल रहा है। अभी भी। बीमार पड़ता है तो हमारी आज्ञा मानकर चलता है, स्वस्थ होता है तो हमारी आज्ञा

मानकर चलता है। बूढ़ा होता है तो हमारी आज्ञा मानकर चलता है। जीता है, मरता है, तो भी हमारी गहरी स्वीकृति और आज्ञा उसको होती है। बूढ़े आदमी मर जाते हैं, इसका गहरा कारण यह है कि बूढ़े होते ही से आदमी मरने की आकांक्षा करने लगता है। जवान आदमी नहीं मरते हैं, उसका मौलिक कारण जवानी नहीं है; जवान आदमी मरना नहीं चाहते हैं, वह मौलिक कारण है। यह शारीरिक घटना कम है और मानसिक घटना ज्यादा है।

सम्मोहन को हिंदू-शास्त्रों ने माया कहा है। हम जो भी कर रहे हैं, जो भी हैं, जो भी हमारी चित्तदशा है, वह सब हमारा सम्मोहन है। आप सुखी हैं, दुखी हैं, वह आपका सम्मोहन है। लेकिन आपको पता भी नहीं है, इसलिए बदलाहट बड़ी मुश्किल पड़ती है। बड़ी मुश्किल पड़ती है बदलाहट करना। अगर आप दुखी हैं और किसीसे कहो कि यह तुम्हारा सम्मोहन है कि तुम दुखी हो, तो वह मानने को राजी नहीं होगा, क्योंकि बदल नहीं सकता। लेकिन सम्मोहन के आप प्रयोग करें तो आप चकित ही हो जाएँगे। एक व्यक्ति को सम्मोहित करके लिटा दें, फिर उसको प्याज का टुकड़ा दे दें और कह दें यह सेव है, वह खाएगा और कहेगा सेव है। फिर आप उसके मुंह में मिट्टी डाल दें और कहें कि यह मिठाई है और वह मिठाई की तरह ही भाव पैदा करेगा चेहरे पर। स्वाद लेगा, आनंदित होगा और कहेगा बहुत मीठा है।

क्या हो रहा है उसे?

कुछ भी नहीं हो रहा है, उसका मन जो स्वीकार कर रहा है वैसा ही शरीर चलना शुरू कर देता है। मुसलमान फकीर, और भी लोग आग पर कूदते रहे हैं। सूफी फकीर आग पर उतर जाते हैं। वह सिर्फ सम्मोहन है। सिर्फ यह भाव प्रगाढ़ है कि पैर नहीं जल सकते, अल्लाह का साथ है, फिर पैर नहीं जल सकते। इसमें अल्लाह कुछ भी नहीं कर रहा है। सिर्फ यह भाव, प्रगाढ़ भाव कि पैर नहीं जल सकते, तो अंगारा भी पैर पर असर नहीं कर पाता है; क्योंकि अंगारे को भी असर करना हो पैर पर, तो मन का सहयोग चाहिए। मन के सहयोग के बिना वह भी प्रभावी नहीं है। तो आग से आदमी गुजर जाएगा और पैर नहीं जलेंगे। और आप सोचते हैं यह बहुत कठिन है, तो आप किसीको भी सम्मोहित करके बेहोश कर लें और उसके हाथ में साधारण कंकड़ रख दें और कहें कि यह अंगारा है और हाथ में फफोला आ जाएगा।

यह मन की क्षमता का नाम माया है, इस सूत्र में। और इस माया से वशीभूत सारे लोग मिलकर जो जगत निर्माण करते हैं, वह बिलकुल 'मैजिकल' है, वह बिलकुल जादूगरी है। जिस जगत में हम रह रहे हैं वह हमारा जादू है। छाती

पीट रहे हैं, रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, यह दुख हो रहा है, वह सुख हो रहा है, यह तकलीफ हो रही है, वह तकलीफ हो रही है, और वह हमारा ही जादू है, और हमारे ही हाथ में उसकी कुंजी है।

यह सूत्र कहता है--मनुष्य माया के वशीभूत होकर शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है। शरीर को सब कुछ समझना हमारा सम्मोहन है। यह सिर्फ हमारा खयाल है। और यह खयाल आप किसी भी चीज के साथ जोड़ दें। यह खयाल जुड़ सकता है किसी भी चीज के साथ। एक स्त्री है, वह आज मर जाए तो आपको कुछ कठिनाई नहीं होगी। कल आप उससे विवाह कर लेते हैं। विवाह करके आप करते क्या हैं? सात चक्कर लगाकर आप करते क्या हैं? वह सिर्फ सम्मोहन की प्रक्रिया है, कि सात चक्कर लगाकर, धूमधाम मचाकर, बेंडबाजा बजाकर, पंडित-पुरोहित को बुलाकर, लोगों को इकट्ठा करके आप अपने को सम्मोहित कर रहे हैं। वही स्त्री है। कल मरती आपको कोई दुख न होता, आज मरेगी आप छाती पीटकर रो रहे हैं। बड़ा आश्चर्य है! यह सात चक्कर ने, यह मंत्र-तंत्र ने, यह भीड़-भड़क्के ने, बेंडबाजे ने बड़ा चमत्कार किया है कि आप छाती पीटकर रो रहे! सिर्फ सम्मोहित किया है।

इसलिए जो लोग सोचते हैं कि शादी-विवाह में इतने क्रियाकांड की जरूरत नहीं है, उनको पता नहीं है, अगर यह क्रियाकांड नहीं होगा, तो पत्नी पैदा ही नहीं हो सकती। यह क्रियाकांड अनिवार्य है, सम्मोहन का हिस्सा है। इसलिए जिन मुल्कों ने बुद्धिमानों की बातें मानकर--और बुद्धिमान कभी-कभी बहुत बुद्धिहीनता की बातें कहते हैं--उनकी बातें मानकर कि इससे क्या फायदा, सात चक्कर लगाने से क्या मतलब, बेंडबाजे से क्या मतलब, फुलझड़ी-फटाके से क्या मतलब है, घोड़े पर बैठने से क्या मतलब है, दूल्हे के कपड़े पहनने से न पहनने से क्या मतलब है, विवाह करना है तो कर लो, हाथ मिला लो, माला डाल दो, विवाह हो गया। लेकिन ध्यान रखना, वह सारी-की-सारी प्रक्रिया सम्मोहन की प्रक्रिया थी। उस सम्मोहन के प्रभाव में ही तुम पति बनते हो, वह पत्नी बनती है, तुम्हारे बीच संबंध निर्मित होता है। वह तुम्हें अपनी मालूम पड़ती है, तुम उसे उसके मालूम पड़ते हो। अब अगर वह सारी क्रिया छोड़ दी, तो वह एक स्त्री है, तुम एक पुरुष हो। और तब तलाक अनिवार्य है।

जिन-जिन मुल्कों ने विवाह का क्रियाकांड छोड़ दिया, उन-उन मुल्कों को तलाक का क्रियाकांड निर्मित करना पड़ा है। यह अनिवार्य है, क्योंकि हमें पता नहीं है कि एक मन के काम करने के ढंग क्या हैं। मन के काम करने के ढंग हैं। और मन के काम करने के सब ढंग सम्मोहन के ढंग हैं। उस प्रक्रिया से गुजरेंगे तो मन

सम्मोहित हो जाएगा।

जब एक लड़के को और गाँव में आप दूल्हा बनाकर घोड़े पर बिठाकर निकालते हैं, ऐसा जिंदगी में मौका उसे दुबारा फिर घोड़े पर बैठकर निकलने का आनेवाला नहीं है। पहली दफा वह अनुभव करता है, मैं भी कुछ हूँ। उसे हम दूल्हा-राजा कहते हैं। एक क्षण को वह भी राजा हो जाता है। और ठीक राजा की शान से घूमता है। जिंदगी में यह शिखर उसको फिर कभी नहीं मिलेगा। इस अहंकार के क्षण में सम्मोहन बहुत आसान है।

ध्यान रखना, अहंकारशून्य आदमी हो तो सम्मोहित नहीं किया जा सकता। यह साधारण आदमी अचानक दूल्हा-राजा हो गया है। इसका अहंकार मजबूत है, यह घोड़े पर सवार है। सारा गाँव घोड़े के नीचे है, यह घोड़े के ऊपर है। इसके अहंकार को एक शिखर उपलब्ध हो रहा है। इस शिखर के क्षण में जो भी घटना घटेगी, यह इस वक्त बहुत 'डेलीकेट' है, बहुत नाजुक है, इसके भीतर कोई भी चीज प्रवेश कर जाएगी। सम्मोहन पकड़ जाएगा। फिर दुबारा इस ऊँचाई पर यह कभी नहीं होगा। और इसलिए जिस ऊँचाई पर यह सम्मोहन पैदा हुआ था वह जिंदगी-भर टिकेगा। वह अब छूट नहीं सकता पीछे। वह उसके अहंकार का हिस्सा हो गया।

जिन्होंने यह सारी प्रक्रियाएँ खोजी थीं वे मन की माया को समझते थे। और आज के जो तथाकथित बुद्धिमान आदमी हैं, उनको मन की माया का कुछ भी पता नहीं है। वह निपट मूढ़तापूर्ण बातें लोगों को समझाते रहते हैं। यद्यपि वह तर्क देते हैं, लेकिन तर्क थोथे हैं। और तर्कों के पीछे मनुष्य के मन के विज्ञान का कोई बोध नहीं है। और जब वह बातें करते हैं तो ऐसा लगेगा कि बिलकुल ठीक तो कह रहे हैं, क्या जरूरत है इतना खर्च करने की। हम समझाते हैं कि भाई क्या जरूरत है इतना खर्च करने की! लेकिन वह खर्च अगर न हो तो सम्मोहन पैदा नहीं होगा। इसलिए गरीब अपनी हैसियत से भी ज्यादा खर्च कर लेता है। वह हैसियत से ज्यादा खर्च करने का मौका दुबारा उसको नहीं आएगा। हैसियत से ज्यादा खर्च करके वह दिल को नाजुक कर लेता है और अहंकार से भर जाता है। उस क्षण में उसके भीतर जो प्रवेश कर जाता है, वह टिकेगा। वह उसकी माया का हिस्सा हो गया। अब यह स्त्री नहीं रही, पत्नी हो गयी। अब यह परायी नहीं रही, मेरी हो गयी। यह जो मेरा होना है, इसके लिए मूल्य चुकाना पड़ता है। और हमारा सारा-का-सारा जीवन ऐसे ही चलता है। ऐसे ही चलता है।

हम अपने शरीर के संबंध में भी जो धारणा बनाए हुए हैं कि यह मेरा है,

यह भी सम्मोहन है। बचपन से हमें सिखाया जाता है, बचपन से हम सीखते हैं। अनुभव से भी पता चलता है। लेकिन मनस्विद कहते हैं कि बच्चा जब पैदा होता है तो उसे कुछ पता नहीं होता कि यह शरीर उसका है। उसे कुछ पता नहीं होता। उसे यह भी पता नहीं होता कौन उसकी माँ है, कौन उसका पिता है, कुछ पता नहीं होता। यह सब सम्मोहन से वह सीखता है। माँ उसके ज्यादा निकट होती है, दूध पिलाती है, उसकी फिकर करती है, धीरे-धीरे वह उसका चेहरा पहचानना शुरू कर देता है। चेहरा भी वह बाद में पहचानता है, स्तन ही पहले पहचानता है, इसी कारण पुरुष पूरे जीवन स्त्री के स्तन से मुक्त नहीं हो पाते।

पूरे जीवन, हमारे चित्रकार हों, कवि हों, लेखक हों, बड़े विद्वान हों, स्त्री के स्तन से मुक्त नहीं हो पाते। क्योंकि वह पहला सम्मोहन है दूसरे के शरीर का। इसलिए स्तनों की तलाश चलती रहती है। खोज चलती रहती है। मूर्ति हो, चित्र हो, कविता हो, सब जगह स्तन उभर-उभर कर आता रहता है। वह पुरुष के मन में पहला सम्मोहन है। गहरे बैठ जाता है। स्त्री शब्द का उच्चारण करते ही स्तन की छाया निर्मित हो जाती है। फिर वह चेहरे को बच्चा पहचानना शुरू करता है। दूसरों को पहचानना शुरू करता है। धीरे-धीरे दूसरों के बीच अपने को अलग अनुभव करना शुरू करता है। माँ का हाथ उसे अलग मालूम पड़ने लगता है। अपना हाथ उसे अलग मालूम पड़ने लगता है। धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व का अलग बोध होना शुरू होता है।

पशुओं के मनोविज्ञान पर कुछ काम चलते हैं। जैसे भेड़ के बाबत हम सब को अंदाज है कि भेड़ भीड़ में चलती है। और एक भेड़ एक तरफ चली जाए तो सारी भेड़ें उस तरफ चली जाती हैं। भेड़ का नेता एक तरफ जाए, तो फिर सारी भेड़ें उस तरफ जाएँगी, चाहे वह खड्डा ही क्यों न हो, जान ही खतरे में क्यों न हो! अब तक ऐसा ही समझा जाता था कि भय के कारण ऐसा होता है, लेकिन अभी नयी खोजें यह कहती हैं कि भेड़ों को अपने शरीर का व्यक्तिगत बोध नहीं है। उनके पास एक 'कॅम्यूनल माइंड' है। एक सामूहिक-चित्त है। तो वह जो दूसरी भेड़ है, वह भेड़ को दूसरी मालूम पड़ती ही नहीं। भेड़ एक 'ग्रुप माइंड' में जीती हैं। उनका एक समूह-चित्त है। इसलिए एक भेड़ वहाँ जा रही है उसका मतलब है कि मेरा एक हिस्सा वहाँ जा रहा है, तो मैं भी खिंचा चला जा रहा हूँ। व्यक्ति-चित्त भेड़ में पैदा नहीं होता।

चींटियों में भी ठीक समूह-चित्त है। 'कलेक्टिव माइंड' है। और समूह-चित्त पैदा हो सकता है। सिर्फ सम्मोहन की बात है। व्यक्ति-चित्त पैदा हो सकता है, वह भी सम्मोहन की बात है। समूह-चित्त पैदा हो सकता है, वह भी सम्मोहन की

बात है।

पूरब के मुल्कों में एक पारिवारिक-चित्त था। तो परिवार का एक आदमी मर जाए तो परिवार के पूरे आदमी मरने को तैयार हो जाएँ। लेकिन पश्चिम में परिवार-चित्त टूट गया––पूरब में भी टूट रहा है। अगर बाप पिट रहा हो तो भी बेटा पहले यह सोचेगा पश्चिम में कि सही कौन है? यह बाप जो पिट रहा है यह ठीक है, कि मारनेवाला ठीक है, जब तक यह साफ न हो तब तक किसीका पक्षपात लेना ठीक नहीं है। ऐसे यह ठीक है बात। क्योंकि बाप होने से कोई ठीक तो नहीं हो सकता। हो सकता है इसने कुछ गड़बड़ी की हो और ठीक पिट रहा हो! लेकिन पूरब में यह संभव नहीं था। धीरे-धीरे यहाँ भी संभव हो जाएगा। परिवार-चित्त था। तुम्हें सवाल ही नहीं था कि बाप पिट रहा है––मैं पिट रहा हूँ। एक सामूहिक भाव था। दोनों के शरीर कहीं भीतर एक ही सम्मोहन में गुंथे थे। वह सम्मोहन टूट जाए, तो भिन्न स्थिति निर्मित हो जाएगी।

मेरा शरीर भी मेरा ही सम्मोहन है। इसलिए ख्याल करें आप कि आपके शरीर में भी बड़े विभाजन हैं। जैसे शरीर के ऊपर का हिस्सा आपका ज्यादा मेरा है और शरीर के नीचे का हिस्सा आपका कम मेरा है। यह बड़े मजे की बात है। एक ही शरीर है। उसमें नीचे के शरीर को आदमी ऐसा समझता है कि अपना नहीं। ऊपर के शरीर को समझता है अपना। और सबसे ज्यादा तो खोपड़ी को अपना समझता है, बाकी. . . . अगर आपका हाथ कट जाए तो आपको ऐसा नहीं लगता कि मैं मर गया; लेकिन खोपड़ी, तो गये! शरीर में भी आपके विभाजन हैं।

और विभाजन इतने गहरे हो सकते हैं, जैसे कि सारी संस्कृतियों ने जिन्होंने भी कामवासना का दमन करवाया है तो जननेंद्रिय से आपको ऐसा नहीं लगता कि मेरा हिस्सा है। इसलिए उसको छिपाए चलते हैं। घबड़ाए रहते हैं, डरे रहते हैं। भयभीत रहते हैं। ऐसा लगता है कि वह कोई जैसे कोई दुश्मन शरीर के भीतर है, अपना नहीं है। छोटे-से बच्चे में हम सम्मोहन पैदा करवाते हैं। बच्चा जैसे ही जननेंद्रिय छूता है, सारा घर रोकने को तत्पर हो जाता है––छुओ मत! बच्चे को खुद भी हैरानी होती है, क्योंकि उसको बच्चे को अभी कुछ पता नहीं है कि हाथ और जननेंद्रिय में कोई फर्क है। लेकिन सारा घर सचेत हो जाता है और सारे घर के मन में निंदा का भाव आ जाता है। बच्चा भी भयभीत हो जाता है कि मामला कुछ और है, बाकी सब शरीर ठीक है, जननेंद्रिय ठीक नहीं है। फिर यह भाव सघन होता चला जाता है। फिर आप अगर अपने से पूछें, तो आपको पता बिलकुल पक्का चल जाएगा कि जननेंद्रिय आपका शरीर का हिस्सा नहीं है।

अभी अमरीका की एक खिलौनों की कंपनी ने खिलौना बनाया है--आपने ख्याल नहीं किया होगा कि आपके सब खिलौने झूठे हैं, क्योंकि उनमें जननेंद्रिय नहीं होती है। अगर आपका एक गुड्डा है, तो उसमें जननेंद्रिय नहीं होती और बाकी सब होता है। लड़की है, गुड़िया है, तो जननेंद्रिय नहीं होती, बाकी सब होता है। एक कंपनी को सूझा—बड़ी सूझ की बात है, और मैं समझता हूँ पाँच-छः हजार वर्षों में पहली दफे सूझी किसी खिलौने बनानेवाले को कि यह बात तो झूठ है, प्रामाणिक नहीं है--तो उसने जननेंद्रियाँ बना दीं खिलौनों में। तो सुप्रीम कोर्ट तक मुकदमा गया। और आखिर सुप्रीम कोर्ट ने फैसला दिया अमरीका की कि जननेंद्रियाँ खिलौनों में नहीं बनायी जा सकतीं।

आश्चर्यजनक बात है! क्या हमारा दिमाग है! क्यों नहीं बनायी जा सकती हैं? उस कंपनी ने बहुत लड़ाई की, लेकिन नहीं बनायी जा सकती। कंपनी का कहना यह था कि अगर यह शरीर में है, तो फिर खिलौनों में क्यो नहीं होनी चाहिए? खिलौना प्रामाणिक होना चाहिए। लेकिन बड़ी घबड़ाहट फैल गयी और ऐसा मालूम पड़ा कि सारे अमरीका की बुद्धि इसपर अटक गयी। बड़े विरोध में पत्र लिखे गये, अखबारों में खबरें छपीं, विवाद चला, जगह-जगह 'सिंपोजियम' हुए कि यह नहीं हो सकता, इससे तो संस्कृति नष्ट हो जाएगी। आदमी में जननेंद्रिय है और संस्कृति नष्ट नहीं हो रही, और खिलौने में जननेंद्रिय होगी तो संस्कृतियाँ नष्ट हो जाएँगी!

नहीं पर, उसका कारण है! इस जिद्द और झगड़े का कारण है। और सुप्रीम कोर्ट के बुद्धिमान जजों को भी निर्णय देने के पीछे कारण है। कोई जननेंद्रिय को अपना हिस्सा मानता ही नहीं। हमारा बस चले तो उन्हें काट डालें। जिसका बस चला उन्होंने काट डालीं। रूस में एक बड़ा संप्रदाय था केथॅलिक ईसाइयों का जिसका नियम यह था कि जब तक कोई जननेंद्रिय न काट डाले तब तक वह धार्मिक नहीं हो सकता। तो जननेंद्रियाँ काट डालीं।

चार-पाँच हजार साल पहले सारी दुनिया में ऐसे समूह थे जो जननेंद्रियों को काटने को भरोसा रखते थे। मुसलमान आज भी 'खतना' करते हैं, यहूदी 'खतना' करते हैं, वह सिर्फ उसीका 'सिम्बॉलिक' है। एक जमाना था पूरी जननेंद्रिय काट कर आदमी धार्मिक होता था, फिर उतना तो मुश्किल पड़ने लगा लोगों को, लोग राजी न रहे, तो थोड़ी-सी चमड़ी काटकर प्रतीकात्मक रूप से 'खतने' को जारी रखा गया है। तो अगर 'खतना' नहीं हुआ है, तो कोई आदमी मुसलमान नहीं है। अगर 'खतना' नहीं हुआ है तो वह स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकते। यह सिर्फ छोटा-सा प्रतीक रह गया, लेकिन मौलिक आधार यही था।

पर यह, अगर यह हमारे मस्तिष्क में हो तो फिर शरीर में विभाजन हो जाएँगे। हमारे शरीर में विभाजन हैं। विभाजन इतना गहरा घुस जाता है कि जिसका कोई हिसाब नहीं है। पर हम उतने शरीर से जितने से हमारा तादात्म्य बना लेते हैं, उससे तादात्म्य बन जाता है। और जिससे हम तादात्म्य छोड़ देते हैं उससे तादात्म्य छूट जाता है। यह जानकर आप हैरान होंगे कि आप बालों को काटते हैं तो आपको कोई तकलीफ नहीं होती। क्योंकि अधिकतर समाजों में बाल और नाखून को शरीर का हिस्सा नहीं माना है। वह मुर्दे हिस्से हैं। लेकिन एक आदमी को सम्मोहित करें और उससे कहें कि बाल तुम्हारे शरीर का जीवंत हिस्सा है और अब जब तुम्हारे बाल कभी भी काटे जाएँगे तो तुम्हें तकलीफ होगी, उसे तकलीफ होगी। फिर उसके बाल काटिये तो वह वैसे ही चीखेगा-चिल्लाएगा जैसे अँगुली काटी हो।

क्या यह संभव है कि मैं अपने हाथ को सम्मोहन के द्वारा मान लूँ कि मेरा नहीं है और तब आप काटें तो मुझे दर्द न हो? यह संभव है। यह संभव है। अगर जीसस को तकलीफ न हुई सूली पर चढ़ते वक्त, तो उसका कारण इस बात की प्रतीति थी कि यह शरीर मैं नहीं हूँ। अगर मंसूर के हाथ-पैर काटे गये और वह हँसता रहा, तो उसका कुल कारण इतना था कि उस को प्रतीतिथी कि यह मैं नहीं हूँ। अगर यह प्रतीति हो यह शरीर मैं हूँ,तो दुख होगा, पीड़ा होगी। तो पीड़ा और दुख या सुख हमारी प्रतीतियाँ हैं, हमारे सम्मोहन हैं।

इसे थोड़ा प्रयोग करके देखें।

आपके पैर में तकलीफ हो रही हो तब आप बैठकर ध्यान करें कि यह पैर मेरा नहीं है। और आप पाएँगे कि तकलीफ की मात्रा एकदम क्षीण हो गयी। एकदम से पूरी समाप्त नहीं होगी, क्योंकि आप पूरा सम्मोहन नहीं कर पाएँगे! लेकिन जितना कर पाएँगे उसी मात्रा में पैर की पीड़ा कम हो जाएगी। और इससे उल्टा भी करके देखें। दूसरे के पैर में तकलीफ हो रही हो और आप यह सम्मोहन करें कि यह भी शरीर मेरा है, तकलीफ शुरू हो जाएगी। यह तकलीफ इतनी बढ़ सकती है कि थोड़ा आपके पैर पर भी प्रगट हो जाए।

अभी इस पर काफी खोजबीन चलती है कि जब बच्चे को कोई तकलीफ होती है तो उसकी माँ को भी तकलीफ पैदा हो जाती है। दूर रखो तो भी! असल में बच्चे से इतना गहरा सम्मोहन है कि वह कितने ही दूर पीड़ा में पड़े, तो वह माँ का ही फैला हुआ हिस्सा है। और यह सम्मोहन इतना गहरा है कि इसके दूर-संप्रेषण, इसकी 'टेलीपैथिक' खबरें माँ को मिल जाएँगी।

जानवरों पर बहुत प्रयोग किये जा रहे हैं। और क्योंकि जानवरों के पास

और भी सरल मन है, इसलिए प्रयोग बहुत ही आसान होते हैं। कुछ खरगोशों पर प्रयोग किये गये रूस में तो खरगोशों की माताओं को समुद्र के नीचे ले जाया गया पनडुब्बियों में, हजार-दो हजार फीट नीचे, और बच्चों को रखा गया किनारे पर। और बच्चों को यहाँ मारा गया और वहाँ उनकी माताओं की जाँच-पड़ताल जारी रखी। जिस क्षण बच्चे मरते हैं, उसी दिन माँ, उसी क्षण माँ कँप जाती है; उदास, परेशान हो जाती है। और माँ को कोई भी खबर नहीं है कि बच्चे के साथ क्या हो रहा है, बहुत दूरी है। लेकिन सम्मोहन संबंध जोड़ देता है। सम्मोहन ही संबंध है।

जिस-जिस से आप संबंधित हैं, वह आपका सम्मोहन है। और सम्मोहन जरा में टूट सकता है। आप अपने बेटे के लिए जान दे सकते हैं, मर सकते हैं, लेकिन आज आपके हाथ में एक चिट्ठी पड़ जाए और पता चले कि यह बेटा आपसे पैदा नहीं हुआ है, सब सम्मोहन टूट जाएगा। आप इस बेटे की जान लेने को तैयार हो जाएँगे। और जान ले लें, और बड़े प्रसन्न हों और तब पता चले कि चिट्ठी जाली है, तो फिर छाती पीटकर रोएँगे कि यह क्या कर दिया? यह सारा-का-सारा खेल सम्मोहन से संबंधित है। जहाँ-जहाँ हम अपने सम्मोहन को फैला देते हैं, वहाँ-वहाँ सुख और दुख का राज्य शुरू हो जाता है।

'मनुष्य माया के वशीभूत होकर शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है और सब तरह के कर्मों को करता है।' फिर शरीर जो कर्म बताता है वह उसे करने पड़ते हैं। फिर वह मालिक नहीं रह जाता। फिर शरीर हो जाता है मालिक और आदमी हो जाता अनुगामी। शरीर जो कहता है, फिर वह वही करता है। जानते हुए भी करता है कि इससे हानि हो रही है, तो भी करता है। जानता है कि यह शराब पी रहा हूँ तो जहर पी रहा हूँ, लेकिन यह जानना काम नहीं आता। क्योंकि शरीर कहता है—पिओ। शरीर की रासायनिक पकड़ शराब पर हो जाती है।

जो आदमी शराब पीता है, उसके शरीर में रासायनिक फर्क हो जाता है। और जानकर आप हैरान होंगे कि जो आदमी शराब पीता है उसके शरीर का एक-एक 'सेल' धीरे-धीरे शराब का आदी हो जाता है। एक-एक 'सेल'! और एक-एक 'सेल' वक्त पर माँगता है कि शराब दो। इसलिए शराबी जब छोड़ देता है, तो तड़फड़ाता है, परेशान होता है, दिक्कत में पड़ता है। और सब संकल्प धरा रह जाता है, क्योंकि शरीर कहता है—दो, नहीं तो मर जाएँगे, जीना मुश्किल है। शरीर के पीछे उसे चलना पड़ता है। क्योंकि यह शरीर ही तो मैं हूँ, ऐसी तो गहरी प्रतीति बैठी है। फिर शरीर जो भी करवाता है वह आदमी करता चला जाता है।

शरीर क्या-क्या करवाता है वह इस सूत्र में कहा है—

'वही मनुष्य विषय-वासना और मद्यपान आदि विचित्र भोगों को भोगकर

जाग्रत-अवस्था में तृप्त होता है।' विचित्र भोग कहा है। विचित्र कारण से कहा है। दो कारण हैं। एक तो कि अगर उसी चीज से आपका सम्मोहन छूट जाए तो आप एकदम हैरान हो जाएँगे कि जिससे आप तृप्त हो रहे थे, उससे तृप्त होना दूर, उससे विकर्षण, जुगुप्सा, घृणा पैदा हो जाएगी।

बुद्ध को ऐसा ही हुआ।

बुद्ध को उनके पिता ने सारी सुंदरतम स्त्रियाँ इकट्ठी कर दीं, यहीं भूल हो गयी। नहीं तो बुद्ध संन्यासी न होते। अगर उनको एक भी स्त्री न मिलती तो शायद एकाध-दो जन्म और लग जाते। क्योंकि जो नहीं मिलता उसका आकर्षण बना रहता है। जो मिल जाता है, उसका आकर्षण खो जाता है। फिर भी अगर और भी सुंदर स्त्रियाँ होतीं राज्य में जो बुद्ध को उपलब्ध न होतीं, तो भी वह शायद सोचते, इन स्त्रियों से सुख न मिला हो, उनसे तो मिल सकता है, तो दौड़ में लगे रहते। लेकिन राज्य में जो भी श्रेष्ठतम सुंदर स्त्रियाँ थीं, वह बुद्ध के पिता ने बुद्ध के आसपास इकट्ठी कर दीं। एक ज्योतिषी की सलाह पर!

ज्योतिषी ने कहा कि यह बेटा या तो चक्रवर्ती राजा होगा और या, संन्यासी हो जाएगा। यहाँ तक तो उसने ठीक कहा था। क्योंकि यहाँ तक अपने विज्ञान की बात कर रहा था, गणित की। बुद्ध के पिता ने उससे पूछा कि तो मैं कैसे इसे रोकूँ? तो ज्योतिषी ने अपनी बुद्धि से कहा होगा, उसको स्त्रियों में रस रहा होगा। उसने अपनी बुद्धि से कहा। उसने कहा कि अच्छी स्त्रियाँ इसके आसपास रख दो, अच्छे महल बना दो, सब सुख-सुविधा जुटा दो, फिर किसलिए संन्यास लेगा। आदमी दुखी होता है—यह नहीं मिला, यह नहीं मिला, यह नहीं मिला; ज्योतिषी गरीब रहा होगा! आमतौर से ज्योतिषी गरीब होते हैं। उसने सोचा होगा कि अगर यह सब चीजें मिल जाएँ, मुझे, तो मैं किसलिए छोड़ूँगा! उसे कुछ पता नहीं था। ज्योतिष का पता होगा, लेकिन मनुष्य की अंतरात्मा का उसे कोई पता नहीं था।

बुद्ध के बाप ने सारा इंतजाम कर दिया, फिर वही संन्यास का कारण बना। सब उपलब्ध था। सुंदरतम स्त्रियाँ उपलब्ध थीं। लेकिन बुद्ध को धीरे-धीरे घबड़ाहट होनी शुरू हो गयी। जब सब उपलब्ध हो, तो विरक्ति बहुत आसान हो जाती है। ऊब पैदा हो जाती है। 'बोरडम' पकड़ लेती है। सुंदरतम चेहरे भी कितनी देर तक सुंदर रह सकते हैं? जब तक न मिलें तभी तक। सुंदर चेहरा मिल जाए, फिर क्या करियेगा! फिर थोड़े दिन में उसका सौंदर्य खो जाता है। अगर इसे हम ठीक से समझें तो सौंदर्य दूरी का फल है। इसलिए सुंदर व्यक्ति सदा ही ख्याल में रहता है एक दूरी बनी रहे। नहीं तो सौंदर्य खो जाने में देरी नहीं लगती। एक फासला बना रहे। एक जगह रहे, जिसको पार न किया जा सके।

बुद्ध एक रात उठे । नींद नहीं उन्हें आ रही थी । वह सोच रहे हैं कि क्या इस सब को पाकर कुछ मिल तो नहीं रहा है––क्या होगा, क्या नहीं होगा ! देखा कि जो लड़कियाँ नाचते हुए ––उनको सुलाते वक्त उनके चारों तरफ नाच रही थीं और जब वह सो गये तो वे भी गिरकर नीचे सो गयी थीं । तो बुद्ध ने एक दफा उनके चेहरे पर नजर डाली । किसीकी लार बह रही थी, किसीका मुंह खुला था, घरघराहट की आवाज आ रही थी, किसीकी आँख में कीचड़ जम गया था, कोई नींद में बड़बड़ा रही थीं, कपड़े अस्त-व्यस्त हो गये थे, किसीके शरीर से पसीना बह रहा था, बहुत घिनौना मालूम पड़ा । एक-एक के पास जाकर देखा तो उन्हें पता चला कि यह सब सौंदर्य के पीछे यह सब भी छिपा है । बहुत घिनौना मालूम पड़ा । वही रात उनके भागने की रात हो गयी ।

लेकिन, जो भी हम भोगते रहते हैं, उस किसी भी भोगी गयी चीज को अगर हम बहुत गौर से देखें, बहुत निकट से देखें, तो घबड़ाहट पैदा होगी, ऊब पैदा होगी, भागने का मन होगा, कि हम यह क्या कर रहे हैं !

तो विचित्र कहने का एक तो कारण यह है––ऋषि कह रहा है कि बड़ी विचित्र बात है कि जिन चीजों में कुछ भी नहीं है भीतर, उनको भी आदमी भोगकर और तृप्ति भी अनुभव करता है। भोगता भी है और तृप्ति भी अनुभव करता है ! उसे विचित्र लग रहा है। लगेगा । जो आदमी भी भोग के प्रति जागेगा, उसे हमारा सारा भोग बहुत विचित्र लगेगा । उसे ठीक वैसे ही लगेगा जैसे आपके घर का बच्चा खिलौने से खेल रहा है, खिलौने की टाँग टूट गयी तो रो रहा है; खिलौना उसके बिस्तर पर नहीं है तो उसे नींद नहीं आ रही है, आपको बहुत विचित्र लगता है कि बिलकुल पागल है, खिलौने से क्या लेना-देना है, क्या मतलब है ? लेकिन आप बच्चे नहीं हैं, सिर्फ इसलिए ।

इस ऋषि को विचित्र लगता है क्योंकि यह भी अब आप जैसा बच्चा नहीं है। ऊपर उठ गया है। एक और प्रौढ़ता आ गयी है। अब इसको लग रहा है कि लोग कैसा-कैसा विचित्र भोग भोग रहे हैं । और भोग ही नहीं रहे हैं, बड़ी तृप्ति भी अनुभव कर रहे हैं ।

'इसी माया, इसी सम्मोहन के वशीभूत होकर मनुष्य विषय-वासना और मद्य-पान आदि विचित्र भोगों को भोगकर जाग्रत-अवस्था में तृप्त होता है'। आदमी की तीन अवस्थाएँ हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। जागा हुआ वह तृप्त होता रहता है। कहीं बड़ा मकान बना लेता है, कहीं किसीके प्रेम में पड़ जाता है, कहीं शरीर की कोई तृप्ति कर लेता है, कहीं भोजन कर लेता है, कहीं अच्छे वस्त्र पहन लेता है और तृप्त मालूम पड़ता है। लगता है कि सब ठीक चल रहा है। कुछ भी ठीक नहीं चल

रहा है ! आप कितने ही अच्छे-अच्छे कपड़े पहन लें और कितने ही हीरे-जवाहरात शरीर पर लाद लें, क्या होगा ? क्या उसका अर्थ है ! आपका पूरा शरीर हीरे-जवाहरातों से लाद दिया जाए, तो भी क्या होगा ? इससे क्या मिलेगा ? विचित्र है ! विचित्र है बात, लेकिन आदमी तृप्त मालूम पड़ता है। एक आदमी तिजोड़ी भरता जाता है, तिजोड़ी में राशि बढ़ती चली जाती है और बड़ा तृप्त होता है। रोज गिनती करता है और तृप्त होता है। क्या होगा ? इससे क्या मिलेगा ?

एक आदमी बड़े पद पर बैठ जाता है और सोचता है सब कुछ मिल गया। और जिंदगी सब दाँव में लगा देता है, सब दाँव पर लगा देता है, बस बड़े पद पर होने की दौड़ में हो जाता है। एक दिन हो जाता है। लेकिन क्या होगा ? जीवन का कौन-सा रहस्य हाथ में आ जाएगा ? जीवन की कौन-सी शाश्वतता मिलेगी ? क्या जीवन-मृत्यु के पार चला जाएगा ? क्या सुख और दुख के ऊपर उठ जाएगा ? क्या शांति अनुभव होगी ? क्या अमृत का दर्शन होगा ? क्या होगा इस सब से ?

लेकिन आदमी विचित्र है। वह भोगे चला जाता है। वह भागे चला जाता है। फुरसत ही नहीं मिलती उसे सोचने की। एक भोग चुकता नहीं, दूसरा भोग खींचने लगता है। एक इच्छा पूरी नहीं होती कि दूसरी जग जाती है। इच्छाएँ दौड़ाए रखती हैं। और जाग्रत में पूरे समय हम करते क्या हैं। सुबह से लेकर साँझ तक जब तक हम जागे हुए हैं, हम कर क्या रहे हैं ? हम सब इन्हीं इच्छाओं के पीछे भाग रहे हैं, दौड़ रहे हैं। और हम कभी यह भी नहीं देखते कि यह इच्छाएँ जिनकी पूरी हो गयी हैं, उनको क्या मिला ? और जो लोग इन बातों को पा गये हैं, जिनको हम पाने की कोशिश कर रहे हैं, क्या वे सुखी हैं ? क्या वे आनंदित हैं ?

नहीं, उनका दुख भी इतना ही है। और वे भी किसी और आगे की चीज के लिए दौड़े चले जा रहे हैं। और हर आदमी में––चाहे वह कहीं भी हो––और उसकी इच्छा में बराबर फासला है। अगर आपके पास हजार रुपये हैं, तो दस हजार की इच्छा है। दस हजार हैं, तो लाख की इच्छा है। लेकिन आपमें और आपकी इच्छा में फासला सदा बराबर है। वह फासला कभी कम होता ही नहीं। एक रुपया है तो दस की इच्छा होती है। दस हों तो सौ की हो जाती है। सौ हों तो हजार की हो जाती है। हजार हों, दस हजार की हो जाती है। वह उतना ही गणित फैलता चला जाता है।

विचित्र है आदमी ! जब एक था तब सोचता था दस मिल जाएँगें तो सब ठीक हो जाएगा। जब दस मिल जाते हैं तो बिलकुल भूल जाता है कि कुछ भी ठीक नहीं हुआ और मैंने सोचा था कि जब एक था तो दस मिलेंगे तो सब ठीक हो

जाएगा। कुछ भी ठीक नहीं हुआ ! यह बात ही भूल जाता है। अब वह सोचता है, सौ मिल जाएँगे तो सब ठीक हो जाएगा। वही गणित। फिर सौ भी मिल जाएँगे और वह पाएगा कि अब हजार के बिना काम नहीं चलनेवाला। लेकिन वह कभी लौट कर नहीं देखेगा कि यह तो मैंने पहले भी सोचा था कि दस मिलेंगे तो सब ठीक होगा, सौ मिलेंगे तो सब ठीक होगा, वह मिल गये हैं। अब मुझे हजार भी मिल जाएँगे तो ठीक होगा ? नहीं, यह सोचेगा भी नहीं। वही मन जो एक पर खड़े होकर दस माँगता था, हजार पर खड़े होकर दस हजार माँगता रहेगा। वही मन, ठीक वही अनुपात, कहीं कोई अंतर नहीं, और आदमी चलता चला जाता है।

इसलिए ऋषि कहता है—विचित्र ! भोगों को आदमी जाग्रत में भोगता है यह तो विचित्रता है ही, लेकिन और भी विचित्रता यह है कि तृप्त बिलकुल नहीं होता और फिर भी तृप्त अनुभव करता है। यह और भी बड़ी विचित्रता है। किसीसे भी पूछो, कोई तृप्त नहीं है। और फिर भी ऐसा चेहरा लेकर घूमता रहता है, जैसे सब ठीक है। किसीसे पूछो, कैसे हैं ? कहता है, सब ठीक है। और कुछ भी ठीक नहीं है। और कभी नहीं सोचता कि जो मैं कह रहा हूँ यह क्या कह रहा हूँ ? क्या ठीक है ? कुछ भी ठीक नहीं है ! लेकिन झूठा चेहरा लगाकर आदमी घूमता रहता है।

शिक्षक विद्यार्थियों को समझाते रहते हैं ऐसे भाव से, जैसे उन्होंने पा लिया हो। पिता पुत्रों को समझाते रहते हैं ऐसे भाव से, जैसे उन्होंने पा लिया हो। बूढ़े नयी पीढ़ी को समझाते रहते हैं ऐसे भाव से, जैसे उन्होंने पा लिया हो। जैसे वह तृप्त हो गये हैं। कोई यह नहीं कहता कि मैं तृप्त नहीं हुआ हूँ। क्योंकि उससे अहंकार को चोट लगती है। उससे ऐसा लगता है, जिंदगी भर दौड़े, इतना दौड़े इतना परेशानी और अब यह भी कहें कि तृप्त भी नहीं हुए, तो फिर निपट मूढ़ हैं।

तो भीतर तो जानते रहते हैं कि तृप्त नहीं हुए, लेकिन बाहर ऐसा भाव प्रगट करते हैं कि सब ठीक है। यह सब ठीक एक बड़ा गहन धोखा है। अगर यह सारी पृथ्वी के लोग एक बार भी एक स्वर से ईमानदारी से, प्रामाणिकता से कह दें कि हम तृप्त नहीं हुए हैं, तो इस जमीन के सारे धोखे टूट जाएँ। क्योंकि इस धोखे के पीछे फिर बहुत धोखे खड़े करने पड़ते हैं।

किसीसे जाकर पूछिये ईश्वर है, तो वह ऐसा नहीं कहता कि मुझे पता नहीं। या तो कहेगा, है, या कहेगा, नहीं है। दोनों हालत में पता तो है ही। ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है जो कहे कि नहीं, मुझे पता नहीं है। मुझे कोई पता नहीं है। क्योंकि यह कहना तो फिर भीतर की अतृप्ति को प्रगट कर देगा। और यह कहना

तो फिर भीतर के अहंकार को तोड़ देगा।

किसी भी आदमी से पूछिये तो ऐसा लगता है कि वह जो कहता है, बताता है चेहरे से, वैसी वास्तविक स्थिति नहीं है। निकट आइये, करीब आइये, दो-चार दिन में वह अपने दुख का रोना शुरू कर देगा। दो-चार दिन भी बहुत दूर है, सफर में किसी के साथ दो-तीन घंटे भी रह जाइये तो वह अपना दुख रोना शुरू कर देगा। वैसे पहले जब मिला था तो उसका चेहरा और था, फिर धीरे-धीरे चेहरे की खुशी, वह जो धोखा था, जो पलस्तर था, वह हट जाएगा। और फिर उदासी, दुख, पीड़ा के सब भाव प्रगट होने शुरू हो जाएँगे।

इसलिए अजनबी आदमी से मिलने में सुख मिलता है। सुख का कुल कारण इतना है कि दोनों थोड़ा देर एक-दूसरे को धोखा देने में सफल रहते हैं। परिचित आदमियों से बिलकुल सुख नहीं मिलता, क्योंकि वह सब उपद्रव प्रगट कर देते हैं आकर। और तुम भी प्रगट, वह भी प्रगट कर देते हैं, तो दोहरा दुख हो जाता है उल्टा। अपरिचित आदमी से मिलने में थोड़ी देर तो कम-से-कम चेहरे बने रहते हैं और सुख मिलता है। इसलिए अपरिचित आदमी अच्छे लगते हैं। परिचित आदमी धीरे-धीरे बुरे लगने लगते हैं, क्योंकि उनको आते ही से वह सब गमगीनी, सब उदासी; फिर उन्हें यह कहने की जरूरत नहीं रहती कि सब अच्छा है, वह आते ही से अपना ब्यौरा शुरू कर देते हैं कि क्या-क्या बुरा है।

यह जो जाग्रत में हम भोगते हैं वह तो विचित्र भोग हैं ही, हम तृप्त होने का धोखा भी अपने को पैदा करते रहते हैं। वह भी आश्चर्यजनक है ! और यह धोखा इतने आयामों में फैल जाता है, जिसका हिसाब नहीं है ! बच्चे से पूछ लो, बच्चा सुखी नहीं है। लेकिन बूढ़े से पूछो तो वह कहता है, जब मैं बच्चा था तो बहुत सुखी था। एक बच्चा नहीं कहता कि मैं सुखी हूँ। यही बच्चे सब कल बूढ़े होकर कहना शुरू करेंगे कि जब मैं बच्चा था तो बहुत सुखी था, बचपन में बड़ा आनंद है। यह धोखा है। यह बूढ़ा अपने को समझाने की कोशिश कर रहा है कि भला आज न हो सुख, लेकिन बचपन में तो था। सब बच्चे जल्दी बड़े होना चाहते हैं। क्योंकि बचपन सुखद नहीं है। बच्चों से पूछो। बूढ़ों से मत पूछना, क्योंकि बूढ़े धोखा देंगे। वह अपने को भी धोखा दे लिये हैं कि बचपन बड़ा सुखद था।

असल में आदमी के मन का एक नियम है। जो-जो दुखद होता है, आदमी उसका स्मरण छोड़ देता है। क्योंकि उससे अहंकार को चोट लगती है। जो-जो सुखद होता है, उसको बचाता चला जाता है। तो दुख की स्मृतियाँ छूट जाती हैं।

मनोवैज्ञानिक एक बहुत अजीब निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। वह यह कहते हैं—

खासकर फ्रॉयड यह कहता है और उसकी बात ठीक मालूम पड़ती है--कि किसी भी आदमी को अगर हम पूछें कि तुम्हें आखिरी स्मरण कब का आता है, तो पाँच साल, चार साल मुश्किल से आदमी पीछे लौट सकता है। कह सकता है कि जब मैं चार साल का था तब का मुझे आखिरी स्मरण है। लेकिन चार साल भी तो वह था, उसका कोई स्मरण क्यों नहीं है? फ्रॉयड का कहना है कि बचपन के तीन-चार साल इतने दुखद हैं कि मन उनकी याद रखता ही नहीं। उनकी याद ही नहीं रखता। उनको भूल ही जाता है। बिलकुल पोंछ ही डालता है। उनकी जगह ही नहीं रह जाती चित्त में कोई। इसलिए हमारी पाँच साल की स्मृति तो बिलकुल कोरी रहती है। लेकिन कोरी नहीं है। अगर आपको सम्मोहित करके बेहोश किया जाए तो आप बताना शुरू कर देते हैं। यहाँ तक हैरानी होती है कि बच्चे को अपनी माँ के पेट में भी जो घटनाएँ घटती हैं उनका भी स्मरण है। अगर माँ गिर पड़ी है और बच्चा गर्भ में है, तो उसको स्मरण में आ जाता है। अगर माँ बीमार है तो बच्चा भी दुखी होता है भीतर, स्मरण बन जाता है। लेकिन सम्मोहित करें तो ही स्मरण प्रगट होते हैं। नहीं तो ऐसे बंद हैं। आपको कोई याद नहीं है।

आप कहते हैं पाँच साल के पहले का मुझे कुछ याद नहीं है। इसका कारण यह है कि वह सब स्मरण 'ट्रॉमेटिक' हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं बहुत दुखद हैं, बहुत पीड़ादायी हैं। क्योंकि बच्चा इतना असहाय था। इतना परेशान था, हर चीज के लिए मोहताज था, दीन था। दूध भी उसे माँगना है तो रोए, चिल्लाए, कोई दे दे तो ठीक, कोई न दे तो ठीक। उसे अभी दूध और पीना है और माँ अलग हट जाए, तो उसके पास कोई उपाय नहीं था। उसको मच्छर काट रहे हैं, वह कुछ कह नहीं सकता। वहा पड़ा है, उसे नींद नहीं आ रही है तो उसको जबरदस्ती सुलाया जा रहा है। वह जगना चाहता है तो उसे जबरदस्ती, नहीं जगना चाहता तो जबरदस्ती जगाया जा रहा ह। नहीं खाना चाहता तो खिलाया जा रहा है। खाना चाहता है तो कोई देने को तैयार नहीं है। उसकी स्थिति अत्यंत दयनीय और भारी कष्ट की है। उसको बिलकुल भूल गया है। क्योंकि वह उसके अहंकार को सुखद नहीं है।

हम धीरे-धीरे, जो दुखद है उसको अलग करते जाते हैं, जो सुखद है उसको बचाते चले जाते हैं। न केवल बचाते हैं, फिर सुखद को हम 'मेग्नीफाई' करते हैं। उसको बड़ा करते हैं। जरा-सा रहा हो तो उसको हजार गुना करते हैं। फिर बूढ़ा आदमी कहता है कि बचपन तो स्वर्ग था। बच्चे ने कभी नहीं कहा! कोई बच्चा कभी कहेगा नहीं! लेकिन बूढ़ा कहता है।

क्यों?

क्योंकि हम तृप्ति को, अगर यहाँ नहीं मिल रही तो कहीं और हटा देना चाहते हैं। बचपन में मिलती थी, जवानी में मिलती थी, कहीं हटा देना चाहते हैं। लेकिन तृप्ति कहीं मिलती थी, इस भ्रम से हम नहीं छूटना चाहते। क्योंकि यह अगर भ्रम छूट जाए तो आदमी के जीवन में क्रांति घटित हो जाए। तृप्ति मुझे मिली ही नहीं ऐसा जो आदमी जान लेगा, वही धार्मिक हो सकता है। तृप्ति मैंने जानी ही नहीं, सब तृप्तियाँ मेरे ही धोखे थीं, मैंने मानी थीं, कभी मैंने कोई तृप्ति जानी नहीं, कोई ऐसा क्षण नहीं आया जिसे मैं तृप्ति का क्षण कहूँ, ऐसा जो आदमी जान लेगा--यह बड़ा दुखद है जानना। क्योंकि इससे लगेगा कि हम बिलकुल भिखारी हैं। तो हमने जीवन यूँ ही गँवाया--अहंकार बिखरेगा। लेकिन इसके बिना बिखरे कोई धार्मिक होता नहीं।

जाग्रत के लिए ऋषि ने कहा कि विचित्र भोगों को भोगकर और मानता है कि तृप्त हो रहा हूँ। लेकिन यहीं तक पूरा नहीं होता है आदमी का मन। सपने में भी भोग जारी रखता है। और मजा तो यह है कि कम-से-कम चाहे हम पहली बात से राजी न भी हो सकें कि जाग्रत में जो भोग मिलते हैं वह वास्तविक नहीं हैं, लेकिन इतना तो हम भी मानेंगे कि स्वप्न में जो भोग मिलते हैं, वे वास्तविक नहीं हैं। लेकिन जब वे मिलते हैं, तब हम उनको बड़े मजे से भोगते हैं। बड़े मजे से भोगते हैं।

सपने का आपको ख्याल है? जो-जो आप नहीं भोग पाते जागने में, वह-वह सपने में भोगते हैं। बड़े महल में नहीं रह पाते, तो बड़ा महल बना लेते हैं सपने में। और सपने में दिक्कत नहीं आती। महल बनाने के लिए न कोई धन की जरूरत पड़ती न कुछ। क्योंकि आपका जो मन है, सपने में अपनी माया का पूरा प्रयोग कर पाता है क्योंकि यथार्थ कोई बाधा नहीं डालता।

समझ लें।

आप जागने में भी माया का प्रयोग करते हैं, लेकिन यथार्थ बाधा डालता है। आप तो मानना चाहते हैं कि चारों तरफ सोना है, लेकिन चारों तरफ पत्थर पड़े हैं। वह बाधा डालते हैं। वह बाधा डालते हैं वह कहते हैं, कैसे मानेंगे? आपका मन तो मानने का होता है। जिस आदमी को हम पागल कहते हैं, असल में वह वह आदमी है जिसने यथार्थ को इतना इनकार कर दिया कि अब वह जागने में भी अपनी माया का पूरा प्रयोग कर रहा है। पागल का और कोई मतलब नहीं है। पागल का मतलब इतना ही है कि जैसा हम सपने में करते हैं, वैसा अब वह जागने में भी करने में समर्थ हो गया है। अगर उसे अपने मित्र से मिलना है, तो कहीं मित्र के पास जाने की जरूरत नहीं है, वह यहीं बैठे हुए शून्य में उससे बातचीत करता

रहेगा। हम कहते हैं, यह आदमी पागल हो गया है। पागल नहीं हो गया है, यह आदमी अपनी माया की शक्ति का पूरा प्रयोग कर रहा है। आप थोड़ा कम कर रहे हैं। आप भी मित्र से बातचीत करते हैं, लेकिन ऐसा नहीं मानते कि वह सामने मौजूद है, आँख बंद करके भीतर उसको देखते हैं, फिर उससे बातचीत करते हैं।

आँख बंद करके जरा कुर्सी पर लेट जाइये और आपको पता चल जाएगा, आपकी माया ने काम शुरू कर दिया। बातें शुरू हो गयीं। चर्चा शुरू हो गयी। और ऐसा भी नहीं है कि कभी-कभी हम बाहर तक नहीं आ जाते। कभी किसी आदमी को रास्ते से चलते हुए देखें, कहीं वह हाथ हिला रहा है, कुछ इशारा कर रहा है, ओंठ हिल रहे हैं, कुछ बोल रहा है। किसीसे बातचीत कर रहा है, जो वहाँ मौजूद नहीं है। तो हममें और पागल में मात्राओं का ही फर्क है।

हम सपने में बिलकुल पागल होते हैं, दिन में जरा सँभालकर चलते हैं। पागल जरा ज्यादा हिम्मतवर है। वह अपने सपने को जागने तक फैला देता है। और इसलिए पागल बड़ा सुखी मालूम पड़ता है। क्योंकि अब सुख बिलकुल उसकी सम्मोहन की बात है।

मैं ऐसे मित्रों को जानता हूँ, जो 'पीरियॉडिकली' पागल होते हैं। कभी छः महीने के लिए पागल हो जाते हैं, छः महीने के लिए ठीक हो जाते हैं। यह बड़े मजे की बात है कि जब वह पागल होते हैं तब बिलकुल स्वस्थ होते हैं और बड़े प्रसन्न होते हैं। और जब ठीक होते हैं, तब बीमार पड़ जाते हैं और बड़े दुखी हो जाते हैं। क्या मामला है ? क्या मामला है !

असल में जब वह पागल होते हैं तब यथार्थ को इतना इनकार कर देते हैं कि यथार्थ उनके लिए बाधा डाल ही नहीं सकता। कल्पवृक्ष के नीचे हो जाते हैं। जो उनकी इच्छा है, वह पूरी हो जाती है, दुनिया उसको रोक नहीं सकती। क्योंकि अब वह सपने से ही पूरा कर लेते हैं। अब उन्हें वास्तविक पूर्ति की कोई जरूरत नहीं है। सुखी हो जाते हैं।

अगर ठीक से समझें, तो इस तथाकथित जगत में जो लोग सुखी दिखायी पड़ते हैं, वह पागलपन की वजह से हैं। अगर ठीक से समझें, तो इसका मतलब यह हुआ, इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस तथाकथित विचित्र भोगों को भोगते हुए जो लोग सुखी दिखायी पड़ते हैं, वह उनकी पागलपन की मात्रा के कारण है। बुद्धिमान आदमी तो यहाँ एकदम उदास हो जाएगा। क्योंकि बुद्धिमान आदमी को तत्क्षण दिखायी पड़ जाएगा कि यह निपट गँवारी है, मूढ़ता है। यह जो हो रहा है इसमें कुछ है नहीं। लेकिन पागल दौड़े चला जाएगा।

कभी आपने देखा है किसी राजनीतिज्ञ को, जब वह सिंहासन पर पहुँच जाता

है तो कैसा खुश मालूम होता है ? वह पागलपन के शिखर पर खड़ा है। लेकिन उसका सुख तो है। उसका सुख तो है। सुखी तो दिखायी पड़ता है। गहन अध्ययनों से पता चला है कि राजनीतिज्ञ जब तक शक्ति में होते हैं तब तक न बीमार पड़ते हैं, न मरते। बड़े ताजे और स्वस्थ होते हैं। जैसे ही शक्ति से उतरते हैं, वैसे ही जल्दी मर जाते हैं। बीमार पड़ जाते हैं।

राजनीतिज्ञ तो सभी लोग नहीं होते, लेकिन दूसरी तरह से समझ लें। 'रिटायर्ड' आदमी जल्दी मर जाता है। और उदास हो जाता है। और दुखी हो जाता है।

समझ लें कि एक तहसीलदार है। तो गाँव में वह राजा है। सारा गाँव नमस्कार करता है। दफ्तर में आता है, लोग खड़े होते हैं। घर में पहुँचता है, पत्नी भी मानती है, बच्चे भी मानते हैं। तहसीलदार है ! सारा गाँव मानता है। उसकी दुनिया पूरी उसे मानती है। जहाँ 'मूव' कर जाए, जहाँ चला जाए, वहीं सब जाहिर हो जाता है कौन आ रहा है। फिर वह 'रिटायर्ड' हो गये। फिर उसी रास्ते से निकलता है, कोई नमस्कार नहीं करता है। बल्कि जिन-जिन ने नमस्कार किया था, वह बचकर निकलते हैं कि अब इसको कहीं नमस्कार न करना पड़े। अब कोई मतलब का भी नहीं है, बेकार आदमी है। चली हुई कारतूस है। इसका क्या करना है ! घर में आता है तो बच्चे भी उसकी तरफ देखते नहीं, पत्नी भी उसकी फिकर नहीं करती, अब तहसीलदार तो रहे नहीं। 'क्रीज' तो निकल गयी। कपड़ा बिलकुल ऐसा हो गया जैसे रातभर कोई आदमी सोया रहा हो पहनकर। अब उसकी कौन फिकर करता है, कौन उसकी तरफ देखता है। वह एकदम उदास हो जाता है। उसे पता चलता है अब कोई माननेवाला नहीं रहा। भीतर टूटना शुरू हो जाता है, सम्मोहन खंडित हो जाता है, मौत करीब आने लगती है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि 'रिटायर्ड' होते ही आदमी की उम्र दस वर्ष कम हो जाती है। दस वर्ष और जी सकता था, लेकिन दस वर्ष कम हो जाते हैं। क्योंकि अब उसे कुछ नहीं सूझता, कहीं उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। कहीं उसके अहंकार की कोई तृप्ति नहीं है। कहीं सुख नहीं मिलता। वह एकदम उदास हो जाता है। 'इरीटेटेड' हो जाता है। चिड़चिड़ा हो जाता है। उसका भीतरी कारण है कि वह जो सुख ले रहा था सम्मोहन का, अब उसको यथार्थ साथ नहीं देता। अब उसको यथार्थ साथ नहीं देता।

लेकिन मैं एक ऐसे तहसीलदार को जानता हूँ जो 'रिटायर्ड' होने के साथ ही पागल हो गये। मतलब वह अपने को अब भी तहसीलदार मानते, और अब भी दफ्तर में तहसीलदार की अकड़ से कभी-कभी पहुँच जाते, और अब भी वह इसकी

फिकर नहीं करते कि कौन खड़ा है, कि नहीं खड़ा है। इसकी भी फिकर नहीं करते कि नमस्कार आपने किया नहीं, वह जवाब देते हैं। वह बड़े प्रसन्न हैं और लगता है कि वह जिएँगे, उनके दस साल कम नहीं हो सकते। वह उसकी फिकर ही नहीं करते, वह अपने को तहसीलदार मानते ही हैं! वह 'रिटायर्ड' हुए ही नहीं, अपनी तरफ से।

मैं एक हेडमास्टर को जानता हूँ। वह अब भी पहुँच जाते हैं स्कूल में। और अब भी थोड़ा देर हेडमास्टर की कुर्सी पर बैठकर शांति से लौट आते हैं। और बड़े आनंदित हैं। उनको खयाल में नहीं है कि वह 'रिटायर्ड' हो गये हैं। उनका दिमाग खराब हो गया है।

लेकिन मैं यह आपसे इसलिए कह रहा हूँ ताकि आपको ख्याल में आ जाए कि आपके सब सुख आपकी कल्पना से पैदा होते हैं और आपके पागलपन के हिस्से हैं। बुद्धिमान आदमी यहाँ जरा-भी सुख नहीं देख पाएगा, जहाँ आप सुख देख रहे हैं।

मगर बड़ा मजा है, बुद्धिमान आदमी हमें पागल मालूम पड़ता है; कि इसका दिमाग खराब हो गया है। कितना मजा आ रहा है, सिनेमा में बैठकर हम कितना आनंद ले रहे हैं, इसका दिमाग खराब हो गया है। क्या मजा ले रहे हैं आप वहाँ? वहाँ परदे पर सिवाय छाया और धूप के कुछ भी नहीं है। लेकिन मैं ऐसे नासमझों को जानता हूँ कि अगर कोई स्त्री नाच रही हो और उसका घाँघरा ऊपर उठ रहा हो तो वे कुर्सी से नीचे झुककर देखते हैं। और बड़ा सुख पाते हैं। बड़ा सुख पाते हैं!

मैंने सुना है कि पहली दफा लंदन में एक फिल्म आयी—पहली दफा जब शुरू हुआ फिल्मों का सिलसिला—तो उस फिल्म में एक नग्न स्त्री एक तालाब पर स्नान कर रही है। उसने सब कपड़े उतारकर वह तालाब में कूदी है, तभी एक ट्रेन झक-झक-झक करती हुई निकल जाती है और वह तालाब उस तरफ पड़ जाता है। तो जिन लोगों ने पहले दिन टिकट खरीदे थे, वह उसी दिन दूसरे दिन का टिकट माँगने लगे। तो मैनेजर ने कहा, तुम तो फिल्म देख चुके। तो उनमें से एक आदमी ने कहा बात ऐसी है कि यह ट्रेन इसी वक्त रोज थोड़े ही आएगी? कभी तो 'लेट' होगी! वह ऐन वक्त पर आ गयी। वह जानकर ही लायी गयी थी, ताकि वह नग्न चित्र सीधा नग्न न हो जाए। सब कपड़े उतार रही थी सुंदरी और कूदने के करीब थी, छपाक की आवाज हुई और ट्रेन गुजर गयी। तो लोगों ने कहा कि रोज कहीं ट्रेनें एक ही टाइम पर आयी हैं! किसी दिन तो यह 'लेट' हो ही जाएगी।

यह आदमी के... यह हमारे भीतर छिपा आदमी है! इसको दूसरा समझकर मत हँसना। नहीं तो आप फिर सम्मोहन कर रहे हैं। यह मत समझना कि यह किसी और की कहानी है। यह आपकी ही कहानी है। और अगर आपने समझा कि यह मैं किसी और के संबंध में कह रहा हूँ, तो आप अपने को धोका दे रहे हैं।

आदमी सपने में भी तृप्ति खोजता है और तृप्त होता रहता है। सुबह सपना टूटता है तब थोड़ी पीड़ा होती है, लेकिन रात, रात तो सपना बड़ा सुख देता रहता है। और सपने से भी तृप्ति पाता है। आपको पता नहीं है, अभी सपने पर काफी खोजबीन चलती है। तो यह अनुभव हुआ है कि जो लोग सुखद सपने देखते हैं, वह सुबह ज्यादा ताजे उठते हैं। और जो लोग दुखद सपने देखते, वह सुबह बड़े उदास और परेशान उठते हैं। सुखद सपना सपना ही नहीं है, सुबह आपको ताजगी भी देता है। सुबह आप बड़े प्रसन्न उठते हैं। जिंदगी में रस मालूम पड़ता है, पुलक मालूम पड़ती है, ओंठों पर गीत मालूम पड़ता है। अगर रात आपने एक सुखद सपना देखा, तो सुबह के आपके जागने का गुणधर्म बदल जाता है। अगर रात आपने एक दुखद सपना देखा, कि आपकी पिटायी हुई, 'इलेक्शन' हार गये हैं, या और कोई उपद्रव आपने देखा, कोई 'नाइटमेयर' देखा, तो सुबह आप बिलकुल बेजान उठते हैं। उठने का मन नहीं होता, बिस्तर छोड़ने का मन नहीं होता।

इसपर काफी वैज्ञानिक शोध चलती है। और एक वैज्ञानिक, स्लेटर ने तो कहा है कि अगर हम आदमी को स्वस्थ रखना चाहते हों, तो हमें सुखद सपने पैदा करने का कोई इंतजाम खोजना पड़ेगा। क्या यह हो सकता है कि हम सुखद सपने पैदा कर सकें? अब इस पर काफी काम चलता है। सपने पैदा किये जा सकते हैं बाहर से भी। एक आदमी सो रहा हो, आप जरा उसके पाँव के पास गीले पानी का कपड़ा उसके पाँव में लगाते रहें थोड़ी देर, फिर उसको उठाकर पूछें तो यह बताएगा उसने सपना देखा कि वह नदी में से गुजर रहा है। यह सपना आपने पैदा करवा दिया। जरा उसके पाँव के पास स्टोव ले जाएँ और थोड़ी गरमी दें, फिर उसको जगाकर पूछें तो वह कहेगा मैंने सपना देखा, मैं एक रेगिस्तान में चला जा रहा हूँ। वह सपना आपने पैदा करवा दिया। अगर इतना हो सकता है, तो आज नहीं कल हम उपाय खोज लेंगे, कोई यांत्रिक व्यवस्था खोज लेंगे कि हर कमरे में लगा दी जाए और आदमी रातभर सुखद सपने देखता रहे। तो सुबह वह ज्यादा ताजा, जीवन से भरा हुआ—तथाकथित जीवन से भरा हुआ—ज्यादा धोखे में डूबा हुआ, ज्यादा सम्मोहित, दफ्तर की तरफ तेजी से जाता हुआ, गुनगुनाता गीत मिलेगा।

ऋषि कहता है कि माया से कल्पित जीवलोक में वही मनुष्य स्वप्नावस्था में शरीर के सुखों और दुखों को भोगता है। वहाँ भी भोगता रहता है वह उसी पागलपन को, जिसको वह जागते में भोगता है। हमारा सपना हमारा जागने का ही परिशिष्ट है, हुँम्. . . उसका ही हिस्सा है। जो-जो अधूरा रह गया है, उसे हम पूरा कर लेते हैं। इतना ही नहीं, जब तीसरी अवस्था होती है मनुष्य की--सुषुप्त-- जब सपने भी खो जाते हैं, कुछ भी नहीं बचता, सुषुप्त-अवस्था में जब समस्त माया का प्रपंच भी समाप्त हो जाता है, चेतना ही खो जाती है, तमोगुण से पराजित होकर आदमी मूर्छित हो जाता है, तब भी वह सुबह उठकर कहता है कि रात बड़ी गहरी नींद आयी, बड़ा सुख मिला। जागने में वह सुख खोजता है। सपने में खोजता है। और जब कुछ भी नहीं बचता, सपना भी नहीं बचता, तब भी वह सुबह उठकर कहता है कि रात बड़ी गहरी नींद आयी, बड़ा सुख मिला। जागने में वह सुख खोजता है, सपने में खोजता है, और जब कुछ भी नहीं बचता, सपना भी नहीं बचता, तब भी वह सुबह उठकर कहता है कि खूब गहरी नींद आयी, बड़ा सुख मिला।

मगर इन तीनों अवस्थाओं में सुख सम्मोहन है। और सुख मनुष्य की कल्पना है। हाँ, जहाँ-जहाँ सुख की कल्पना टूटती है, वहाँ-वहाँ दुख पाता है। दुख सुख की कल्पना का पूरा न हो पाना है। इसलिए जो आदमी सुख की चाह रखता है वह दुख पाता रहता है। दुख विफलताएँ हैं। अपेक्षाओं का पूरा न होना है।

तो सपने भी दुख दे सकते हैं। जाग्रत भी दुख दे सकता है। सिर्फ सुषुप्तावस्था दुख नहीं देती है। क्योंकि वहाँ कोई जाननेवाला ही शेष नहीं रह जाता है, सब सो जाता है। इसलिए अगर ठीक से समझें, तो हम तीनों ही अवस्था में मान कर जी रहे हैं कि जीवन ऐसा, ऐसा, ऐसा। 'प्रोजेक्ट' कर रहे हैं, प्रक्षेप कर रहे हैं, जीवन को निर्मित कर रहे हैं; लेकिन जीवन कैसा है उसका हमें कोई भी पता नहीं है।

ऋषि ने यह तीनों अवस्थाओं की सम्मोहन की चर्चा इसलिए की है कि जिसे ध्यान में जाना है, उसे इस सम्मोहन को तोड़ना पड़ेगा। ध्यान सम्मोहन की विपरीत प्रक्रिया है— 'डिहिप्नोटाइजेशन'।

अब हम ध्यान के लिए तैयार हों।

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीव स्वपिति प्रबुद्धः ।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम् ।
आधारमानंदमखण्ड बोधं यस्मिन लयं जाति पुरत्रयं च ॥ १४ ॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥ १५ ॥

पिछले जन्मों के कार्यों से प्रेरित होकर वह मनुष्य सुषुप्तावस्था से पुनः स्वप्नावस्था व जाग्रत-अवस्था में आ जाता है। इस तरह से ज्ञात हुआ कि जीव जो तीन प्रकार के पुरों (शरीरों)—स्थूल, सूक्ष्म और कारण में रमण करता है, उसी से इस सारे मायिक प्रपंच की सृष्टि होती है। जब तीन प्रकार के शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) का लय हो जाता है, तभी यह जीव मायिक प्रपंच से मुक्त होकर अखंड आनंद का अनुभव करता है ॥ १४ ॥

इसी से प्राण, मन और समस्त इंद्रियों की उत्पत्ति होती है। इसी से पृथ्वी की सृष्टि होती है जो आकाश, वायु, अग्नि, जल और सारे संसार को धारण करती है ॥ १५ ॥

ग्यारहवाँ प्रवचन; माउंट आबू, ३० मार्च १९७२, रात्रि
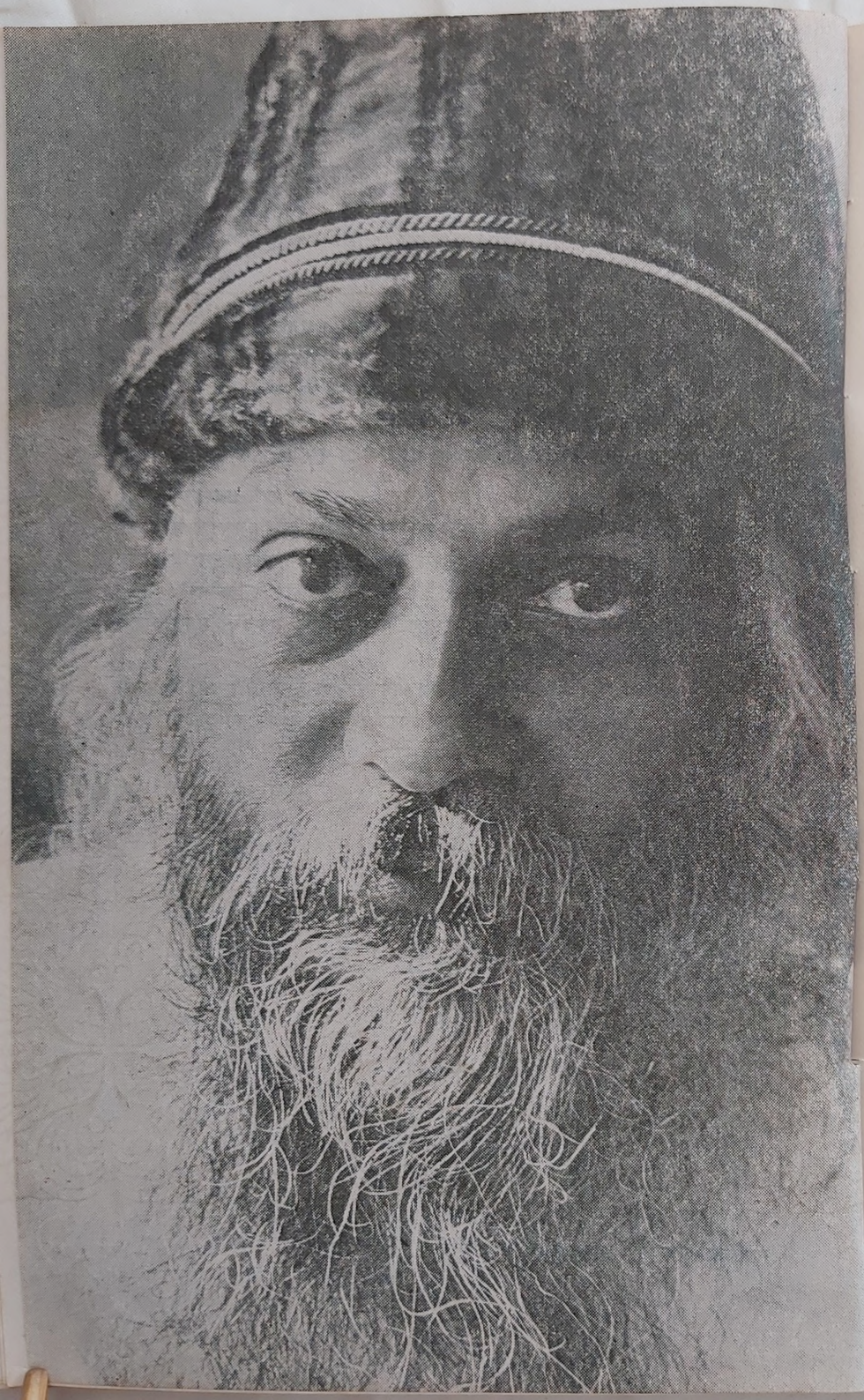
तीन शरीर चार अवस्थाओं की बात

सुबह के सूत्र में मनुष्य का मन किस भाँति सम्मोहित हुआ जाग्रत में, स्वप्न में, और सुषुप्ति में कल्पित सुखों में गिरता है, कैसे सुख के आभास बनाता है और कैसे दुख के फल भोगता है, उस संबंध में बात हुई। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं के संबंध में भारत ने बहुत तरह की खोज की है। और यह तीन शब्द, फिर आपको दिलाऊँ याद, भारत के तीन की खोज का एक और पहलू उपस्थित करते हैं।

मनुष्य की तथाकथित जो दिखायी पड़नेवाली स्थिति है, वह इन तीन से ही मिलकर बनी है। मनुष्य का जीवन इन तीन से ही मिलकर निर्मित हुआ है। इस मनुष्य के जीवन के पीछे जो छिपा है सार, वह इन तीनों के पार है। इन तीन से संसार निर्मित हुआ है। इसलिए इस सूत्र को थोड़ा ठीक से और गहरे में समझ लेना जरूरी होगा। इसके अनेक आयाम हैं।

पहला तो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति हमारे मन की ही दशाएँ नहीं, हमारे जीवन के भी आधार-स्तंभ हैं। इन तीन पर ही हम खड़े हैं। और हम चौथे है। तीन से हमारा भवन निर्मित होता है, लेकिन वह जो निवासी है, वह चौथा है। इसलिए भारत में उसे 'तुरीय' कहा है। तुरीय का अर्थ होता है, चौथा; 'दि फोर्थ'। उसको कोई नाम नहीं दिया, सिर्फ चौथा कहा है। इन तीन को नाम दिये हैं। उस चौथे को कोई नाम दिया नहीं जा सकता। उसके नाम का कोई पता भी नहीं है। और उसकी किसी से कोई तुलना नहीं हो सकती। इसलिए उसे सिर्फ चौथा कहा है।

यह तीन, रोज हम इन तीन में से गुजरते हैं। सुबह जब आप जागते हैं तो जाग्रत-अवस्था में प्रवेश होता है। साँझ जब आप सोते हैं तो पहले स्वप्न में प्रवेश होता है, फिर जब स्वप्न भी खो जाते हैं तो सुषुप्ति में प्रवेश होता। चौबीस घंटे में हम इन तीन अवस्थाओं में बार-बार घूमते रहते हैं, प्रतिदिन। और अगर और सूक्ष्म में देखें, तो हम प्रतिपल भी इन तीन अवस्थाओं में डूबते रहते हैं।

लगता है ऊपर से आप जगे हुए हैं, भीतर स्वप्न शुरू हो जाता है। जिसको हम दिवास्वप्न कहते हैं। और कभी-कभी ऐसा लगता है कि क्षणभर को आप इस जगत में न रहे, होश ही खो गया। तो सुषुप्ति पकड़ जाती है। चौबीस घंटे तो हम बड़े पैमाने पर इन तीन अवस्थाओं में गुजरते ही हैं, प्रतिपल भी हम तीन अवस्थाओं में डोलते रहते हैं।

इन तीन अवस्थाओं में हम पूरे जीवन ही डोलते हैं और अनेक-अनेक जीवन में भी हम इन तीन अवस्थाओं में घूमते हैं। मृत्यु का क्षण सुषुप्ति में घटित होता है। मरता हुआ आदमी जाग्रत से पहले स्वप्न में प्रवेश करता है, फिर स्वप्न से सुषुप्ति में प्रवेश करता है। मृत्यु सुषुप्ति में ही घटित होती है। इसलिए पुराने लोग निद्रा को रोज आ गयी मृत्यु का, मृत्यु की थोड़ी-सी झलक मानते थे। निद्रा मृत्यु की झलक है।

जब आप सुषुप्ति में होते हैं तब आप उसी अवस्था में होते हैं जब मृत्यु घटित होती है, या घट सकती है। सुषुप्ति के बिना मृत्यु घटित नहीं होती। इसीलिए सुषुप्ति में आपको सारा बोध खो जाता है। इसलिए मृत्यु की पीड़ा भी अनुभव नहीं होती। अन्यथा मृत्यु बड़ा 'सर्जिकल' काम है। इससे बड़ा और कोई 'सर्जिकल' काम नहीं है।

डॉक्टर एक हड्डी निकालता होगा तो भी मर्फिया देता है। मर्फिया देकर वह आपको जबरदस्ती सुषुप्ति में ले जाता है। तभी आपकी एक हड्डी निकाली जा सकती है, ऑपरेशन किया जा सकता है, अन्यथा असंभव है। सब ऑपरेशन सुषुप्ति में होते हैं। और जब तक सुषुप्ति न आ जाए तब तक ऑपरेशन करना खतरनाक है। भयंकर पीड़ा होती है। शायद ऑपरेशन मुश्किल ही हो जाएगा करना।

मृत्यु सदा से ही बड़े-से-बड़ा ऑपरेशन करती रही है। पूरे प्राणों को इस शरीर से बाहर निकालना है। तो गहन सुषुप्ति में मृत्यु घटित होती है। जन्म भी सुषुप्ति में ही होता है। इसलिए हमें याद नहीं रहती। पिछले जन्म की याद न रहने का कारण सिर्फ इतना ही है कि बीच में इतनी लंबी सुषुप्ति होती है कि दोनों ओर-छोर पर संबंध छूट जाते हैं। सुषुप्ति में ही मृत्यु होती है, सुषुप्ति में ही फिर पुनर्जन्म होता है। माँ के पेट में बच्चा सुषुप्ति में ही होता है।

जो बच्चे माँ के पेट में सुषुप्ति में नहीं होते हैं, वह माँ के स्वप्नों को प्रभावित करने लगते हैं। कुछ बच्चे माँ के पेट में स्वप्न में होते हैं। बहुत कुछ, बहुत थोड़ी संख्या में—कभी करोड़ में एकाध बच्चा—माँ के पेट में स्वप्न की अवस्था में होता है। लेकिन यह वही बच्चा होता है जिसकी पिछली मृत्यु स्वप्न की अवस्था

में हुई है। तिब्बत में इस पर बहुत प्रयोग किये हैं। 'बारदो' इसका नाम है तिब्बत में, इसके प्रयोग का।

तिब्बत में मरते हुए आदमी को सुषुप्ति में न चला जाए, इसकी चेष्टा करते हैं। अगर सुषुप्ति में चला गया तो फिर उसको इस जन्म की स्मृति मिट जाएगी। तो उसको इस जन्म की स्मृति बनी रहे, तो मरते हुए आदमी के पास विशेष तरह के प्रयोग करते हैं। उन प्रयोगों में उस आदमी को चेष्टापूर्वक जगाए रखने की कोशिश की जाती है। न केवल जगाए रखने की बल्कि उस मनुष्य के भीतर स्वप्न को पैदा करने की भी चेष्टापूर्वक कोशिश की जाती है, ताकि स्वप्न चलता रहे, चलता रहे और उसकी मृत्यु स्वप्न की अवस्था में घटित हो जाए। यदि स्वप्न की अवस्था में मृत्यु घटित हो जाए, तो वह आदमी आनेवाले जन्म में अपने पिछले जन्म की सारी स्मृति लेकर पैदा होता है।

इसे हम ऐसा समझें तो आसानी पड़ जाएगी। आप रात-भर सपने देखते हैं, यह जानकर आपको शायद भरोसा नहीं होगा। अनेक लोग कहते हैं कि वह सपने देखते ही नहीं। सिर्फ उनको पता नहीं है। अनेक लोग कहते हैं मुझे कभी-कभी सपना आता है। उन्हें सिर्फ स्मरण नहीं रहता। सपना रात-भर देखते हैं। पूरी रात में करीब-करीब बारह स्वप्न औसत आदमी देखता है। इससे ज्यादा देखनेवाले लोग हैं, इससे कम देखनेवाले आदमी खोजने मुश्किल हैं। बारह स्वप्न रात्रि के करीब-करीब तीन चौथाई हिस्से को घेरते हैं। एक चौथाई हिस्से में सुषुप्ति होती है। बाकी तीन चौथाई में स्वप्न होते हैं। लेकिन आपको याद नहीं रहते हैं। क्योंकि एक स्वप्न गया, उसके बाद सुषुप्ति का अगर एक क्षण भी आ गया तो संबंध टूट जाता है स्मृति का।

आपको जो सपने याद रहते हैं, वह करीब-करीब भोर के सपने होते हैं, सुबह के सपने होते हैं। जिनके बाद सुषुप्ति नहीं आती, जागृति आ जाती है। जिस सपने के बाद सुषुप्ति नहीं आती और सीधे आप जाग जाते हैं, वही आपको याद रहता है। अगर किसी भी सपने और जागरण के बीच में सुषुप्ति का थोड़ा-सा भी काल आ जाए, तो स्मृति का संबंध-विच्छेद हो जाता है। उसकी स्मृति तो बनती है लेकिन आपको साधारणतः याद नहीं रहती। स्मृति बनती नहीं, ऐसा नहीं है। स्मृति तो निर्मित होती है, लेकिन अचेतन हो जाती है। सुषुप्ति में भी स्मृति निर्मित होती है, लेकिन अचेतन हो जाती है। उसका आपको बोध नहीं होता है। चेष्टा की जाए तो अचेतन से उसको जगाया जा सकता है। लेकिन साधारणतः आपको खयाल में नहीं रहता। इसलिए सिर्फ सुबह के सपने याद रहते हैं।

इसलिए अधिक लोग तो ऐसा ही सोचते हैं कि मुझे सुबह ही सपना आता

है। सपने रात-भर आते हैं। अब तो इसके लिए वैज्ञानिक आधार उपलब्ध हो गये हैं। अब तो हमारे पास यंत्र भी उपलब्ध हो गये हैं, जो रात-भर बनाते रहते हैं कि कब आप सपना देख रहे हैं और कब आप नहीं देख रहे हैं। पर यह मजे की बात है कि सपना देखने में भी आपकी आँख गतिमान हो जाती है, उसी तरह जैसे आप वस्तुतः अगर जगत में घटना देख रहे होते। उसी आँख से पता चलता है कि आप सपना देख रहे हैं। जैसे एक आदमी फिल्म देख रहा है तो जितनी तेजी से उसकी आँख चलती है--फिल्म के साथ चलनी पड़ती है--जब आदमी सपना देखता है तो उससे भी ज्यादा तेजी से उसकी आँख चलने लगती है पलक के भीतर। 'रेपिड आइ मूवमेंट्स'। उसको वह सकते हैं कि तब पता चला जाता है कि वह सपना देख रहा है।

तो आँख पर यंत्र लगा दिया जाता है। वह यंत्र बताता रहता है कि कब आँख की गति कितनी है। और जब आँख की गति तेज है, तब आपको जगाया जाए तो आप सपना पूरा बता देते हैं उसी वक्त कि क्या सपना देख रहे थे। और जब आँख की गति नहीं होती तब आपको जगाया जाए, तो आप कहते हैं मैं कोई सपना नहीं देख रहा था। तो अब इस पर निर्णय हो गया कि आदमी सपना देखता है तो आँख उसकी भीतर चलती है जोर से। जैसे वह फिल्म देख रहा हो।

तो रात-भर प्रयोग करके हजारों लोगों पर जाना गया है। कोई दस हजार लोगों को--अमरीका ने इसके पीछे बहुत खर्च किया--रात-भर सोने का प्रयोगशाला में पैसा दिया है लोगों को। क्योंकि वह अपनी नींद बेचते हैं। उनको बार-बार जगाना पड़ता है और रात-भर वह बँधे हुए पड़े रहते हैं यंत्रों के बीच। दस हजार लोगों पर प्रयोग करके यह निर्णय लिया है कि कोई आदमी जो कहता है कि मैं सपने नहीं देखता, वह सच कहता है अपनी तरफ से, लेकिन झूठ कहता है। जो आदमी कहता है मुझे कभी-कभी सपने आते हैं, वह भी गलत कहता है। जो लोग कहते हैं हमें सुबह ही सपने आते हैं, वे भी गलत कहते हैं। लेकिन फिर भी उनकी बातों में थोड़ी सचाई है। सुबह के सपने याद रहते हैं, क्योंकि जागृति हो जाती है।

यह मैंने इसलिए कहा था कि तिब्बत का 'बारदो' का प्रयोग आपके खयाल में आ जाए। तिब्बत ने मनुष्य के स्वप्न पर महत्त्वपूर्ण काम किया है। शायद पृथ्वी पर किसी देश ने नहीं किया। और उन्होंने यह राज पा लिया कि अगर किसी आदमी को हम सपने की अवस्था में मरने का आयोजन करवा दें, तो वह अपनी इस जन्म की सारी स्मृतियों को लेकर अगले जन्म में प्रवेश कर जाएगा। और इस जन्म की स्मृतियाँ जिसको अगले जन्म में रहें, उसका अगला जन्म

रूपांतरित हो जाएगा। बदल जाएगा। क्योंकि फिर वही मूढ़ताएँ करने में उसे स्वयं ही बोध होने लगेगा, जो वह कर चुका पहले। फिर वही वासनाएँ, फिर वही इच्छाएँ, फिर वही दौड़ और फल तो कुछ भी नहीं था पूरे जीवन का। पिछला जीवन दौड़-दौड़ कर रिक्त हो गया, और अंत में मौत हाथ लगी। उन सारी वासनाओं के बाद कुछ हाथ लगा नहीं, सिर्फ मौत हाथ लगी।

यह अगर स्मृति में रह जाए, तो अगला जन्म दूसरे प्रकार का होगा। उसका गुणधर्म बदल जाएगा। क्योंकि फिर वह आदमी ठीक उन्हीं वासनाओं में नहीं दौड़ सकेगा, मृत्यु सदा सामने खड़ी मालूम पड़ेगी। और फिर उन्हीं वासनाओं में दौड़ने का अर्थ होगा कि वह फिर अपने हाथ रिक्त करने जा रहा है, फिर मरने जा रहा है। नहीं, इस बार अब वह कुछ और कर सकेगा। जिंदगी को बदलने का कोई, कोई चेष्टा सघन हो जाएगी। यह चेष्टा सघन हो सके, इसलिए 'बारदो' का प्रयोग है।

'बारदो' का प्रयोग वैज्ञानिक है। व्यक्ति मर रहा होता है तब उसे जगाए रखने के सब उपाय किये जाते हैं। सुगंध से, प्रकाश से, संगीत से, कीर्तन से, भजन से, उसे जगाए रखने के प्रयोग किये जाते हैं। उसे सोने नहीं दिया जाता। और जैसे ही उसको झपकी लगती है वैसे ही उसके कान के पास 'बारदो' के सूत्र कहे जाते हैं।

'बारदो' के सूत्र ऐसे हैं, जो स्वप्न को पैदा करने में सहयोगी हैं। जैसे उसे कहा जाएगा कि वह समझ ले कि शरीर से अलग हो रहा है। अभी वह झपकी खा गया, उसे कहा जा रहा है कि वह शरीर से अलग हो गया है। मृत्यु घटित हो गयी है और वह अपनी यात्रा पर निकल रहा है। यात्रा पर मार्ग कैसा है, यात्रा पर दोनों तरफ कैसे वृक्ष लगे हैं, यात्रा पर कैसे पक्षी उड़ रहे हैं, यह सारे प्रतीक उसके कान में कहे जाएँगे।

पहले तो समझा जाता था कि यह कान में कहने से क्या होगा? लेकिन अब यह नहीं समझा जा सकता है। क्योंकि रूस में बड़े पैमाने पर 'हिप्नोपीडिया' के प्रयोग चल रहे हैं। और रूस के वैज्ञानिकों की धारणा है कि आनेवाली सदी में बच्चे स्कूल पढ़ने दिन में नहीं जाएँगे। रात बच्चों की नींद में ही स्कूल उन्हें शिक्षा देगा। क्योंकि रूसी वैज्ञानिकों का कहना है कि बच्चा जब सोया होता है तब उसके कान में एक विशेष ध्वनि पर और एक विशेष 'वेवलेंथ' पर अगर कुछ बातें कही जाएँ तो उसके अचेतन में प्रवेश कर जाती हैं। इस पर बहुत प्रयोग सफल हो गये हैं, और एक बच्चा जो गणित में कमजोर है और लाख उपाय करके गणित में ठीक नहीं होता, शिक्षक परेशान हो जाते हैं, वह बच्चा भी रात नींद में गणित की शिक्षा

देने से कुशल हो जाता है। और उसे कभी पता भी नहीं चलता कि उसको यह शिक्षा दी गयी है।

भाषा के संबंध में तो हैरानी के अनुभव हुए हैं। कि जो भाषा तीन साल में सीखी जा सके, वह रात में तीन महीने में सिखायी जा सकती है। और उसमें कोई समय का व्यय नहीं होगा। क्योंकि आपकी नींद में कोई बाधा नहीं पड़ेगी। आप सोए ही रहेंगे। आपको पता ही नहीं चलेगा। सिर्फ सुबह आपको रोज परीक्षा देनी होगी कि रात-भर क्या हुआ ?

तो अब तो रूस में उन्होंने कुछ संस्थाएँ बनायी हैं जो हजारों बच्चों को रात शिक्षा दे रही हैं। हर बच्चे के पास छोटा-सा यंत्र उसके तकिये में लगा रहता है। वह सो जाता है। ठीक बारह बजे रात शिक्षा शुरू होती है। दो घंटे शिक्षा चलती है, फिर बच्चे को एक बार जगाया जाता है। वह सब यंत्र ही कर देता है। घंटी बजाकर बच्चे को जगा देता है। जगाया इसलिए जाता है ताकि जो सिखाया गया उसके बाद सुषुप्ति आ जाए तो वह भूल जाएगा। इस सूत्र को समझाने के लिए मैं कह रहा हूँ, नहीं तो यह सूत्र समझ में नहीं आएगा।

उसे जगाया जाएगा। दो घंटा शिक्षण चलेगा, फिर घंटी बजेगी। बच्चा जगाया जाएगा। जागकर उसे हाथ-मुंह धोकर पुनः सो जाना है। कुछ और करना नहीं है। बस वह जो शिक्षा दी गयी है, उसके बाद सुषुप्ति की पर्त न आए। नहीं तो सुबह भूल जाएगा। फिर चार बजे उसकी शिक्षा शुरू होगी। फिर चार से छः बजे तक वही पाठ दोहराया जाएगा। छः बजे वह फिर उठ जाएगा।

इस चार घंटे में इतना सिखाया जा पाता है जिसकी कल्पना करनी मुश्किल है। रूसी वैज्ञानिक तो यह कह रहे हैं कि अब हम बच्चों को स्कूल की कारागृह से जल्दी ही छुटकारा दिला देंगे। वह खतरनाक है कारागृह। छोटे बच्चे न खेल पाते हैं उसकी वजह से, न मौज कर पाते हैं। बचपन से ही उनको कारागृह में बिठा दिया जाता है। पाँच-छः घंटे छोटे बच्चों को जबरदस्ती स्कूल में बिठाए रखना उनकी जिंदगी के लिए हमेशा के लिए पंगु कर देना है। लेकिन अभी तक कोई उपाय नहीं था। उनकी जिंदगी का सबसे कीमती और स्वर्ण-अवसर व्यर्थ ही स्कूल की बेंचों पर बैठकर नष्ट होता है। अधिक लोगों की जिंदगी में दुख का कारण वही है। क्योंकि जब सर्वाधिक आनंदित होने के उपाय थे, जीवन ताजा था, प्रफुल्लता थी और जीवन से एक संबंध निर्मित हो सकता था, तब भूगोल, इतिहास और गणित, उनमें सारा समय गया। और उन सबसे जो मिलनेवाला है, वह जीवन नहीं है, आजीविका है। इसका मतलब यह हुआ कि जीवन को गँवाया आजीविका के लिए।

लेकिन रूसी वैज्ञानिक अब कहता है कि यह ज्यादा दिन नहीं चलेगा। हम शीघ्र ही वह रास्ते खोज लिए हैं जिनसे बच्चे दिन-भर खेल सकते हैं, मौज कर सकते हैं, भ्रमण पर जा सकते हैं। जो उन्हें करना हो कर सकते हैं। और रात्रि, रात्रि उनको शिक्षा दी जा सकती है। इसको वे 'हिप्नोपीडिया' कहते हैं। 'निद्रा-शिक्षण'। लेकिन इसमें भी वह सूत्र है कि उनको जगाया जाए। और अगर हम शिक्षा दे सकते हैं भीतर, तो 'बारदो' ठीक कहता है कि कान में कहकर स्वप्न भी पैदा किये जा सकते हैं।

अगर स्वप्न में किसी व्यक्ति की मृत्यु हो तो उसे दूसरा जन्म पिछले जन्म की याददाश्त के साथ मिलेगा। ऐसा बच्चा माँ के पेट में भी स्वप्न की अवस्था में रहेगा। ऐसा बच्चा नया जन्म भी स्वप्न की अवस्था में लेगा। इस तरह के बच्चे में और सुषुप्ति में जन्म लिये हुए बच्चे में बुनियादी फर्क होगा। जन्म में फर्क होगा।

जो बच्चा माँ के पेट में स्वप्न में रहेगा, उस बच्चे के कारण माँ के मन में अनेक स्वप्न पैदा होंगे। बुद्ध और महावीर, विशेषकर जैनों के चौबीस तीर्थंकरों के संबंध में कथा है कि जब भी वे माँ के पेट में आए तो माँ ने विशेष सपने देखे। चौबीस तीर्थंकरों की माँ ने एक-से ही सपने देखे—सैकड़ों, हजारों साल के फासले पर। तो जैनों ने उसका पूरा विज्ञान ही निर्मित किया। तब उन्होंने निश्चित कर लिया कि इस तरह के सपने जब किसी माँ को हों तो उसके पेट से तीर्थंकर पैदा होनेवाला है। वे सपने निश्चित हो गये। जैसे शुभ्र हाथी दिखायी पड़ें, जो साधारणतः नहीं दिखायी पड़ता—चेष्टा भी करें तो नहीं दिखायी पड़ता—तो तीर्थंकर जन्म लेनेवाला है। तो यह 'सिंबॉलिक' हो गये। यह तीर्थंकर के प्रतीक हो गये कि जब किसी माँ के पेट में तीर्थंकर का व्यक्तित्व आएगा, तो वह इन सपनों को देखेगी।

तो जैनों ने तो उनकी शोध करके सपने तय कर दिये। इतने सपने हैं। अगर ये आएँ तो ही पैदा होनेवाला बच्चा तीर्थंकर होगा। बुद्धों के सपने भी तय हैं कि जब बुद्ध की चेतना का व्यक्ति कहीं पैदा होगा, तो उसके सपने क्या होंगे ? यह सपने तभी पैदा हो सकते हैं, जब भीतर आया हुआ व्यक्ति स्वप्न की अवस्था में मरा हो, स्वप्न की अवस्था में जन्मा हो और स्वप्न की अवस्था में माँ के पेट में हो। तो माँ के सपने उस बच्चे से तीव्रता से प्रभावित होंगे। सच तो यह है कि वह माँ बिलकुल आच्छादित हो जाएगी उस बच्चे से; क्योंकि बच्चा माँ से बड़ा व्यक्तित्व लेकर आया हुआ है। ऐसा जो बच्चा पैदा होगा—जो स्वप्न में पैदा हुआ हो— ऐसा बच्चा चाहे तो एक जन्म में मुक्ति को उपलब्ध हो सकता है। चाहे

तो ! न चाहे तो और भी जन्म ले सकता है। लेकिन मुक्ति अब उसकी किसी भी क्षण घटित हो सकती है। जब चाहे, तब घटित हो सकती है।

जैसा सुषुप्ति में पैदा होता है, कोई जन्मता और मरता है; स्वप्न में जन्मता और मरता है, वैसे ही जाग्रत में भी जन्म और मरण के उपाय हैं। वह आखिरी बात है, जब कोई जाग्रत में मरता है। अगर जाग्रत में कोई मरता है, तो आनेवाला जन्म अगर उसे लेना हो तो ही लेगा, अन्यथा जन्म नहीं होगा। क्योंकि अब चुनाव उसके हाथ में है। जो जाग्रत में मरता है, चुनाव उसके हाथ में है। वह चाहे तो ही, प्रयास करे तो ही जन्म होगा। अन्यथा उसका जन्म नहीं होगा। ऐसा व्यक्ति जागा ही गर्भ में प्रवेश करेगा। जागा ही गर्भ में रहेगा। जागा ही जन्मेगा। सुषुप्ति में जो बच्चा पैदा होता है, वह भी माँ को प्रभावित करता है।

इसलिए माँ अक्सर ऐसा होता है कि जब बच्चा माँ के पेट में हो तो माँ का गुणधर्म बदल जाता है। उसका व्यवहार बदल जाता है। बोलचाल बदल जाता है, अनेक बातें बदलाहट मालूम पड़ने लगती हैं। कई बार साधारण स्त्रियाँ अचानक गर्भ के साथ सुंदर हो जाती हैं। विचारशील हो जाती हैं। कई बार सुंदर स्त्रियाँ गर्भ के साथ कुरूप हो जाती हैं। विचारशील स्त्रियाँ विचारहीन हो जाती हैं। शांत स्त्रियाँ अशांत हो जाती हैं। अशांत स्त्रियाँ शांत हो जाती हैं। नौ महीने एक दूसरा जीवन भी भीतर होता है, वह प्रभावित करता है।

सुषुप्त बच्चा भी प्रभावित करता है, लेकिन बहुत ज्यादा नहीं। स्वप्नवाला बच्चा बहुत प्रभावित करता है। माँ के सारे स्वप्न, सारे विचार उस पर आच्छादित हो जाते हैं। लेकिन अगर जाग्रत व्यक्ति पैदा हो, तो माँ पूरी तरह रूपांतरित हो जाती है। यहीं जैनों के तीर्थंकर की और हिंदुओं के अवतार की धारणा का फर्क है। हिंदू मानते हैं कि अवतार वह व्यक्ति है, जो जागा हुआ ही पैदा होता है। जागा हुआ ही पैदा होता है, इसलिए वह ईश्वर का अवतरण कहते हैं। क्योंकि वह व्यक्ति चाहता, तो अभी ईश्वर से मिल सकता था।

इसको जरा ठीक से समझ लेना।

पिछली मृत्यु के बाद वह चाहता तो ईश्वर से मिल सकता था। कोई बाधा न थी, कोई जमीन की तरफ खिंचने का कारण न था। नये जन्म की कोई भी वजह न रही थी। वह ईश्वर से मिलने के ही करीब खड़ा था, मिल गया था, फिर भी लौट आया। इसको हिंदू अवतरण कहते हैं। इसको जन्म नहीं कहते हैं। क्योंकि वह कहते हैं, यह आदमी ऊपर से लौटा है। अवतार है। यह जाग्रत में घटेगा।

जीसस जैसे व्यक्ति का जन्म ईसाइयत में भी जाग्रत में है। पूरा जाग्रत में

है। यहाँ एक और बात ख्याल में लेनी चाहिए।

जब भी कोई जाग्रत व्यक्ति पैदा होता है, तो स्त्री-पुरुष का संभोग घटित नहीं होता। इसलिए ईसाइयत बड़ी मुश्किल में पड़ गयी है। क्योंकि 'वर्जिन' से, कुँआरी लड़की से जन्म हुआ है जीसस का। और ईसाइयत के पास इसका पूरा विज्ञान नहीं है। इसका पूरा खयाल नहीं है कि यह कैसे घटित हो सकता है। कुँआरी लड़की से बच्चा कैसे पैदा हो सकता है ?

सोया हुआ कुँआरी लड़की से पैदा नहीं हो सकता। सोया हुआ बच्चा स्वभावतः बिलकुल ही पाशविक ढंग से, संभोग से पैदा होगा। स्वप्न में पैदा होनेवाला बच्चा साधारण संभोग से पैदा नहीं होता, यौगिक संभोग से पैदा होता है। तांत्रिक संभोग से पैदा होता है। एक विशिष्ट संभोग से पैदा होता है। जिसमें ध्यान संयुक्त होता है, मूर्छा नहीं होती। जाग्रत पुरुष संभोग से पैदा ही नहीं होता। संभोग से उसका कोई संबंध ही नहीं होता। वह कुँआरी माँ से ही पैदा होता है। इसे बहुत बार तो छिपा लिया गया है। छिपा लिया इसलिए गया है कि यह भरोसे का नहीं होगा, विश्वास नहीं किया जा सकेगा और अकारण परेशानी पैदा होगी।

जीसस के मामले में यह बात खुल गयी। और खुल जाने का कारण यह था कि जीसस के पिता ने कहा कि उसने तो कोई संबंध ही नहीं किया है पत्नी से। पहली दफा जीसस के मामले में यह छिपा हुआ राज जाहिर हो गया। नहीं तो सचाई यह है कि जब भी कोई अवतार पैदा हुआ है, उसका संभोग से कोई संबंध नहीं है। भला संभोग होता रहा हो पति और पत्नी में, लेकिन उसके जन्म का संभोग से कोई संबंध ही नहीं है।

यह जो जाग्रत में पैदा हुआ व्यक्ति है, इसे मुक्ति के लिए कुछ भी नहीं करना होता, यह मुक्त ही पैदा होता है। यह तीन अवस्थाएँ स्वप्न की, सुषुप्ति की हमारे जन्म और मृत्यु में भी गुंथी हैं।

एक दूसरी तरफ से भी इन तीनों अवस्थाओं का खयाल ले लें।

हिंदू-चिंतना स्वप्न, सुषुप्ति और जागृति में तीन शरीरों का भी निर्माण मानती है। वह कीमती है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण, यह तीन शरीर हिंदू-चिंतन मानता है। स्थूल-शरीर जाग्रत से संबंधित है। सूक्ष्म-शरीर स्वप्न से संबंधित है। कारण-शरीर में होते सुषुप्ति से संबंधित है। जब आप जागे हुए होते हैं, तो आप स्थूल-शरीर हैं। इसीलिए जब आपको 'अॅनस्थीसिया' दे दिया जाता है, तो फिर इस शरीर को काटा जाता है और आपको पता नहीं चलता, क्योंकि आप दूसरे शरीर में होते हैं।

किसी-न-किसी दिन 'मेडिकल साइंस' इन इलाजों को हिंदू-चिंतना से भी

समझेगी तो उसे बड़ा उद्घाटित होगा। किसी दिन चिकित्साशास्त्र अनुभव करेगा कि इन शास्त्रों में सिर्फ दर्शन नहीं है, बहुत कुछ और भी है। लेकिन वह इतना सूत्र में है कि जब तक उसे कोई खोले नहीं, तब तक वह खयाल में आने का कोई उपाय नहीं है। ऑपरेशन इसलिए किया जा सकता है स्थूल-शरीर का कि आप, आपकी चेतना बेहोशी में स्थूल-शरीर से हटकर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाए अर्थात् सुषुप्ति में तो इस शरीर पर होनेवाली किसी घटना का कोई पता नहीं चलेगा। अगर स्वप्न-शरीर में प्रवेश कर जाए, तो धुंधला-धुंधला पता चलेगा। क्योंकि स्वप्न- शरीर इसके बिलकुल करीब है। जैसे कि कभी कोई आदमी भंग खा लेता है तो वह स्वप्न-शरीर में प्रवेश कर जाता है।

जितने एसिड्स हैं—एल.एस.डी., मेस्कॅलीन, भाँग, गाँजा, अफीम, चरस, शराब, यह सब-के-सब स्थूल-शरीर से आदमी को तोड़कर स्वप्न-शरीर में प्रवेश करा देते हैं। इनकी कुल कल इतनी है। तो भाँग खाया हुआ आदमी आपने देखा है? रास्ते पर डोलता हुआ चलता है। पैर ठीक रखना चाहता है, नहीं पड़ता है। हालाँकि उसे लगता है कि मैं बिलकुल ठीक रखता हूँ। और फिर भी उसे लगता है कि कुछ गलत पड़ता है। असल में इस शरीर में वह है नहीं अब। वह शराबी जो रास्ते पर डोलता हुआ चल रहा है, वह दूसरे शरीर में चल रहा है। और यह शरीर सिर्फ उसके साथ घसिट रहा है। वह सूक्ष्म-शरीर में चल रहा है। लेकिन फिर भी उसे इसका बोध है। अगर आप उसको डंडा मारें, तो उसको चोट लगेगी। हालाँकि चोट उतनी नहीं लगेगी, जितना वह स्थूल में होता तब लगती। इसलिए शराबी गिर पड़ता है रास्ते पर, आपने देखा? आप गिरकर देखें? रोज गिरता है रात नाली में, रोज घर घसिट कर पहुँचा दिया जाता है। दूसरे दिन सुबह फिर ताजा अपने दफ्तर की तरफ जा रहा है। इसे चोट वगैरह नहीं लगती?

आपने देखा, बच्चे? बच्चे गिर पड़ते हैं, उनको इतनी चोट नहीं लगती। आप इतने गिरें तो हड्डी-पसली तत्काल टूट जाए। बच्चे स्वप्न-शरीर में हैं। अभी उनका जाग्रत-शरीर में आने का उपाय धीरे-धीरे होगा। आपने देखा है? जब बच्चा पैदा होता है... माँ के पेट में चौबीस घंटे सोता है, पैदा होकर तेईस घंटे सोता है। फिर बाईस घंटे सोता है। फिर बीस घंटे सोता है। यह उसके सुषुप्ति-शरीर से वह बाहर आ रहा है। यह सुषुप्ति-शरीर से वह बाहर आ रहा है क्रमशः। धीरे-धीरे नींद कम होती जाएगी। लेकिन जब वह नींद के बाहर होगा तब वह अक्सर सपने में होगा।

आपने कभी खयाल किया है कि छोटे बच्चों को सपने में और वास्तविकता में फर्क पता नहीं चलता है। इसलिए रात अगर सपने में उसको किसीने मार दिया

है, तो वह सुबह भी रोता हुआ उठता है। और वह कहता है, किसीने मुझे मारा। या सपने में किसीने उसकी गुड़िया छीन ली तो वह सुबह रोता हुआ, सिसकता हुआ उठता है। अभी उसे स्वप्न और जाग्रत के बीच फासला नहीं है। अभी वह स्वप्न-शरीर में ही जीता है। इसलिए बच्चों की आँखें उतनी सपनीली मालूम पड़ती हैं। लेकिन 'इनोसेंट', निर्दोष। उसका कुल कारण इतना है कि वह सपने में आँखें खोले हुए है। अभी उसकी दुनिया बड़ी रंग-बिरंगी है, सपनों की दुनिया है। अभी सब तरफ तितलियाँ उड़ रही हैं और सब तरफ फूल खिल रहे हैं। अभी जिंदगी के यथार्थ का कोई आभास उन्हें नहीं हुआ।

उसका कारण?

उसका कारण कि अभी वह जिंदगी के जिस यथार्थ से संबंध होने का मार्ग, जो शरीर है स्थूल, उसमें उनका प्रवेश नहीं हुआ। और प्रकृति इसको जानकर ऐसा करती है। क्योंकि बच्चा अगर चौबीस घंटे सोता है माँ के पेट में, तो ही उसका यह शरीर बढ़ सकता है। अगर वह इस शरीर में आ जाए तो शरीर का बढ़ना मुश्किल हो जाएगा। क्योंकि शरीर की बढ़ती के लिए उसकी मौजूदगी बिलकुल जरूरी नहीं है। उसकी मौजूदगी बाधा डालेगी। अभी शरीर में बड़ा ऑपरेशन चल रहा है। सभी चीजें बढ़ रही हैं, घट रही हैं, फैल रही हैं। अभी यह सब इतना बड़ा काम चल रहा है कि इस बीच उसका जागरण ठीक नहीं है। उसे सोया रहना ठीक है।

इसलिए जो बच्चा सात महीने का पैदा हो जाता है, उसका स्थूल-शरीर सदा के लिए कमजोर रह जाएगा। क्योंकि वह सुषुप्ति से स्वप्न में आ गया और अब शरीर के बनने में बाधा पड़ेगी। और जो काम माँ के पेट में महीने में हो सकता था, वह बाहर छः महीने में भी नहीं हो पाएगा। फिर बच्चे का स्वप्न-शरीर चलेगा वर्षों तक। क्योंकि अभी भी उसका शरीर बड़ा हो रहा है।

ठीक स्वप्न-शरीर से पूरा छुटकारा बच्चा जब 'सेक्सुअली मेच्योर' होता है, चौदह साल का होता है तब होता है। और चौदह साल की उम्र में जैसे ही काम-प्रौढ़ता आती है, स्थूल-शरीर में पूरा प्रवेश होता है। यह जानकर आप हैरान होंगे कि काम की ग्रंथि बच्चे जन्म से ही पूरी लेकर पैदा होते हैं। लेकिन स्थूल-शरीर में प्रवेश न होने से काम की ग्रंथि ऐसी ही पड़ी रहती है। चौदह वर्ष में स्थूल-शरीर में प्रवेश होगा और काम की ग्रंथि सक्रिय हो जाएगी। इस स्थूल-शरीर में प्रवेश को रोका जा सकता है। कम-ज्यादा किया जा सकता है।

शायद आपको पता न हो कि हर दस-बीस वर्षों में, इधर पिछले पचास वर्षों में 'सेक्स मेच्योरिटी' का समय नीचे गिरता जा रहा है। बच्चे पंद्रह वर्ष में लड़के

अगर प्रौढ़ होते थे कामवासना में, अब वह तेरह वर्ष में हो जाते हैं। लड़कियाँ अगर चौदह वर्ष में होती थीं, तो अब वह बारह वर्ष में हो जाती हैं। और अमरीका में वह संख्या और नीचे गिर गयी है। अगर हिंदुस्तान में बारह वर्ष में होती हैं, तो अमरीका में ग्यारह वर्ष में होने लगीं। स्विट्जरलैंड और स्वीडन में और भी एक वर्ष कम, दस वर्ष में होने लगी हैं। और वैज्ञानिक कहते हैं कि जितना स्वास्थ्य बढ़ेगा, भोजन अच्छा होगा, उतने जल्दी 'सेक्सुअल मेच्योरिटी' आ जाएगी। इतना ही नहीं—वैज्ञानिकों को इतना ही खयाल में है—लेकिन जगत में जितनी कामवासना की हवा होगी और जितना कामवासना का वातावरण होगा और जितनी कामुकता होगी, उतने जल्दी ही बच्चे अपने स्वप्न-शरीर को छोड़कर अपने स्थूल—शरीर में आ जाएँगे।

इससे उल्टा प्रयोग भारत में किया था और हम पच्चीस वर्ष तक बच्चों को प्रौढ़ता से रोकने के अद्भुत परिणामों को उपलब्ध हुए थे। आप यह मत समझना कि हिंदुस्तान के गुरुकुलों में बच्चे चौदह साल में प्रौढ़ हो जाते थे, और फिर पच्चीस साल तक उनको ब्रह्मचर्य रखा जा सकता था। वह असंभव है। अगर चौदह साल में बच्चा प्रौढ़ हो गया, तो फिर पच्चीस साल तक उसको ब्रह्मचारी रखना असंभव है। और अगर कोशिश की जाएगी, तो पागल होगा। कोशिश कि जाएगी तो विकृत हो जाएगा। कोशिश की जाएगी तो विकृत काम-रूप उसमें प्रगट होने शुरू हो जाएँगे।

नहीं, जो प्रयोग था वह बहुत दूसरा था। वह प्रयोग यह था कि पच्चीस वर्ष तक उसको विशेष तरह का भोजन दिया जा रहा था, और विशेष तरह का वातावरण दिया जा रहा था, जहाँ कामुकता की कोई गंध और कोई खबर न थी। और भोजन उसे ऐसा दिया जा रहा था जो उसके स्वप्न-शरीर से उसे पच्चीस वर्ष तक बाहर न आने दे। और यह मौका था, इस क्षण में उसे जो भी सिखाया जाता, वह उसके स्वप्न-शरीर में प्रवेश कर जाता था।

मजे की बात है कि चौदह साल के बाद कोई भी चीज सिखायी जाए, वह गहरे प्रवेश नहीं करती। ऊपर-ऊपर रह जाती है। चौदह साल के पहले जो भी सिखाया जाए वह गहरा प्रवेश करता है। सात साल के पहले जो सिखाया जाए वह और भी गहरा प्रवेश करता है। और अगर हमने किसी दिन कोई उपाय खोज लिया कि हम माँ के पेट में बच्चे को कुछ सिखा सके, तो उसकी गहराई का कोई हिसाब ही लगाना असंभव है। वह भी हम किसी-न-किसी दिन कर पाएँगे। क्योंकि उस दिशा में काम चलता है। उस दिशा में भारत में तो काम किया है। यह पच्चीस वर्ष तक उसकी अगर 'मेच्योरिटी' रोकी जा सके, तो बच्चा स्वप्न की अवस्था में

होगा। और स्वप्न की अवस्था बहुत ही ग्राहक अवस्था है।

आपने कभी खयाल किया कि स्वप्न में संदेह कभी नहीं उठता? स्वप्न में आप अचानक देखते हैं कि घोड़ा चला आ रहा है, अचानक पास आकर देखते हैं कि घोड़ा नहीं आपका मित्र है। और थोड़ा पास आता है, आप देखते हैं मित्र नहीं यह तो वृक्ष खड़ा हुआ है। लेकिन आपके मन में यह भी नहीं उठता कि यह क्या हो रहा है? ऐसा कैसे हो सकता है कि अभी घोड़ा था, अभी मित्र हो गया, अब वृक्ष हो गया। इतना संदेह भी नहीं उठता। स्वप्न-शरीर आस्थावान है। स्वप्न-शरीर पूर्ण श्रद्धा से भरा है। संदेह उठता ही नहीं। अगर स्वप्न-शरीर में कुछ भी डाल दिया जाए तो वह निःसंदिग्ध गहरा उतर जाता है। स्थूल-शरीर आस्थावान नहीं है। सब संदेह उठता है। स्थूल-शरीर का एक दफा बोध आ जाए, फिर शिक्षण मुश्किल हो जाता है।

कभी आपने खयाल किया कि अगर आपके बच्चे जैसे ही 'सेक्सुअली मेच्योर' होते हैं, वैसे ही उनके जीवन में अस्तव्यस्तता और परेशानी और उपद्रव और विरोध और विद्रोह और हर चीज में जिद्द और हर चीज से झगड़ा और हर चीज से छूटने की कोशिश और कुछ भी न मानने की वृत्ति खड़ी होनी शुरू हो जाती है? किसीको न मानने की। किसीका आदर न करने की। वह स्थूल-शरीर का स्वाभाविक परिणाम है।

ऐसे बूढ़ा भी तीन शरीरों को पुनः उपलब्ध होता है। मरने के पहले फिर बूढ़े का स्थूल-शरीर सबसे पहले नष्ट होने लाता है। जवानी समाप्त होती है उसी दिन, जिस दिन हमें पता चलता है हमारा स्थूल-शरीर क्षीण होने लगा। लेकिन, स्थूल-शरीर क्षीण हो जाए, लेकिन वासना क्षीण नहीं होती, क्योंकि वासना सूक्ष्म-शरीर का हिस्सा है, स्वप्न-शरीर का हिस्सा है। इसलिए बूढ़े की तकलीफ एक ही है। वह तकलीफ यह है कि उसके पास वासना वही होती है जो जवान के पास होती है और शरीर उसके पास जवान का नहीं होता। उसकी पीड़ा भारी हो जाती है। इसलिए बूढ़े अक्सर जो जवानों के प्रति इतना...इतनी निंदा से भरे रहते हैं और इतनी आलोचना से भरे रहते हैं और इतने सिद्धांत और तर्क और सिर्फ शिक्षाएँ देते रहते हैं, उसका गहरा कारण उनकी बुद्धिमत्ता नहीं है, उसका गहरा कारण सौ में निन्न्यानबे मौके पर उनकी ईर्ष्या है। वासना उनके मन में भी वही है, लेकिन शरीर क्षीण हो गया है। स्थूल-शरीर साथ नहीं देता।

फिर इसके बाद उनका स्वप्न-शरीर क्षीण होना शुरू होता है। जब बूढ़े का स्वप्न-शरीर क्षीण होता है, तब उसकी स्मृति प्रभावित हो जाती है। अभी कुछ कहता है, घड़ी भर बाद कुछ कहने लगता है—संगति नहीं रह जाती। स्वप्न-शरीर

क्षीण होने लगा।

और जब स्वप्न-शरीर क्षीण हो जाता है, तब फिर सुषुप्ति में मृत्यु घटित होती है। मृत्यु में सुषुप्त-शरीर भी क्षीण होता है। लेकिन समाप्त नहीं होता है। और इन तीनों शरीरों की वासना लेकर सुषुप्त-शरीर, कारण-शरीर नयी यात्रा पर निकल जाता है। वह बीज की तरह। फिर नया जन्म, फिर नयी यात्रा, फिर वही खेल, फिर वही चक्कर।

अब यह सूत्र को हम समझें।

'पिछले जन्मों के कर्मों से प्रेरित होकर वह मनुष्य सुषुप्त-अवस्था से पुनः स्वप्न व जाग्रत-अवस्था में आ जाता है'।

'पिछले जन्मों के कर्मों से प्रेरित हुआ वह मनुष्य सुषुप्त-अवस्था से पुनः स्वप्न और जाग्रत-अवस्था में आ जाता है'। जब भी कोई नया व्यक्ति पैदा होता है तो पिछले जन्मों के सारे कर्मों को, प्रभावों को, संस्कारों को लेकर सुषुप्त से पैदा होता है। फिर स्वप्न में आता है, फिर जाग्रत में आ जाता है। नया जीवन शुरू हो जाता है।

'इस तरह से ज्ञात हुआ कि जीव तीन प्रकार के शरीरों में--स्थूल, सूक्ष्म और कारण में--रमण करता है। उसी से सारे मायिक-प्रपंच की सृष्टि होती है'। यह जीवन का सारा-का-सारा प्रपंच इन तीन शरीरों पर निर्भर है। इन तीन शरीरों को इस सूत्र में पुर कहा है। तीन पुर। और इसलिए भारतीय जो शब्द है आत्मा के लिए, वह पुर है। पुरुष का मतलब है, पुर के भीतर रहनेवाला। और यह तीन उसके नगर हैं, यह तीन उसके पुर हैं--स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इन तीन में वह पुरुष रमण करता रहता है। यह तीन उसकी नगरियाँ हैं, जिनमें वह एक से दूसरे में यात्रा करता है। जब तीन प्रकार के शरीरों का लय हो जाता है, तभी यह जीव मायिक-प्रपंच से मुक्त होकर अखंड आनंद का अनुभव करता है। जब यह तीन शरीर लीन हो जाते हैं।

जब हमारी मृत्यु घटित होती है, तो हमारा स्थूल-शरीर बीजरूप में सूक्ष्म में समा जाता है। और सूक्ष्म बीजरूप होकर सुषुप्त में समा जाता है, कारण में समा जाता है। स्थूल सूक्ष्म में, सूक्ष्म कारण में समा जाता है।

कारण शब्द बहुत अद्‌भुत है। अगर हम पूछें, वृक्ष का कारण क्या? तो कहना पड़ेगा, बीज। कभी आपने खयाल किया कि एक वृक्ष में बीज लगता है, इस बीज को अगर आप तोड़ें तो आपको कुछ भी तो नहीं मिलेगा। लेकिन इसे आप जमीन में गाड़ दें। इसमें फिर अंकुर आएगा और जिस वृक्ष में यह लगा था, वही वृक्ष पुनः प्रगट हो जाएगा। इसका मतलब यह हुआ कि वह जिस वृक्ष में

लगा था, वह वृक्ष अपने स्थूल, स्वप्न-शरीरों को लीन करके इस बीज में समा गया था। कारण-शरीर में लीन हो गया था। फिर ठीक अवसर आने पर वह प्रगट हो जाता है।

मैं अगर एक जीवन जिआ तो जो मैंने किया, जो मैं था, जो मैंने सोचा, जो मेरे जीवन में हुआ, जो मेरे जीवन का सार है, वह सब पहले जाग्रत में घटता है। फिर उसका सार निचोड़कर स्वप्न में संग्रहित हो जाता है। फिर स्वप्न-शरीर का भी सारा संग्रहित होकर कारण-शरीर में बीज बन जाता है। वह बीज लेकर मैं नयी जीवन की यात्रा पर निकल जाता हूँ। वही बीज नये जन्म की शुरुआत बनेगा। फिर स्वप्न उठेंगे, फिर जाग्रत का वृक्ष फैलेगा। फिर जीवन का पूरा-का-पूरा वृक्ष खड़ा हो जाएगा।

जब तक यह तीन शरीर नष्ट न हो जाएँ, तो भारतीय-मनीषा का अनुभव है, तब तक व्यक्ति उस चौथे को उपलब्ध नहीं होता, जो वह है। जब तक यह तीनों से मुक्त न हो जाए, छूट न जाए, तब तक आनंद का कोई अनुभव नहीं होता। एक यह तीनों कारागृह हैं और बार-बार पुनरुक्त होते चले जाते हैं। एक कारागृह से दूसरे में हस्तांतरण होता है, दूसरे से तीसरे में। और आदमी स्थानांतरित होता चला जाता है। एक कारागृह दूसरे कारागृह के जेलर के हाथ में सौंप देता है। दूसरा तीसरे के हाथ में सौंप देता है। और अनंत है यह परिभ्रमण इन तीनों का।

लीन हो जाएँ यह तीनों शरीर.... कैसे यह तीनों शरीर लीन होंगे? यह तीनों लीन हो जाएँ तो फिर जो घटना घटती है, उसको मृत्यु नहीं कहते, उसको मुक्ति कहते हैं। साधारण आदमी जब मरता है, उसको मृत्यु कहते हैं। मृत्यु का अर्थ हुआ कि तीनों शरीर कारण में लीन हो गये--समाप्त नहीं हुए--और कारण नयी यात्रा पर निकल गया।

मृत्यु का मतलब आप समझ लें।

बहुत हैरानी होगी जानकर कि मृत्यु का मतलब बहुत अजीब है। मृत्यु का मतलब है, उस आदमी की मृत्यु को मृत्यु कहते हैं जिसका दूसरा जन्म होनेवाला है। कभी खयाल में न आया होगा कि इसको मृत्यु कहते हैं, जन्म के कारण। अगर आगे जन्म होने वाला है, तो यह मृत्यु है। और अगर आगे जन्म होनेवाला नहीं है, तो यह मोक्ष है, मुक्ति है। इसलिए बुद्ध को हम नहीं कहते हैं कि वह मर गये। कहते हैं--समाधिस्थ हुए। महावीर को नहीं कहते हैं कि वह मर गये। कहते हैं--समाधिस्थ हुए। समाधिस्थ का अर्थ है कि तीनों-के-तीनों शरीर लीन हो गये। समाप्त हो गये, शून्य हो गये। और यह व्यक्ति चौथी अवस्था में प्रवेश कर गया। यहाँ से कोई आवागमन नहीं है।

इसीलिए बड़े मजे की बात है कि भारत में हम शरीर को जलाते हैं। सिर्फ संन्यासी के शरीर को नहीं जलाते हैं। कभी आपने ख्याल किया हो, न किया हो। सबके शरीर को जलाते हैं, सिर्फ संन्यासी के शरीर को नहीं जलाते और बच्चों के शरीर को नहीं जलाते हैं। बच्चों के शरीर को इसीलिए नहीं जलाते हैं कि बच्चों के तीनों शरीर प्रकट नहीं हो पाए थे। इसीलिए बच्चे के शरीर में अभी अपवित्रता नहीं आयी। जब तक स्थूल-शरीर प्रकट न हो गया हो, तब तक बच्चे का शरीर अपवित्र नहीं है। ऐसा हमारा इन सारे खयालों के पीछे अनुगमन जो हुआ, अनुसंधान हुआ, वह यह है कि जब तक बच्चा स्थूल-शरीर में प्रवेश न कर गया हो—मतलब कामवासना सघन न हो गयी हो—तब तक उसके शरीर को जलाने की कोई भी जरूरत नहीं है। तब तक उसका शरीर फूल जैसा पवित्र है। इसे हम सीधा सौंप देते हैं मिट्टी को। मिट्टी उसे सीधा ही आत्मसात कर लेगी।

लेकिन आप हैरान होंगे कि कामवासना के जग जाने के बाद पहले अग्नि से शुद्ध, करेंगे फिर मिट्टी को सौंपेंगे। अपवित्रता प्रवेश कर गयी, इसीलिए आग में जलाते हैं। आग में जलाने का प्रयोजन कुल इतना है कि अपवित्र हो गया शरीर, वासनाग्रस्त हो गया, स्थूल तक पहुँच गयी चेतना। दूषित हो गयी। तो आग उसे शुद्ध कर दे। आग उसे राख बना देगी, फिर राख को हम मिट्टी को, नदी को कहीं सौंप देंगे। फिर दिक्कत न रही।

बच्चे को हम नहीं जलाते हैं और संन्यासी को हम नहीं जलाते हैं।

संन्यासी को न जलाने का दूसरा कारण है। संन्यासी को न जलाने का कारण है कि जिसने अपने भीतर ही उन तीनों शरीरों को जला डाला, अब हम और शुद्ध करने का क्या उपाय करें! परमशुद्धि हो गयी। इसीलिए हमारी आग किसी काम की नहीं है। जिसकी भीतर की आग जग गयी और जिसने भीतर तीनों शरीरों को समाप्त कर लिया, अब हमारी आग उसके किसी काम की नहीं है। उसे भी हम मिट्टी को सीधा सौंप देते हैं। वह सीधा ग्रहणीय है। मिट्टी उसे सीधा ही आत्मसात कर लेगी। वहाँ भी कुछ अशुद्ध नहीं है। बच्चों में अभी अशुद्ध हुआ नहीं था, संन्यासी में शुद्ध हो गया। इसलिए हम संन्यासी और बच्चे को नहीं जला रहे हैं।

मृत्यु तब तक मृत्यु है, जब आगे जन्म होने को हो। मृत्यु कहते इसलिए हैं कि जन्म होनेवाला है। यह उल्टा लगेगा। बल्कि भारत कहता ऐसा है कि जन्म और मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जन्म होता है, तो मृत्यु होती है। मृत्यु होती है तो फिर जन्म होगा। इसलिए हम महावीर या बुद्ध की मृत्यु को मृत्यु नहीं कहते हैं। क्योंकि दूसरा पहलू ही नहीं है। जन्म होनेवाला नहीं है। यह मृत्यु नहीं है। यह समाधि है। यह मुक्ति है। यह किसी दूसरी ही यात्रा पर निकल गयी चेतना

है। यह हमारे चक्कर के, हमारी जो पटरी थी उससे नीचे उतर गयी, हमारी पटरी पर इसके लिए अब कोई जन्म नहीं है। इसको हम मृत्यु कैसे कहें? क्योंकि मृत्यु हम कह ही तब सकते हैं सार्थक रूप से, जब जन्म होनेवाला हो। जन्म चूँकि नहीं होगा, इसलिए इसे मृत्यु भी नहीं कहते हैं। इसे कहते हैं, समाधि।

समाधि का अर्थ होता है, जिसकी आत्मा समाधान को उपलब्ध हो गयी। अब यह बड़े मजे की बात है कि ध्यान की पूर्णता को भी हम समाधि कहते हैं और जीवन की पूर्णता को भी हम समाधि कहते हैं। समाधि हम दोनों को कहते हैं। संन्यासी की कब्र को भी हम समाधि कहते हैं। जीवन की पूर्णता को भी हम समाधि कहते हैं, ध्यान की पूर्णता को भी हम समाधि कहते हैं।

जीवन में कहीं कोई एक जोड़ है। तीनों शायद एक ही जगह ले जाते हैं। ध्यान पूर्ण होता है, जीवन पूर्ण होता हैं। जीवन पूर्ण होता है तो ध्यान पूर्ण होता है। और जहाँ पूर्णता है वहाँ फिर मृत्यु नहीं है। वहाँ समाधान है। वहाँ फिर समाधि है। यात्रा का पथ ही बदल गया। अब हम जन्म और मृत्यु वाले वर्तुलाकार चक्र में नहीं घूमेंगे। अब हम चके से नीचे उतर गये। हम किसी दूसरी यात्रा पर चले। इस यात्रा में जीवन-ही-जीवन है। न जन्म है; न मृत्यु। इस यात्रा में जीवन-ही-जीवन है। यह शाश्वत जीवन है।

लेकिन यह तीनों शरीर अंत कैसे हों? इन तीनों शरीरों की लीनता कैसे हो? संक्षिप्त में थोड़ी बातें खयाल में ले लें। फिर आगे के सूत्र में और विस्तार से बात हो सकेगी।

ध्यान सूत्र है समाधि तक ले जानेवाला। तो ध्यान सूत्र बनेगा इन तीनों शरीरों से मुक्त होने के लिए। जाग्रत में ध्यान शुरू करें। हम जागे हुए भी ध्यानपूर्वक जागे हुए नहीं होते हैं। रास्ते पर आप चल रहे हैं, बिलकुल जागे हुए चल रहे हैं। लेकिन इसमें एक आयाम और जोड़ा जा सकता है। जागे हुए चल रहे हैं, ध्यानपूर्वक भी चलें। तो आप कहेंगे, जब जागे हुए ही चल रहे हैं, अब और ध्यानपूर्वक चलने का क्या मतलब होगा? जागे हुए आप जरूर चल रहे हैं, लेकिन ध्यानपूर्वक चलने का अर्थ है कि आपका एक पैर भी उठे, हाथ भी हिले, आँख भी उठे, पलक भी झपे, आप मुड़कर देखें, तो यह सब ध्यानपूर्वक हो। यह ऐसे ही मूर्छित न हो जाए।

बुद्ध के सामने कोई बैठा हुआ है, बुद्ध बोल रहे हैं और वह आदमी अपना पैर का अँगूठा हिला रहा है। तो बुद्ध उसे रुककर कहते हैं कि यह तुम्हारे पैर का अँगूठा क्यों हिल रहा है? तो उस आदमी ने कहा आप भी कहाँ-कहाँ की बातें उठा लेते हैं! कहाँ आप ज्ञान की चर्चा कर रहे थे और कहाँ आपने मेरे अँगूठे ....!

लेकिन जैसे ही बुद्ध ने पूछा, वह अँगूठा रुक गया। उस आदमी ने कहा मुझे पता नहीं था, मुझे खयाल ही नहीं था, ऐसे आदतवश हिल रहा होगा। तो बुद्ध ने कहा देखो, इसका अँगूठा है यह खुद का, और यह हिल रहा है अँगूठा इसका और इसको पता नहीं है। और यह कह रहा है, ऐसे हिल रहा होगा। तो तू जागा हुआ है ? यह तो ठीक है कि जागा हुआ है, क्योंकि मैं बोला तो तूने सुन लिया। लेकिन तू ध्यानपूर्वक जागा हुआ नहीं है। यह अँगूठा तो तेरा हिल रहा है और तेरे ध्यान में नहीं है।

जागने में ध्यान को जोड़ दें। जो भी कर रहे हैं, उसमें ध्यानपूर्वक हों। बुद्ध ने जो शब्द प्रयोग किया है ध्यान के लिए, वह कीमती है इस लिहाज से। बुद्ध ने उसके लिए कहा है--सम्यक-स्मृति। 'राइट माइंडफुलनेस'। जो भी कर रहे हों, वह ठीक सम्यक-स्मृतिपूर्वक हो। बुद्ध कहते थे, बायें घूमें तो बायें घूमने के साथ चित्त को यह पता चले कि मैं बायें घूम रहा हूँ। एक आदमी गाली दे तो साथ में गाली सुन भी जाए और साथ में यह भी जाना जाए कि इस आदमी ने गाली दी है और मैंने गाली सुनी है। भीतर क्रोध उठे तो यह भी जाना जाए कि इस आदमी की गाली से भीतर क्रोध हुआ है और मेरे भीतर क्रोध उठा रहा है। और तब आप पाएँगे, सारी स्थिति बदल गयी। क्योंकि जो आदमी देख रहा हो कि क्रोध उठ रहा है, उसका क्रोध उठ नहीं पाएगा। जो आदमी देख रहा हो कि क्रोध पकड़ रहा है, उसको क्रोध पकड़ नहीं पाएगा। जो आदमी जान रहा हो कि अब क्रोध आता ही है, उसको क्रोध आ नहीं पाएगा। होश चित्त को बदल देगा।

तो जाग्रत में ध्यान अगर संयुक्त हो जाए और आपकी जागरण की सारी क्रियाएँ ध्यानपूर्वक होने लगें, तो आप एक शरीर से मुक्त हुए।

फिर इसी प्रक्रिया को स्वप्न में प्रवेश करना होता है। तब स्वप्न में जाग, स्वप्न में भी ध्यानपूर्वक, सोते में भी ध्यानपूर्वक। बुद्ध ने कहा है, सोओ भी तो ध्यानपूर्वक सोना। करवट भी बदलो तो ध्यानपूर्वक बदलना। स्वप्न भी देखो तो ध्यानपूर्वक देखना। लेकिन यह एकदम से शुरू नहीं किया जा सकता। पहले जाग्रत में अगर ध्यान प्रवेश कर जाए, तो आप स्वप्न के दरवाजे पर खड़े हो जाते हैं। फिर दरवाजे से प्रवेश हो सकता है स्वप्न में भी। जो जागने में जाग गया हो ध्यानपूर्वक, वह फिर स्वप्न में भी धीरे से ध्यान के तीर को अंदर ले जाता है। फिर आप स्वप्न देखते हैं और जानते हैं कि यह स्वप्न चल रहा है।

फिर ज्यादा दिन स्वप्न नहीं चल सकते हैं। जो होशपूर्वक देख रहा है, वह हँसेगा। और पागलपन साफ होगा और स्वप्न ज्यादा दिन नहीं चल पाएँगे। और जाग गया जो भीतर, स्वप्न टूटने लगेगा, बिखरने लगेगा। स्वप्न के लिए निद्रा

जरूरी है, बेहोशी जरूरी है।

और जब स्वप्न समाप्त हो जाएँ ध्यान से, तो फिर आप तीसरे दरवाजे पर खड़े हुए। सुषुप्ति के। अभी तो उसकी कल्पना ही करनी असंभव होगी। क्योंकि नींद में कैसे ध्यान करेंगे ? जब बिलकुल ही सो गये, होश ही न रहा, तो कैसा ध्यान करेंगे ? लेकिन, स्वप्न में जिसने प्रयोग किया हो, वह फिर तीसरे में प्रवेश कर पाता है। और जिस दिन कोई नींद में जाग जाता है--स्वप्न में जागने से इस सूक्ष्म-शरीर से छुटकारा हो जाता है, सुषुप्ति में जागने से कारण-शरीर से छुटकारा हो जाता है।

कृष्ण ने जो कहा है कि योगी तब भी जागता है जब सब सोते हैं, सब की निद्रा भी योगी का जागरण है, वह इसीके लिए कहा है। तीसरे ध्यान के प्रयोग के लिए। सुषुप्ति में जब कोई होशपूर्वक हो जाता है, ध्यानपूर्वक, तो तीनों शरीरों से छुटकारा होगा। अब, अब ऐसा व्यक्ति मरते वक्त जागा हुआ मरता है। होशपूर्वक मरता है। क्योंकि सुषुप्ति में मृत्यु घटित होती है, अब वह जागा हुआ मरता है। होशपूर्वक मरता है।

बुद्ध की मृत्यु आयी तो बुद्ध ने कहा कि आज अब मेरी मृत्यु आती है। अब आज मेरा भीतर मुझे साफ हो गया कि अब सब टूटने के करीब है। तो तुम्हें कुछ पूछना हो तो पूछ लो। यह सुनकर ही सबके हृदय बैठ गये, पूछने का तो सवाल न रहा। लोग छाती पीटकर रोने लगे। बुद्ध ने कहा रोने में तुम समय मत गँवाओ, क्योंकि मैं ज्यादा देर रुक नहीं सकूँगा। बात मुझे भीतर साफ हुई जाती है। वैसी साफ हुई जाती है जैसे कि किसी दीये का तेल चुक जाता हो और आपके पास आँखें हों, अंधे न हों, तो साफ ही दिखायी पड़ेगा कि तेल चुका जा रहा है, ज्योति बुझने के करीब। तुम रोओ-धोओ मत, चिल्लाओ मत। वह तो हम अंधे हैं, इसलिए दिया बुझता चला जा रहा है, हमको पता भी नहीं चलता। तेल भी चुक जाता है और हम ऐसे बैठे हुए हैं जैसे कि सागर भरा हुआ है तेल का।

तो बुद्ध ने कहा यह तेल बिलकुल चुकने के करीब है, यह घड़ी-दो घड़ी की बात है कि मेरी यह ज्योति जलती रहेगी। तुम्हें कुछ पूछना हो, पूछ लो, रोने में मत गँवाओ। लेकिन वहाँ कौन सुनने को तैयार था ? बुद्ध अगर जागे होंगे सुषुप्ति में तो वहाँ तो सोए हुए लोग थे, वह छाती पीट रहे हैं, रो रहे हैं; वह सुन ही नहीं रहे हैं ! वह तो न-मालूम किन खयालों में पड़ गये हैं--जो बुद्ध न रहेंगे तो क्या होगा ? क्या नहीं होगा ? वह अभी मौजूद हैं, उनसे कुछ और भी सीखा जा सकता है !

तब बुद्ध ने तीन बार पूछा। उनकी सदा की आदत थी। बुद्ध की किताबें

अभी जब छापी गयी हैं, तो बड़ी तकलीफ पड़ती है। क्योंकि हर बात वह तीन बार पूछते थे। और हर बात वह तीन बार कहते थे। तो अब किताब छापने पर नाहक तीन गुना मालूम पड़ता है। लेकिन बुद्ध का कारण था। वह कहते थे, लोग इतने सोए हुए हैं कि एक बार में सुनता कौन है ! तीन बार में कोई सुन ले तो बहुत है। काफी जागा हुआ आदमी है। तीन बार बुद्ध ने पूछा कि मत रोओ, मैं जाने के करीब हूँ, वक्त आ गया, नाव खुल गयी है, किनारा छूटने को है, दीया बुझने को है, कुछ पूछना हो पूछ लो। पूछने का कोई सवाल न था। तो बुद्ध ने कहा, ठीक, तो मैं मरूँ ? दुनिया में ऐसा किसी आदमी ने कभी नहीं पूछा। तो अब मैं मरूँ ? अब मैं विलीन हो जाऊँ ?

तो वह आज्ञा लेकर वृक्ष के पीछे चले गये, जहाँ बैठे थे। वहाँ जाकर आँख बंद करके बैठ गये। एक शरीर से उन्होंने संबंध छोड़कर दूसरे में प्रवेश किया। जब वह दूसरे ही शरीर में थे, तब गाँव से भागा हुआ एक आदमी सुभद्र आया और उसने कहा कि बहुत मुश्किल हो गयी, मैंने सुना कि बुद्ध की मृत्यु करीब आ गयी, गाँव में खबर पहुँच गयी, मुझे कुछ पूछना है। तो बुद्ध के भिक्षुओं ने कहा कि अब तो असंभव है। अब तो वह मृत्यु में लीन होने की तरफ जा भी चुके। और अब हम उन्हें खींचें, उचित न होगा। और खींच भी हम कैसे सकेंगे ? हमें कोई उपाय भी पता नहीं है कि अब क्या होगा ? उनकी श्वाँस शिथिल हो गयी है, हृदय की धड़कन सुनायी नहीं पड़ती है, शरीर बिलकुल मृत होने के करीब हो गया है। नहीं, अब कुछ भी नहीं हो सकता। लेकिन सुभद्र ने कहा, कुछ तो करना ही पड़ेगा। भिक्षुओंने कहा कि नासमझ, तेरे गाँव से वह कितनी बार गुजरे ? सुभद्र ने कहा कि बहुत बार गुजरे, लेकिन कभी मेरी दुकान पर भीड़ थी, कभी घर में शादी थी, कभी तबीयत ठीक न थी। कभी निकल ही रहा था कि कोई मिलनेवाला आ गया। ऐसे हर बार चूक गया। फिर मैंने सोचा फिर कभी मिल लूँगा। लेकिन आज तो मिलना ही होगा। क्योंकि अब तो न-मालूम कितने कल्पों तक वैसा आदमी मिले, न मिले। चिल्लाने लगा सुभद्र !

तो बुद्ध उठकर वापिस आ गये। और बुद्ध ने कहा, तू ठीक वक्त पर आ गया। अगर मैं सूक्ष्म-शरीर से भी नीचे उतर जाता, तो फिर तेरी बात भी मुझे सुनायी न पड़ती। अभी मैं स्वप्न में था। अभी उसको छोड़ ही रहा था। अगर मैं सुषुप्ति में पहुँच जाता, तो फिर बहुत मुश्किल पड़ती। बहुत कठिन हो जाता तेरी आवाज मुझ तक पहुँचनी।

लेकिन सुषुप्ति से भी किसी तरह वापिस लौटा जा सकता है। लेकिन अगर सुषुप्ति भी टूट जाए, तब तो फिर लौटने की कोई बात ही नहीं रहती। तो बुद्ध

ने कहा कि मत रोको उसे, वह कुछ पूछता है, पूछ लेने दो। नाहक मेरे ऊपर इल्जाम मत लगवाओ कि मैं जिंदा था और एक आदमी पूछने आया था और खाली हाथ वापिस लौट गया।

बुद्ध पुनः चले गये हैं उसको उत्तर देकर। और उन्होंने फिर एक-एक शरीर को छोड़ दिया। फिर वे चौथे में लीन हो गये। खो गये।

यह तीन शरीर हैं और चौथी हमारी आत्मा है। वह शरीर नहीं है। वह चौथी हमारी स्वरूप-अवस्था है। यह तीन के खो जाने पर जो अनुभव होता है, वही आनंद है, वही अमृत है। वही निर्वाण है, वही मोक्ष है।

'इसीसे प्राण, मन और समस्त इंद्रियों की उत्पत्ति होती है। इसीसे पृथ्वी की सृष्टि होती है जो आकाश, वायु, अग्नि, जल और सारे संसार को धारण करती है। यह जो चौथा है, यही सारे जगत का आधार है, परमात्मा है। इसीसे सब पैदा होता है और इसीमें सब लीन हो जाता है।

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत् ।। १६ ।।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादि प्रपंचं यत्प्रकाशते ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ।। १७ ।।

जिस परब्रह्म का कभी नाश नहीं होता, जो सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म है, जो संसार के समस्त कार्य और कारण का आधारभूत है, जो सब भूतों का आत्मा है, वही तुम हो, तुम वही हो ।। १६ ।।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जो मायिक प्रपंच दिखायी देते हैं वे सब ब्रह्म द्वारा ही प्रकाशित होते हैं और वह ब्रह्म मैं ही हूँ—ऐसा जो जान लेता है, वह सब प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाता है ।। १७ ।।

बारहवाँ प्रवचन; माउंट आबू, ३१ मार्च १९७२, प्रातः

वही तुम हो, तुम वही हो

साधना के दो भाग हैं। समस्त प्रयासों के ही दो भाग होते हैं। एक भाग, जिसमें असार है उसे छोड़ना होता, त्यागना होता, उससे तादात्म्य तोड़ना होता है। और दूसरा भाग, जो सार है उसके साथ एकात्म, उसके साथ तादात्म्य जोड़ना पड़ता है। पहला भाग निषेध है, दूसरा भाग विधेय है।

असत्य को असत्य की तरह जानना पड़ेगा। तभी हम सत्य को सत्य की तरह जान पाएँगे। प्रकाश को भी जानना हो तो पहले अँधेरे को जानना पड़ेगा, तो ही हम प्रकाश को जान पाएँगे। जीवन को भी पहचानना हो तो मौत की भी पहचान बनानी पड़ेगी। तो ही जीवन हमारे खयाल में आएगा। क्योंकि जो भी हमारे खयाल में आता है, उसे खयाल में आने के लिए विपरीत का भी हमारी दृष्टि में होना जरूरी है। अँधेरी रात होती है तो तारे चमकते हैं। दिन के प्रकाश में भी तारे होते हैं, लेकिन दिखायी नहीं पड़ते। तारे अभी भी आपके ऊपर आकाश में फैले हुए हैं। तारे तो कहीं चले नहीं जाते। कोई सुबह होते से तारे कहीं विलीन नहीं हो जाते हैं। लेकिन सूरज के प्रकाश की पर्त, फिर उन तारों की झलक असंभव हो जाती है। तारों को जानना हो तो रात का गहन अँधेरा चाहिए, तब वे दिखायी पड़ते हैं। और जितना हो गहन अँधेरा, उतने प्रगट होकर, स्पष्ट होकर दिखायी पड़ते हैं।

विपरीत में ही बोध है।

इससे एक बहुत मजेदार बात खयाल में ले लें, फिर हम इस सूत्र में चलें। जिन चीजों को हम विपरीत कहते हैं, वे विपरीत कहने को ही रह जाते हैं। सहयोगी हो जाते हैं। उनके भीतर एक आंतरिक-मैत्री बन जाती है। रात का अँधेरा तारों का दुश्मन नहीं है, तारों का मित्र है। क्योंकि उस अँधेरे के बिना तारे प्रगट नहीं होते।

फिर तो मृत्यु भी जीवन की दुश्मन नहीं है। फिर तो मृत्यु भी जीवन की मित्र है। क्योंकि मृत्यु के बिना जीवन भी प्रकट नहीं हो सकता। ऐसा अगर देखेंगे

तो समझ में आएगा कि जिसे हम शत्रु कहते हैं, वह भी हमारी नासमझी का ही हिस्सा है। जिसे हम बुरा कहते हैं वह हमारी नासमझी का ही हिस्सा है।

इस जगत में सभी विपरीत अंतस् में सहयोगी हैं। रावण के बिना राम नहीं हो पाते और न राम के बिना रावण हो पाता। अगर राम को भी जानना हो तो यहीं से शुरू करना पड़ेगा कि रावण क्या है? क्योंकि जो-जो रावण है, वह राम नहीं है। इस सूत्र के पहले तक निषेध की प्रक्रिया की बात थी। मनुष्य का अंतर, अंतरात्मा, मनुष्य का आंतरिक यथार्थ क्या-क्या नहीं है। जाग्रत जो है, वह भी वह नहीं है। स्वप्न जो है, वह भी वह नहीं है। सुषुप्ति जो है, वह भी वह नहीं है। यह जो दिखायी पड़ता है प्रपंच, यह माया है, यह भी वह नहीं है। अभी तक हमने वह क्या नहीं है, इस संबंध में चर्चा की है। इस सूत्र के साथ विधायक बात शुरू होती है—वह क्या है।

और ध्यान रहे, निषेध की बात पहले करनी पड़ती है। निषेध की रेखाओं के बीच में ही विधेय उभरता है। अगर देखना हो कोई पर्वत-शिखर तो उन खाइयों को न भूलना जो उसे चारों तरफ घेरे हुए हैं। कैसे उनके बीच ही वह उभरता है। अगर खाइयाँ मिटा दें, शिखर मिट जाए। खाइयाँ बड़ी करो, शिखर बड़ा होता चला जाएगा। वह जो खाई है, वह शिखर की दिशा में नहीं, उलटी दिखायी पड़ती है। वह सहयोगी है। वह चारों तरफ से उसकी रेखा निर्मित करती है। और जितनी होती है गहरी, उतना ही शिखर ऊपर उठता जाता है।

निषेध खाई की तरह है। गड्ढा है। इनकार करना होता है पहले कि क्या-क्या मैं नहीं हूँ। क्योंकि जब तक भेद स्पष्ट न हो जाए जो-जो मैं नहीं हूँ, तो बहुत मुश्किल होगा उसको पकड़ पाना जो मैं हूँ। मेरा होना मेरे न-होने से घिरा है। और न-होना पहले मुझे मिलेगा। फिर होना मुझे मिलेगा। अगर मैं अपनी तरफ जाऊँ अपनी यात्रा पर तो पहले तो मुझे मेरी खाइयाँ मिलेंगी। और फिर मुझे मेरा शिखर मिलेगा।

इसे बहुत आयामों में समझ लेना।

अगर मैं अपने भीतर जाऊँगा तो पहले तो मुझे मेरी बुराइयाँ मिलेंगी। और जो बुराई से डरता हो वह फिर कभी भीतर नहीं जा सकेगा। अगर मैं अपने भीतर जाऊँगा तो पहले मुझे सारी बुराइयाँ मिलेंगी। बड़ी ग्लानि होगी, बड़ी आत्मनिंदा जगेगी। लगेगा मुझसे पापी कौन है। सभी संतों ने जो बातें कही हैं, वह आप यह मत समझ लेना कि विनम्रता के कारण कही हैं। अक्सर यही समझा जाता है। कबीर ने कहा है, जब मैं खोजने गया तो मुझसे बुरा मैंने कोई न पाया। बच्चों को बूढ़े समझाते हैं, स्कूल में शिक्षक विद्यार्थियों को समझाते हैं कि यह कबीर की

विनम्रता है। यह विनम्रता नहीं है। इसका विनम्रता से कोई लेना-देना नहीं है। यह कबीर की खोज है।

जब कोई व्यक्ति खोजने जाएगा तो पहले बुराइयों की खाइयाँ मिलेंगी। और जब बुराइयों की खाइयाँ पार होंगी, तभी भलाई का शिखर आँखों में आएगा। इसलिए जो अपने को भला मानकर बैठा है, वह भीतर जा ही न सकेगा। क्योंकि इसकी भले मानने की मान्यता ही उसको डर पैदा करवा देगी कि यहाँ भीतर गये तो बुराई मिलती है। जो अपने को अहिंसक मानकर बैठा है, क्योंकि रात भोजन नहीं करता है, पानी छानकर पी लेता है, इतनी अहिंसा में जिसने अपने को घेर रखा है, वह जरा भीतर झाँकेगा तो हिंसा मिलेगी। तो घबड़ा जाएगा भीतर जाने से। फिर बाहर ही रहा आएगा।

हम सब अपने बाहर भटक रहे हैं, क्योंकि हम अपनी बुराई की खाई को पार करने की हिम्मत नहीं जुटा पाते, साहसपूर्वक जो अपनी बुराई की खाई से गुजर जाता है, वही अपने भलाई के शिखर को उपलब्ध होता है। इसे ऐसा समझें कि जिसे संत होना है, उसे पहले पापी होना पड़ेगा। होना पड़ेगा का मतलब उसे पहले अपने पाप की खाइयों से गुजरना पड़ेगा। और जितना बड़ा होगा संत, उतनी बड़ी पाप की खाई उसके इर्द-गिर्द होगी क्योंकि वह संतत्व का शिखर पाप की खाई के बिना उभरता नहीं है। है ही नहीं कहीं।

अगर खाई से बचना है तो दो उपाय हैं। या तो खाई में प्रवेश ही मत करो और खाई के बाहर ही अपनी जिंदगी बिता दो। लेकिन तब शिखर पर भी कभी नहीं पहुँचोगे। और दूसरा उपाय यह है कि शिखर पर पहुँचो, तो फिर खाई से मुक्त हो जाओगे। लेकिन खाई से मुक्त होने के लिए खाई से गुजरना ही पड़ेगा। ईसाई रहस्यवादियों ने उसे 'डार्क नाइट ऑफ दि सोल' कहा है कि जब भी कोई उस परम प्रकाश की तरफ जाता है तो पहले उसे महाअंधकारपूर्ण रात्रि से गुजरना पड़ता है।

पुण्य के सभी शिखर पाप की रेखाओं से घिरे हैं। उन रेखाओं से भयभीत मत हो जाना। जानना यह, खयाल रखना यह कि जितनी बड़ी खाई हो, उतना ही बड़ा शिखर निकट है। इसलिए न तो निंदा से भरना, न भयभीत होना। न आत्मग्लानि अनुभव करना, न ऐसा समझना कि अब क्या होगा! मैं तो पापी हूँ! अगर पाप है तो कहीं छिपा पुण्य भी होगा, थोड़ी और यात्रा की बात है।

और यहाँ एक बात और समझ लें।

इस खाई में उतर कर आदमी दो काम कर सकता है। या तो इस खाई से लड़ने लग जाए, जो कि नैतिक आदमी करता है। और या, इस खाई को पार करने

लग जाए, जो कि धार्मिक आदमी करता है। और नैतिक आदमी खाई से ही लड़कर खाई में ही उलट जाता है और शिखर तक कभी नहीं पहुँच पाता। धार्मिक आदमी खाई से लड़ता नहीं, सिर्फ खाई से गुजरता है। स्वभावतः अगर खाई से लड़ियेगा तो खाई में ही रुकना पड़ेगा, शिखर पर कैसे जाइयेगा! जो लड़ेगा, उसे वहीं रुकना पड़ेगा जिससे लड़ेगा। दुश्मन का तल ही हमारा तल हो जाता है। इसलिए बुरा दुश्मन अगर मिल जाए जिंदगी में तो आदमी बुरा हो जाता है। बुरा मित्र इतना नुकसान नहीं पहुँचा पाता, बुरा दुश्मन बहुत नुकसान पहुँचा देता है।

इसलिए मित्र तो कोई भी चुन लें तो चलेगा। दुश्मन बहुत सोच-समझ कर चुनना चाहिए। क्योंकि उससे लड़ना पड़ेगा, उसकी भूमि पर खड़े रहना पड़ेगा। धीरे-धीरे जो भी लोग लड़ते हैं उनका गुणधर्म एक-सा हो जाता है। धीरे-धीरे, दोनों एक-दूसरे को बदल कर उस हालत में ला देते हैं कि दो मित्र भी इतने समान कभी नहीं होते, जितने दो दुश्मन समान होते हैं।

नैतिक व्यक्ति का अर्थ है कि जैसे ही उसे भीतर बुराई दिखायी पड़ती है, जो पहला काम करता है, उससे लड़ने का। बुराई से जब आप लड़ियेगा तो आप हारियेगा। बुराई से ऊपर उठा जाता है, बुराई को जीता नहीं जाता। यह अलग बातें हैं। बुराई को जीता कभी नहीं जाता, बुराई से ऊपर उठा जाता है। और जो ऊपर उठ जाता है वह जीत भी जाता है। क्योंकि जो हमसे नीचे पड़ जाता है, हम उसके मालिक हो जाते हैं। लेकिन जो बुराई से लड़ता है, समतल भूमि पर खड़ा रहता है। और लड़नेवाला कभी नहीं जीतता। क्योंकि लड़नेवाले का तल ही वही होता है, जो बुराई का तल होता है। तल की बदलाहट क्रांति है।

तो मेरे भीतर हिंसा है। अगर मैं इससे लड़ूँ तो मैं क्या करूँगा? मैं यही कर सकता हूँ कि इसको दबाऊँ। इसको भुलाऊँ। मैं यही कर सकता हूँ कि कुछ अहिंसा आरोपित करूँ। और अहिंसा को बढ़ाऊँ और हिंसा को दबाऊँ। लेकिन दबी हुई हिंसा मिटती नहीं है। दबी हुई हिंसा कभी-कभी तो और ही प्रखर हो जाती है। और नये मार्गों से प्रगट होने लगती है।

नैतिक व्यक्ति का साधन जो है, वह है दमन। धार्मिक व्यक्ति का जो साधन है, वह है निरीक्षण, दमन नहीं। धार्मिक व्यक्ति सिर्फ निरीक्षण करता है कि यह खाई है, यह बुराई है। और साक्षीभाव रखता है और आगे बढ़ा जाता है। और खयाल रखता है कि यहाँ किसी भी खाई की किसी भी चीज से संघर्ष नहीं लेना है। लेना ही नहीं। नहीं तो संघर्ष ही पड़ाव बन जाएगा। फिर यहीं डेरा डालकर पड़ा रहना पड़ेगा। और खाई में रहकर खाई को जीतियेगा कैसे? इसलिए नैतिक व्यक्ति को धार्मिक होने में उतनी ही कठिनाई पड़ जाती है

जितनी अनैतिक को।

अनैतिक और नैतिक में एक बात समान है। अनैतिक खाई को मानकर वहाँ रुक जाता है। और नैतिक खाई को न मानने की वजह से लड़ने के लिए वहीं रुक जाता है। लेकिन तल-भेद नहीं है। दोनों रुकते वहीं हैं। हिंसा में तथाकथित अहिंसक भी रुका होता है, उसे न मानकर। धार्मिक व्यक्ति वह है जो इन दोनों किनारों के बीच कुछ भी चुनाव नहीं करता। जो न हिंसा को मानता है, न न मानता है। जो चुपचाप खाई को पार करता और ध्यान शिखर का रखता है, कि शिखर पर मुझे पहुँचना है। खाई पर मुझे किसी तरह का रस पैदा नहीं करना है। राग का या विराग का, मित्र का या शत्रु का। खाई से मुझे सिर्फ गुजर जाना है। इसे अगर खयाल रखेंगे तो शिखर बहुत निकट है। और इसमें अगर जरा-सी भूल हुई तो शिखर बहुत दूर है।

और इसलिए कई दफे एक बहुत अनूठी घटना घटती है। और वह यह कि इस खाई को मानकर जो अनैतिक व्यक्ति है कभी-कभी अचानक शिखर की तरफ दौड़ जाते हैं। और उनके दौड़ने का कारण यह होता है कि बुराई को मानकर वह इतना दुख पाते हैं कि वह दुख ही किसी क्षण में इतना सघन और तीव्र हो जाता है कि उस दुख के कारण ही वह अचानक खाई को छोड़ कर दौड़ शिखर की तरफ लगा देते हैं। लेकिन जो नैतिक आदमी है, वह बुराई से लड़कर अपने अहंकार को इतना मजबूत कर लेता है। और उसके अहंकार के होने में वह बुराई भी कारण होती है, जिससे वह लड़ता है। इसलिए बुराई में उसका एक अनूठा रस पैदा हो जाता है। वह अनूठा रस यह है कि उसके अहंकार के होने का कारण ही वह बुराई का होना है, जिससे वह लड़ता है।

एक आदमी हिंसा से लड़कर अहिंसक हो गया है। अब यह खाई छोड़ना इसे बहुत मुश्किल पड़ेगा। इसलिए मुश्किल पड़ेगा कि खाई छोड़ने का मतलब यह अहंकार भी छोड़ना होगा। यह जो भीतर अहंकार है कि मैं अहिंसक हूँ, यह तभी तक है, जब तक हिंसा से लड़ाई चल रही है। अगर यह हिंसा की लड़ाई छोड़कर भागना है तो यह जो अहंकार इस लड़ाई से पैदा किया था, यह भी इसी खाई में छोड़कर जाना पड़ेगा। यह साथ नहीं जा सकता। यह उसका ही अनिवार्य हिस्सा है।

इसलिए नैतिक आदमी को अक्सर धार्मिक होने में अनैतिक आदमी से भी ज्यादा कठिनाई पड़ जाती है। क्योंकि अनैतिक आदमी के पास बुराई से कोई अहंकार पैदा नहीं होता। सिर्फ दीनता, दुख, पीड़ा पैदा होती है। संताप पैदा होता है। सिवाय कष्ट के वह बुराई से कुछ पाता नहीं है। लेकिन नैतिक आदमी

बुराई से कष्ट की जगह सुख भी पाता है। अस्मिता का, अहंकार का कि मैं अहिंसक हूँ, मैं त्यागी हूँ। मैं सच्चा हूँ, मैं ईमानदार हूँ। यह जो मैं है इन सबके पीछे छिपा, यह बुराई से उत्पन्न हुआ है। यह बुराई की उत्पत्ति है। यह बुराई के बिना पैदा नहीं हो सकता था। इसलिए यह आदमी एक दोहरी झंझट में होता है। जिससे लड़ता है, उसीसे जीवन पाता है। जिसकी दुश्मनी बता रहा है, वही इसका अहंकार पैदा करने का आयोजन है। इसे इस खाई को छोड़ने में दोहरी कठिनाई होगी। एक तो यह खाई पकड़नेवाली है ही। और अब इसने खाई के अनुकूल अपने भीतर एक और भी उपद्रव पैदा कर लिया है, जो इसे यहाँ से जकड़ाए रखेगा। इसकी बुराई स्वर्णिम हो गयी। इसके पाप में पुण्य का मजा आ रहा है।

इसलिए बहुत विचित्र मालूम पड़ता है, लेकिन ऐसा है कि बुरा आदमी कभी-कभी इस खाई से छलाँग लगाकर निकल जाता है और भला आदमी इस खाई से छलाँग लगाकर निकलने में बड़ी कठिनाई पाता है। मगर दोनों को इससे पार जाना पड़ेगा। दोनों को ही इससे पार जाना पड़ेगा। और पार जाने की जो मौलिक आधारशिला है, वह है—न तो इसके भोग में रस लेना, न इसके दमन में रस लेना। इसमें रस ही मत लेना। रस रखना शिखर की तरफ। और इतना ही खयाल रखना कि खाली खाई से गुजरना अनिवार्य है, तो गुजरेंगे। यहाँ किसी तरह का पड़ाव नहीं बनाना है। और इस खाई से किसी भी तरह का संबंध नहीं जोड़ना है। यह खाई शिखर का अनिवार्य हिस्सा है, इसलिए इससे गुजरना है।

चाहे बुराई का और भलाई का सवाल हो, चाहे पाप का और पुण्य का, चाहे ज्ञान और अज्ञान का, एक ही, एक ही कठिनाई से गुजरना होता है। अज्ञान की खाई हमारे चारों तरफ है। ज्ञान के शिखर के पास अनिवार्य है। उससे हम दो काम कर सकते हैं। उससे गुजर जाएँ तो शिखर उपलब्ध हो जाए। उससे लड़ने लगें तो पांडित्य उपलब्ध होता है। सिध्दांत, शास्त्र, यह उपलब्ध हो जाते हैं। फिर वहीं डेरा डालकर बैठ जाना पड़ता है। और सिद्धांत, शास्त्र बड़ी वजनी चीजें हैं। इनके बोझ को लेकर कोई भी शिखर पर जा नहीं सकता। कभी-कभी अज्ञानी वहाँ पहुँच जाते हैं, लेकिन तथाकथित ज्ञानी नहीं पहुँच पाते हैं। क्योंकि अज्ञानी कम-से-कम निर्बोझ तो होता है। उसके पास कोई साज-सामान नहीं होता, जिसको ढोना है शिखर की तरफ। सिर्फ यह खाई होती है अज्ञान की, इसको छोड़-कर वह कभी भी भाग सकता है। लेकिन पंडित के पास, तथाकथित ज्ञानी के पास खाई तो होती ही है, सिर पर शास्त्रों का, शब्दों का, सिद्धांतों का बड़ा बोझ भी होता है। खाई उतना नहीं पकड़ती जितना यह बोझ पकड़ लेता है। इस बोझ में छाती दबी जाती है। और उसको छोड़कर वह भाग नहीं सकता, क्योंकि यह

बोझ उसका अहंकार है।

ध्यान रहे, खाई ने किसी को कभी नहीं पकड़ा, लेकिन अहंकार ने बुरी तरह खाई में लोगों को रुकवा दिया है, खूंटियाँ गड़वा दी हैं। फिर वहाँ से हटना मुश्किल हो जाता है। एक बात पक्की है कि इस खाई में जो अपने को अज्ञानी जानकर चुपचाप आगे बढ़ता रहे, वह शीघ्र ही शिखर पर पहुँच जाता है। लेकिन पुण्यात्मा को अपने को पापी मानने में बड़ी पीड़ा है। और पंडित को अपने को अज्ञानी मानने में बड़ा कष्ट है। फिर रुकाव हो जाएगा। और उस शिखर पर तो वे ही पहुँचते हैं जो निर्भार पहुँचते हैं। इस खाई में भार पैदा मत करना। और भार तत्काल पैदा हो जाएगा अगर लड़ाई की तो।

इस खाई से लड़ना ही मत। इससे सिर्फ गुजरना। इससे सिर्फ गुजरना, लड़ना ही मत। कामवासना पकड़े तो उससे सिर्फ गुजरना। लड़ना ही मत। सिर्फ गुजरनेवाले का मतलब है, साक्षी; देखता रहेगा कि ठीक है, यह आया है और यह खाई है और इससे गुजरना है; इससे गुजरेंगे, इसमें कोई रस पैदा न करेंगे—इधर या उधर, इस पार या उस पार। कोई किनारा न पकड़ेंगे। मानकर चलेंगे कि अनिवार्य है। अगर मैं जा रहा हूँ धूप की तरफ और बीच में छाया पड़ती है, तो मैं इससे गुजरता हूँ। इसमें क्या लड़ना और नहीं लड़ना है! इस छाया से क्या करना है। मैं जानता हूँ कि छाया के पास सूर्य का प्रखर प्रकाश है पार हो जाने का। और रास्ते पर डेरे नहीं डालने चाहिए।

जैसा पाप के संबंध में, जैसा अज्ञान के संबंध में, वैसा ही आत्यंतिक रूप से न-होने के संबंध में; वह सबसे गहरी खाई है। क्या-क्या मैं नहीं हूँ, उसमें से भी मुझे गुजरना पड़ता है। वह सबसे गहरी है। पाप उतना गहरा नहीं है। अज्ञान उतना गहरा नहीं है। लेकिन जो मैं नहीं हूँ, उसकी भी खाई मेरे होने के चारों तरफ है। योग की गहनतम प्रक्रियाएँ, धर्म की आधारभूत प्रक्रियाएँ उसी खाई से संबंधित हैं—जो-जो मैं नहीं हूँ।

इसलिए क्या-क्या मैं नहीं हूँ, उसका नियम इस ऋषि ने कहा कि जाग्रत में जो-जो हो रहा है वह-वह मैं नहीं हूँ। दूकान चल रही है कि दफ्तर जाना हो रहा है, प्रेम हो रहा है, झगड़ा हो रहा है, शत्रुता बन रही है, मित्रता बन रही है, सुख मिल रहा है, दुख मिल रहा है, यह जाग्रत इस छोटे-से शब्द में ऋषि ने यह सब कह दिया है— जाग्रत में जो-जो हो रहा है। विस्तार में जाने की कोई जरूरत नहीं मानी है। इस एक शब्द में सारा कह दिया है कि जागते में जो-जो हुआ, वह मैं नहीं हूँ। मगर हमारे पास और तो कोई संपदा नहीं है होने की। जागते में जो-जो हुआ है वही तो हमारी संपदा है। एक मकान बना लिया है, एक तिजोड़ी

भर ली ह, दस-पाँच दुश्मन खोज लिये हैं, कोई पद बना लिया है, कहीं अखबार में नाम छपवा लिया है, कहीं पहुँच गये मालूम होते हैं। यह हमारा सब जाग्रत में हुआ मामला है।

कभी आपने खयाल किया, बहुत दूर की तो छोड़ दें, स्वप्न में भी जो आपने जाग्रत में बनाया है वह आप नहीं रह जाते हैं। जागते में आप भिखारी थे और सपने में सम्राट हो जाते हैं। और खयाल भी नहीं आता सपने में कि अरे, मैं तो भिखारी था! तो यह जागने की ताकत कितनी है? सपना पोंछ देता है। इस जाग्रत को क्या यथार्थ कहें जिसको सपना मिटा देता है। जागते में सम्राट थे, वह सपने में भीख माँग रहे हैं। और स्मरण भी नहीं आता इतना-सा कि अरे, मैं अभी जागते हुए बारह घंटे बिलकुल ही सम्राट था!

अब यह थोड़ा सोचने-जैसा है। जिस जागने को सपना पोंछ दे, उस जागने में जो जाना है वह यथार्थ है? और एक और मजे की बात है जो आपको कभी खयाल में न आयी होगी, और इसीलिए भारतीय-चिंतन स्वप्न को जाग्रत से गहरे में रखता है। स्वप्न को आमतौर से हम अगर तौलेंगे तो जाग्रत से गहरा नहीं मानेंगे। क्योंकि सपना तो सपना है। हम कहते हैं वह तो सपना है, यह जाग्रत है। लेकिन यह भारतीय-चिंतन सपने को जाग्रत से गहरे में रखता है। कारण उसके हैं।

पहला कारण और मौलिक कारण तो यह है कि आप जागते में तो सपने को कभी-कभी थोड़ा याद रख पाते हैं, लेकिन सपने में जाग्रत को बिलकुल याद नहीं रख पाते हैं। तो मजबूत कौन है? सुबह कभी उठकर वह तो याद भी रहता है कि सपने में क्या हुआ? लेकिन रात कभी सोकर याद रहा है कि जागते में क्या हुआ? इस मौलिक कठिनाई की वजह से भारतीय-मनीषा ने स्वप्न को गहरे में रखा। क्योंकि जिसकी स्मृति जागते तक प्रवेश कर जाती है। वह गहरी अवस्था है। और जिसकी स्मृति सपने तक में नहीं टिकती उसको क्या गहरा कहना!

जागते में जो-जो हमने किया है वही तो हमारा जीवन है। ऋषि कहता है वह तुम नहीं हो। लेकिन जागते में जो-जो हमने किया है वह भला हमारा जीवन हो, लेकिन स्वप्न में जो-जो हमने किया है वह हमारी प्रतिमा है। वह हमारी 'इमेज' है। इसीलिए तो कभी भी किसी आदमी को तृप्ति नहीं होती है कि उसके बाबत लोग ठीक समझते हैं। किसीको तृप्ति नहीं होती है। क्योंकि अपने बाबत वह जो समझता है वह उसकी स्वप्न-प्रतिमा है। और दूसरे इसके बाबत जो समझते हैं वह इसकी जाग्रत की प्रतिमा है।

इसे थोड़ा खयाल में ले लें।

आप अपने को एक बहुत अच्छा आदमी समझते हैं। लेकिन कोई माननेवाला

नहीं मिलता जो आपको उतना अच्छा आदमी समझता हो। तो आप समझते हैं नासमझ हैं यह लोग, अभी समझ नहीं पाए। वक्त मिलेगा तो समझेंगे। समय आएगा तो समझेंगे। कभी समय नहीं आता और कभी समझ नहीं आती। मामला क्या है? और हर आदमी के साथ यहीं दिक्कत है, उसको कोई समझनेवाला नहीं मिलता। अभी तक मुझे ऐसा आदमी नहीं मिला जो कहे कि मुझे लोग ठीक वही समझते हैं जो मैं हूँ। सब लोग गलत समझते हैं! मैं कहाँ प्रेम से भरा हुआ सागर, और लोग मुझे छोटी तलैया भी नहीं समझ सकते हैं। बल्कि उल्टा मुझे समझते हैं यह आदमी चोरी, घृणा से भरा हुआ, ईर्ष्यालु, न-मालूम क्या-क्या! जो मैं नहीं हूँ।

इसमें मामला है। इसमें मामला यह है कि आपकी खुद की प्रतिमा आप अब सपनों से बनाते हैं। और आपके सपनों का दूसरों को कोई पता नहीं है। और दूसरों को जो पता है वह आपकी जाग्रत की प्रतिमा है। और वह जाग्रत की प्रतिमा आपसे . . . आपके मन की प्रतिमा नहीं है। तो आप जानते हैं कि कभी-कभी मैं क्रोध कर लेता हूँ यह बात दूसरी है, ऐसे मैं आदमी शांत हूँ। यह शांत होने की जो प्रतिमा है, यह आपके स्वप्न की प्रतिमा है। और दूसरे आदमी की जो प्रतिमा है वह जो आप कभी-कभी क्रोध करते हैं, उसीका जोड़ है। इसलिए मेल नहीं पड़ता। और मेल कभी पड़ेगा नहीं, क्योंकि उसमें दूसरे की कोई गलती ही नहीं। दूसरा क्या कर सकता है!

दूसरा आपके व्यवहार को जानता है, आपके सपने को नहीं। और दूसरा आपके व्यवहार को जोड़कर आपकी प्रतिमा निर्मित करता है। आपके सपनों की उसे कोई खबर भी नहीं है। आप अपनी प्रतिमा अपने व्यवहार से निर्मित नहीं करते। आप अपनी प्रतिमा अपने सपनों से निर्मित करते हैं। बुरा-से-बुरा आदमी भी बड़ा भला होता है। और भला-से-भला आदमी भी दूसरों की आँखों में बड़ा बुरा होता है। इसमें कहीं कोई असंगति नहीं है, इसमें असंगति दो तलों की है। आप अपने को वैसा मानते हैं जैसा आप होना चाहते हैं। जो आपका स्वप्न, वैसा आप मान ही लेते हैं। अगर आप अहिंसक होना चाहते हैं, यह आपका सपना था, आप अपने को अहिंसक मान ही लेते हैं। न आपके सपने की खबर है किसी को, न आपकी इस मान्यता की। आपने जो-जो हिंसा की है चारों तरफ—और जब भी आप करते हैं तो हिंसा करते हैं। आप अहिंसा भी करते हैं तो भी उसको दूसरे में . . . . दूसरे को फौरन पता चलता है कि क्या-क्या हिंसा हो रही है।

बिड़ला ने मंदिर बनाए जगह-जगह। जहाँ-जहाँ उन्होंने मंदिर बनाए हैं वहाँ-

वहाँ उन्होंने सोचा . . . और वहीं-वहीं मंदिर बनाए हैं जहाँ उनकी फैक्ट्री है, उनका कारबार है। वहाँ जो लोग उनके नीचे काम करते हैं, उनमें एक अच्छी प्रतिमा बिड़ला की जाएगी। तो उन्होंने वहाँ-वहाँ मंदिर बनाए। लेकिन उन्हीं जगह पर लोगों ने मुझसे आकर कहा कि यह भी कोई मंदिर है! बिरला मंदिर!! कृष्ण का मंदिर हो, राम का मंदिर हो, बिड़ला-मंदिर!! यह सब अहंकार है। बिड़ला को कभी सूझा भी नहीं होगा कि यह मंदिर केवल अहंकार के प्रतीक होंगे। सूझा होगा कि यह दान के, पुण्य के, शुभ के प्रतीक होंगे। इतना इनपर खर्च किया! बहुत खर्च किया है। लेकिन जिनके बीच मंदिर बनाए हैं, वह बिड़ला को उनके व्यवहार से जानते हैं कि एक तरफ यह शोषण की धारा चलती है, इसमें करोड़ों रुपये चूसे जाते हैं और इसमें से लाख रुपये का मंदिर खड़ा हो जाता है।

यह मंदिर भी शोषण का हिस्सा है देखनेवाले को। यह मंदिर भी तरकीब है। यह मंदिर भी शोषण को चलाए रखने का आयोजन है। यह देखनेवाले को इसका जोड़ है। वह जानता है कि यह सब पाप का मंदिर है। बिरला को यह खयाल भी नहीं हो सकता कि यह मैं पाप का मंदिर बना रहा हूँ। उनके स्वप्न का मंदिर है। पुण्य का मंदिर। जो उनके अपने मन में पुण्य का भाव है। जो उनको खयाल है कि मैं इतना-इतना पुण्य किया हूँ। ऐसा अच्छा आदमी हूँ। इन दोनों प्रतिमाओं में कहीं मेल नहीं पड़ेगा। इसलिए हर आदमी दुखी जीता है।

दूर की तो बात छोड़ दें, अपने निकटतम लोग भी राजी नहीं होते कि यह उसकी प्रतिमा है, जो वह समझता है। लोग एक-दूसरे से कहते हैं--तुमने मुझे क्या समझ रखा है! अड़चन आ रही है प्रतिमाओं में।

मेरे एक प्रिंसिपल थे, मुझे पढ़ाते थे। काली के भक्त थे। और पूरे यूनिर्वासिटी में बदनामी थी कि दिमाग उनका थोड़ा ढीला है। उनका खयाल था कि वह परम भक्त हैं और सबका खयाल था कि उनका दिमाग ढीला है। मैं उनके घर पहली दफा गया था तो उस वक्त वह पूजा कर रहे थे। उनकी पत्नी ने दरवाजा खोला और मुझसे कहा कि आप चुपचाप बैठ जाएँ। अगर उन्होंने देख लिया कि कोई मिलनेवाला आया तो वह और जोर से पूजा करते हैं और देर तक पूजा करते हैं। यह पत्नी के मन में प्रतिमा है! कि आप चुपचाप बैठ जाएँ, अगर उन्हें पता चल जाए कि कोई मिलने आया है तो फिर पूजा में बहुत देर लग जाती है।

मैं तो उनको जानता नहीं था तब तक। मगर उनकी पत्नी से पहले ही उनकी प्रतिमा की मुझे खबर मिली। तो मैंने सोचा कि चलो, प्रयोग करें। वह निकलकर बाहर आए तो मैंने उनसे कहा, आप जैसा भक्त मैंने कभी नहीं देखा। उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया और कहा कि इस पूरी पृथ्वी पर तुम एक अकेले आदमी

समझनेवाले मुझ मिले। अकेले, तुम एक अकेले आदमी। आज तक मुझे कोई समझ ही नहीं सका। यह उनके स्वप्न की प्रतिमा से मेल खा गया।

उनकी पत्नी देख रही थी और जब मैं निकल रहा था बाहर उनसे मिलकर, क्योंकि उन्होंने मुझे घंटे-डेढ़ घंटे रोका, कई बार मैंने कहा मैं जाऊँ, लेकिन वह जो आदमी पृथ्वी पर अकेला हो उसको वह इतनी जल्दी छोड़नेवाले नहीं थे। मुझे खाना खिलाया और दो वर्ष तक यूनिर्वासिटी में उन्होंने मेरी इतनी फिक्र की जिसका कोई हिसाब नहीं। जब मैं बाहर निकल रहा था, तो उनकी पत्नी ने कहा कि अगर तुम जैसे व्यक्ति उन्हें मिल जाएँ तो उनको पागलखाने जाना पड़ेगा। तो मैंने क्या कह दिया उनको? क्या उनसे ऐसी बात कहनी चाहिए थी? उनके भीतर वह यह जो भजन-कीर्तन कर रहे हैं रोज सुबह, एक और प्रतिमा है। जो देख रहे हैं उनको, उनके व्यवहार को, जो उनके व्यवहार से ही संबंधित हैं--और तो उनके भीतर का किसीसे क्या संबंध हो सकता है--उनके मन में दूसरी प्रतिमा है। इन दोनों प्रतिमाओं में सदा कलह है।

मैं क्या नहीं हूँ, इसे ठीक से जान लेना जरूरी है। बड़ा कठोर प्रयास है यह क्योंकि अपनी ही खाल को जैसे छीलना है। जो-जो मैंने अपने को मान रखा है, पाऊँगा कि वह-वह मैं नहीं हूँ।

यह ऋषि कहता है, जाग्रत में जो भी तुमने किया है, जो भी तुम समझते हो, वह तुम नहीं हो। फिर वह कहता है, स्वप्न में भी तुमने जो-जो किया है और सपने जो-जो तुमने देखे हैं, वह भी तुम नहीं हो। जब जाग्रत ही तुम नहीं हो तो तुम्हारे स्वप्न क्या तुम होओगे! और गहरे में जाता है और कहता है सुषुप्ति में भी बीजरूप में तुमने जो वासनाएँ निर्मित की हैं, जिनका फैलाव स्वप्न में और जाग्रत में होता है--सुषुप्ति में जड़ें हैं, स्वप्न में वृक्ष हैं, जाग्रत में फूल आ जाते हैं--वह बीज भी, वह जड़ें भी तुम नहीं हो। यह तीनों तुम नहीं हो।

अगर हम इन तीनों को काट दें तो शून्य हाथ लगेगा। अगर मैं अपने जाग्रत के सब कर्मों को काट दूँ, सब प्रतिमाएँ तोड़ दूँ, स्वप्न में सब विचारों को काट दूँ, स्वप्न की सब प्रतिमाओं को तोड़ दूँ, सुषुप्ति के सब बीज जो मुझे भी पता नहीं हैं, जिसका मुझे भी खयाल नहीं है कि कहाँ छिपे हैं, उनको भी इनकार कर दूँ, तो मेरे पास क्या बच रहता है? एक शून्य। मैं फिर क्या हूँ? फिर मैं एक शून्य रह जाता हूँ। इस शून्य से गुजरना पड़े तब वह शिखर प्रगट होगा जो मैं हूँ। उस शिखर की इसमें चर्चा है--

'जिस परब्रह्म का कभी नाश नहीं होता, जो सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म है, जो संसार के समस्त कार्य और कारण का आधारभूत है, जो सब भूतों का आत्मा है,

वही तुम हो। तुम वही हो'।

यह पहली विधायक घोषणा है। इस शून्य में जो प्रगट होगा, इस शून्य की अटल खाई में जो शिखर उभरेगा, एक गहन अंधकार के पार जो प्रकाश के सूर्य का उदय होगा, वही ब्रह्म है। वह वही मूल अस्तित्व है जो सदा है, सदा रहेगा। वही मूल सागर है जिसमें सब लहरें उठी हैं और गिरी हैं। आयीं और गयीं। अच्छा था और बुरा था। राम थे, रावण थे। साधु थे और असाधु थे। सुख थे और दुख थे। सफलताएँ थीं, असफलताएँ थीं। सिंहासन थे और सड़क पर भिखारियों के भिक्षा-पात्र थे। वह सब लहरें उठीं और गयीं। लेकिन जिस सागर से वह लहरें उठी थीं, वही तुम हो। उस मूल का, उस अस्तित्व का, उस गहनतम आत्यंतिक का, आधार-भूत का अनुभव हो।

अनुभव नहीं है तुम्हारा, तुम ही नहीं हो।

यहीं थोड़ा ठीक ख्याल में लेना जरूरी है। जगत में बाकी सब चीजें हमारा अनुभव हैं। और जहाँ तक अनुभव है, वहाँ तक उसका पता नहीं चलेगा जिसको अनुभव हो रहा है। अनुभव और अनुभोक्ता अलग है। मैंने सुख जाना, सुख मैं नहीं हूँ। क्योंकि सुख मैंने जाना। और जो जान रहा है, वह अलग हो गया। मैं जाननेवाला हुआ। सुख कहीं मुझसे बाहर हुआ, जो मुझे मिला। मेरे हाथ में आपने संपत्ति दे दी, वह संपत्ति मैं नहीं हूँ। हाथ है मेरा, जिसमें संपत्ति है। कल किसीने भिक्षापात्र दे दिया। वह भिक्षापात्र मैं नहीं हूँ। मैं तो वह हूँ, जिसके हाथ में भिक्षापात्र है। कभी सुख मेरे हाथ में है, कभी दुख। कभी सफलता, कभी असफलता, कभी जाग-रण मेरे हाथ में है, कभी सुषुप्ति। कभी स्वप्नों से घिरा हूँ मैं और कभी स्वप्नभंगों से। लेकिन कोई भी मैं नहीं हूँ। अनुभव मैं नहीं हूँ। इसमें थोड़ी कठिनाई होगी। कोई भी अनुभव मैं नहीं हूँ। अगर परमात्मा का भी अनुभव हो कि परमात्मा अलग खड़ा है और मैं अलग खड़ा हूँ, तो वह भी मैं नहीं हूँ। क्योंकि मैं फिर पार रह जाता हूँ।

यह ऋषि कहता है कि जो सब अनुभवों का कारणभूत है और जो सब अनु-भवों का साक्षी है और जो सभी अनुभवों का अनुभोक्ता है, वही परब्रह्म तुम हो। परब्रह्म का अर्थ होता है, जो सदा ही पार है। जहाँ-जहाँ तुम कहोगे यहाँ, वहाँ से पार होता है। जहाँ-जहाँ तुम हाथ रखकर कहोगे कि यह, वहीं से छिटक जाएगा। उसे कभी 'ऑब्जेक्टिव', वस्तु की तरह नहीं पकड़ा जा सकेगा। कभी तुम उसपर हाथ रखकर न कह सकोगे कि यह। क्योंकि वह सदा वही है जो हाथ रख रहा है। वह पार हो जाता है इसलिए उसे परब्रह्म कहा है।

इसलिए ध्यान रखना, भारतीय-मनीषा बहुत सोच-समझकर शब्दों का

प्रयोग करती है। ब्रह्म उसे कहती है जो तुम्हारा अनुभव है। परब्रह्म उसे कहती है जो तुम हो। तो ब्रह्म भी तुम्हारा अनुभव है। तो अगर कोई आदमी ब्रह्मवादी है, तो अभी भी वादी है और अभी विचार के पार नहीं गया है। बहुत सूक्ष्म विचार में चला गया है, लेकिन पार नहीं गया है, बहुत गहन विचार में चला गया है, लेकिन अभी भी गहनतम में नहीं गया है। सूक्ष्म में चला गया है, लेकिन सूक्ष्म के भी पार....!

इसलिए सूत्र कहता है, सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म। और यह भाषा के लिहाज से बिलकुल गलत है। क्योंकि जब सूक्ष्मतम कह दिया तो अब उससे और सूक्ष्म क्या होगा? नहीं तो सूक्ष्मतम का कोई अर्थ न रहा। सूक्ष्मतम का मतलब ही कि अब इससे ज्यादा सूक्ष्म नहीं होता। लेकिन ऋषि कहता है, जिससे ज्यादा सूक्ष्म नहीं होता, वही हो। सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म का मतलब है कि जहाँ तुम्हारे सूक्ष्म का अनुभव भी चूक जाए। जहाँ तुम आखिरी जगह आ जाओ। और कहो कि अब इसको न स्थूल कह सकते हैं, न सूक्ष्म। जहाँ बात इतने पार निकल जाए कि तुम अलग ही न रह जाओ अनुभव से। इसलिए उसे परब्रह्म कहा है। वही तुम हो।

लेकिन इसको दोहराया है, और बड़े, बड़े प्रयोजन से दोहराया है।

दो शब्द उपयोग किये हैं। वही तुम हो, तुम वही हो। वही तुम हो का अर्थ हुआ—परब्रह्म तुम हो। दूसरे का अर्थ हुआ—तुम वही हो—तुम परब्रह्म हो। ऐसा दोहराने का प्रयोजन है और कारण है। हम कह सकते हैं लहर से कि सागर तुम हो। लहर में सागर है। लेकिन यह एक बात हुई, एक पहलू हुआ। और लहर से यह कहना कि तुम ही सागर हो, यह बड़ी दूसरी बात है।

कबीर के एक पद में यह साफ है। कबीर ने कहा है, खोजते-खोजते मैं खो गया। 'हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराय .... खोजता था, खोजने निकला था और खो गया .... बुंद समानी समुंद में सो कत हेरी जाय' .... बूंद सागर में गिर गयी और बूंद सागर में खो गयी, उसे अब वापिस कैसे पाया जाए! यह कबीर का पहला सूत्र है। लेकिन कबीर ने दूसरे सूत्र में बात उलट दी। और तत्काल दूसरा सूत्र लिखा। और सूत्र में लिखा—'हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हेराय, समुंद समाना बुंद में सो कत हेरी जाय'! और बूंद सागर में गिर गयी थी तो कभी खोजी भी जा सकती थी। अब तो और भी मुश्किल हो गयी, यह तो सागर ही बूंद में गिर गया और अब तो खोजने का कोई उपाय भी न रहा।

बूंद अगर सागर में गिर गयी हो तो खोजी भी जा सकती है। बड़ी छोटी चीज है, माना मुश्किल पड़ेगी, कठिनाई होगी, फिर भी, फिर भी खोजते-खोजते किसी दिन बूंद मिल सकती है कि यह रही। लेकिन, अगर बूंद में सागर गिर जाए,

तो खोज का उपाय ही न रहा। कैसे खोजियेगा ? सब कल्पना भूमिसात हो जाती है। सब विचार चकनाचूर हो जाते हैं। बूंद में सागर का गिरना विचार की सीमा के पार चला जाता है। बूंद का सागर में गिरना विचार की सीमा के पार नहीं जाता। बूंद तो सागर में रोज गिरती ही है। लेकिन ध्यान रहे, बूंद सागर में गिरती है और फिर वाष्पीभूत हो जाती है; फिर बनती है, फिर गिरती है। एक चक्र है। तो बूंद गिरती रहती है सागर में, बनती रहती है। पुनः-पुनः निर्मित होती रहती है और पुनः-पुनः गिरती रहती है। लेकिन बूंद अगर सागर में गिरे तो वापिस लौट आती है। लेकिन कभी जब सागर बूंद में गिर जाता है .... ऐसी कोई घटना भौतिक जगत में कोई घटती नहीं जब सागर बूंद में गिरता है, लेकिन इस आत्मिक जगत में घटती है। ऐसा नहीं है कि आप जाकर परमात्मा से मिल जाते हैं, बल्कि ऐसा है कि परमात्मा आकर आपसे मिल जाता है। सिर्फ बूंद तैयार भर होती है; तब तक बूंद रहती है। जिस दिन तैयार हो जाती है उस दिन सागर गिर पड़ता है। फिर बूंद को कहाँ खोजियेगा ? सागर गिर पड़े बूंद पर, फिर बूंद को कहाँ खोजियेगा ? इसलिए दोहरा सूत्र है।

'वही तुम हो, तुम वही हो'।

इस दोहरे सूत्र के और आयाम भी हैं। जब हम कहते हैं––परमात्मा तुम हो, तो इसमें परमात्मा की स्वीकृति है, तुम्हारी नहीं। लेकिन जब कहते हैं ––तुम परमात्मा हो, तब तुम्हारी भी पूरी-की-पूरी स्वीकृति है। यह तो बहुत आसान है कहना कि परमात्मा सबके भीतर है, यह कहना बहुत कठिन है कि सब परमात्मा है। इनके आयाम अलग हैं।

जब हम कहते हैं परमात्मा सबके भीतर है, तो कोई एतराज नहीं होता। कोई एतराज नहीं होता कि क्यूँ है ? लेकिन अगर हम यह कहें कि सब परमात्मा है, तो मन पच्चीस एतराज खड़े करने लगेगा कि वह आदमी भी परमात्मा है जो गाली दे रहा था ! परसों पत्थर मार गया था ! वह आदमी भी परमात्मा है ! सबमें परमात्मा छिपा है, सबमें परमात्मा है, इसमें अड़चन नहीं होती। क्योंकि परमात्मा को हम अलग तत्त्व मान लेते हैं और व्यक्ति को अलग। तो सारी बुराइयाँ व्यक्ति पर डाल देते हैं और सारी भलाइयाँ परमात्मा पर। इसमें विभाजन का उपाय है।

हम कह सकते हैं कि बुरे-से-बुरे आदमी में भी परमात्मा है। और कोई अड़चन नहीं है इसमें। कोई हमारे मन को दुविधा नहीं घेरती, कोई शंका नहीं पड़ती। फिर ठीक है। बुरे-से-बुरे आदमी में परमात्मा है, छिपा पड़ा है और इससे बुराई का परमात्मा से संबंध नहीं जुड़ता; परमात्मा अलग रह जाता है, यह बुरा आदमी एक पर्त की तरह अलग रह जाता है। और हम नहीं जानते कि बुराई

की अपनी सारी पर्त काट डालेगा, तो ठीक है, परमात्मा प्रगट हो जाएगा।

लेकिन हम कहते हैं कि तुम परमात्मा हो, तो हम सर्व-स्वीकार कर लेते हैं। यह बड़ी क्रांतिकारी घोषणा है। क्योंकि इसमें हम कुछ छोड़ते ही नहीं, बाँटते ही नहीं। हम यह नहीं कहते कि बुरा आदमी अपने भीतर ही किसी अंश में परमात्मा है। हम यह कहते हैं––वह जो भी है, परमात्मा है। यहाँ हम बुराई को भी आत्मसात कर लेते हैं। और हमने कभी खयाल नहीं किया कि अगर एक आदमी के भीतर परमात्मा है और फिर भी वह बुरा है, तो यह परमात्मा की निर्वीर्यता सिध्द होगी। हमने कभी इसका खयाल नहीं किया। हम कहते हैं, बुरा आदमी। फिर भी उसके भीतर परमात्मा है, हालाँकि वह बुरा है। बुराई उसके बाहर है, भीतर परमात्मा छिपा है। लेकिन अगर भीतर परमात्मा है, किसी भी स्थिति में, तो यह बुराई बलशाली मालूम पड़ती है। परमात्मा से भी ज्यादा बलशाली मालूम पड़ती है। तो अच्छा यह हो कि कहो कि यह आदमी बुरा है और उसके भीतर कोई परमात्मा नहीं है। एक तो यह उपाय है, जो कि वस्तुतः हमारी स्थिति है।

यह हमारे कहने की ही बात है कि भीतर परमात्मा है। यह सिर्फ शब्द है। इसमें हमारी कोई प्रतीति नहीं है। क्योंकि जब आप दुश्मन की हत्या करने जाओगे तो कहाँ छुरा मारोगे, परमात्मा को बचाकर ? कि जब आप गाली दोगे बुरे एक आदमी को तो इस गाली में ऐसा कोई उपाय रखोगे कि परमात्मा को छोड़कर, जो भीतर है ? गाली पूरी जाएगी। वह भीतर-वीतर के परमात्मा को बिलकुल नहीं मानेगी। न कहीं अंग में स्वीकार करेगी। पूरे आदमी को गाली दी जाती है। पूरा आदमी दंडित किया जाता है। पूरा आदमी। और भीतर का परमात्मा केवल शाब्दिक औपचारिकता रह जाती है।

नैतिक आदमी इस तरह की बातें कहते रहते हैं। नैतिक आदमी कहते हैं बुराई को मिटना है, बुरे आदमी को नहीं। आदमी तो अच्छा है भीतर, बुराई को मिटाना है। बुराई को दंडित करना है, बुरे आदमी को नहीं। लेकिन आदमी इकट्ठा है, समग्र है। दंडित होगा तो पूरा, पुरस्कृत होगा तो पूरा; मरेगा तो पूरा जीएगा तो पूरा। विभाजन कहाँ है ?

तो एक तो उपाय यह है कि हम मानें कि भीतर कोई परमात्मा नहीं है, बुराई-ही-बुराई का घर है आदमी। यही हम मानते हैं। परमात्मा भीतर है, वह केवल शाब्दिक है और झूठ है। वह हमारी प्रतीति नहीं है। जिस दिन हमें प्रतीति होगी, यह दूसरी प्रतीति होगी। क्योंकि हम कहेंगे यह पूरा आदमी परमात्मा है। उसकी सब बुराइयों समेत।

लेकिन ध्यान रहे, अगर मैं किसी आदमी को उसकी बुराई समेत परमात्मा

देख लूं तो मेरे लिए उसकी बुराइयाँ तिरोहित हो जाती है। क्योंकि संभव ही नहीं रह जाता। यह संभव ही नहीं रह जाता। जैसे ही मुझे यह प्रतीति हो जाए कि वह पूरा-का-पूरा परमात्मा है, तब उसकी बुराई भी भलाई का रूप ले लेती है। तब उसकी बुराई भी आलोकित हो जाती है, आभामंडित हो जाती है। तब मैं जानता हूँ कि वह जो भी कर रहा होगा, ठीक ही कर रहा होगा। क्योंकि ठीक भीतर है।

'वही तुम हो, तुम वही हो'। यह समग्रीभूत कोई चीज छूट न जाए, इसलिए ऋषि ने दोहराया है। दोनों तरह से दोहराया है। सब भाँति, सर्वभाव से तुम परमात्मा हो। ऐसा अगर कोई दूसरे में देख पाए तो उसका जीवन के प्रति सारा दृष्टिकोण बदल जाता है।

लेकिन ध्यान रहे, ऐसा लोग स्वयं में देखना चाहते हैं, दूसरे में नहीं देखना चाहते हैं। इसको मानने को कोई भी तैयार हो जाएगा कि मैं परमात्मा हूँ; दूसरा परमात्मा है, इतना मानने को तैयार नहीं हो पाता। लेकिन यह ध्यान रहे, जो दूसरे को तैयार नहीं है, वह स्वयं को भी कितना ही कहे, मान नहीं सकता है। दूसरे को मानकर ही उसकी गहराई बढ़ती है स्वयं के प्रति।

कभी एकाध दिन ऐसा प्रयोग करें। चौबीस घंटे के लिए एक व्रत ले लें। बहुत तरह के व्रत लेते हैं लोग। चौबीस घंटे भूखे रहेंगे-- फिर भूखे ही रह पाते हैं, और कुछ होता नहीं। कि चौबीस घंटे घी न खाएँगे--न घी खाया तो क्या फर्क पड़ता है? कि चौबीस घंटे यह न करेंगे, वह न करेंगे। मैं एक व्रत आपको कहता हूँ। चौबीस घंटे एक व्रत ले लें कि चौबीस घंटे जो भी मिलेगा उसको पूरी तरह परमात्मा मानकर चलेंगे। जो भी होगा उसको पूरा परमात्मा देखेंगे। कोई हिस्सा न काटेंगे। चौबीस घंटे। और आपकी जिंदगी दुबारा वही नहीं हो सकेगी। व्रत तो वही है जिसके पार जिंदगी फिर दुबारा वापिस न हो सके। अन्यथा व्रत का मतलब!

चौबीस घंटे खाना नहीं खाया। चौबीस घंटे के बाद दुगुना खा लिया। और आदमी वही-का-वही रहेगा। बल्कि बदतर हो सकता है। बदतर इसलिए हो सकता है कि अब यह और खयाल में आ गया कि व्रत भी कर बैठे। व्रत भी हो गया। अब यह एक और उपद्रव पीछे लग गया। भूखे क्या रहे, अहंकार का पेट भर गया। शरीर को भूखा मारा, अहंकार का पेट भर लिया।

चौबीस घंटे का एक व्रत लेकर देखें कि चौबीस घंटे में अस्वीकार करेंगे ही नहीं, किसी चीज को बुरा कहेंगे ही नहीं। परमात्मा ही देखे चले जाएँगे। बड़ी घबड़ाहट लगेगी कि इसमें तो लुट जाएँगे। पता नहीं कोई आदमी आकर मारपीट

करने लगे, फिर क्या करेंगे? और डर लगेगा, क्योंकि कई को इस हालत में कर दिया है कि आकर मारपीट करें। कई को लूटा है। इसलिए डर लगेगा कि ऐसा मौका वे लोग न छोड़ेंगे। अगर किसीको ऐसा पता चल गया कि चौबीस घंटे के लिए व्रत लिया है इस आदमी ने कि परमात्मा ही देखेंगे, तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी।

धर्म अभय में छलाँग है। और व्रत अभय का प्रयोग है। भूखे मरने में कोई बड़ा अभय नहीं है। और जिनको ज्यादा खाने-पीने को मिला हुआ है, उनके लिए तो लाभ है, नुकसान जरा-भी नहीं है। इसलिए मजे की बात है कि सिर्फ ज्यादा खाने-पीने वाले समाज ही उपवास को व्रत मानते हैं। गरीब लोगों के समाज कभी भी उपवास को व्रत नहीं मानते हैं। गरीब आदमी का समाज उपवास भी करता है तो उस दिन मिष्ठान्न खाता है। सिर्फ अमीरों के समाज उपवास में निराहार रहते हैं। गरीब आदमी का धार्मिक दिन आता है, तो उत्सव मनाता है खाकर। अमीर धार्मिक आदमी का दिन आता है, तो उत्सव मानता है भूखा रह-कर। यह बिलकुल व्यवस्थित बातें हैं। ठीक अर्थशास्त्र से संबंधित। इनका धर्म से कोई लेना-देना नहीं। अमीर आदमी खा-खा कर परेशान है, उपवास उसको राहत देता है। गरीब आदमी भूखा रह-रहकर परेशान है, रोज तो ठीक से नहीं खा सकता, धार्मिक-उत्सव के दिन ठीक से खा लेता है। इनका धर्म से कोई संबंध नहीं हैं, अर्थ से संबंध है।

इसलिए भारत में जैनों के पास एक समृद्ध समाज है तो भूखा रहना, उपवास रखना इत्यादि उनके धार्मिक-कृत्य हैं। गरीब आदमी का समाज इनको धार्मिक-कृत्य नहीं मान सकता। धर्म का दिन तो उत्सव का दिन है। क्योंकि पूरी जिंदगी तो गैर-उत्सव से भरी है। भूख से भरी है। अब धार्मिक दिन को और भूख से भरने में क्या प्रयोजन है! और फिर कोई भेद भी नहीं मालूम पड़ेगा। ऐसे ही भूखे हैं। ऐसे ही उपवास चल रहा है। ऐसे ही एकाशन में बैठे हुए हैं। अब और एकाशन क्या अर्थ लाएगा? इससे विपरीत चाहिए। स्वाद बदलने के लिए विपरीत अच्छा भी है। लेकिन धर्म से उसका कोई लेना-देना नहीं है।

ऐसा कुछ व्रत जिसके पार आप दुबारा वही आदमी न रह सकें। अगर चौबीस घंटे आपने परमात्मा देख लिया तो फिर आप दुबारा भूल न करेंगे कुछ और देखने की। क्योंकि इस चौबीस घंटे में जितनी आनंद की वर्षा आपके जीवन पर हो जाएगी, वह फिर आपको खींचेगा। बूंद में सागर के गिरने का अर्थ यही है। मैं बूंद हूँ, मेरे चारों तरफ जो मौजूद है वह सागर है। जिस दिन मैं उसमें परमात्मा देख पाऊँगा उस दिन मेरे हृदय के द्वार उसके लिए खुल जाएँगे। उस दिन सागर बूंद में गिर सकता है।

लेकिन धार्मिक आदमी अक्सर बूंद की तरह सागर की खोज पर निकलता है, जब कि सागर यहीं मौजूद है। और आदमी कहता है कि ईश्वर की खोज पर जा रहे हैं। और ईश्वर यहीं मौजूद है। ज्यादा बेहतर होता ईश्वर की खोज पर न जाते, हृदय के द्वार खोलते, ताकि ईश्वर गिर सके। मगर हृदय के द्वार बंद हैं और हिमालय की यात्रा चल रही है। कि मक्का और मदीना और काशी की यात्रा चल रही है। और हृदय के द्वार बंद हैं। कहीं भी घूम आओ, बूंद अगर चारों तरफ से अपने को बंद किये है, तो सागर उसमें नहीं गिर सकता। और बूंद अपने को चारों तरफ से बंद किये है तो सागर के पास भी पहुँच जाए तो भी गिरने की हिम्मत नहीं जुटा सकती।

इसलिए दोनों बातें ऋषि ने कही हैं—वही तुम हो, तुम वही हो। 'जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जो मायिक-प्रपंच दिखायी देते हैं, वे सब ब्रह्म द्वारा ही प्रकाशित होते हैं'। मायिक-प्रपंच भी ब्रह्म द्वारा ही प्रकाशित होते हैं। वह जो एक आदमी चोरी करने चला जा रहा है, वह ब्रह्म द्वारा ही चोरी करने चला जा रहा है। वह जो एक आदमी हत्या कर रहा है, वह ब्रह्म द्वारा ही हत्या कर रहा है। बहुत कठिन है! बहुत मुश्किल है! धर्म का दुरूह होने का कारण धर्म नहीं है। धर्म के दुरूह होने का कारण हमारी नैतिक मान्यताएँ हैं। उनकी वजह से धर्म बिलकुल बेबूझ हो जाता है। यह भी क्या बात हुई कि आदमी चोरी करने चला जा रहा है, ब्रह्म से ही आलोकित है! ब्रह्म भी चोरी करने चला जा रहा है!

और चोरी, तो हमारी नैतिक धारणा चोरी के संबंध में है, वह धारणा बाधा बनेगी। वह कहेगी, यह नहीं हो सकता। साधु में देख लें हम ब्रह्म को, चोरी में कैसे देखेंगे? ईमानदार में देख भी लें, बेईमान में कैसे देखेंगे? मित्र में देख भी लें, प्रेमी में देख भी लें, शत्रु में कैसे देखेंगे? लेकिन जब तक शत्रु में न दिख जाए तब तक मित्र में भी औपचारिक है। वह जो दिखायी पड़ रहा है साधु में, वह झूठा है। क्योंकि जब तक अँधेरे में भी प्रकाश दिखायी पड़ने न लगे, तब तक प्रकाश में जो दिखायी पड़ रहा है वह बाह्य है। जब अँधेरे में भी प्रकाश दिखायी पड़ने लग जाता है तो प्रकाश भीतरी हो जाता है। उसका मतलब प्रकाश अब मेरे भीतर है। अब जहाँ भी मैं देखूँगा वहाँ प्रकाश दिखायी पड़ेगा।

जिस दिन भीतर ब्रह्म का आवास हो जाता है, अनुभव हो जाता है, उस दिन जहाँ भी आँख डालें वहाँ ब्रह्म दिखायी पड़ेगा। क्योंकि प्रकाश अब मेरे भीतर है। अगर अँधेरे पर भी मेरा प्रकाश पड़ेगा तो अँधेरे में ही मुझे प्रकाश दिखायी पड़ेगा। तो जब तक बुरे में भी ब्रह्म दिखायी न पड़ने लगे तब तक ब्रह्म भीतर

दिखायी ही न पड़ा है, ऐसा जानना। साधुओं में तो देखना बिलकुल आसान है। आसान है, क्योंकि कोई बाधा ही पैदा नहीं कर रहा है आपको देखने के लिए। हालाँकि आप कोशिश जरूर करोगे कि कोई बाधा मिल जाए, पता चल जाए। पता चल जाए कुछ ऐसा कि मानना आसान हो जाए कि परमात्मा इसमें नहीं है। हम इतनी कोशिश में रहते हैं, इतनी कोशिश में रहते हैं इस बात को जानने की कि पता चल जाए कि साधु में असाधु है।

उसका कारण क्या है?

उसका कारण क्या है, उसका कारण एक है, ताकि परमात्मा देखने की झंझट से हम बच जाएँ। यह हर आदमी तलाश में लगा हुआ है कि पता चल जाए कि यह साधु कहीं कपड़ों में छिपाए एकाध रुपये का नोट तो नहीं रखे हुए है। रखे जरूर होगा, ऐसी हमारी भीतरी मान्यता है। कहीं-न-कहीं छिपा रखा होगा, कहीं-न-कहीं बैंक में जमा कर रखा होगा। क्योंकि बिना रुपये के आदमी जीएगा कैसे! जिससे हम जीते हैं, उससे ही यह भी जीता होगा, पता नहीं है अभी। हमारे मन में धारणा रहती है कि साधु-असाधु में जो फर्क है, वह इतना ही है कि असाधु का खुल गया मामला और साधु का अभी खुला नहीं है। बस इतना ही फर्क है हमारे में। जब तक नहीं खुला है तब तक मजबूरी में मानते चले जाएँगे कि ठीक है। लेकिन कभी तो खुलेगा, इसकी आशा भी रखेंगे। उसका उपाय भी करेंगे।

एक मित्र ने मुझे पत्र लिखा था, राजस्थान से, कि एक आदमी को मैंने दस वर्ष तक परमात्मा की तरह माना और फिर एक दिन देखा कि वह क्रोध में आ गये। तो मेरी सारी आस्था मिट गयी। मिट्टी हो गयी। और अब मेरी हालत ऐसी हो गयी है कि अब मैं किसीको भी परमात्मा, किसी में भी परमात्मा नहीं देख सकता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि कभी-न-कभी कुछ-न-कुछ गड़बड़ होगी। और फिर सब मामला खराब हो जाएगा।

मैंने उन को खबर पहुँचायी कि दस साल आदमी ने क्रोध नहीं किया, दस साल में एक बार उस आदमी ने क्रोध किया, तो दस साल का अक्रोध एक क्षण के क्रोध से समाप्त, नष्ट हो गया। तुम जरूर क्रोध की तलाश में थे। दस साल का अक्रोध! हजार इंच परमात्मा था वह आदमी, एक इंच सिद्ध हो गया कि परमात्मा नहीं है, तो हजार इंच बेकार हो गया? तुमने यह भी लौटकर न सोचा कि जब किसी आदमी में हम क्रोध देखते हैं तो जरूरी नहीं है कि वह क्रोधित हो ही। हमारा देखना भी जिम्मेवार हो सकता है। लेकिन यह खयाल न आया कि यह मेरी धारणा है कि परमात्मा क्रोध नहीं कर सकता। यह मेरी धारणा टूटनी चाहिए थी। लेकिन परमात्मा टूट गया, धारणा न टूटी! धारणा यह थी कि परमात्मा क्रोध नहीं कर

सकता; और परमात्मा ने क्रोध किया। तो धारणा न टूटी, परमात्मा टूट गया। धारणा ज्यादा कीमती चीज थी—मेरी धारणा थी! परमात्मा तुम थे, धारणा मेरी थी। तुम टूटोगे, मैं नहीं टूट सकता हूँ।

मैंने खबर भिजवायी कि तुम एक बार फिर सोचना, तुमसे किसने कहा कि परमात्मा क्रोध नहीं कर सकेगा? किसने तय किया तुम्हारे लिए कि परमात्मा क्रोध नहीं कर सकेगा? कैसे तुमने जाना कि परमात्मा क्रोध नहीं कर सकेगा? धारणा है तुम्हारी। इतना जरूर है कि अगर तुम किसी में परमात्मा देखोगे तो उसका क्रोध दिखायी नहीं पड़ेगा।

यह पक्का नहीं है कि महावीर ने क्रोध किया या नहीं किया, यह पक्का है कि जिन्होंने महावीर को परमात्मा जाना, उन्हें उनका क्रोध दिखायी नहीं पड़ा। किया या नहीं किया, इसका कोई पक्का नहीं है। क्योंकि दूसरे को दिखायी पड़ता है। गोशालक को दिखायी पड़ता है कि महावीर क्रोधी हैं। महावीर के भक्तों को दिखायी नहीं पड़ता। कृष्ण के भक्तों को दिखायी नहीं पड़ता कि कृष्ण क्रोधी हैं। लेकिन कृष्ण के विरोधियों को दिखायी पड़ता है कि वक्त पर यह आदमी सुदर्शन निकालकर खड़ा हो गया था। तब सब असलियत पता चल गयी कि यह आदमी क्रोधित होता है। खतम हो गयी बात! कैसा परमात्मा! लेकिन सुदर्शन निकालकर खड़ा हुआ कृष्ण भी, जिसको उसमें परमात्मा दिखायी पड़ रहा था उसको कोई क्रोध नहीं दिखायी पड़ा। उसको लीला दिखायी पड़ी। उसको रहस्य दिखायी पड़ा।

बल्कि सच यह है कि कृष्ण अगर सुदर्शन निकालकर खड़े न होते, तो जिसने कृष्ण को प्रेम किया है वह कृष्ण को कभी पूर्ण अवतार न कह पाता। वह पूर्ण कहा ही जा सका इसीलिए कि यह आदमी इतना पूर्ण है कि इसमें दोनों चीजें मौजूद हैं। यह अधूरा, खंडित नहीं है। इसमें शुभ भी है तो अपने पूरे शिखर पर। इसमें बुराई भी है तो अपनी पूरी नीचाई में। यह दोनों एक-साथ है। इतना संतुलित है, इसीलिए यह पूर्ण है।

इसलिए हिंदू-मन को लगा कि कृष्ण पूर्ण अवतार हैं। राम भी उतने पूर्ण नहीं। क्योंकि राम भलाई की तरफ जरा ज्यादा झुके हुए हैं। संतुलन पूरा नहीं है। ज़्यादा भले हैं। संतुलित नहीं हैं। राम का व्यक्तित्व संतुलित नहीं। संयमी है, संतुलित नहीं है। क्योंकि संतुलन तो बुराई से होगा। कृष्ण का व्यक्तित्व बिलकुल संतुलित है। काँटा खबर देता है कि पूर्ण है। बिलकुल संतुलित है। यह भक्त को दिखायी पड़ा। गैर-भक्त को यह दिखायी पड़ा कि वह जो सुदर्शन ले लिया, उसमें एक पलड़े को जमीन पर लगा दिया, बात सब नष्ट हो गयी।

यह कहना मुश्किल है कि परमात्मा क्रोध करता है या नहीं करता है, यह

कहना बिलकुल पक्का है कि जो परमात्मा कहीं भी देख ले, उसको क्रोध दिखायी नहीं पड़ता है। और मजा यह है कि यह सवाल ही महत्त्वपूर्ण नहीं है कि कृष्ण ने क्रोध किया या नहीं किया, महत्त्वपूर्ण यह है कि कोई आदमी देख पाया परमात्मा कृष्ण में। यह महत्त्वपूर्ण है। यह घटना महत्त्वपूर्ण है। यह घटना क्रांतिकारी है।

कृष्ण भगवान हैं या नहीं, यह दो कौड़ी की बात है। इसका हिसाब नासमझ लगाने बैठते हैं। लेकिन कोई देख पाया, वह रूपांतरित हो गया। वह देखने से रूपांतरित हो गया। कृष्ण के होने, न होने का सवाल ही गौण है। पत्थर को भी कोई देख पाए कि परमात्मा है, तो रूपांतरण हो जाता है।

सारा मायिक-प्रपंच, सारी माया भी उसी ब्रह्म से प्रकाशित है। और वह ब्रह्म मैं ही हूँ। यह बहुत मजेदार है बात। यह सारा मायिक-प्रपंच—यह चोर चोरी करने जा रहा है, यह कामी कामना के वश अंधा होकर दौड़ रहा, यह धन का लोभी धन के ढेर पर साँप बनकर बैठ गया, यह सब मायिक-प्रपंच ब्रह्म के ही द्वारा प्रकाशित है। और भी अद्‌भुत बात सूत्र में है। 'और वह ब्रह्म मैं ही हूँ'। यह मैं ही चोर में चोरी करने जा रहा हूँ और यह मैं ही लोभी में लोभ, और यह कामी की कामना मैं ही हूँ। यह बहुत अद्‌भुत सूत्र है। ऐसी प्रतीति धार्मिक आदमी की प्रतीति है। ऐसा आदमी धार्मिक है।

लेकिन हम जिनको धार्मिक देखते हैं, वह कह रहे हैं कि तुम चोर हो, नरक जाओगे। उनको कभी खयाल नहीं आता कि इसमें नरक मैं ही जाऊँगा। ऐसा खयाल आए तो इतनी निंदा से यह बात कही नहीं जा सकती। इतना रस नहीं लिया जा सकता फिर इसमें।

साधु-संन्यासी बैठे हैं, वह लोगों को समझा रहे हैं कि पापी हो तुम, नरक में पड़ोगे। उन्हें खयाल भी नहीं आता कि उनके भीतर मैं ही पापी हूँ। और इनके द्वारा मैं ही नरक में पड़ूँगा। ऐसा खयाल आए तो धार्मिक व्यक्तित्व पैदा होता है।

इस जगत में जो कुछ हो रहा है, उसमें मैं भागीदार हूँ। क्योंकि मैं इसका हिस्सा हूँ। अगर यहाँ रावण हुआ है, तो मैं उसके भीतर रावण था। रावण के भीतर मेरा होना अनिवार्य है, क्योंकि मैं जगत में भागीदार हूँ, साझीदार हूँ। अगर वियतनाम में युद्ध हो रहा है तो मैं जिम्मेदार हूँ। कहीं कोई दिखायी नहीं पड़ती मेरी जिम्मेवारी। लेकिन जिस दुनिया का मैं हिस्सा हूँ इस दुनिया में अगर युद्ध घटित होते हैं, तो मैं जिम्मेवार हूँ। अगर यहाँ हिंदू-मुसलमान के दंगे होते हैं, हिंदू मुसलमान को काटते हैं, मुसलमान हिंदू को काटते हैं, तो मैं जिम्मेवार हूँ। क्योंकि उनके भीतर मैं ही कट रहा हूँ। और मैं ही काट रहा हूँ।

यह भी समझ लेना आसान है कि ब्रह्म ही चोरी करने जा रहा है। यह

समझना और मुश्किल है कि मैं ही उसमें चोरी करने जा रहा हूँ। ऐसी प्रतीति अद्भुत क्रांति ले आएगी। ऐसा खयाल ही आपकी जिंदगी को दूसरा कर जाएगा। वह दृष्टि ही, फिर आप और हो जाएँगे। फिर क्या है बुरा और क्या है भला। और किसकी निंदा और किसकी प्रशंसा। और किसको भेजें नर्क और किसको स्वर्ग। क्या करें आयोजन। सब आयोजन गिर जाते हैं। सब व्यवस्थाएँ गिर जाती हैं। और ऐसा व्यक्ति अशांत हो सकता है? और ऐसा व्यक्ति तनाव में हो सकता है? और ऐसे व्यक्ति का क्या संताप रहा! ऐसा व्यक्ति ही न रहा। यह अहंकार पर सघनतम चोट है। साधारणतः तो मेरी चोरी को भी मैं मेरी नहीं मान पाता, इसमें दूसरे की चोरी को मेरा मान लिया गया।

साधारणतः तो मैं खुद भी चोरी करता हूँ तो भी मैं कहता हूँ, परिस्थितिवश। मैं कोई चोर नहीं हूँ, परिस्थिति ऐसी थी। पत्नी बीमार पड़ी थी, बच्चा भूखा मर रहा था, नहीं करता चोरी तो क्या करता? ऐसी परिस्थिति तुम्हारी होगी तो तुम भी चोरी करोगे। परिस्थिति ऐसी थी कि मैंने चोरी की। मैं चोर नहीं हूँ। हम अपनी चोरी को भी अस्वीकार करते हैं। इस सूत्र में दूसरे की चोरी भी स्वीकार कर ली गयी। और उसकी भी चोरी स्वीकार कर ली गयी, जिससे सूझ-बूझ में कोई संबंध नजर नहीं आता। हो सकता है उसका मुझे पता भी न हो। हो सकता है उसकी मुझे खबर भी न हो।

फिर भी यह सूत्र कहता है कि उन सबके भीतर मैं ही हूँ। वह सारे मायिक-प्रपंच में जो हो रहा है, वह ब्रह्म का; और वह ब्रह्म मैं ही हूँ। यह अहंकार पर सघनतम चोट है। और अगर इस चोट में भी अहंकार बच जाए तो फिर उसके मिटने का कोई उपाय नहीं है। मगर बच नहीं सकता। इस चोट के बाद बचने का कोई उपाय नहीं रह जाता। कभी अपने खयाल कि हम दूसरों को चोर कहते हैं तो हमारे अहंकार को बड़ा रस आता है। जब हम दूसरे को पापी कहते हैं तो हम जाने-अनजाने पुण्यात्मा हो जाते हैं। जब हम दूसरे की निंदा करते हैं तो परोक्ष में हम अपनी प्रशंसा करते हैं। इसलिए तो निंदा का इतना रस है।

कवियों ने बहुत रसों की चर्चा की है, लेकिन निंदा के रस के मुकाबले में सब रस बिलकुल फीके और बेस्वाद हैं। इसलिए कवि भी कविता कितनी ही करते हों, लेकिन एक-दूसरे कवि की निंदा में जितना रस लेते हैं उतना कविता में नहीं लेते हैं। निंदा ऐसा मौलिक रस है, आधारभूत मालूम पड़ता है। सब काव्य फीके हैं। सब रस साधारण हैं।

कभी आपने खयाल किया कि जब कोई किसीकी निंदा करने लगता है तो आपके हृदय में कमल जैसे खिलने लगते हैं और जब कोई किसीकी प्रशंसा करता

है तो कमल कैसे सिकुड़ने लगते हैं। जब कोई किसीकी प्रशंसा करने लगता है तो आप तत्काल 'डिफेंस' में, रक्षा में खड़े हो जाते हैं। अपनी रक्षा में। आपकी रक्षा का रुख यह होता है कि आप यह कहते हैं कि कौन कहता है कि यह आदमी साधु है? क्या सबूत है? आप तर्क करते हैं, विवाद करते हैं।

कोई कहता है फलाँ आदमी चोर है, आपके हृदय के कमल एकदम खिल जाते हैं। द्वार एकदम ग्राहक हो जाता है। 'रिसेप्टिविटी' एकदम बढ़ जाती है। हृदय एकदम स्वीकार कर लेता है। श्रद्धा से आपूरित हो जाते हैं कि बिलकुल ठीक कह रहे हैं आप, वह तो मुझे पहले ही पता था। न कोई प्रमाण पूछते हैं आप कि किसने कहा कि वह आदमी चोर है? कैसे सिद्ध हुआ? जिसने कहा वह झूठा तो नहीं था? इसका कोई पक्का प्रमाण है कि जिसने गवाही दी वह आदमी ईमानदार था खुद? नहीं, अब यह पूछने की कोई भी जरूरत नहीं है। निंदा के साथ हमारी श्रद्धा ऐसी भरपूर हो जाती है।

इसलिए मैं नहीं कहता कि आज के युग का आदमी अश्रद्धालु है, मैं इतना ही कहता हूँ उसकी श्रद्धा के विषय बदल गये हैं, और कुछ नहीं। श्रद्धा पूरी है। कोई कहे कि फलाँ साधु है, तो अश्रद्धा आती है। कोई कहे फलाँ पापी है, एकदम तुरंत श्रद्धा आती है। श्रद्धा की कोई कमी नहीं है। श्रद्धा पूरी है।

गलत जगह पर श्रद्धा एकदम आती है। उसके कारण हैं। क्योंकि जैसे ही कोई किसी की निंदा करता है, जाने-अनजाने हमारी प्रशंसा करता है। इसलिए जो बहुत कुशल खुशामदखोर हैं, वह आपकी प्रशंसा करने के लिए सबसे अच्छा रास्ता निकालते हैं। आपके पास आकर उनकी निंदा करते हैं जिनके अहंकार के कारण आपके अहंकार को कभी भी कोई तरह की चोट पहुँचती है। वह कुशलतम खुशामद है। इसमें सीधा वह आपको नहीं कहते कि आप महान हैं। वह आपके चारों तरफ जितने हैं उन सबको कहते हैं क्षुद्र हैं और आप अचानक महान हो जाते हैं।

जो आदमी आपसे सीधा आ कर कहता है आप महान हैं, उसे खुशामद का रहस्य पता नहीं है। और जो आदमी सीधा आपसे कहता है आप महान हैं, आप थोड़ा उसके प्रति संदिग्ध हो जाएँगे कि यह आदमी कुछ गड़बड़ करेगा। लेकिन अगर वह कुशल है तो वह आपको महान नहीं कहेगा, सिर्फ दूसरों को छोटा कहेगा और आपको महान बनाएगा। वह ज्यादा कुशल है और अगर असली उपद्रव करना है तो वही कर सकेगा।

निंदा में इतना रस है। दूसरे को बुरा बताने में बड़ा रस है। दूसरा भूल में है यह सिद्ध करने में बड़ा रस है। यह सारा रस समाप्त हो जाएगा। अगर यह सारा प्रपंच, यह सारी बुराई, यह सारा उपद्रव, यह सारा 'केऑस' जो चारों

तरफ फैला हुआ दिखायी पड़ता है, यह भी मैं ही हूँ; यह सारी विक्षिप्तता, यह सारी बीमारियाँ, यह सारी विकृति, यह भी मैं हूँ, फिर अहंकार बच नहीं सकता। फिर अहंकार को बचने को कोई स्थान शेष नहीं रह जाता। और जहाँ अहंकार नहीं, वहीं ब्रह्म का आवास है। जहाँ ब्रह्म का आवास है, वहीं अहंकार का विनाश है।

'जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जो भी मायिक-प्रपंच दिखायी देते हैं वह सब ब्रह्म द्वारा प्रकाशित होते हैं और ब्रह्म मैं ही हूँ--ऐसा जो जान लेता है, वह सब प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाता है'।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रो हं सदाशिवः ॥ १८ ॥
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥ १९ ॥

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में जो भोग, भोग्य और भोक्ता के रूप में है, उससे भिन्न वह सदाशिव, चिन्मय और अद्भुत साक्षी मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

मैं ही वह अद्वैत ब्रह्म हूँ। मुझमें ही सब कुछ उत्पन्न होता, मुझमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित रहता और मुझमें ही सब का लय होता ॥ १९ ॥

स्वयं पर लौटती चेतना का प्रकाश ही ध्यान

स्वयं की खोज अंततः उसकी खोज है, जिसके समक्ष सारे अनुभव घटित होते हैं। जिसके समक्ष सारी प्रतीतियाँ फलित होती हैं। जिसके समक्ष सारे दृश्य, सारे जगत का विस्तार प्रगट होता है।

एक पत्थर है, वह है जरूर, लेकिन होने का उसे कोई अनुभव नहीं है। उसके होने में कोई कमी नहीं है, लेकिन होने की कोई चेतना उसके पास नहीं है। एक पशु है, वह भी है और उसे होने का बोध भी है। उसका अस्तित्व भी है और अस्तित्व का उसे अनुभव भी है। पत्थर का सिर्फ अस्तित्व है, अस्तित्व का कोई अनुभव नहीं है। पशु का अस्तित्व भी है, अस्तित्व का अनुभव भी है। मनुष्य में चेतना का एक तीसरा आयाम भी शुरू होता है। मनुष्य है, उसी तरह जैसा पत्थर है; मनुष्य को होने का अनुभव भी है, उसी तरह जैसा किसी भी पशु को है; और मनुष्य इन दोनों का भी साक्षी हो सकता है। मनुष्य यह भी जान सकता हैं कि मैं हूँ, मुझे होने का अनुभव हो रहा है और इन दोनों बातों को भी पीछे खड़े होकर अनुभव कर सकता है।

यह जो तीसरे का अनुभव है, यही साक्षी है। पत्थर अचेतन है, पशु चेतन है, मनुष्य अपने चैतन्य के प्रति भी चेतन है। अपनी चेतना के प्रति भी जागा हुआ है। लेकिन, यह मनुष्य की संभावना है। सभी मनुष्य इस अवस्था में नहीं हैं। यह हो सकता है, ऐसा है नहीं। साधारणतः अधिकतर मनुष्य पशु के तल पर ही होते हैं। जहाँ हैं और होने का पता है, लेकिन तीसरे तत्त्व का, साक्षी का कोई अनुभव नहीं है। और यह अवस्था भी सिर्फ जाग्रत में रहती है। निद्रा में तो हालत वही हो जाती है जो पत्थर की है। हैं, होने का भी कोई पता नहीं।

जब हम नींद में हैं तो हमारी और पत्थर की अवस्था में कोई भी फर्क नहीं। जब हम गहरी प्रसुप्ति में पड़े है तो हम ठीक पत्थर जैसे हैं। चाहें तो उल्टा करके भी कह सकते हैं कि पत्थर हमारे जैसा ही है, किसी गहरी प्रसुप्ति में पड़ा हुआ। और जब हमें साक्षी का कोई पता नहीं है ; हैं, होने का ख्याल है, तो हम

पशु की अवस्था में हैं। चाहें तो उल्टा भी कह सकते हैं कि पशु हमारी ही अवस्था में हैं, अभी उसका भी साक्षी जाग्रत नहीं हुआ है। लेकिन वास्तविक मनुष्यता का जन्म हमारे भीतर 'विटनेसिंग,' साक्षी के साथ शुरू होता है।

तो साक्षी का ठीक अर्थ समझ लें। यह शायद मनुष्य के शब्दों में, खासकर उन शब्दों में जो अध्यात्मिक खोज में संलग्न किये गये हैं, सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द है। इसकी प्रक्रिया पर पीछे हम बात करेंगे, पहले इस शब्द को ठीक से समझ लें।

मेरे हाथ में चोट लग जाए, पीड़ा हो, तो साधारणतः हमें लगता है कि मुझे पीड़ा हो रही है। अगर ऐसा लगता है कि मुझे पीड़ा हो रही है, तो साक्षी मौजूद नहीं है। अगर ऐसा लगे कि मेरे हाथ को पीड़ा हो रही है, ऐसा लगे कि हाथ को पीड़ा हो रही है और मैं जान रहा हूँ, तो साक्षी उपस्थित हो गया। पेट में भूख लगी है, अगर ऐसा लगे कि मुझे भूख लगी है तो साक्षी खो गया, तादात्म्य हो गया भूख के साथ। अगर मुझे ऐसा लगे कि मुझे पता चल रहा है कि पेट को भूख लगी है, या पेट में भूख लगी है ऐसा मुझे पता चला रह है, मैं जाननेवाला ही बना रहूँ, कोई भी अनुभव में समाविष्ट न हो जाऊँ, दूर बाहर मेरे और मेरे अनुभव के बीच एक फासला बना रहे, यह फासला जितना बड़ा हो, उतना ही साक्षी जन्मेगा। फासला जितना कम हो, उतना ही साक्षी खो जाएगा। साक्षी के खो जाने के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह है तादात्म्य, 'आइडेंटिटी'। किसी चीज के साथ एक हो जाना।

साक्षी का अर्थ है, किसी चीज के साथ अलग हो जाना। अगर कोई व्यक्ति अपने समस्त अनुभवों से अलग हो जाए, चाहे दुख हो और चाहे सुख, चाहे जीवन हो और चाहे मृत्यु, चाहे कुछ भी घटित होता हो, किसी भी घटना में मेरी चेतना घटना के भीतर प्रवेश न करे, बाहर ही रहे, तो साक्षी का अनुभव शुरू होता है। किसीने आपको गाली दी, तत्काल गाली लग जाती है भीतर, फासला टूट जाता है। गाली का तीर चुभ जाता है भीतर और फासला टूट जाता है। तब यह ख्याल नहीं रहता कि एक है गाली देनेवाला, एक है जिसको गाली दी गयी है और एक मैं हूँ जो देख रहा हूँ--गाली देनेवाले को भी, गाली जिसको दी गयी है उसको भी।

स्वामी रामतीर्थ इस प्रयोग को करते-करते, इस साक्षी के प्रयोग को करते-करते अपनी भाषा को भी धीरे-धीरे बदल डाले। शायद प्रयोग करते-करते भाषा बदल गयी थी। न्यूयार्क में थे, कुछ लोगों ने उनका अपमान किया था। लौटकर वे आए, हँसते हुए, और उन्होंने अपने साथियों को कहा कि आज बड़ा मजा आया। राम गया था बाजार में--रामतीर्थ उनका नाम था--लेकिन उन्होंने कहा राम गया

था बाजार में, कुछ लोग राम को गाली देने लगे, राम बड़ी मुसीबत में पड़ गये। तो मित्रों ने कहा आप इस तरह बोल रहे हैं जैसे किसी और को गाली दी गयी हो और कोई और मुसीबत में पड़ गया हो। तो राम ने कहा ठीक ऐसा ही हुआ। क्योंकि मैं देख रहा था, गाली देनेवालों को भी और राम को भी जिसपर गालियाँ पड़ रही थीं।

गाली पड़ती हो तब फासला करना बहुत मुश्किल है। तब तत्काल, एक क्षण में भीतर सब तादात्म्य हो जाता है, गाली को हम झेल लेते हैं।

यह चेतना की संभावना है कि वह किसी तथ्य के करीब आकर एक हो सकती है और किसी तथ्य से दूर हटकर फासले पर खड़ी हो सकती है। यही समस्त धर्म की संभावना है। अगर यह संभावना नहीं है, तो फिर धर्म का कोई उपाय नहीं है। और जीवन के दुख के विसर्जन का भी फिर कोई मार्ग नहीं है, अगर साक्षी संभव न हो।

एपीटेक्टस यूनान में एक विचारक हुआ। उसके संबंध में खबर थी कि वह साक्षीभाव को उपलब्ध हो गया है। लेकिन सम्राट को भरोसा नहीं था। सम्राट ने कहा साक्षी कोई कैसे हो सकता है! खैर, परीक्षा ले लेंगे। एपीटेक्टस को बुलावा दिया गया। सम्राट ने दो पहलवान बुलाए, और कहा कि इसके पाँव इसके सामने ही मरोड़कर तोड़ डालो। एपीटेक्टस ने अपनी टाँग आगे बढ़ा दी। सम्राट ने कहा कोई झंझट न करोगे!

एपीटेक्टस ने कहा झंझट बिल्कुल फिजूल है, क्योंकि पहलवान मुझसे काफी तगड़े हैं। झंझट बिल्कुल बेकार है। और देर लगाने में एपीटेक्टस को तकलीफ भी बहुत होगी। इसलिए जितनी जल्दी टाँग टूट जाए उतनी जल्दी निपटारा हो जाए।

कहा एपीटेक्टस ने कि देर लगाने में एपीटेक्टस को तकलीफ भी बहुत होगी। सम्राट ने कहा कि तुम्हारा मतलब क्या है? एपीटेक्टस ने कहा कि मेरा मतलब यह है कि जिसको आपने बुलाया है, एपीटेक्टस को, जो इस शरीर का नाम है, उसको बेहद तकलीफ होगी। सम्राट ने कहा, और तुम्हें? एपीटेक्टस ने कहा हम देखेंगे। हम देखेंगे तुम्हारी मूढ़ता, तुम्हारे पहलवानों की पहलवानी, एपीटेक्टस की मुसीबत, सब हम देखेंगे।

सम्राट ने कहा बातचीत से हल नहीं होगा, टाँग तो तोड़नी ही होगी। टाँग तोड़ दी गयी। और एपीटेक्टस देखता रहा। और एपीटेक्टस ने कहा कि अगर कार्य पूरा हो गया हो तो मैं एपीटेक्टस को ले जाऊँ।

सम्राट रोने लगा। उसने सोचा भी नहीं था कि यह संभव हो सकता है। उसने पैर पकड़ लिये एपीटेक्टस के और कहा कि इसका राज? एपीटेक्टस ने कहा

अभी भी तुम जिसके पैर पकड़े हुए हो, वह मैं नहीं हूँ। अभी मैं देख रहा हूँ कि सम्राट रो रहा है, एपीटेक्टस फिर मुसीबत में है, दूसरी मुसीबत में। उनका पैर पकड़ा गया है। अभी तोड़ने के लिए पकड़ा गया था, अब पड़ने के लिए पकड़ा गया है। लेकिन मैं देख रहा हूँ।

साक्षी का अर्थ है कोई भी अनुभव तादात्म्य न बने। कोई भी अनुभव। कोई भी अनुभव मुझसे न जुड़े। मैं दूर ही रह जाऊँ। पार ही रह जाऊँ। मेरा अलगपन कहीं भी विनष्ट न हो।

रास्ते पर आप चल रहे हैं, ऐसे भी चल सकते हैं कि मैं चल रहा हूँ और ऐसे भी चल सकते हैं कि चलने की घटना घट रही है और मैं देख रहा हूँ। हर घटना से तादात्म्य को छिन्न-भिन्न करना पड़े। हर घटना से तादात्म्य विर्सजित करना पड़े। खाना खा रहे हैं, ऐसे भी खा सकते हैं कि मैं खा रहा हूँ और ऐसे भी खा सकते हैं कि खाना खाया जा रहा है, मैं देख रहा हूँ।

एक-एक पल इसका होश रखा जाए, तब कहीं सतत प्रयोग के बाद साक्षी का जन्म शुरू होता है। तब आपके भीतर वह चेतना आ जाती है, जो सिर्फ देखती है, द्रष्टा होती है। जानती है, ज्ञाता होती है। लेकिन भोक्ता नहीं होती।

इस सूत्र को हम समझें—

'जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में जो भोग, भोग्य और भोक्ता के रूप में है, उससे भिन्न वह सदाशिव, चिन्मय और अद्‌भुत साक्षी म ही हूँ।'

जाग्रत हो, या स्वप्न हो, या सुषुप्ति हो, तीनों अवस्थाओं में हमारा अनुभव तीन हिस्सों में विभाजित है— भोग, भोग्य और भोक्ता। भोग्य, जिसे हम भोगते हैं। भोजन आप कर रहे हैं, तो भोजन भोग्य है। आप कर रहे हैं, आप भोक्ता हैं। और भोक्ता और भोग्य के बीच में जो संबंध है, उसका नाम भोग है। भोग संबंध है।

या, ऐसा समझें। सूरज निकला है, आप देख रहे हैं। तो सूरज दृश्य है, आप द्रष्टा हैं, दोनों के बीच का संबंध दर्शन है। आपके पैर में काँटा गड़ गया, पीड़ा हो रही है, तो पीड़ा ज्ञेय है, आप ज्ञाता हैं, बीच का संबंध ज्ञान है। हर अनुभव तीन हिस्सों में टूट जाता है। विषय, जो बाहर है, जिसका आपको अनुभव हो रहा है। अनुभोक्ता, अस्मिता, अहंकार, जो भीतर है, जिसको अनुभव हो रहा है। और दोनों के बीच का संबंध जो अनुभव बन रहा है।

ये तीन समझ में आते हैं। इन तीनों के पार अगर आपके भीतर कोई चौथा भी हो, तो उसका नाम साक्षी है। इन तीनों के पार अगर कोई चौथा भी हो जो इन तीनों

को ऊपर से देख रहा हो— जो देख रहा हो कि भोजन किया जा रहा है, भोग लिया जा रहा है, भोक्ता भोग ले रहा है और भोक्ता और भोग के बीच में संबंध निर्धारित हो गया है भोग का, इन तीनों के पार भी अगर कोई खड़ा होकर देख सके आपके भीतर, तो उस चौथी संभावना का नाम साक्षी है।

इन तीन को हम अनुभव करते हैं, चौथे को हम अनुभव नहीं करते हैं। और जिन तीन अवस्थाओं की हमने चर्चा की है, उन तीनों में हम इन तीन का ही अनुभव करते हैं। जागते हैं तो भी वही भोग, भोग्य और भोक्ता होता है। स्वप्न देखते हैं तो वही भोग, वही भोग्य, वही भोक्ता होता है। गहरी तंद्रा में, निद्रा में पड़ जाते हैं तो भी सुबह उठकर हम कहते हैं—बड़ा सुख आया। और तब फिर सुख का अनुभव वही भोग, भोक्ता और भोग्य में विभाजित हो जाता है। लेकिन चौथे का हमें कोई भी पता नहीं है। इस सारे अनुभव में चौथे की हमें कोई झलक भी नहीं मिलती है।

उस चौथे को जगाना, उस चौथे को उठाना, उस चौथे को आधार देना, उस चौथे में प्रवेश करना, उसका ही साधन ध्यान है। जो भी आप कर रहे हों, ख्याल रखें कि तीन तो ठीक है, चौथा भी कहीं है या नहीं? और जैसे ही ख्याल रखेंगे, चौथा जागना शुरू हो जाएगा। क्योंकि वह स्मरण से ही जागता है। उसके जगाने का कोई उपाय नहीं है।

जार्ज गुरजिएफ ने शब्द प्रयोग किया है—'रिमेंबरिंग'। कहा है कि 'रिमेंबरिंग,' स्मरण ही उसे उठाने का उपाय है। गुरजिएफ ऐसा करता था, अगर कोई क्रोधी साधक उसके पास आता तो वह नहीं कहता था क्रोध छोड़ दो। वह कहता था— क्रोध करो, पूरी तरह करो, लेकिन साक्षी को जगाए रखो कि मैं क्रोध कर रहा हूँ। कि क्रोध हो रहा है। कि क्रोध आ गया है। कि क्रोध ने पकड़ लिया है। कि क्रोध प्रगट हो रहा है। एक क्षण को भी यह मत भूलो, क्रोध के साथ तादात्म्य मत बनाओ। कहीं भी ऐसा न हो जाए कि तुम ही क्रोध हो जाओ। क्रोध से फासला बनाए रखो।

साधक बड़ी मुश्किल में पड़ते थे। क्योंकि क्रोध का नियम यह है कि अगर स्मृति रहे, तो क्रोध हो नहीं सकता। और अगर क्रोध हो, तो स्मृति खो जाती है। ये दोनों बातें एक-साथ नहीं होतीं। तो अगर कोई साधक यह आकर कहे कि हाँ, आज मैंने क्रोध किया और स्मृति रही, तो गुरजिएफ हँसता था। क्योंकि उसको पता है— और साधक को पता नहीं है— कि यह असंभव है, यह होता ही नहीं। क्षणभर को भी अगर क्रोध पकड़ेगा तो तत्क्षण स्मृति खो जाएगी। यह चेतना की 'फोकसिंग' का सवाल है। यह ठीक वैसे ही है कि जब मैं बायीं तरफ देखूंगा, तो

मेरी आँखें दायीं तरफ नहीं देख पाएँगी। यह ठीक वैसा ही है कि जब मैं आँख बंद करूँगा, तो बाहर का जगत मुझे दिखायी नहीं पड़ेगा। अगर कोई आदमी आकर कहे कि मैंने आँख बंद की और बाहर का जगत दिखायी पड़ता रहा, मैंने बायें देखा और दायें भी देखता रहा, ठीक उससे भी कठिन है यह बात कि मैं जागा रहा और क्रोध करता रहा। मैं साक्षी बना रहा और क्रोध करता रहा। यह संभव नहीं हो सकता।

गुरजिएफ ने बहुत प्रयोग किये, लेकिन बड़ी मुश्किल थी। अगर कोई व्यक्ति जागा रहता, तो क्रोध नहीं होता था। और अगर क्रोध हो जाता, तो जागना नहीं होता था। तो गुरजिएफ ने एक नया प्रयोग भी शुरू किया और वह था--क्रोध का अभिनय। वह कहता था वास्तविक क्रोध में तो तादात्म्य हो जाता है, गिर जाता है आदमी। तो वह कहता था कि सिर्फ क्रोध का अभिनय करो। सब तरफ से कोशिश करो कि क्रोध में आ गये हो। सब भाव-भंगिमा ले आओ। चेहरा विकृत कर लो, हाथ की मुट्ठियाँ बाँध लो, दाँत पीस डालो, कँप जाओ, सारा क्रोध का पूरा अभिनय कर लो, जैसा एक अभिनेता नाटक में कर रहा हो।

और यह मजे की बात है कि जब उसने क्रोध का अभिनय सिखाया तो लोग दोनों एक-साथ हो जाते थे--क्रोध का अभिनय भी कर लेते थे और साक्षी भी बने रहते थे। और जब यह एक दफा अनुभव में आ जाए कि मैं साक्षी बना रह सकता हूँ एक ही अवस्था में, जब जो भी मैं कर रहा हूँ उसमें कर्ता न बनूं। वह अभिनय रहे तो कर्ता नहीं बनता आदमी। राम रामलीला में काम कर रहे हैं। तो बहुत रोते-पीटते हैं, सीता को भी झाड़-झाड़ से पूछते हैं, फिर पर्दा गिरा और पीछे जाकर वह चाय बैठकर पी रहे हैं। उस सीता से कोई संबंध न था। वह सब अभिनय था। लेकिन कभी-कभी अभिनय में भी-- हमारी नासमझी गहरी है-- कभी-कभी अभिनय में भी तादात्म्य हो जाता है। या कभी-कभी अभिनय के भीतर भी कर्ता प्रकट हो जाता है।

ऐसा मैंने सुना एक गाँव की रामलीला में हो गया। हनुमान को भेजा गया है लेने संजीवनी। वे लेकर तो आ गये पहाड़, लेकिन जिस रस्सी पर सरक रहे थे ऊपर वह अटक गयी। तो बड़ी मुश्किल हो गयी। राम नीचे खड़े हैं, वह कहते हैं जल्दी संजीवनी लाओ, लक्ष्मण मरे जा रहे हैं। हनुमान भी उतरने की बहुत कोशिश करते हैं, लेकिन रस्सी की घिर्री अटक गयी है। अटके हैं। घबड़ाहट हो गयी, किसीने जाकर जल्दी से ऊपर रस्सी काट दी, घड़ाम से हनुमान नीचे गिरे। तो हनुमान भूल गये कि यह रामलीला है। तो राम कह रहे हैं कि संजीवनी कहाँ है, हनुमान ने कहा कि भाड़ में जाए संजीवनी, रस्सी किसने काटी है, पहले यह पता

कर लेने दो! वह जो नाटक चल रहा था, वह क्षण भर को तिरोहित हो गया। चेतना कर्ता बन गयी। उस क्षण, राम-लक्ष्मण सब बेमानी; संजीवनी, सब व्यर्थ हो गयी। वह हनुमान बिलकुल भूल गये कि काफी लोग देखने आए हैं, ये क्या सोचेंगे!

नहीं, सवाल यह नहीं रहा, भूलने की कोई बात नहीं थी, वह बात खो गयी, वहाँ जहाँ अभिनय चल रहा था वहाँ कर्ता तत्काल प्रगट हो गया। इस घटना से हनुमान अपने को अलग न कर पाए। हमारे अभिनय में भी अगर कहीं कर्ता प्रवेश कर जाए तो तादात्म्य हो जाएगा। और इसके विपरीत अगर हमारे कर्म में भी अभिनय का बोध आ जाए, तो साक्षी प्रगट हो जाएगा। इसका मतलब हुआ कि जब भी हम कर्म के कर्ता बनते हैं तब साक्षी को खोकर बनते हैं। साक्षी की कीमत पर बनते हैं। अगर हम कर्म के सिर्फ अभिनेता रह जाएँ, तो कर्ता खो जाता है, और कर्ता की कीमत पर साक्षी उपलब्ध होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि आप दो में से एक ही हो सकते हैं-- या तो कर्ता, या साक्षी।

और हम सब कर्ता हैं। जो भी हम करते हैं, उससे हम तत्काल अपने अहंकार को जोड़ लेते हैं। जोड़ने का हमें उपाय नहीं करना पड़ता, जुड़ ही जाता है। वह बिलकुल हमें हमारी आदत का हिस्सा है। ऐसे कर्म में भी हम कर्ता बन जाते हैं जिसमें हमारा कर्म है ही नहीं। आदमी कहता है, मैं श्वाँस ले रहा हूँ। श्वाँस में, कोई श्वाँस लेता नहीं दुनिया में नहीं तो मरना मुश्किल हो जाए। मौत खड़ी है और आप श्वाँस लिये चले जा रहे हैं! मौत कह रही है कि अब बंद भी करिये और आप कहते हैं हम बंद नहीं करेंगे, तो मौत क्या करे? श्वाँस आप लेते नहीं हैं, श्वाँस चलती है। लेकिन उसके भी हम कर्ता बन जाते हैं। हम कहते हैं-- मैं श्वाँस ले रहा हूँ। मैं श्वाँस छोड़ रहा हूँ। हमारी भाषा हर चीज को कर्म बना देती है।

वह तो आपको पता नहीं है कि आपका खून चल रहा है, नहीं तो आप कहें कि मैं खून चला रहा हूँ। आपको पता नहीं है-- तीन सौ साल पहले तक किसी को पता नहीं था--कि खून चलता भी है। अब यह पहली दफा जिस आदमी ने कहा कि खून चलता है, उसको क्षमा माँगनी पड़ी अदालत में जाकर। वह कहें क्या फिजूल की बात कर रहे हो! खून कैसे चलेगा! खून भरा हुआ है। और चलने का हमें कभी खुद भी तो पता चलता नहीं। तीन सौ साल पहले तक दुनिया में किसीको पता नहीं था कि आदमी के भीतर खून चलता है। लेकिन चलता तो है और आप तो चलाने वाले हैं ही नहीं, आपको पता ही नहीं है चलाने का। वैसे ही श्वाँस भी चलती है, आप चलानेवाले नहीं हैं। जब तक चलती है, चलती है,

जब नहीं चलती है तो नहीं चलती है। फिर एक श्वाँस भी कम-ज्यादा लेना संभव नहीं है।

लेकिन हम श्वाँस तक के कर्ता बन जाते हैं और कहते हैं--मैं श्वाँस ले रहा हूँ, मैं श्वाँस छोड़ रहा हूँ। मैं कुछ कर रहा हूँ। अगर बहुत गहरे में प्रवेश करें तो सारा जीवन श्वाँस की तरह ही चल रहा है। उसमें आप कर्ता नहीं हैं। जब बिलकुल मौलिक चीज के आप कर्ता नहीं हैं, श्वाँस, जिसके बिना जीवन क्षणभर न चलेगा, तो बाकी सबका आप क्या सोच रहे हैं! भूख आप लगाते हैं? लग रही है। प्रेम में आप पड़ते हैं? पड़ जाते हैं। घृणा आप करते हैं? हो जाती है। क्रोध आप करते हैं? आ जाता है। अगर जीवन की सारी क्रियाओं में ठीक से प्रवेश करें, तो आपको पता चलेगा कर्ता एक भ्रांति है। शायद एकमात्र भ्रांति है। अकेली भ्रांति है। बस वही भ्रांति है, बाकी सब भ्रांतियाँ उसीके फूल-पत्ते हैं। उस कर्ता को ही हम अहंकार कहते हैं, 'इगो' कहते हैं। वह हमारी भ्रांति है। फिर उस भ्रांति पर हमारा जो भी महल खड़ा होता है, वह सब झूठा है। उसका कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। लेकिन जब झूठा आधार ही हमने स्वीकार कर लिया हो, तो फिर झूठे महल को बनाने में हमें कोई अड़चन नहीं होती। यश का, प्रतिष्ठा का यह जो संसार है; सफलता का, दंभ का यह जो फैलाव है, यह फिर उसी झूठे कर्ता पर खड़ा होता चला जाता है।

लेकिन जीवन की प्रक्रिया का ठीक-ठीक बोध हो, तो पता चलेगा कर्ता हम हैं नहीं। फिर हम क्या हैं अगर कर्ता नहीं हैं? अगर यह कर्ता का भाव छूट जाए तो फिर हम क्या हैं? तब हमें पता चलेगा कि हम साक्षी हैं।

मेरा किसीसे प्रेम हो गया है, तो मैं सिर्फ साक्षी हूँ। साक्षी हूँ इस बात का कि मेरे भीतर कुछ है और उस व्यक्ति के भीतर कुछ है, और इन दोनों के बीच एक आकर्षण निर्मित हो गया है। मैं साक्षी हूँ इस बात का। मुझे इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि यह घटना घट रही है, यह वैसे ही प्राकृतिक घटना है जैसे कि एक चुंबक के पास लोहा खिंच जाए। न तो चुंबक खींचता है और न लोहा खिंचता है। चुंबक और लोहे के गुणधर्म का यह मेल है कि खींचने की घटना घट जाती है। न तो चुंबक को खींचने के लिए कोई उपाय करना पड़ता है और न लोहे को खिंचने के लिए कोई चेष्टा करनी पड़ती है। इन दोनों के स्वभाव से यह घटना घट जाती है। यह घटना घटना ही है, इसमें कर्ता कोई भी नहीं है।

अगर चुंबक भी आदमी हो, तो वह कहेगा मैंने खींचा। निश्चित कहेगा। और अपनी डायरी रखेगा कि मैंने कितने-कितने लोहों को खींचा। और कितनी-कितनी बार कैसे लोहे मेरे चारों तरफ इकट्ठे खिचकर आ गये। अगर लोहा भी आदमी

हो तो वह भी यह मानने को तैयार नहीं होगा, वह भी कहेगा-- कितने-कितने चुंबकों के पास मैं गया, कितने-कितने चुंबकों के पास मैंने यात्रा की, वह भी अपनी डायरी रखेगा। यह तो हम जानते हैं कि वहाँ न तो कोई खींच रहा है, न कोई खींचा जा रहा है। चुंबक का स्वभाव है, उसका स्वभाव-क्षेत्र है, उसका एक 'फील्ड' है-- 'मैग्नेटिक फील्ड' है, वह उसका स्वभाव है। वह उसका स्वभाव ही है जैसा कि लोहे का एक स्वभाव है। उसका भी एक अपना 'फील्ड' है। उन दोनों फील्डों के बीच जो घटना घटती है वह खिंचाव है। उसमें कर्ता कोई भी नहीं है। उसमें कर्ता कोई भी नहीं है। अगर एक स्त्री एक पुरुष के प्रति आकर्षित हो जाती है तो यह वैसा ही 'मैग्नेटिक फील्ड' है। अगर एक पुरुष एक स्त्री के प्रति आकर्षित हो जाता है, तो यह वैसा ही 'मैग्नेटिक फील्ड' है। यह घटना वैसी ही चुंबकीय है।

लेकिन आप कहेंगे कि एक लोहा एक खाश चुंबकके पास आकर्षित क्यों होता है? एक पुरुष एक खाश स्त्री के प्रति आकर्षित क्यों होता है? एक स्त्री एक खाश पुरुष के प्रति आकर्षित क्यों होती है? अगर इसकी भी गहराई में उतरना शुरू करें तो आपको पता चलेगा कि यह भी स्वभावगत है।

अभी पश्चिम में जुंग ने इस संबंध में बहुत काम किया और जुंग ने इस बात की खोज की कि हर पुरुष के भीतर जन्म के साथ ही स्त्री की एक प्रतिमा है, एक छिपी हुई स्त्री है। एक रूप है स्त्री का। हर स्त्री के भीतर पुरुष की एक प्रतिमा है, एक छिपा हुआ रूप है पुरुष का। और जब कोई पुरुष किसी स्त्री के प्रति आकर्षित होता है तो उसका कुल कारण इतना होता है कि इस स्त्री का रूप उसके भीतर की छिपी हुई स्त्री के रूप से मेल खाता है। और जब कोई स्त्री किसी पुरुष के प्रति आकर्षित होती है तो उसका इतना ही मतलब होता है कि उस स्त्री के भीतर का पुरुष, छिपा हुआ पुरुषतत्त्व इस पुरुष से किसी तरह का मेल खाता है। यह मेल खींचता है।

भूलकर मत कहना कि मैंने प्रेम किया। प्रेम कोई कर्म नहीं है। यह वही चुंबक की भूल है, जो कहे कि मैंने लोहे को खींचा। यह लोहे की भूल है कि मैं गया। लेकिन हम इसमें भी कर्ता बन जाते हैं। प्रेम और घृणा और क्रोध, सब श्वाँस की तरह चलते हैं।

अगर यह जीवन हमें श्वाँस की तरह चलता हुआ दिखायी पड़ने लगे, तो जिसको यह दिखायी पड़ेगा वह साक्षी है। जिसको यह सारा-का-सारा प्रपंच चारों तरफ होता हुआ दिखायी पड़ेगा और इसके बीच में जो खड़ा होकर जान रहा है, देख रहा है---इस सारे खेल को--इस सारे खेल में कहीं भी 'मैं' का भाव नहीं जोड़

रहा है, सिर्फ मैं के भाव के बाहर खड़े होकर सिर्फ जान रहा है, सिर्फ ज्ञाता है, सिर्फ साक्षी है, तो हमने अपने भीतर इस बिंदु को पा लिया, जो बिंदु इस संसार का हिस्सा नहीं है।

कर्ता इस संसार का हिस्सा है। साक्षी इस संसार के बाहर हो गया।

स्वप्न हो, चाहे जाग्रत, चाहे सुषुप्ति, तीनों ही स्थितियों में जो सदा ही साक्षी है, वही चिन्मय और अद्भुत साक्षी मैं हूँ। यह जो साक्षी है, इसका गुण है चिन्मयता। इसका गुण है चैतन्य। मात्र चैतन्य इसका गुण है। चैतन्य का अर्थ हुआ कि मात्र जानना इसका गुण है। जैसे दर्पण का गुण है कि चीजें उसके सामने आएँ तो प्रतिबिंब बन जाए। ऐसे ही इस साक्षी का गुण है कि जो भी इसके सामने आए, उसे यह जान ले। बस जानना इसका गुण है।

ऐसा ख्याल करें, फोटो खींचने वाला कैमरा है, तो उसके भीतर की 'प्लेट' भी प्रतिबिंब बनाती है। वैसे ही जैसे दर्पण बनाता है। लेकिन दर्पण में, 'फोटो-प्लेट' में एक फर्क है। 'प्लेट' जो प्रतिबिंब बनाती है उसे बनाती ही नहीं, पकड़ भी लेती है। दर्पण भी प्रतिबिंब बनाता है लेकिन पकड़ता नहीं। आप हटे और प्रतिबिंब भी हट जाता है और दर्पण खाली, शून्य और शांत हो जाता है।

इसका यह भी मतलब हुआ कि जब 'फोटो-प्लेट' पकड़ती है, तो ऐसा नहीं है कि जब आपका चित्र बनता है उसके बाद में पकड़ती है, बनता ही नहीं, बनता ही है और पकड़ जाता है। और दर्पण जब आप हटते हैं तभी खाली होता है ऐसा नहीं, जब आप सामने होते हैं, प्रतिबिंब भी बनता होता है तो भी दर्पण खाली होता है। नहीं तो आपके हटने से खाली नहीं हो जाएगा।

'फोटो-प्लेट' की तरह है कर्ता का भाव। जो कुछ भी करते हैं, फौरन पकड़ लेते हैं, जकड़ जाते हैं। दर्पण की तरह है साक्षी का भाव। होता है सब, दर्पण पर बनता है, खबर मिलती है, प्रतिफलन होता है, बोध होता है, पकड़ता कुछ भी नहीं। 'फोटो-प्लेट' और चित्र के बीच जो पकड़ने की घटना बनती है उन्हीं सब घटनाओं के जोड़ का नाम 'मैं' हैं। सब घटनाओं के जोड़ का नाम। जितनी-जितनी घटनाएँ 'फोटो-प्लेट' ने पकड़ी हैं, उन सबके जोड़ का नाम 'मैं' है। दर्पण के साथ 'मैं' नहीं बन सकता, क्योंकि जोड़ना असंभव है। एक चीज हटती है, दर्पण खाली हो जाता है; दूसरी चीज आती है, हटती है, दर्पण खाली होता चला जाता है। दर्पण के पास कोई संपदा नहीं है जिसको जोड़कर वह 'मैं' का भाव बना सके।

साक्षी में 'मैं' निर्मित नहीं होता। इसलिए आपको जिस दिन साक्षी का अनुभव शुरू होगा उस दिन 'मैं' का अनुभव समाप्त हो जाएगा। या इसे ऐसा

समझें कि 'मैं' का अनुभव अगर समाप्त कर दें, तो साक्षी का अनुभव शुरू हो जाएगा। जब तक मैं निर्मित होता है, तब तक जानना कि कर्ता का काम जारी है और साक्षी से अभी कोई संबंध नहीं हुआ है।

बुद्ध जैसा व्यक्ति जब जमीन पर घूमता है तो वह दर्पण की तरह है। दर्पण, चलता हुआ। सब दिखायी पड़ता है, सब घटित होता है, सबका प्रतिफलन बनता है, लेकिन कुछ पकड़ता नहीं। पकड़ने से ही हमारे मन की सारी बोझ-अवस्था निर्मित होती है।

इसे थोड़ा ऐसा समझें, राह से आप चल रहे हों, किनारे पर खिला हुआ फूल दिखायी पड़ा, सुंदर है, अनुभव हुआ; सुगंधित है, जाना; फिर आप आगे बढ़ गये; आप आगे बढ़ गये, फूल पीछे छूट गया, लेकिन आपके मन में अनुगूंज फूल की अभी भी चलती है। यह अनुगूंज बताती है कि 'फोटो-प्लेट' हैं आप, आप दर्पण नहीं। दर्पण होते, फूल छूट गया, आप हट गये, बात समाप्त हो गयी, दर्पण खाली हो गया। एक सुंदर स्त्री दिखायी पड़ी, अगर दर्पण हों आप, तो भी दिखायी पड़ेगी। सुंदर है, यह भी दिखायी पड़ेगा। लेकिन दर्पण हैं आप। स्त्री चली गयी, दर्पण खाली हो गया। एक सुंदर भवन दिखायी पड़ा। सुंदर है, दिखायी पड़ेगा। हट गया, समाप्त हो गया। आप फिर निर्मल और खाली हो गये। प्रतिपल साक्षी शुद्ध होता है, प्रतिपल। इसलिए साक्षी किसी तरह का कर्मबंध इकट्ठा कर नहीं सकता। क्योंकि साक्षी किसी चीज को जकड़ता ही नहीं, बँधता ही नहीं। बस गुजरता चला जाता है। जिंदगी साक्षी भोगता नहीं, देखता है। जिंदगी में साक्षी फँसता नहीं, गुजरता है।

कबीर ने कहा है--'ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया'। वह साक्षी के लिए कहा है। जैसी दी थी परमात्मा ने जिंदगी, वैसी-की-वैसी वापिस रख दी। उस पर दाग नहीं पड़ने दिया। दाग कर्ता का। और सच तो यह है कि हम जैसे कर्ता की तरह जीते हैं, उसमें चदरिया तो लौटती नहीं, दाग ही दाग लौटते हैं। फिर खोजना मुश्किल है कि चदरिया कहाँ है। दाग ही दाग रह जाते हैं। इतनी छपाई हो जाती है। छपाई पर छपाई हो जाती है। चदरिया तो खो जाती है, दागों का एक संग्रह रह जाता है।

लेकिन साक्षी भाव से गुजरा हुआ आदमी. . . .रिंझाई ने कहा है अपने शिष्यों से, मरते वक्त, कि एक ही सूत्र तुम्हें कहे जाता हूँ--पानी से गुजरना तो, लेकिन तुम्हारे पैर न भींगें। पानी से गुजरियेगा तो पैर हम कहेंगे भींग ही जाएँगे। लेकिन साक्षी के नहीं भींगते। क्योंकि साक्षी इन पैरों को अपना पैर ही नहीं मानता। साक्षी तो यह भी देखता है कि पानी से गुजरा रहा है, अगर रिंझाई है तो रिंझाई देखता है कि रिंझाई पानी से गुजर रहा है, रिंझाई के पैर भींग रहे हैं, लेकिन मेरे! मेरे तो पैर नहीं

भींग रहे हैं, क्योंकि मैं पानी से गुजर ही कहाँ रहा हूँ ! पानी भी है, पैर भी हैं, गुजरने वाला भी है और एक देखने वाला भी है। वह देखनेवाला अस्पर्शित रह जाता है, अछूता रह जाता है।

वह अछूतापन जो है, वही अगर ठीक से समझें—वही जीवन की गहनतम, जीवन की आत्यंतिक आधारशीला है। वैसा व्यक्ति सदा ही कुंवारा है, अछूत है। फूल की पखड़ियों पर भी धूल बैठ जाती होगी, उसपर धूल नहीं बैठती। क्योंकि धूल जिस कारण से बैठती है, वह कारण विर्सजित कर दिया गया है। तादात्म्य, कर्ता का भाव विर्सजित कर दिया गया है। हम पर तो हर चीज की धूल बैठ जाती है। और ऐसी धूल ही नहीं बैठ जाती जिसमें कारण हो, अकारण-धूल भी बैठ जाती है। राह से गुजर रहे हैं, कोई एक फिल्म की कड़ी गुनगुना रहा है, वह आदमी भी चला गया, वह फिल्म की कड़ी भी चली गयी, आप गुनगुना रहे हैं अब उसे। इस तरह धूल बैठ जाती है। अब आप उसको गुनगुनाए जा रहे हैं। और जरा कोशिश करिये उसको रोकने की तो मन इन्कार कर देगा। वह कहेगा, गुनगुनाएँगे। जितना रोकेंगे उतना ज्यादा गुनगुनाएँगे। रोकने की कोशिश की तो पता चलेगा पराजित हो गये।

यहाँ एक बात और ख्याल में लेनी चाहिए—जो लोग कर्ता भाव से जीते हैं, अगर वे धार्मिक भी हो जाएँ तो भी उनका कर्ता भाव नहीं जाता है। वे वहाँ भी कर्तापन लगाए रखते हैं। वे कहते हैं—पहले वे कहते थे हमने महल बनाया, अब वे कहते हैं हमने त्याग किया। इसे थोड़ा ठीक से ले लेंगे—

अगर कर्तापन जारी रहे, तो धर्म में प्रवेश नहीं होता। लेकिन हम जिन धार्मिकों को आमतौर से जानते हैं वे धार्मिक संसार में तो कर्ता थे ही, धर्म में भी कर्ता रहते हैं। वे कहते हैं कि पहले भोग भोगा, अब त्याग किया। लेकिन करना जारी रहता है। वे कहते हैं पहले महल में रहते थे, महल बनाया, अब आश्रम में रहते हैं, आश्रम बनाया। पहले वस्त्र पहनते थे, अब नग्न रहते हैं। लेकिन कर्ता का भाव जारी रहता है। धार्मिक व्यक्ति वह है, संन्यस्त वह है, संन्यासी वह है, जो कर्ता के भाव से नहीं जीता, चाहे महल में जीता हो, चाहे झोंपड़े में जीता हो, चाहे नग्न रहता हो और चाहे लाखों के वस्त्र पहनता हो। एक बात ही उसका गुण है कि वह कर्ता के भाव से नहीं जीता। वह साक्षी के भाव से जीता है।

डायोज़नीज़ के संबंध में मैंने सुना है कि वह गाँव के बाहर एक टीन के पोंगरे में पड़ा रहता था। टीन का पोंगरा था, गाँव के बाहर था, आवारा कुत्ते भी उसमें आकर सो जाते थे। डायोज़नीज़ भी उसमें सोया रहता था। नग्न फकीर था, न उसके पास कोई घर था, न कोई झोपड़ा था। वह यह टीन का पोंगरा

गाँव के बाहर पड़ा था बेकार कचराघर का जिसमें लोग कचरा फेंकते थे, खराब हो गया था, गाँव के बाहर फेंक दिया था, वह उसीमें घुसकर सो जाता था। आवारा कुत्ते भी उसमें सोते थे। कभी-कभी डायोज़नीज़ के दूर-दूर से शिष्य भी आ जाते थे, उसको पूछने, कुछ ताछने।

तो अनेक बार शिष्य कहते थे—इन कुत्तों को भगा क्यों नहीं देते? तो डायोज़नीज़ कहता था कौन भगाए? डायोज़नीज़ भी सोया रहता है, ये लोग भी सोये रहते हैं। रही अपनी बात, तो वहाँ तो सोना ही कहाँ है! डायोजनीज भी सोया रहता है, कुत्ते भी सोये रहते हैं, रही अपनी बात, तो वहाँ तो सोना ही कहाँ है, वहाँ तो जाग गये सो जाग गये!

यह जो जिसकी बात डायोजनीज कर रहा है, यह साक्षी है। वहाँ कोई सोना नहीं है, जाग गयें, जाग गये अब डायोजनीज भी सोया रहता है, कुत्ते भी सोए रहते हैं। डायोजनीज से भी उतना ही फासला है अब, जितना कुत्तों से।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

जब तक आपका अपने से उतना ही फासला नहीं है जितना दूसरे से है, तब तक आप साक्षीभाव को उपलब्ध नहीं हो सकते। अगर आपको दूसरे से ज्यादा फासला है और अपने से कम फासला है, तो आप कर्ताभाव में बँधे रहेंगे। आपका ठीक-ठीक उतना ही फासला अपने से हो जाना चाहिए जितना दूसरे से है। बस उसी क्षण, उसी क्षण डायोजनीज भी सोया रहता है, कुत्ते भी सोए रहते हैं और डायोजनीज के भीतर जो है वह जागा ही हुआ है, वह देखता ही रहता है।

तो डायोजनीज ने कहा, भगाए कौन? किसको भगाए और क्यों भगाए?

यह जो तटस्थता है, यह जो दूरी है, अपने से ही, यह दूरी ही साक्षी है।

चिन्मय उसका स्वरूप है। बस एक ही लक्षण उसका कहा जा सकता है—चिन्मय। चैतन्य, 'कांसियसनेस'। इसका, इसका अर्थ गहरा है लेकिन। क्योंकि अगर चिन्मय उसका स्वरूप है तो उसका अर्थ हुआ कि वह कभी चिन्मय-शून्य नहीं हो सकता। कभी अचेतन नहीं हो सकता। चेतना अगर उसका गुणधर्म ही है, जैसे आग अगर गर्म है यह उसका गुणधर्म है, तो फिर आग ठंडी नहीं हो सकती। और अगर ठंडी हो जाती है और आग बनी रहती है, तो फिर यह गरम होना उसका गुणधर्म न रहा। स्वभाव का अर्थ है जिससे कभी च्युत नहीं हुआ जा सकता।

अगर इस भीतर छिपे हुए रहस्य का स्वभाव ही चैतन्य है तो फिर हम सो कैसे गये? फिर हम बेहोश क्यों हैं? फिर हम अचेतन क्यों हैं?

यह बड़ा महत्त्वपूर्ण सवाल है जो सदियों-सदियों में पूछा गया है और खोजा गया है, कि अगर यह सच है कि भीतर छिपी हुई आत्मा ज्ञान है, ज्ञान उसका स्वधर्म

है, तो फिर यह अज्ञान घटित कैसे हुआ है? और यह संगत है सवाल। अगर मेरा स्वभाव ही शाश्वतता है, तो फिर यह मृत्यु घटित कैसे होती है? फिर मैं मरता कैसे हूँ? अगर मेरा स्वभाव ही स्वास्थ्य है, तो यह बीमारी आती कैसे है? और अगर मेरे भीतर यह शुद्ध-बुद्ध परमात्मा छिपा है, तो फिर मैं बुरा कैसे हो जाता हूँ?

दो ही बातें हो सकती हैं। या तो यह मेरा स्वभाव न हो। यह मेरा स्वभाव न हो, सिर्फ सांयोगिक गुण हो। तो यह हो सकता है। लेकिन अगर यह स्वभाव नहीं है, तो एक खतरा होता है और खतरा वह यह है कि अगर यह स्वभाव नहीं है, यह चेतना सिर्फ सांयोगिक गुण है, तो फिर इसे पाने और खोजने की जरूरत भी क्या है, और पाकर भी जो सांयोगिक है वह कभी स्वभाव नहीं बन सकता। इसलिए भारत में तो एक बहुत अनूठी चिंतनधारा चली, अनेक भारत में ऐसे विचारक हुए हैं, गहन विचारक, जिन्होंने कहा कि परम अवस्था में चैतन्य रह नहीं जाएगा। मोक्ष में चेतना नहीं रह जाएगी। क्योंकि उन्होंने कहा कि चेतना जो है और अचेतना जो है, ये सब सांयोगिक गुण हैं।

मगर यह तो बड़ी अजीब बात है। अगर मोक्ष में चेतना ही न रह जाए, तो मुक्ति किसकी? अगर होश ही न रह जाए, तो उससे तो यह बेहोशी बेहतर। कम-से-कम थोड़ी चेतना तो है। परतंत्रता है माना, लेकिन होश तो है! स्वतंत्रता पूरी हो जाए और बेहोशी हो जाए, तो बेमानी है। लेकिन उन विचारकों की तकलीफ यही थी कि वह यह समझाने में असमर्थ हुए कि अगर चेतना का स्वभाव चैतन्य है, तो फिर आदमी बेहोश क्यों है? फिर आदमी सोया हुआ क्यों है? अगर जागा हुआ होना उसका भीतरी गुण है, तो यह नींद कहाँ से घटित होती है?

लेकिन न समझा पाने के कारण विपरीत को मान लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। समझाया जा सकता है। लेकिन कठिनाई तब खड़ी होती है जब कि कोई सिर्फ विचार से चलता है, तो अड़चन आ जाती है। जब कोई साधना से चलता है तो अड़चन नहीं आती। क्योंकि तब चीजें दिखायी भी पड़नी शुरू होती हैं। चेतना तो सदा ही चेतन है। दर्पण तो सदा ही दर्पण है। लेकिन कोई चीज आच्छादित हो सकती है। और आच्छादित होने में चेतना का जो दर्पण होना स्वभाव है वही कारण बनेगा। कोई भी चीज उसमें आच्छादित होकर प्रतिबिंबित हो सकती है। चैतन्य तो उसका स्वभाव है, लेकिन चेतना में कोई भी चीज प्रतिफलित होती है, और जो प्रतिफलित होती है उसको स्वयं मान लेने की भ्रांति चेतना कर सकती है। इससे चैतन्य का कोई विरोध नहीं है।

तो पुराना जो उदाहरण है, वह है नीलमणि का। नीलमणि को अगर पानी

में डाल दें तो, पुराने शास्त्रों में उदाहरण दिया है, कि पूरा पानी नीला दिखायी पड़ने लगता है। होता नहीं नीला। लेकिन नीलमणि को डाल देने से उसकी आभा पूरे पानी पर आ जाती है और पूरा पानी नीला दिखायी पड़ने लगता है। यह जो दिखायी पड़ना है इसका नीला, यह होना नहीं है।

तो फिर साधक ने एक नया वर्ग निर्मित किया, उसने कहा कि कुछ चीजें जो दिखायी पड़ती हैं, जरूरी नहीं कि हों। और कुछ चीजें जो होती हैं, जरूरी नहीं कि दिखायी पड़ें। कई बार चीजें होती हैं और दिखायी नहीं पड़तीं। और कई बार चीजें दिखायी पड़ती हैं और होतीं नहीं।

तो चेतना का मूर्छित होना मूर्छित दिखायी पड़ना है। चेतना का सो जाना चेतना का सोया हुआ दिखायी पड़ना है। इसलिए एक मजे की बात फकीरों ने कही है--कबीर ने भी कही है, फरीद ने भी कही है, और फकीरों ने भी कही है--कि अगर कोई आदमी सच में ही सोया हो तो उसे जगाना बहुत आसान है। लेकिन कोई बनकर सोया हो, तो जगाना बहुत मुश्किल है। लेकिन बनकर सोया जा सकता है। यह मजे की बात है, बनकर सोया जा सकता है। और बनकर अगर कोई सोया हो, तो उठाना बहुत मुश्किल है।

शायद हम उठ नहीं पाते हैं इतनी चेष्टा के बाद भी, उसका मौलिक कारण यह है कि हम सोए हुए कम, बनकर सोए हुए ज्यादा हैं। खैर . . . इसीलिए इतनी चेष्टा चलती है! कितने बुद्ध, कितने महावीर, कितने जीसस, कितने जरथुस्त्र चेष्टा करते रहते हैं जगाने की, लेकिन आदमी है कि करवट बदल कर फिर अपनी चादर ओढ़ कर सो जाता है। पहली दफे से और अच्छी तरह से, ढंग से सो जाता है। अस्त-व्यस्त हो गया होगा थोड़ा नींद में, चादर उघड़ गयी होगी, कहीं पैर उघड़ गया होगा, कहीं सिर से तकिया उठ गया होगा, तो महावीर-बुद्ध की कृपा से इतना होता है कि करवट बदलकर, तकिये को ठीक करके, बिस्तर को सँभालकर, चादर को ठीक से ओढ़कर सो जाएगा!

यह जो आदमी है, यह सोया हुआ नहीं है। यह सोया हुआ-सा है। यह अपने ही कारण . . . .

. . . . मैं एक गाँव में था। एक मित्र मुझे मिलने आए। कुछ कुछ आधी ही बात हुई होगी और अधूरी ही बात में था कि वे एकदम अचानक उठकर खड़े हो गये। और उन्होंने कहा कि क्षमा करें, मैं और ज्यादा आपकी बात नहीं सुनना चाहता। तो मैंने पूछा कि न मैं कभी आपको . . . पहले आपके घर गया नहीं था, आप ही आए थे, मैंने बात शुरू भी नहीं की थी, आपने ही कुछ पूछा था। उन्होंने कहा मैं ही आया था और मैंने ही पूछा था और मैं ही आपसे कहता हूँ कि बस आप

रुक जाएँ, मैं और सुनना नहीं चाहता; अभी मेरे छोटे-छोटे बच्चे हैं ! मैंने कहा मेरी बात क्या अर्थ रखती है, छोटे बच्चों का क्या संबंध ? तो उन्होंने कहा घर-गृहस्थी बिल्कुल कच्ची है । आऊँगा एक दिन आपके पास, लेकिन अभी नहीं । अभी वह वक्त नहीं आया ।

मैंने जाने दिया । और उनकी पीड़ा वास्तविक है । और मैंने जाना कि वह आदमी ईमानदार है । वह उन आदमियों में से था, जो जँच जाए तो फिर करवट बदलकर सो नहीं सकते । उसने पहले ही इनकार कर दिया कि यह बातचीत करनी ही नहीं है । आऊँगा एक दिन, अभी वह वक्त नहीं आया । अभी मैं जैसा हूँ, रहने दें । जैसा हूँ, सोया रहने दें ।

एक बात उस आदमी को साफ ख्याल में आ गयी कि यह सोया होना उसका चुनाव है । उसने चुना है । इसे आप ठीक से समझ लें । अगर सोया हुआ होना आपने चुना नहीं है, तो आप जागना भी चुन नहीं सकते । अगर सोया होना आपकी मजबूरी है तो जागना फिर आपके हाथ में नहीं हो सकता । फिर जिसने आपको सुलाया होगा, वही जाने । अगर आप ही सो गये हैं, तो ही आप जाग सकते हैं । और चूंकि हम जानते हैं कि लोग जाग जाते हैं, इसलिए हम दूसरी बात भी कह सकते हैं कि लोग अपनी तरफ से सोए हुए हैं । चेष्टा करने से आदमी जाग जाता है । यह साफ है बात कि चेष्टा करने से आदमी सोया है ।

क्या है चेष्टा हमारे सो जाने की ? क्या है रस ? रस तो होगा ही अन्यथा हम सोएँगे क्यों ? रस कुछ होगा । रस कुछ है । वह रस क्या है ?

आदमी चैतन्य है । चैतन्य होने के कारण उसके पास दृष्टि है, प्रकाश है, बोध है । यह बोध जैसे ही उसके पास है वह चीजों पर पड़ता है, वस्तुओं पर पड़ता है, लोगों पर पड़ता है । एक दीया हम जलाएँ । तो दीया जलते ही करेगा क्या ? दीया प्रकाश है, तत्क्षण चीजों को प्रकाशित करेगा । और क्या करेगा ! कमरे में अँधेरा था, कुछ दिखायी नहीं पड़ता था, दीया जला, भभककर लपट बनी, तत्काल पूरा कमरा आलोकित हो गया । अगर दीये को चेतना भी हो, तो दीये को अपनी ज्योति दिखायी नहीं पड़ेगी । अगर चेतना हो, तो दिखायी पड़ेगा कमरे में क्या-क्या रखा है ? दीवाल है, सोफा है, कुर्सियाँ हैं, तस्वीरें हैं, तिजोड़ी है, सब कुछ दिखायी पड़ेगा, सिर्फ एक चीज दिखायी नहीं पड़ेगी—वह जो ज्योति है, वह दिखायी नहीं पड़ेगी ।

दीये को ज्योति कैसे दिखायी पड़ेगी ? दीया अगर होश से भर जाए, अचानक दीये में आत्मा आ जाए, तो क्या होगा ? कमरा दिखायी पड़ेगा, जो-जो प्रकाशित हो रहा है वह-वह दिखायी पड़ेगा, और उसी दिखायी पड़ने से वासना का जन्म

होगा । दस तस्वीरें लगी हैं, अगर दीया सजग हो जाए तो जो तस्वीर उसे प्यारी लगती है वह चाहेगा कि मुझे मिल जाए; न भी मिले तो कम-से-कम मैं उसके निकट पहुँच जाऊँ, और पास, और पास, और पास... । दिखें चारों तरफ गिजरियाँ रखी हैं, दीया सरकने लगेगा, कोशिश करने लगेगा, पास जाने लगेगा । और आदमी की चेतना का दीया जिस प्रकाश को फैलाता है, वह इस पूरे ब्रह्मांड पर पड़ता है । अनंत-अनंत वासनाएँ पैदा हो जाती हैं । अनंत वासनाएँ पाने की, सोचने की होने की । और एक बात भूल जाती है, जो स्वभाविक है, कि जो देख रहा है, जान रहा है, प्रकाशित कर रहा है, उसका विस्मरण हो जाता है । यही निद्रा है ।

और जब यह भागती है चेतना की ज्योति, चीजों को पाती है, पा लेती है, इकट्ठा कर लेती है, तो अहंकार जन्मता है कि मैंने यह-यह पा लिया, यह-यह इकट्ठा कर लिया, तो फिर कर्ता निर्मित होता है । इसका मतलब हुआ बोध से वासना जगती है, वासना की सफलता से कर्ता निर्मित होता है, 'मैं' में गहरी पर्त-दर-पर्त बढ़ती चली जाती है ।

इसका यह कारण नहीं है कि चेतना का स्वभाव चैतन्य नहीं है । चैतन्य है स्वभाव, इसीलिए यह सब घटित हो रहा है । अगर चेतना में ज्योति न होती, चेतना न होती तो कुछ भी घटित न होता । पत्थर में कहीं वासना जगती है । पत्थर पड़ा है जहाँ का तहाँ, बिलकुल सिद्ध आवस्था में रहता है । कोई वासना की लहर नहीं उठती है । इसलिए तो हम उसे जड़ कहते हैं । अगर जड़ और चेतना का ठीक से अर्थ समझें, तो जहाँ-जहाँ वासना उठती है वहीं-वहीं चैतन्य है । और जहाँ-जहाँ वासना नहीं उठती वहीं जड़ है । फिर वासना को भी अगर ठीक से समझें, तो पशुओं में उतनी तीव्रता से नहीं उठती जितनी मनुष्यों में उठती है । भभक कर उठती है । तो वासना जितनी भभक कर उठती है, चैतन्य उतना ज्यादा है । इसलिए भभक कर उठती है ।

चैतन्य जितना बढ़ता जाता है, वासना उतनी भभक कर उठती है । इसलिए आदमी जितना विकसित हो रहा है, समय में, इतिहास में, उतनी तीव्र वासना की भभक है । इससे घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं है । बेचैन होने की कोई जरूरत नहीं है । यह सिर्फ खबर दे रही है कि चेतना का प्रकाश और चीजों पर भी पड़ रहा है, जिस पर कल नहीं पड़ रहा था । अब उनकी भी वासना है । अब चाँद पर भी पहुँचने की वासना है । अब मंगल पर भी पहुँचने की वासना है । जहाँ-जहाँ मनुष्य की चेतना का प्रकाश पहुँचेगा, वहाँ-वहाँ होने की वासना जगेगी ।

आज हम सोच ही नहीं सकते, अभी हमारे मन में यह खयाल भी नहीं उठता

कि चाँद पर नहीं गये तो जिंदगी बेकार है। लेकिन पच्चीस साल में उठेगा। पच्चीस साल में हमारे बच्चे जब चाँद पर हो आएँगे उनकी जिंदगी सार्थक मालूम पड़ेगी। जो नहीं जा पाएँगे, वे सिर पीटेंगे। कि बेकार है, जिंदगी में कोई सार ही नहीं है, चाँद पर तो अभी तक गये ही नहीं।

चाँद भी विषय बन जाएगा वासना का। चेतना की भभक और बढ़ गयी। चेतना जहाँ-जहाँ देखेगी, जितनी दूर तक देख पाएगी, उतना ही चाहेगी, माँगेगी, दौड़ेगी, भागेगी। और उतना ही अपने को भूलती जाएगी। जितना दूर जाएगी, उतना ही अपने को भूलती जाएगी।

इसीलिए, मैं कहता हूँ कि चेतना का विकास हुआ है मनुष्य के इतिहास में, क्रमशः। आज चेतना अतीत से ज्यादा विकसित है। लेकिन वासना भी अतीत से ज्यादा विकसित है। और एक मजे की बात, जितना दूर की चीज की कामना होगी उतना ही मैं अपने को ज्यादा विस्मरण कर जाऊँगा। इसलिए अतीत में जितना अपने पर लौटना आसान था, उतना आज अपने पर लौटना आसान नहीं है।

दूरी हमारे वासना के विषयों की बड़ी है। इतना फासला है उन तक जाने में कि लौटना मुश्किल होता चला जाता है। इसलिए अतीत में धर्म आसान था। आज धर्म मुश्किल है।

लेकिन एक और बात ख्याल में ले लेनी चाहिए। अतीत का आदमी आसानी से धार्मिक हो जाता था, लेकिन उसके धार्मिक होने का जो विस्फोट था वह इतना बड़ा नहीं हो सकता था जितना आज हो सकता है। जितनी दूर से भटक कर राही लौटेगा घर, उतना बड़ा विस्फोट भी होगा।

तो सभी चीजों के लाभ हैं, हानियाँ हैं। चेतना भभककर बड़ी होगी, वासना भी बड़ी हो जाएगी। वासना बड़ी होगी, धर्म पर लौटना मुश्किल हो जाएगा। लेकिन अगर लौटना होगा, तो गहराई बढ़ जाएगी।

क्या करें? जब वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं, वासना होती है, कर्ता निर्मित हो जाता है। अपने पर लौटने के लिए क्या करें? वस्तुओं पर जाने के लिए क्या करते हैं? वस्तुओं पर जाने का एक ही उपाय है कि वस्तुएँ दिखायी पड़ें। अपने पर आने का भी एक ही उपाय है कि यह चेतना जो दूसरों को देखती है, यह प्रकाश जो दूसरों को प्रकाशित करता है, यह दूसरों से मोड़ा जाए, वापिस, अपने पर, ताकि यह स्वयं को भी देख सके। यह स्वयं पर लौटते हुए प्रकाश का नाम ही ध्यान है। वस्तुओं को देखते हुए प्रकाश का नाम ज्ञान है। स्वयं पर लौटते हुए प्रकाश का नाम ध्यान है। और जब अपने पर लौट आता है यही प्रकाश जिससे सारा जगत

प्रकाशित होता है, जिस दिन हम स्वयं इससे प्रकाशित हो जाते हैं, जब यह चेतना की लौ अन्य को ही नहीं स्वयं को भी प्रकाशित कर देती है, तो, तो जो अनुभव आता है वह साक्षी का अनुभव है। बाकी सब अनुभव कर्ता के अनुभव हैं।

इस साक्षी को अद्‌भुत भी कहा। अद्‌भुत इसीलिए कहा कि जो यह नहीं है वैसा भी होता हुआ मालूम पड़ता है। यही 'स्ट्रेंज' है। अज्ञानी यह नहीं है, अज्ञानी होता हुआ मालूम पड़ता है। सो यह नहीं सकता है, लेकिन सोया-सा हो सकता है। यह कभी स्वयं से च्युत नहीं हो सकता है, लेकिन फिर भी भटक सकता है। यह स्वयं को कभी खो नहीं सकता है, लेकिन फिर भी भूल सकता है! इसलिए कहा कि चिन्मय और अद्‌भुत साक्षी मैं ही हूँ।

'मैं ही वह अद्वैत ब्रह्म हूँ। मुझमें ही सब कुछ उत्पन्न होता है। मुझमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित रहता और मुझमें ही सबका लय हो जाता है।' यह जो मेरे भीतर छिपा हुआ साक्षी है, इसको पाकर ही मैं उस मौलिक आधार को पा लेता हूँ, जिससे सबका जन्म, सबका स्थिर होना और सबका खो जाना है। उस मौलिक अस्तित्व का अनुभव इस साक्षी के द्वार से होता है।

अंतिम बात। कर्ता के द्वार से चलें तो संसार मिलता है। साक्षी के द्वार से चलें तो परमात्मा मिलता है। और साक्षी और कर्ता के द्वार दो द्वार नहीं हैं। एक ही द्वार पर लगी हुई दो तख्तियाँ हैं। हर द्वार पर होती हैं। बाहर दरवाजे पर लिखा होता है 'इन'—भीतर जाने के लिए। भीतर लिखा होता है 'आउट'—बाहर जाने के लिए। दरवाजा एक ही है। भीतर से जिसे जाना है उसके लिए बाहर का है, बाहर से जिसे आना है उसके लिए भीतर का है।

चेतना जब वस्तुओं की तरफ जाती है, तो वह कर्ता है। और चेतना जब वस्तुओं की तरफ से वापिस अपनी तरफ आती है, तो यह साक्षी है। सिर्फ दिशाएँ भिन्न हैं, द्वार एक ही है। वस्तुओं पर जाती है तो संसार है—अनंत। स्वयं पर आती है तो परमात्मा है—अनंत।

इतना ही। अब हम रात के ध्यान के प्रयोग के लिए तैयार हों।

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम् ।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ।। २० ।।

मैं छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा हूँ । इस विचित्र संसार को मेरा ही रूप मानना चाहिए । मैं ही पुरातन पुरुष हूँ, जो सबका आधार है । मैं ही शिव का रूप हूँ और मैं ही हिरण्यमय हूँ ।। २० ।।

चौदहवाँ प्रवचन; माउंट आबू, १ अप्रैल १९७२, प्रातः
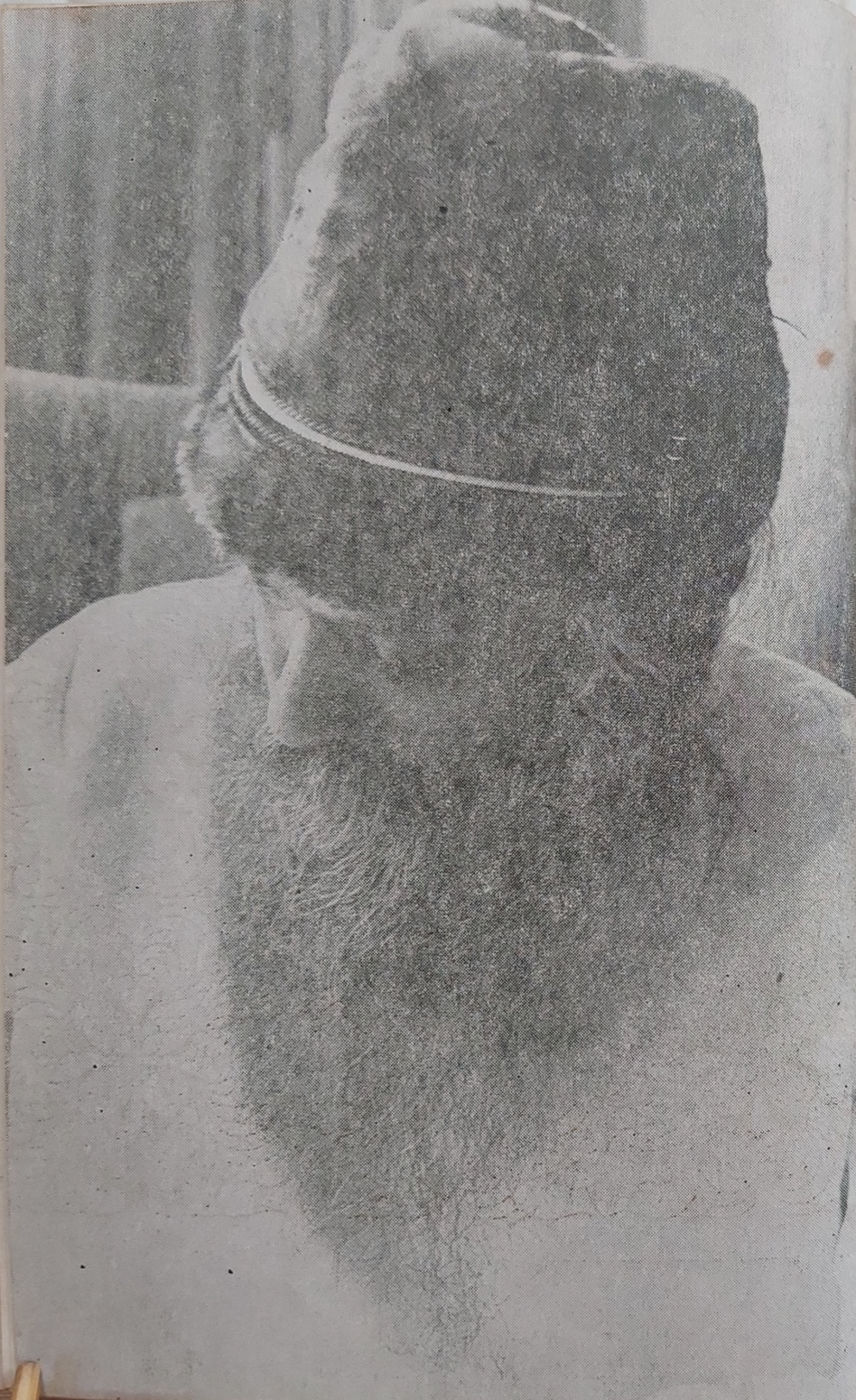
तर्क से पार है द्वार प्रभु में

जीवन खंडों में विमाजित नहीं है। अखंड है। खंडों में विभाजित दिखायी पड़ता है तो भी अखंड है। बहुत तरह के खंड दिखायी पड़ते हैं, लेकिन सभी खंड मूल आधार में संयुक्त हैं और इकट्ठे हैं। अन्यथा जगत के होने की संभावना ही नहीं है। अस्तित्व के होने की संभावना ही नहीं है। अस्तित्व बिखर जाए, अगर खंडों में हो। अस्तित्व बिखरता नहीं क्योंकि खंडों में बँटा हुआ नहीं है, अखंड है।

इसे हम ऐसे समझें। मेरा हाथ है, एक खंड है; मेरी आँख है, एक खंड है; मेरे पैर हैं, एक खंड है; लेकिन मैं अखंड हूँ। और मेरी आँख और मेरा हाथ गहरे में जुड़ा है, संयुक्त है। मेरी आँख देखती है और मेरा हाथ चीज को उठाने को बढ़ेगा। मेरी आँख देखती है सड़क पर साँप को और मेरा पैर छलाँग लगा लेता है। फिर भी पैर अलग है, पैर देख नहीं सकता, आँख छलाँग नहीं लगा सकती। हाथ छू सकते हैं, कान सुन सकते हैं। हृदय धड़कता है, मस्तिष्क सोचता है। खून बहता है, हड्डी-मांस-मज्जा बनती है, यह सब खंड हैं। और एक-एक खंड अलग से समझने की हम कोशिश करें तो अलग दिखायी पड़ता है।

लेकिन गहरे में उतरें तो सभी खंडों के भीतर कोई एक भी छाया हुआ है, जो सभी को घेरे हुए है। अन्यथा आँख देखें और पैर छलाँग लगा जाए, यह कैसे हो? कहीं-न-कहीं आँख और पैर जुड़े होने चाहिए। कहीं-न-कहीं आँख और पैर एक ही चीज के दो रूप होने चाहिए। कहीं गहरे में जहाँ हृदय धड़कता है, वहीं मस्तिष्क का विचार भी जुड़ा होना चाहिए। क्योंकि मस्तिष्क में विचार का फर्क होता है, हृदय की धड़कन बदल जाती है। मस्तिष्क में विचार का फर्क होता है, खून की चाल बदल जाती है। मस्तिष्क में क्रोध होता है, रक्तचाप बढ़ जाता है। मस्तिष्क में वासना जगती है, सारा शरीर प्रभावित हो जाता है, आंदोलित हो जाता है। पैर में काँटा गड़ता है, आँख में आँसू आ जाते हैं। कहीं-न-कहीं पैर और आँख, कहीं-न-कहीं हृदय और मस्तिष्क, कहीं-न-कहीं इस शरीर का अणु-अणु संयुक्त

होना चाहिए।

वह संयुक्तता दिखायी नहीं पड़ती। दिखायी तो यह खंड पड़ते हैं। वह संयुक्तता ओझल है आँख से। होगी ही। गहरे में छिपी है। ठीक ऐसे ही, जैसे यह व्यक्ति, हमारा व्यक्ति संयुक्त है ऐसे ही यह पूरा विराट भी संयुक्त है।

इसे हम एक तरह से समझें तो शायद खयाल में आ जाए।

एक-एक आदमी के शरीर में कोई सात करोड़ जीवकोश, अर्थ होता है कि एक व्यक्ति के शरीर को बनाने में सात करोड़ जीवंत कोश काम करते हैं। मतलब सात करोड़ जीवन आपके भीतर बसे हैं। आप एक बड़ी बस्ती हैं। इसलिए भारतीयों ने आपके शरीर को पुर कहा है और आपको पुरुष कहा है। आप एक बड़ी बस्ती हैं। सात करोड़ व्यक्ति आपके भीतर हैं। प्रत्येक 'सेल' अपने-अपने में अपनी नियति रखता है, अपना व्यक्तित्व रखता है। आपके शरीर का एक-एक 'सेल' एक-एक व्यक्ति है, अपनी हैसियत से। आपकी हैसियत से नहीं, अपनी ही हैसियत से एक-एक व्यक्ति है। आपके 'सेल' को बाहर निकाल लिया जाए तो वह जिंदा रहेगा, आपके बिना भी, और करोड़ों वर्ष जिंदा रह सकता है। आप तो सत्तर वर्ष में समाप्त हो जाएँगे, वह करोड़ों वर्ष तक जिंदा रह सकता है, अपनी हैसियत से। उसका अपना छोटा-सा हृदय है और अपना छोटा-सा मस्तिष्क है। और वैज्ञानिक कहते हैं, आज नहीं कल शायद हमें पता चले कि उसका अपना अनुभव, उसके अपने विचार, उसका अपना अहंकार है। क्यों? क्योंकि वह अपनी आत्मरक्षा करता है। वह अपने जीवन को बचाने की चेष्टा करता है। हमले में सिकुड़ जाता है, प्रेम में फैल जाता है। वह भी प्रेम करता है।

और उस जीवकोश को आपका कोई भी पता नहीं है कि आप भी हैं! यह जो सात करोड़ जीवकोश हैं आपके शरीर में, इनको बिलकुल भी पता नहीं है कि इनका जुड़कर भी कोई एक व्यक्ति है। इन सबके जोड़ से भी कोई एक समग्र व्यक्तित्व निर्मित हो रहा है, इसका इन्हें कोई पता नहीं है।

उपनिषद मानते हैं, रहस्यवादी मानते हैं—कहना ठीक नहीं कि मानते हैं, वे जानते ही हैं— कि ठीक हम भी इस विराट जगत में छोटे-छोटे जीवकोश हैं और हम सबसे मिलकर भी जो निर्मित हो रहा है, उसका हमें पता नहीं है। जिस दिन पता चल जाता है उसी दिन उसका नाम परमात्मा है। हम सब भी इस विराट में जीवकोश हैं। हम अपनी हैसियत से जीते हैं। जैसे हमारे शरीर का जीवकोश अपनी हैसियत से जीता है। शायद किसी दिन सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलेगा कि उस जीवकोश के भीतर भी छोटे जीवकोश हैं, जो अपनी हैसियत से जीते हैं।

जैसे अणु हैं भौतिकविद के लिए, परमाणु हैं, 'इलेक्ट्रॉन' हैं, इनसे मिलकर

सारा पदार्थ बना है। ठीक ऐसे ही चैतन्य के भी कण हैं, जीवकोश हैं, उनसे मिलकर समस्त जीवन बना है। इस विराट जीवन को खंड-खंड में देखना ही विज्ञान है, इनको अखंड देख पाना धर्म है।

अगर आपके शरीर को भी वैज्ञानिक छुएगा तो वह खंड-खंड कर लेगा। तोड़ लेगा टुकड़ों में। एक-एक 'सेल' को अलग करके समझने की कोशिश करेगा। निश्चित ही। क्योंकि आपके शरीर के किसी 'सेल' को आपका पता नहीं है, आपके शरीर का कोई भी 'सेल' आपकी खबर नहीं दे सकता है। इसलिए वैज्ञानिक कहेगा, आदमी के भीतर कोई आत्मा नहीं है। आदमी करोड़ों 'सेलों' का एक जोड़मात्र है। इकाई नहीं, सिर्फ जोड़। आदमी अलग से कुछ भी नहीं है। आत्मा अलग से कुछ भी नहीं है। इन सात करोड़ जीवनकोशों का जोड़ है। फिर वह एक जीवनकोश को भी काटेगा तो पाएगा, उसमें कुछ रासायनिक-तत्त्व हैं, पाएगा कि कुछ धातुएँ हैं, पाएगा कि कुछ रस हैं, पाएगा कि कुछ पदार्थ हैं। वह पदार्थ के कण भी उसे खबर नहीं देंगे कि हमसे मिलकर जो बनता था, वह एक जीवन था। वे भी सिर्फ अपनी ही खबर देंगे, उन्हें भी उस जीवन का कोई पता नहीं है।

तो अंततः वैज्ञानिक कहेगा कि जीवकोश रासायनिक पदार्थों का जोड़ है और व्यक्ति की आत्मा इन जीवकोशों का जोड़ है। जोड़ है! इसको ठीक से समझ लेना। अलग कोई व्यक्तित्व नहीं है जीवन में, सिर्फ जोड़ है। खंडों का जोड़ है, अखंड है।

धर्म इसकी ठीक विपरीत मान्यता है। धर्म कहता है, खंड का जोड़ नहीं है अखंड। खंड अखंड का भाग है। अखंड खंडों का जोड़ नहीं है। खंड अखंड का भाग है। खंडों के जोड़ से अखंड नहीं बनता, अखंड अपनी हैसियत से है। वह कोई गाणितिक जोड़ नहीं है। सावयव एकता है। अखंड अपनी हैसियत से है, खंडों का उसको पता नहीं है। क्योंकि खंड को अखंड का पता इसलिए नहीं होता कि खंड अपने भीतर ही बँधकर जीता है। उसे पता नहीं है। जब खंड अपने से बाहर निकलता है, अपने से ऊपर उठता है, जागकर अपने से पार देखता है, तब उसे अखंड की प्रतीति शुरू होती है।

इस अपने से ऊपर उठने का ही सूत्र साक्षी है। इस अपने से पार उठने का सूत्र साक्षी है। जब कोई अपने प्रति भी साक्षी होकर देखता है, तो उसके भीतर अखंड का स्मरण शुरू हो जाता है। क्योंकि यह सब जोड़ तो उसे दिखायी पड़ता है—हाथ दिखायी पड़ता है, पैर दिखायी पड़ते हैं, आँख दिखायी पड़ती है, इन सबको वह देखनेवाला कौन है? वह अलग हो जाता है। अलग होते से ही खंड के ऊपर अखंड की छाया पड़नी शुरू हो जाती है, या खंड के भीतर अखंड का

अंकुरण शुरू हो जाता है। या खंड के भीतर जो सोया हुआ भाव था वह टूट जाता है, जागरण पकड़ता है और अपने से पार आँख उठती है।

ऐसा हम समझें कि माँ के पेट में एक बच्चा है गर्भ में, उसे इस जगत का कोई भी पता नहीं है। क्यों पता नहीं है? क्योंकि माँ के पेट में जो बच्चा है, वह अपनी ही हैसियत से एक इकाई है। और उसका जगत से कोई भी सीधा संबंध नहीं है। उसे पता भी नहीं है कि सूरज निकलता है, चाँद-तारे हैं; उसे पता भी नहीं कि लोग हैं, विराट जगत है, उसे कुछ भी पता नहीं है। और गर्भ के भीतर बच्चा इतना सुनिश्चित इकाई में बँधा हुआ है कि वह अपने को ही जगत मान ले तो कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि न उसे खाने के लिए आयोजन करना पड़ता है, न उसे पीने के लिए आयोजन करना पड़ता है, न उसे आत्मरक्षा के लिए आयोजन करना पड़ता है, उसे कुछ करना ही नहीं पड़ता है, वह सिर्फ होता है। और परिपूर्ण होता है। उसको कहीं कोई कमी नहीं होती। उसे ख्याल भी नहीं आ सकता कि मुझसे अलग भी कुछ है। लेकिन गर्भ के बाहर आएगा, अपनी सीमाओं को तोड़ेगा तो जगत का प्रारंभ होगा।

इसलिए वैज्ञानिक--मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चे का जन्म जो है, बहुत 'ट्रामेटिक' है, उसे बड़ा धक्का लगता है। एकदम एक सीमा में बँधा हुआ अस्तित्व था, एकदम से टूट जाता है और एक असीम जगत में खड़ा हो जाता है जहाँ कुछ भी सूझता नहीं है। पहली बार पता चलता है, मैं ही नहीं हूँ और भी बहुत कुछ है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि यह धक्का इतना गहरा है कि जिंदगी भर इस धक्के से आदमी सँभल नहीं पाता। और मनोवैज्ञानिक तो यह भी कहते हैं--इसमें थोड़ी सचाई है—कि आदमी जो शांति की खोज करता है, आनंद की खोज करता है, स्वतंत्रता की खोज करता है, आत्मा की खोज करता है, परमात्मा की खोज करता है, यह उसके गर्भ के अनुभव के कारण करता है। क्योंकि गर्भ में वह परम स्वतंत्र था, परम आनंदित था, परम शांत था, कोई तनाव न था, कोई सीमा न थी, जीवन पूरा-का-पूरा उपलब्ध था, उसमें कहीं कोई बाधा न थी; कोई जिम्मेदारी न थी, कोई बोझ न था, कोई चिंता न थी।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि यह जो मोक्ष की खोज है, यह उस गर्भ में जो अनुभव हुई है शांति, उसके ही कारण है। इसमें थोड़ी दूर तक सचाई है। क्योंकि वह अनुभव गहरा है और फिर उसके बाद जगत का धक्का गहरा है। अभी किसी मनोवैज्ञानिक ने इस बात को और भारतीय-चिंतन को जोड़ा नहीं, नहीं तो उन्हें बड़ी हैरानी होगी। अगर वे उस चिंतन को जोड़ेंगे तो भारतीय-मन की यह आकांक्षा कि जन्म से कैसे छुटकारा हो, मरण से कैसे छुटकारा हो, तत्काल उनको

खयाल में आ जाएगी कि यह जन्म से छुटकारे का मतलब है कि गर्भ से जो धक्का लगा है, उससे कैसे छुटकारा हो? जन्म लेने से जो धक्का लगा है, उससे कैसे छुटकारा हो?

मोक्ष की जो हमारी धारणा है, वह विराट गर्भ की है। उसे हमने हिरण्य-मय-गर्भ कहा भी है, 'दि वूंब ऑफ दि डिवाइन'। वह जो परमात्मा का गर्भ है, उसमें मैं ऐसे लीन हो जाऊँ जैसे माँ के गर्भ में था। न कोई चिंता, न कोई पीड़ा, न पराये का पता। लेकिन बच्चा बाहर आता है तो उसे जगत दिखायी पड़ता है।

बीज टूटता है, अंकुरित होता है तो उसे सूरज के दर्शन होते हैं। जहाँ तक हमारी स्थिति है, जैसे हम हैं, अभी हम अहंकार की खोल में बंद हैं। उसके पार हमें कुछ नहीं दिखायी पड़ता। मैं-ही-मैं दिखायी पड़ता हूँ। अगर कभी थोड़ी बहुत झलक किसीकी मिलती भी है तो वह भी 'मेरे' होने के कारण मिलती है। मेरा मित्र है, मेरा भाई है, मेरी पत्नी है, मेरा पति है। तो मेरे से कहीं थोड़ा-सा संबंध जुड़ता है तो थोड़ी-सी झलक मुझे मिलती है। बस यही मेरा जगत है। इसके पार जो विराट फैला हुआ है, उसका मुझे कोई पता नहीं है। धर्म एक पुनर्जन्म है। एक 'रिबर्थ'। एक और गर्भ को तोड़ना है। यह अहंकार को भी तोड़ देना है। लेकिन यह अहंकार तभी टूटे, जब मेरे खंडों का जो जोड़ है उसके पार मुझमें कोई अंकुरण शुरू हो जाए। कुछ भिन्न मेरे भीतर जागने लगे, मेरे जोड़ से ज्यादा। जिस दिन व्यक्ति को खंडों के बीच अखंड की प्रतीति शुरू होती है, उसी दिन ब्रह्म की यात्रा पर हम निकले, ऐसा जानना।

पहली बात कि अखंड खंडों का जोड़ नहीं है। इसे हम और थोड़ा इस तरह से समझ लें तो शायद ख्याल में आ जाए। क्योंकि बात तो कठिन है। और अनुभव की न होने से और कठिन हो जाती है समझना।

एक से दस तक की गिनती है, यह सिर्फ जोड़ है। एक-एक को दस बार जोड़ देने से दस हो गया। अगर एक-एक को दस बार निकाल लेंगे तो पीछे शून्य हो जाएगा, कुछ बचेगा नहीं। तो दस खंडों का जोड़ है। जोड़ से ज्यादा कुछ भी नहीं है दस में।

लेकिन एक कविता है, उसमें जितने शब्द हैं उनका जोड़ ही नहीं है वहाँ, उनसे थोड़ी ज्यादा है। वह जो थोड़ी ज्यादा है, वही गणित और काव्य का फर्क है। अगर कोई कहे कि यह सिर्फ शब्दों का जोड़ है तो वह गलत कह रहा है। जब एक कविता को आप पढ़ते हैं, उसके शब्द भूल भी जाएँ तो भी कुछ भनक आपके भीतर शेष रह जाती है। शब्द याद भी न रह जाएँ तो भी उस काव्य

का जिस भाँति से हृदय में स्पर्श हुआ था वह पीछे छूट जाता है। अगर कविता के सारे शब्दों को अलग निकाल कर रख लें, एक कागज पर क्रमवार लिख दें, तो उनको पढ़ने से कुछ भी भाव पैदा नहीं होता। वह कविता के उन्हीं शब्दों को दूसरे ढंग से जमा दें, सब काव्य बिखर जाता है, विसर्जित हो जाता है। कविता को पढ़ते वक्त जो आपके भीतर अनुभूति होती है वह शब्दों का जोड़ नहीं है, जोड़ से कुछ ज्यादा है। शायद इसे भी समझना थोड़ा कठिन हो।

तो ऐसा समझें, एक चित्रकार केनवॅस पर चित्र बनाता है, रंगों से बनाता है, लेकिन चित्र रंगों का जोड़ नहीं है। वे ही रंग पिकासो के हाथ में कुछ और हो जाते हैं। वे ही रंग वॅानगॉग के हाथों में कुछ और हो जाते है। वे ही रंग आप भी पोत डालें तो कुछ भी नहीं होते। यह भी हो सकता है कि आप ज्यादा कीमती रंग और ज्यादा रंग केनवॅस पर पोत डालें, और पिकासो साधारण से रंग को उठाकर केनवॅस पर फेंक दे तो भी केनवॅस कुछ और हो जाता है। निश्चय ही रंगों का जोड़ नहीं है चित्र, जोड़ से कुछ ज्यादा है। रंग से प्रकट होता है, लेकिन रंग ही नहीं है। कविता शब्द से प्रगट होती है, लेकिन वह शब्द ही नहीं है।

एक वीणावादक वीणा पर चोट कर रहा है, यह सिर्फ तार पर की गयी चोट नहीं है। यह चोट कोई भी कर सकता है, संगीत उससे पैदा नहीं होता। इस चोट में भी एक भीतरी समन्वय है। इस चोट में भी चोट से ज्यादा एक गुण है। यह संगीत जो सुनायी पड़ रह है, इस सुनायी पड़नेवाले संगीत में एक छिपा हुआ संगीत भी है। वह छिपा हुआ संगीत प्रकट हो रहा हैं इस संगीत से, लेकिन इसका जोड़ नहीं है।

जोड़ का मतलब होता है, खंडों में जितना है, जोड़ में भी उतना ही होगा। जोड़ से ज्यादा का अर्थ होता है, खंडों में जो नहीं दिखायी पड़ता था, वह जोड़ में प्रगट होता है। जोड़ खंडों के जोड़ से ज्यादा अगर हो तो सावयव, 'आर्गनिक यूनिटी' पैदा हो जाती है।

कई बार ऐसा होता है कि इन दोनों में हम फर्क नहीं कर पाते हैं। और अगर फर्क न कर पाएँ तो जीवन का एक बहुमूल्य आयाम खो जाता है। हम फर्क नहीं कर पाते हैं। पहली बात तो हमारी समझ में आ जाती है, दूसरी बात हमारी समझ में नहीं आती।

इसे ऐसा समझें।

मेरे शरीर को काट डाला जाए, सब खंड अलग रख लिए जाएँ, और फिर सारे खंडों को जोड़ कर मुझे खड़ा कर दिया जाए। मेरे सारे खंड अलग कर लिये जाएँ और फिर मेरे सारे खंडों को जोड़ कर खड़ा कर दिया जाए। फिर उस

मोटर का इंजिन है उसको खोलकर एक-एक टुकड़ा अलग कर दिया जाए और फिर सारे टुकड़े जोड़ दिये जाएँ। तो फर्क पता चलेगा कि मोटर का इंजिन अंगों का एक जोड़मात्र था। तोड़ दो, फिर जोड़ दो। फिर इंजिन शुरू हो जाता है। लेकिन आदमी के शरीर को तोड़ दो, फिर बिलकुल वैसा ही जोड़ दो, कुछ भी शुरू नहीं होता। कोई चीज खो गयी। जो जोड़ से ज्यादा थी वह खो गयी।

इसका मतलब यह हुआ कि जो जोड़मात्र है, उसको हम विश्लेषण से समझ सकते हैं। जो जोड़ से ज्यादा है, उसे हम विश्लेषण से कभी नहीं समझ सकते। इसीलिए अनेक बार ऐसा हो जाता है कि व्याकरण में जो बहुत गहरा निष्णात है वह काव्य को समझने में असमर्थ हो जाता है। क्योंकि वह केवल जोड़ जानता है। भाषा के नियम जानता है, भाषा का गणित जानता है, सब जानता है, लेकिन भाषा में कुछ ऐसा भी प्रगट होता है जो नियम के पार है, जो गणित से दूर है, जो व्यवस्था का हिस्सा नहीं है—व्यवस्था में भीतर प्रकट जरूर होता है लेकिन व्यवस्था के बाहर से आता है, उतरता है—वह चूक जाता है। इसीलिए भाषाशास्त्री जितना ज्यादा भाषा को जानता है, उतना ही मुश्किल हो जाता है उसे काव्य को समझना। क्योंकि काव्य की समझ एक दूसरे ही आयाम की माँग करती है। वह आयाम है कि जीवन-इकाई खंड का जोड़ नहीं होती, जोड़ से ज्यादा होती है। और वह जो ज्यादा है वह सिर्फ प्रगट होता है। अगर आपने तोड़ दिया तो वह अप्रगट हो जाता है, वह खो जाता है।

इस सूत्र में इस गहन सत्य की उद्घोषणा की गयी है। ऋषि ने कहा है—'मैं छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा हूँ'। दोनों मैं ही हूँ। ऐसा मत सोचना कि मैं छोटा-से-छोटा हूँ तो मैं बड़े-से-बड़ा कैसे हो सकूँगा ? इस सूत्र में ऋषि कह रहा है कि खंड भी मैं ही हूँ और अखंड भी मैं ही हूँ। क्षुद्रतम में भी मैं ही हूँ और विराटतम में भी मैं हीं हूँ। इसका मतलब हुआ कि क्षुद्र और विराट दो चीजें नहीं हैं, संयुक्त हैं। नहीं तो मैं दोनों में कैसे हो सकूँगा ? इस अँगुली में मैं ही हूँ और इस पूरे शरीर में भी मैं ही हूँ। असल में मेरा होना एक विस्तार है, जो क्षुद्र से लेकर विराट तक फैला हुआ है। या ऐसा कहें कि क्षुद्र और विराट मेरे ही दो छोर हैं। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, जहाँ दर्शन समाप्त हो जाता है और दिखायी नहीं पड़ता, वहाँ भी मैं हूँ। और विराट-से-विराट, जहाँ दर्शन को सीमा नहीं मिलती, अनंत हो जाता है, वहाँ भी मैं ही हूँ। यहाँ 'मैं' से अर्थ ऋषि का नहीं है। यहाँ 'मैं' से अर्थ अहंकार का नहीं है। यहा 'मैं' से अर्थ उस साक्षी का है, जिसकी पिछले सूत्र में चर्चा की गयी है। उस साक्षी का है। उस साक्षी का अनुभव होते ही क्षुद्र और विराट दोनों मेरे छोर हैं।

और यह क्षुद्र और विराट— अनेक दिशाओं में फैला हुआ है। जिसे जीसस

ने कहा है : 'बिफोर अब्राहम आइ वॉज –– अब्राहम था, उसके पहले भी मैं था। अब्राहम को हुए हजारों वर्ष हो चुके थे जीसस के वक्त में। अब्राहम के पहले मैं था, इसका क्या मतलब ? अर्जुन से कृष्ण ने कहा है कि इस गीता को जो मैं तुझे कहता हूँ, मैंने पहले फलाँ ऋषि को कहा था। उसके पहले फलाँ ऋषि को कहा था। उसके पहले फलाँ ऋषि को कहा था। और इन ऋषियों को हुए हजारों वर्ष हो चुके थे।

यह कृष्ण और जीसस क्या कह रहे हैं ? ये यह कह रहे हैं कि समय के आयाम में जो प्रथम है वह भी मैं हूँ, और समय के आयाम में जो अंतिम होगा वह भी मैं हूँ। यह जो समय की धारा है, इसमें प्रथम और अंतिम जुड़े हैं। यह समय की पूरी धारा मेरी ही धारा है। क्षुद्रतम कण है, उसमें भी मैं हूँ। और एक विराट सूर्य है, उसमें भी मैं हूँ। यह क्षेत्र, 'स्पेस' के दो छोर हैं। छोटे-से-छोटा, बड़ा-से-बड़ा। पहला, अंतिम। ये समय के छोर हैं। हर आयाम में एक का ही विस्तार है।

ऊपर से देखने से बहुत कठिन होगा मालूम कि एक क्षुद्र कण पड़ा है आपके आँगन में, वह भी वही है, और यह विराट जगत भी वही है। गणित मुश्किल में पड़ेगा। क्योंकि गणित कैसे मान सकता है कि यह छोटा-सा कण और यह विराट जगत, दोनों एक हैं। गणित कहेगा यह छोटा-सा कण है, कहाँ यह विराट जगत ! कहाँ यह विराट जगत, कहाँ यह छोटा-सा कण ! कहाँ यह घास की दूब और कहाँ यह विराट जीवन ! लेकिन घास के एक छोटे-से तिनके में भी वही जीवन प्रगट हो रहा है, जो एक महासूर्य में जल रहा है।

इसे अगर हम वैज्ञानिक ढंग से भी समझना चाहें, तो समझ सकते हैं। थोड़ी सहायता मिलेगी।

कभी आपने खयाल न किया होगा कि अगर वैज्ञानिक गणनाओं को भी हम थोड़ी-सी गहराई में खोजना शुरू करें और विज्ञान को सीमा में न बाँधें और वैज्ञानिक बुद्धि को एक मतांधता न बनाएँ, तो विज्ञान से भी झलकें धर्म की ही मिलना शुरू हो जाती हैं। क्योंकि अंततः विज्ञान भी उसी जगह तो काम कर रहा है, उसी जीवन पर, जिस पर धर्म। कहीं-न-कहीं उसकी प्रतीतियाँ भी धर्म की अनुभूतियों से कुछ-न-कुछ संबंध तो बनाएँगी ही। क्योंकि दोनों का काम तो एक ही जगह चल रहा है, एक ही जीवन पर। एक छोटा-सा घास का तिनका है, उसके भीतर जीवन का विज्ञान में क्या अर्थ है ? उसके भीतर भी जीवन का अर्थ वही है जो आपके भीतर है, एक महासूर्य के भीतर है।

महासूर्य के भीतर क्या हो रहा है ? बड़े पैमाने पर हो रहा है। हमारी पृथ्वी

जितनी बड़ी है, हमारा सूर्य उससे साठ हजार गुना बड़ा है। लेकिन यह बहुत छोटा, 'मीडियाकर' सूर्य है। सूर्य यह कोई बहुत बड़ा नहीं है। इससे बहुत बड़े-बड़े सूर्य जगत में हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई दो अरब सूर्य सारे जगत में हैं। जिनको आप रात में तारे कहते हैं, वे महासूर्य हैं। सिर्फ फासला इतना ज्यादा है कि वे छोटे तारे दिखायी पड़ते हैं। यह हमारा सूर्य उनके सामने बहुत छोटा है। इसकी कोई गणना नहीं है। इस विराट जगत में अगर इस सूर्य का आप पता पूछने जाएँ तो पता लगाना बहुत मुश्किल होगा कि आप किस सूर्य की बात कर रहे हैं।

जिस दिन हम अंतरिक्ष यात्रा में सफल हो जाएँगे और दूर की यात्रा पर आदमी निकलेगा, उस दिन अगर हमें कहीं किन्हीं दूसरी पृथ्वियों पर––और वैज्ञानिक कहते हैं कि कम-से-कम पचास हजार ग्रहों पर जीवन है, कम-से-कम होना चाहिए––तो उन ग्रहों पर अगर हम कभी पहुँचेंगे तब उनको पहली दफा पता चलेगा कि एक सूरज और भी है जिसके पास एक छोटी-सी पृथ्वी पर जीवन है। वह जो दो-तीन अरब सूर्यों का विस्तार है, इनमें भी जीवन का जो सूत्र है वह वही है जो एक छोटे-से घास के तिनके में है। वैज्ञानिक उसे कहते हैं––'ऑक्सीडाइजेशन'। वे कहते हैं कि छोटा-सा तिनका भी हवा से 'ऑक्सीजन' को पीता है और भीतर जलाता है। उसके जलने से ही जीवन चलता है। जैसे दिया आपका जल रहा है। आपने कभी खयाल किया कि तूफानी हवा चल रही हो और दिया जल रहा हो तो यह हो सकता है कि तूफानी हवा में दिया बच जाए, लेकिन बचाने के लिए अगर आप एक बर्तन उस पर ढाँक दें, तो जल्दी बुझ जाएगा। क्योंकि बर्तन के भीतर की 'ऑक्सीजन' जैसे ही दिया पी लेगा, जला लेगा, फिर मरेगा, फिर बच नहीं सकता। वह दिया पूरे वक्त हवा की 'ऑक्सीजन' को लेकर जला रहा है।

आप भी वही कर रहे हैं। पूरे वक्त जो साँस चल रही है, वह 'ऑक्सीजन' लेने के लिए चल रही है, और आप के भीतर एक अग्नि है जो उस 'ऑक्सीजन' को जला रही है। इसलिए आपकी साँस बंद कर दें और प्राण छूट गये। जब आप दिये पर बर्तन ढाँक देते हैं, आपने उसकी साँस बंद कर दी, प्राण छूट गये। एक घास के ऊपर बर्तन को ढाँक दें, आपने उसकी साँस बंद कर दी। प्राण छूट जाएँगे।

एक खूबसूरत पौधे को घर के भीतर लगाकर रख लें, दो दिन में पाएँगे कि उसका प्राण जाने लगा। क्योंकि उसे जो जीवंत, जो प्रक्रिया थी उसके भीतर विज्ञान के हिसाब से वह इतनी थी कि वह अपने भीतर हवा को ले जाकर उसमें से 'ऑक्सीजन' जला रहा है। और जब 'ऑक्सीजन' जल जाती है, तब जो 'कार्बन' बच जाता है उसको बाहर फेंक रहा है। हम भी फेंक रहे हैं, पूरे वक्त। इसलिए अगर एक भीड़-भरे कमरे में आप सो जाएँ और सब तरफ से कमरा बंद हो, तो

रात-भर में सारे लोग मर सकते हैं। क्योंकि अगर कमरे की 'ऑक्सीजन' चुक जाए और सब 'कार्बन' को फेंकते चले जाएँ और फिर मजबूरी में 'कार्बन' ही पीना पड़े, तो आप मर जाएँगे।

चाहे महासूर्य जल रहा हो और चाहे एक घास का तिनका जी रहा हो, और चाहे एक बुद्ध जी रहे हों, जीने का नियम एक ही है। सब अपने-अपने पैमाने पर प्राणवायु को जला रहे हैं, विज्ञान के हिसाब से। तो अगर हम यह भी समझें तो भी पता लगेगा कि क्षुद्र-से-क्षुद्र में और विराट-से-विराट में एक ही जीवन है।

कुछ वैज्ञानिकों को संदेह है कि पृथ्वी भी श्वाँस लेती है। पृथ्वी भी श्वाँस लेती है; रोएँ-रोएँ, छिद्र-छिद्र से। और इसीलिए कोई भी पृथ्वी जीवित नहीं हो सकती अगर उसके पास कम-से-कम दो सौ मील का वायु का घेरा न हो। यह हमारी पृथ्वी भी, दो सौ मील तक वायु का घेरा है इसके चारों तरफ। इसलिए अब तो वैज्ञानिकों को सूत्र मिल गया है कि जिस ग्रह के पास भी वायु का घेरा है, अगर उसमें 'कार्बन' और 'आक्सीजन' की एक निश्चित मात्रा है, तो वहाँ जीवन होगा। क्योंकि वह पृथ्वी जीवित है। इसका मतलब हुआ कि कुछ पृथ्वियाँ जीवित हैं, कुछ पृथ्वियाँ मृत हैं। लेकिन जो आज मृत है, वह कभी जीवित थी। और आज जो जीवित हैं, वह कभी मृत हो जाएँगी। इनकी जीवन-प्रक्रिया लंबी है, यह दूसरी बात है कि हम कई बार मरते हैं और जीते हैं—अनेक-अनेक बार—और पृथ्वी जीती रहती है।

पहाड़ भी श्वाँस लेते हैं। पहाड़ों में भी मुर्दा पहाड़ हैं और जिंदा पहाड़ हैं। जिस पहाड़ी पर हम बैठे हुए हैं, यह एक मरी हुई पहाड़ी है। यह कभी जीवित थी। यह जगत की पुरानी-से-पुरानी पहाड़ी है। हिमालय इस पहाड़ी के सामने बच्चा है। लेकिन हिमालय अभी जीवित है। यह जानकर आप हैरान होंगे कि हिमालय पर भागने का संन्यासी का आकर्षण गहरे में कुछ और है। हिमालय इस पृथ्वी पर थोड़े-से जीवित पर्वतों में से एक है। अभी जीवित है, अभी बढ़ रहा है, अभी श्वाँस ले रहा है। हिमालय रोज बढ़ रहा है। ऊँचा होता जा रहा है। अभी उसमें गति है, 'ग्रोथ' है, बढ़ाव है। जो पर्वत जीवित होता है, उस पर साधना बहुत आसान हो जाती है। लेकिन साधना की पद्धति पर निर्भर करेगा। साधना की पद्धति पर निर्भर करेगा कि कौन-सा पहाड़? कुछ साधना की पद्धतियाँ ऐसी हैं कि मुर्दा पहाड़ सहयोगी होता है।

जैनों ने जहाँ-जहाँ अपने तीर्थ चुने हैं, वे सब मुर्दा पहाड़ हैं। जानकर चुने हैं। जैनों की जो साधना की पद्धति है, यह मुर्दा पहाड़ पर सहयोगी है। इसलिए जैनों ने हिमालय को बिलकुल छोड़ दिया। और वहाँ कुछ बात मालूम पड़ती है।

हिमालय जैसा पर्वत जिस देश में हो, उसमें एक धर्म उसको बिलकुल छोड़ दे, कहीं उससे संपर्क ही नहीं बनाए, जरूर कुछ गहरा कारण होगा। कारण है। हिमालय जिंदा पहाड़ है। जैन की जो पद्धति है, वह गहरे में तप पर निर्भर है। जितना मुर्दा जगह हो, तप उतना गहन हो जाता है।

हिंदुओं की जो जीवन-पद्धति है, वह जीवन को घटाने की तरफ नहीं है, बढ़ाने की तरफ है। दोनों एक अंत पर पहुँच जाते हैं। अगर जीवन बिलकुल घट कर शून्य हो जाए, तो आदमी विराट में प्रवेश कर जाता है। या जीवन बढ़कर बिलकुल पूर्ण हो जाए, तो भी आदमी विराट में प्रवेश कर जाता है। तो हिंदुओं ने जितने तीर्थ चुने हैं, जितने स्थान बनाए साधना के, वह जीवित पहाड़ चुने हैं। और अगर जीवित पहाड़ न मिला तो नदी चुनी है। यह मजे की बात है कि कोई मुर्दा नदी नहीं होती। सभी नदियाँ जिंदा होती हैं। क्योंकि मुर्दा नदी का मतलब होता है कि सिर्फ नदी का रास्ता रह जाता है, पानी तो सूख जाता है। तो मुर्दा नदी का मतलब होता है कि वह खो गयी, वह नहीं है।

जहाँ जीवन मिल सकता था, हिंदुओं ने वहाँ, वहाँ-वहाँ अपने साधना के स्थल चुने। जहाँ जीवन खो गया था, वहाँ-वहाँ जैनों ने अपने साधना के स्थल चुने, ताकि वहाँ तप में और गहनता हो सके, तप में और गहरा उतरा जा सके।

जैन-पद्धति पूर्ण मृत्यु को उपलब्ध करने की पद्धति है। इसलिए संथारा की आज्ञा दी जा सकी। हिंदू-पद्धति पूर्ण जीवन को पाने की पद्धति है। परिणाम एक है। क्योंकि चाहे जीवन शून्य हो जाए और चाहे जीवन पूर्ण हो जाए—दो छोर हैं—इनसे आप बाहर गिर जाते हैं। पूर्णता के छोर से गिरते हैं तो भी, शून्यता के छोर से गिरते हैं तो भी, बाहर गिर जाते हैं।

पृथ्वी भी श्वाँस ले रही है, पहाड़ भी श्वाँस ले रहा है, उनकी प्रक्रिया भी वही है। जमीन के भीतर कोयले की खदानें हैं, विज्ञान कहता है कि वह जमीन के द्वारा जो 'कार्बन' इकट्ठा होता है, वही है। आपके भीतर भी कोयला इकट्ठा होता है। वही कोयला इकट्ठा हो-होकर आपको बूढ़ा करता है। जितना कार्बन इकट्ठा होता जाता है, उतने आप बूढ़े होते चले जाते हैं। जिस दिन कार्बन की मात्रा इतनी हो जाती है कि वह आपके जीवन से ज्यादा हो जाता है, उस दिन आप मरने के करीब पहुँच जाते हैं। जिस दिन आप मरते हैं, विज्ञान की भाषा में, उस दिन आप 'कार्बन' हो गये। उस दिन आप में 'ऑक्सीजन' न रही, बात समाप्त हो गयी। आपका यंत्र टूट गया। अगर हम इसे जीवन की प्रक्रिया मान लें, है यह जीवन की प्रक्रिया—कम-से-कम जीवन के प्रगट होने की; जीवन यही नहीं है, लेकिन जीवन के प्रगट होने का अवसर यही है कि वहाँ एक विशेष संतुलन

'आक्सीडाइजेशन' का, आक्सीकरण का एक विशेष संतुलन चाहिए--तो सारा विराट जगत इसी एक ही प्रक्रिया से जीता है। और सारा विराट जगत एक ही आंदोलन से जी रहा है। पृथ्वी श्वाँस लेती है तो ठीक ही है।

इधर कुछ रूसी वैज्ञानिकों का ख्याल बनना शुरू हुआ है कि जैसे हमारी छाती फूलती और सिकुड़ती है श्वाँस लेने में, ऐसे पृथ्वी प्रतिपल थोड़ी बड़ी और छोटी होती है। बहुत बार शायद पृथ्वी के इसी हड़कंप से बहुत से हलन-चलन पैदा हो जाते हैं। आज नहीं कल यह बात शायद साफ हो जाएगी कि पृथ्वी को भी हृदय के दौरे पड़ जाते हैं। न केवल पृथ्वी बल्कि पूरा विश्व भी, पूरा 'यूनिवर्स' भी श्वाँस लेता है। और पूरा विश्व भी छोटा और बड़ा होता है। जैसे हमारी छाती फूलती और...। निश्चित ही उसके छोटे-बड़े होने का समय बड़ा लंबा होगा। क्योंकि इसकी श्वाँस बड़ी गहरी होगी।

हिंदुओं ने इसको प्रतीक में कहा है कि जो हमारे लिए एक कल्प है, वह ब्रह्मा के लिए एक दिन है। तो जो हमारे लिए करोड़ों श्वाँस होगी, वह ब्रह्मा के लिए शायद एक श्वाँस हो। शायद वह श्वाँस इतनी लंबी होगी कि हम उस श्वाँस में अनेक बार जन्मेंगे और मरेंगे। इसलिए हमें उसका पता भी नहीं चलेगा।

जब हम श्वाँस ले रहे हैं तब उसमें भी जीवाणु मर रहे हैं, उनको कभी पता नहीं चलेगा। हमारी एक श्वाँस भीतर जाती है, उस बीच हमारी श्वाँस में न-मालूम कितने करोड़ जीवाणु जी लेते हैं-- जन्म लेते हैं, मर जाते हैं। हमारा होंठ एक बार दूसरे होंठ से मिलता है, उस मिलने के क्षण में न-मालूम कितने करोड़ जीवाणु जी लेते हैं—जन्म लेते हैं, मर जाते हैं। उन्हें पता भी नहीं चलेगा कि यह होंठ वापिस खुलेगा। जो हमारी श्वाँस में जन्मा, जिआ, जन्म दे गया दूसरों को, मर गया, उसे कैसे पता चलेगा कि यह श्वाँस अब बाहर भी लौटेगी?

पूरा विश्व श्वाँस ले रहा है। इसीको हिंदुओं ने कहा है कि जो अंड में है, जो पिंड में है, वही ब्रह्मांड में है। विस्तार है। जो अणु में है, वही विराट में है। विस्तार का फर्क है।

लेकिन ऋषि कहता है, 'मैं छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा हूँ। इस विचित्र संसार को मेरा ही रूप मानना चाहिए। मैं ही पुरातन पुरुष हूँ, जो सबका आधार है। मैं ही शिव का रूप हूँ और मैं ही हिरण्यमय हूँ।'

इस विचित्र संसार को मेरा ही रूप मानना। विचित्र जानकर कहा है। विचित्र इसलिए कहा है कि गणित इसे समझा न पाएगा। तर्क इसे हल न कर पाएगा। यही इसकी विचित्रता है। और जो इसे तर्क से हल कर लेता है वह विचित्र नहीं है। गणित जिसे निबटा लेता है, वह विचित्र नहीं है। विचित्र का मतलब ही

होता है कि गणित जहाँ असमर्थ है, तर्क जहाँ व्यर्थ हे,
पकड़ में नहीं आता है--बल्कि उनकी पकड़ में आ जात
छोड़कर छलाँग लगा जाता है। यह संसार विचित्र इसलिए
इसे समझ लेते हैं और बुद्धिमान इसे चूक जाते हैं।

शायद हमारी सभी की पीड़ा ही यही है कि अति बु
पीड़ा ही यही है कि हमने सब नियम खोज लिए हैं कि ठीक
क्या है, सही क्या है, और जो उसमें नहीं बैठता तो हम मुश्किल म ाते
हैं।

यूनान ने तर्क को जन्म दिया और दो-ढाई हजार वर्षों में उसकी काफी प्रक्रिया विकसित किया। लेकिन मजे की घटना यूरोप में घटी। और वह घटना यह घटी कि यूनान ने तर्क के आधार से सत्य को खोजने की चेष्टा की थी, सत्य तो नहीं मिला दो हजार वर्षों की चेष्टा में, मिला कुछ और। और पश्चिम में यूनान की जड़ों पर बढ़े हुए पौधे का जो आज फूल खिला है, वह कहता है, जीवन में कोई सत्य है ही नहीं। जीवन अर्थहीन है, 'मीनिंगलेस' है। जीवन 'एब्सर्ड' है, बेमानी है। सत्य तो मिला नहीं, अर्थ तो मिला नहीं, जीवन का अभिप्राय तो मिला नहीं, जीवन का प्रयोजन तो मिला नहीं, किस लिए है इसका उत्तर तो मिला नहीं, लेकिन तर्क जैसे-जैसे बढ़ता चला गया वैसे-वैसे निष्पत्ति हाथ में यह आयी कि सत्य है ही नहीं और सत्य की सारी बातचीत केवल शब्दों का खेल है।

इसलिए पश्चिम में अनुभव किया जा रहा है कि दर्शन मर गया है। ऑक्सफोर्ड हो या केंब्रिज हो, या हार्वर्ड हो, वहाँ जो आज पढ़ाया जा रहा है दर्शन के नाम पर, वह दर्शन बिलकुल नहीं है। वहाँ आज यह पढ़ाया जा रहा है कि दर्शन का जन्म ही भाषागत भूल से हुआ है। 'लेंग्वेस्टिक' है मामला, भाषा का मामला है। यह गलती भाषा की हो गयी है। यह भाषा की वजह से आदमी ऐसे-ऐसे सवाल उठा लेता है फिर उनके प्रश्न पूछने लगता है। कोई सत्य नहीं है। सत्य केवल भाषागत खेल है। और कोई अर्थ नहीं है जीवन में, अर्थ सब कल्पित है। और जीवन में शृंखलाबद्ध सूत्र नहीं है, जीवन एक अराजकता है।

तर्क यहाँ ले जाएगा। उसका कारण है, क्योंकि जीवन विचित्र है। जीवन एक रहस्य है। और रहस्य को समझने जब भी कोई तर्क से चलेगा तो असल में वह नहीं समझने का तय करके चला। मैं कहता हूँ कि मुझे किसीसे प्रेम है। अब प्रेम एक विचित्रता है। आप कहेंगे, कहाँ है, मुझे दिखा दें, तब मैं मुश्किल में पड़ूंगा। अगर मैं दिखाने की भी कोशिश करूँ तो क्या करूँगा? यही कर सकता हूँ कि प्रेमपूर्ण व्यवहार करूँ। आप कह सकते हैं यह नाटक नहीं होगा, इसका क्या भरोसा?

'आर्थेंटिक हो सकता है। और हम प्रेम के इतने नाटक देख रहे हैं कि संभावना यही है कि नाटक हो। इसमें भीतर कोई 'ऑथेंटिक,' कोई प्रामाणिकता है, इसका क्या सबूत है?

हनुमान से कोई पूछता है, तो अपना छाती फाड़कर बता देते हैं। मगर अगर अभी इस वक्त बताएँगे तो हम पकड़कर उनकी जाँच करवाएँगे कि जरूर कोई चालबाजी है। इसमें राम जो अंदर दिखायी पड़ते हैं, पहले से कुछ इंतजाम किया हुआ है। 'प्रि-अरेंज्ड' होना चाहिए। अन्यथा हृदय में कहाँ राम होनेवाले हैं। क्या प्रमाण है कि प्रेम है? अब तक तो कोई प्रमाण दिया नहीं जा सका। यह भी मजे की बात है कि आप सब विचार करते हैं--भला सब प्रेम न करते हों, विचार तो करते हैं—लेकिन इसे अब तक भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि आप विचार करते हैं। क्योंकि क्या प्रमाण है! आपके मस्तिष्क को काटा-पीटा जाए, वहाँ कोई विचार नहीं मिलते। आपके हृदय को काटा-पीटा जाए, वहाँ कोई प्रेम नहीं मिलता। आपके हृदय में फुफ्फस मिलता है जो श्वाँस को चलाने का यंत्र है। आपके मस्तिष्क में बहुत-बहुत सूक्ष्म स्नायुओं का जाल मिलता है, विचार तो कोई मिलते नहीं। इन स्नायुओं के जाल में विचार कहाँ होते होंगे, यह भी साफ नहीं हो पाता। कैसे होते होंगे, यह भी कठिनाई मालूम पड़ती है। क्योंकि विचार और स्नायु, इनका कोई तालमेल नहीं दिखता।

यह बिजली का तार फैला हुआ है। इस तार को अगर कोई काटकर जाँच करे तो बिजली नहीं मिलेगी। तार की जाँच से तार ही मिलेगा, बिजली न मिलेगी। बिजली थी जरूर, बल्ब जलता था जरूर, लेकिन तार के काटने से नहीं मिलता है। तार से कुछ भिन्न उसमें प्रवाहित होता है। काटते से ही प्रवाह बंद हो जाता है। जैसे ही मस्तिष्क को काटते हैं, प्रवाह बंद हो जाता है।

एक नयी चिकित्सा की दिशा पैदा होनी शुरू हुई है जो कहती है कि आदमी के संबंध में जितने भी अभी तक के निदान हैं, 'डाइग्नोसिस' का ढंग है, वह सब गलत है। जैसे समझ लें कि आप बीमार हैं और आपके खून को निकाल कर जाँच की जाती है, तो नये विचारक यह कह रहे हैं कि जो खून भीतर बहता है वह जीवित था, और आपने बाहर निकाल लिया वह मर गया। मरे की जाँच करके जीवित के संबंध में जो निर्णय लिया जा रहा है, वह ठीक नहीं है। शरीर के भीतर वह खून जिंदा था, उसका गुणधर्म और था, वह जीवन की धारा में प्रवाहित था, उसमें एक बिजली दौड़ रही थी जो जीवन था; आपने उसे शरीर के बाहर निकाल लिया, वह बिजली तो पीछे छूट गयी। तार हाथ में आया। बिजली पीछे छूट गयी, अब तार की जाँच करके आप जो निर्णय ले रहे हैं, उस निर्णय से आप बिजली को

प्रभावित करने की कोशिश करेंगे। यह सब भ्रांत है।

शायद आज नहीं कल हमें आदमी के भीतर ही शरीर को जाँचने के उपाय खोजने पड़ेंगे। बाहर मुर्दा हो जाता है। उसका गुणधर्म ही बदल गया।

जीवन विचित्र है, क्योंकि तर्क से समझ में नहीं आता। और तर्क से जो समझ में आता है, उसमें से जीवन चूक जाता है, छूट जाता है, छिटक जाता है। जैसे पारे पर कोई मुट्ठी बाँधे और पारा छिटक जाए, ऐसा ही जीवन छिटक जाता है। मगर अगर हम जिद्द करते जाएँ कि चाहे जीवन छिटके, लेकिन हम तर्क को तो पूरा करके ही रहेंगे, तो अखीर में हम पाएँगे कि जीवन व्यर्थ है। जीवन है ही नहीं। सब धोखा है, सब असत्य है।

फिर भी इससे कोई मर तो नहीं जाता है। सार्त्र कितना ही कहता हो कि जीवन अर्थहीन है, फिर भी जिएगा। और मार्क्सियन कितना ही कहे जीवन बेबूझ है, व्यर्थ है, जिएगा। और कोई कुछ भी कहे, बेबूझ होने से, व्यर्थ होने से, अकारण होने से, अराजक होने से, कोई मर तो जाता नहीं। लेकिन तब उदासी से जीता है। और तब जीवन एक संताप बन जाता है। तब जीवन एक बोझ है, जिसे खींचना पड़ता है।

यूनान में एक विचारक हुआ, पिरहो। वह कहता था जीवन इतना व्यर्थ है कि आत्महत्या के सिवाय कोई सार्थकता नहीं है। लेकिन पिरहो नब्बे वर्ष तक जिया, और जब नब्बे वर्ष का बूढ़ा हो गया तो किसीने पिरहो से पूछा कि तुम जिंदगी भर समझाते रहे कि जीवन व्यर्थ है और आत्महत्या के सिवाय कोई मार्ग नहीं दिखायी पड़ता इससे छूटने का, तुम अब तक मरे क्यों नहीं? तो पिरहो ने कहा मामला ऐसा है कि लोगों को समझाने के लिए मुझे जीना पड़ा। कई लोग मर गये, ऐसी कथा है कि पिरहो की मान कर कई लोगों ने आत्महत्या कर ली, कई शिष्य आत्महत्या कर लिये, लेकिन पिरहो को मजबूरी में, लोगों को समझाने के निमित्त जीना पड़ा। लेकिन लोगों को समझाने की जरूरत ही क्या है अगर जीवन व्यर्थ है? और समझा कर भी क्या समझ में आएगा?

कम-से-कम पिरहो का जीवन तो सार्थक मालूम पड़ता है। समझा रहे हैं। सफल हो रहे हैं, कोई मर रहा है और वह बेचारे इस सब के लिए जी रहे हैं! उनका जीवन कम-से-कम सार्थक मालूम होता है, भला दूसरों को उन्होंने समझा दिया हो कि व्यर्थ है! और पिरहो प्रसन्नता से जी रहे हैं, क्योंकि तमाम भक्त उन्हें मिलते हैं, शिष्य मिलते हैं। वह प्रसन्नता से जी रहे हैं।

अगर सार्त्र भी जी रहा है, और जीवन व्यर्थ है, तो फिर जीना भारी हो जाएगा।

अल्बर्ट कामू ने अपनी एक बहुत महत्त्वपूर्ण किताब इस वक्तव्य से शुरू की कि एक ही दार्शनिक प्रश्न है मनुष्य के सामने, वह है आत्मघात। 'दि ओनली मेटाफिजिकल प्रॉब्लम बिफोर मैनकाइंड इज सूसाइड'। जीवन नहीं है सवाल, आत्मघात है सवाल। और यह यूनान के तर्क की दो हजार साल की निष्पत्ति यह भूल है।

भारत एक दूसरी दिशा से काम करता रहा। भारत की दिशा है जीवन के रहस्य को, उसकी विचित्रता को, तर्क से हल करने की नहीं, अनुभूति से प्रवेश करने की। विचार करके कोई उपाय नहीं है विचित्र को समझाने का। विचार दुश्मनी है। चिंतन से कोई द्वार नहीं खुलता। रहस्य के समक्ष चिंतन मूढ़ता है। चिंतन का अपना मार्ग है।

जहाँ रहस्य न हो, वहाँ चिंतन का उपाय है। लेकिन जहाँ रहस्य हो, वहाँ चिंतन के कपड़े बाहर ही उतारकर नग्न प्रवेश करना उचित है। जहाँ चिंतन का क्षेत्र न हो—कहाँ है वह क्षेत्र जो चिंतन का नहीं है? खंड को जानना हो तो विचार उपयोगी है, अखंड को जानना हो तो निर्विचार उपयोगी है। टुकड़े को समझना हो तो तर्क उपयोगी है; विराट को, समग्र को समझना हो, तर्क उपयोगी नहीं है।

क्यों?

क्योंकि तर्क काटकर ही समझता है, विश्लेषण करके ही समझता है। तर्क की पद्धति ही तोड़ना है। इसलिए अगर जोड़ को समझना है तो तर्क से समझना एकदम बेमानी है। अगर तलवार का काम काटना है, तो किसी चीज को जोड़ने के लिए तलवार का उपयोग करना मूढ़ता है। क्योंकि उसमें तलवार का कोई कसूर नहीं है। तलवार का काम ही काटना है। वह है ही काटने के लिए। उठायी तलवार और चले कोई चीज जोड़ने, तो अखीर में जोड़ और मुश्किल हो जाएगा। जो जुड़ा था वह और टूट जाएगा।

तर्क तलवार है, किसी भी तथ्य को तोड़ने के लिए। निश्चित तोड़ने से भी बहुत बातें समझ में आती हैं। विज्ञान उस प्रक्रिया का उपयोग करता है। विज्ञान है विश्लेषण, 'एनालिसीस,' तोडना, इसलिए तर्क उपाय है। धर्म है संश्लेषण, 'सिंथेसिस,' जोड़ना, इसलिए तर्क नहीं है उपाय। और अगर तर्क उपाय नहीं है तो फिर यह सूत्र ठीक कहता है—इस विचित्र संसार को मेरा ही रूप मानना चाहिए। विचित्र है संसार। अतर्क्य है। 'इल्लाजिकल' ह, 'इर्रेशनल' है। बुद्धि की जिद् करें तो बाहर ही खड़े रह जाते हैं। बुद्धि को छोड़ें, तो ही भीतर प्रवेश है। इसलिए मैंने कहा कि कभी-कभी पागल पहुँच जाते हैं और बुद्धिमान अटक जाते हैं। इसलिए बुद्धिमानों की नजरों में जीसस पागल ही हैं।

कुछ लोगों ने पश्चिम में ऐसी किताबें लिखी हैं, जिनमें सिद्ध करने की कोशिश की है कि जीसस विक्षिप्त थे। क्योंकि कोई आदमी अपने होश में यह कैसे कह सकता है कि मैं ईश्वर का पुत्र हूँ! क्या मतलब इसका?

हिंदुस्तान इतना हिम्मतवर नहीं है, नहीं तो हम कृष्ण को भी कहेंगे—इस आदमी का दिमाग खराब था। क्योंकि कोई आदमी कैसे कह सकता है कि सब छोड़कर मेरी शरण में आ! यह तो निपट अहंकार मालूम पड़ता है, यह तो पागलपन की आखिरी ऊँचाई है कि एक आदमी कहे कि सब छोड़कर मेरी शरण में आ; मैं ही सब कुछ हूँ।

अगर यह सूत्र भी हम फ्रायडियन मनस्विद से पूछेंगे इसका अर्थ क्या है, तो वह कहेगा—मैं, छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा भी मैं ही हूँ—यह दिमाग खराब हो गया है! 'न्यूरोसीस' है। या तो छोटे हो सकते हो, या बड़े हो सकते हो। दोनों तो एक-साथ होने की बात ही गलत है। और अगर वह सुने कि यह भी कह रहा है ऋषि कि इस विचित्र संसार को मेरा ही रूप मानना; और मैं ही पुरातन पुरुष हूँ; जिससे यह सब जन्मा, वह म ही हूँ; और जिसमें यह सब लीन होगा, वह अंतिम भी मैं ही हूँ; तो वह कहेगा कि यह आखिरी बात हो गयी। इस आदमी ने सब होश खो दिये। यह जो 'इगो' है, इतनी बड़ी हो गयी कि पुरातन को भी घेर रही है। यह अहंकार इतना बड़ा गुब्बारा हो गया कि इसने सब घेर लिया।

फ्रायडियन मनस्विद 'अहं ब्रह्मास्मि'— मैं ब्रह्म हूँ, इस घोषणा को अहंकार की आखिरी विक्षिप्तता कहेगा। इसके आगे कुछ मी नहीं मान सकता। और अगर तर्क से चले, तो वह ठीक कहता है। अगर हम यह मान लें कि तर्क ही चलने का एक उपाय है, तो वह बिलकुल ठीक कहता है। लेकिन बड़े मजे की बात है कि जो ऐसा कह पाता है, उसके जीवन में फूल खिलते हैं— जो कह पाता है 'अहं ब्रह्मास्मि,' उसके जीवन में ऐसे फूल खिलते हैं, उसके जीवन से ऐसा संगीत बहता है, उसके जीवन से ऐसी आनंद की किरणें फूटने लगती हैं, उसके जीवन में चारों तरफ शीतल हवाएँ बहने लगती हैं, न केवल वह आनंद से भर जाता है, उसको जो छू लेता है निकट से, उसके पास जो आ जाता है, वह भी किसी अपूर्व प्रसाद का भागीदार हो जाता है। लेकिन फ्रायड, जो कहता है कि यह सब पागल हैं, वह रात अँधेरे में बिना बिजली जलाए नहीं सो सकता। सदा भयभीत है। जरा - सा कोई उसके खिलाफ बोल दे तो वह इतना क्रोधित हो जाता है कि उस क्रोध में कुछ भी कर सकता है। बुद्ध को वह समझेगा कि वह 'एब्नार्मल' हैं, वह थोड़े चूक गये। खुद को वह समझता है 'नार्मल'!

अगर बुद्ध 'एब्नार्मल' हैं, तो फिर 'एब्नार्मल' होना ही उचित है। अगर

बुद्ध पागल हैं, तो फिर पागल होना ही उचित है। अगर फ्रायड बुद्धिमान है, तो फिर ऐसी बुद्धिमानी सिर्फ बुद्धिहीन ही चुनेंगे।

लेकिन तर्क ! फ्रॉयड का कसूर नहीं है। फ्रॉयड वैज्ञानिक है। बुद्धि उसके पास विश्लेषण की है। संश्लेषण का उसके पास कोई उपाय नहीं है। हाथ में उसके तलवार है। चीजों को काटता है। काटकर खंड हाथ लगते हैं, अखंड खो जाता है। फूल के टुकड़े हाथ लगते हैं, फूल का सौंदर्य खो जाता है। कविता के शब्द हाथ लगते हैं, काव्य खो जाता है। चित्र के टुकड़े हाथ लगते हैं, रंग केनवॅस हाथ लगता है, चित्र की समग्रता खो जाती है। वह भी क्या करे ! उसकी टेबल पर, जिस प्रयोगशाला की टेबल पर वह बैठा है, वहाँ काटने के सिवाय कोई उपाय नहीं है। काट-काट कर टुकड़े हाथ लगते हैं। एक सुंदरतम चित्र भी टुकड़ों में कुरूप हो जाता है, बेमानी हो जाता है।

मेरी अपनी दृष्टि यह है कि सार्त्र और उस तरह के सारे विचारक, जो कहते जीवन 'मीनिंगलेस' है, उसका कारण यही है कि टुकड़े उनके हाथ में हैं जीवन के। एक कविता के पच्चीस टुकड़े करके बाँट दें लोगों को, अर्थहीन हो जाएगी। अर्थ तो जोड़ में था।

एक मजेदार घटना घटी है वॉनगॉग के जीवन में--एक डच पेंटर था, अद्भुत। किसी स्त्री ने कभी उसको प्रेम नहीं किया, चेहरा उसका कुरूप था। एक वेश्या ने सिर्फ दयावश--चेहरे में और तो कोई ऐसी चीज उसको दिखायी नहीं पड़ी जिसकी वह प्रशंसा करे--वॉनगॉग के कान की प्रशंसा कर दी कि तुम्हारे कान बड़े सुंदर हैं। यह पहला मौका था जीवन में कि वॉनगॉग के किसी हिस्से की किसीने प्रशंसा की, किसी सुंदर स्त्री ने। वॉनगॉन ऐसा अभिभूत हो गया कि घर गया, कान काटा, कपड़े में लपेटा और वेश्या को भेंट कर आया। वेश्या तो घबड़ा गयी ! उसने कहा यह तुमने क्या किया ? उसने कहा कि किसीने कभी मेरे किसी भी चीज की तो प्रशंसा नहीं की, तुम्हें कान इतना पसंद आ गया तो मैंने सोचा भेंट ही कर आऊँ।

लेकिन कटा हुआ कान बेमानी है, अर्थहीन है। उसमें अगर कोई अर्थ था भी तो सारे शरीर की संयुक्तता में था। यह वेश्या इसको फेंकने से सिवाय और क्या कर सकती है ?

करीब-करीब पूरे जीवन के साथ वैज्ञानिक प्रभाव में, तर्कशास्त्री के प्रभाव में हमने यही किया है। सब चीजें काट डाली हैं। काटकर सब चीजें व्यर्थ हो गयी हैं। किसी चीज में कोई अर्थ और किसी चीज में कोई अभिप्राय नहीं रहा है। और किसी चीज में कोई रस नहीं रह गया है, क्योंकि जीवन की धार ही कट गयी है और सूख गयी है। सब मुर्दा-मुर्दा हो गया है।

मृत्यु हो सकती है खंडों में, जीवन सदा अखंड में है। और यह अखंडता समस्त आयामों में है। इसलिए सूत्र कहता है--पुरातन पुरुष मैं हूँ। सबसे पहले जो था, वह मैं ही हूँ। सबसे अंत में जो होगा, वह भी मैं ही हूँ। जो सबसे आच्छादित होकर भीतर छिपा है, वह भी मैं ही हूँ।

ये 'मैं' की घोषणाएँ नहीं। इनका 'मैं' से कोई भी संबंध नहीं है। ये केवल अनुभूत तथ्य हैं। जो उन्होंने जाने जिन्होंने तर्क को फेंका और रहस्य को अंगीकार किया। और जिन्होंने बुद्धि को, बहुत बुद्धि के साथ प्रयोग करके देखा और पाया कि बुद्धि जीवन को छीन लेती है, मृत्यु को हाथ में दे देती है। और बुद्धि के हाथ में सब कुछ रहा तो जगत एक मरघट के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। जीवन बुद्धि से बड़ा है। और जीवन बुद्धि के पार है। और बुद्धि का कोई तालमेल जीवन से नहीं हो पाता।

असल बात यह है कि बुद्धि केवल जीवन का एक उपकरण है। उपादेय। सीमाओं में, मर्यादाओं में। जीवन बड़ा है और विराट है। क्षुद्र से जब भी हम विराट को समझाने चलेंगे तो क्षुद्र अपनी सीमाएँ विराट पर भी थोप देता है। जीवन को जी कर जाना जा सकता है, सोचकर नहीं। जीवन को जीवन होकर जाना सकता है, विचार कर नहीं। और जीवन जैसा है, उसे वैसा ही जानने की हिम्मत हो तो ही जाना जा सकता है। अगर पहले से ही हम तय कर के चलें कि जीवन ऐसा होना चाहिए तो ही स्वीकार करेंगे, तो फिर कभी नहीं जाना जा सकता। बुद्धि पहले ही तय करके चलती है। बुद्धि निर्णय पहले ले लेती है। बुद्धि कहती है जो संगत है, वही सत्य होगा। और सत्य बिलकुल असंगत मालूम होता है। तब मुश्किल खड़ी हो जाती है।

बुद्धि कहती है दो और दो मिलकर चार होने ही चाहिए। और जिंदगी बड़ी विचित्र है, यहाँ कभी दो और दो मिलकर पाँच भी हो जाते हैं, और कभी दो और दो मिलकर तीन भी रह जाते हैं। जिंदगी जीवंत है। मुर्दा चीजों को अगर जोड़ा तो दो और दो मिलकर चार ही होती हैं। लेकिन जिंदा चीजों को जोड़ो तो कुछ भी हो सकता है, कुछ कहा नहीं जा सकता। कुछ कहा नहीं जा सकता !

अगर हम दो प्रेमियों को अलग-अलग नापें, और फिर वह प्रेम में पड़ जाएँ तब नापें, तो क्या आप समझते हैं कि दो मिलकर वह सिर्फ दो ही होंगे। वे हजार गुना बढ़ जाते हैं, दो ही नहीं होते। अगर कभी आपने प्रेम का क्षण जाना है, तो आप पाएँगे कि प्रेम के क्षण में आपकी न मालूम कितनी ऊर्जाएँ जग जाती हैं जो कभी जगी नहीं थीं। तो जब दो प्रेमी मिलते हैं तब दो व्यक्ति नहीं मिलते हैं, दो जगत मिल जाते हैं। और जोड़ दो नहीं होता, जोड़ कुछ भी हो सकता है। और प्रतिपल जोड़

बदलता रहेगा। सुबह कुछ होगा, दोपहर कुछ होगा, साँझ कुछ होगा। आज कुछ होगा, कल कुछ होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।

जिंदगी बेबूझ है। तर्क की पकड़ के बाहर है। तर्क मुर्दा ढाँचे हैं। जिंदगी किसी ढाँचे को मानती नहीं। जिंदगी सब ढाँचों को तोड़ कर बहती है। जिंदगी बहती चली जाती है, कोई नियम नहीं मानती। लेकिन अराजक नहीं है। यह नियम नहीं मानना उसकी गहन स्वतंत्रता है, अराजकता नहीं। इस गैर-नियम में भी एक गहरी संगति है। लेकिन वह संगति उन्हींको दिखायी पड़ेगी जो कि तर्क की संगति का ढाँचा जबरदस्ती बिठाने की कोशिश न करें।

मैंने सुना है, एक यूनानी लोककथा है कि एक आदमी के पास एक बहुत बहुमूल्य बिस्तर था। एक बहूमूल्य चारपाई थी, स्वर्ण की, हीरे-जवाहरातों से जड़ी। इतनी महँगी थी चारपाई, बिस्तर इतना महँगा था कि उसे तो छोटा-बड़ा नहीं किया जा सकता था, तो जब कोई मेहमान उसके घर आता, उसपर वह उसे सुलाता, वह मेहमान को छोटा-बड़ा कर देता था। अगर मेहमान की टाँग बाहर निकलती तो रात काट देता। चारपाई बहुत कीमती थी और चारपाई को छोटा-बड़ा नहीं किया सकता था। और मेहमान की सेवा की दृष्टि से कि मेहमान को तकलीफ न हो, अगर पैर लंबे होते तो पैर छाँट देता; अगर गर्दन बाहर जाती तो गर्दन छाँट देता। अगर पैर छोटे होते, तो दो पहलवान लगाकर खिंचायी करवा देता, ताकि ठीक से बिस्तर पर वह आदमी आ जाए।

यह आदमी बिलकुल तर्कयुक्त था। यह आदमी बुद्धिमानी की आखिरी सीमा था। वही कर रहा था जो सभी बुद्धिमान करते हैं। वही कर रहा था जो सभी तर्कशास्त्री करते हैं। ढाँचा तय है, आपको हम छोटा-बड़ा कर लेंगे। आपके साथ ढाँचा बदलनेवाला नहीं है।

धर्म का यही भेद है। धर्म कहता है कि हम जीवन जैसा है उसे स्वीकार करते हैं। और जैसा है जीवन वैसा ही उसे जानेंगे। जैसा है जीवन वैसा ही उसे जिएँगे। हम कोई बुद्धि को ऊपर से आरोपित करने का आग्रह हमारा नहीं है। तभी अखंड जाना जा सकता है। और तभी रहस्य में प्रवेश है।

अपाणिपादो हं अचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स श्रृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम् ॥ २१ ॥

जिसके न हाथ-पैर हैं और न जिसके संबंध में चिंतन किया जा सकता है, वह शक्ति अर्थात् परब्रह्म मैं ही हूँ। मैं बुद्धि के बिना ही सब कुछ जानते, कानों के बिना ही सब कुछ सुनने और आँखों के बिना ही सब कुछ देखने की सामर्थ्य रखता हूँ। सब रूपों से परे मैं सबको जानने वाला हूँ, लेकिन मुझ चित् स्वरूप को जानने वाला कोई नहीं है ॥ २१ ॥

पंद्रहवाँ प्रवचन; माउंट आबू, १ अप्रैल १९७२, रात्रि
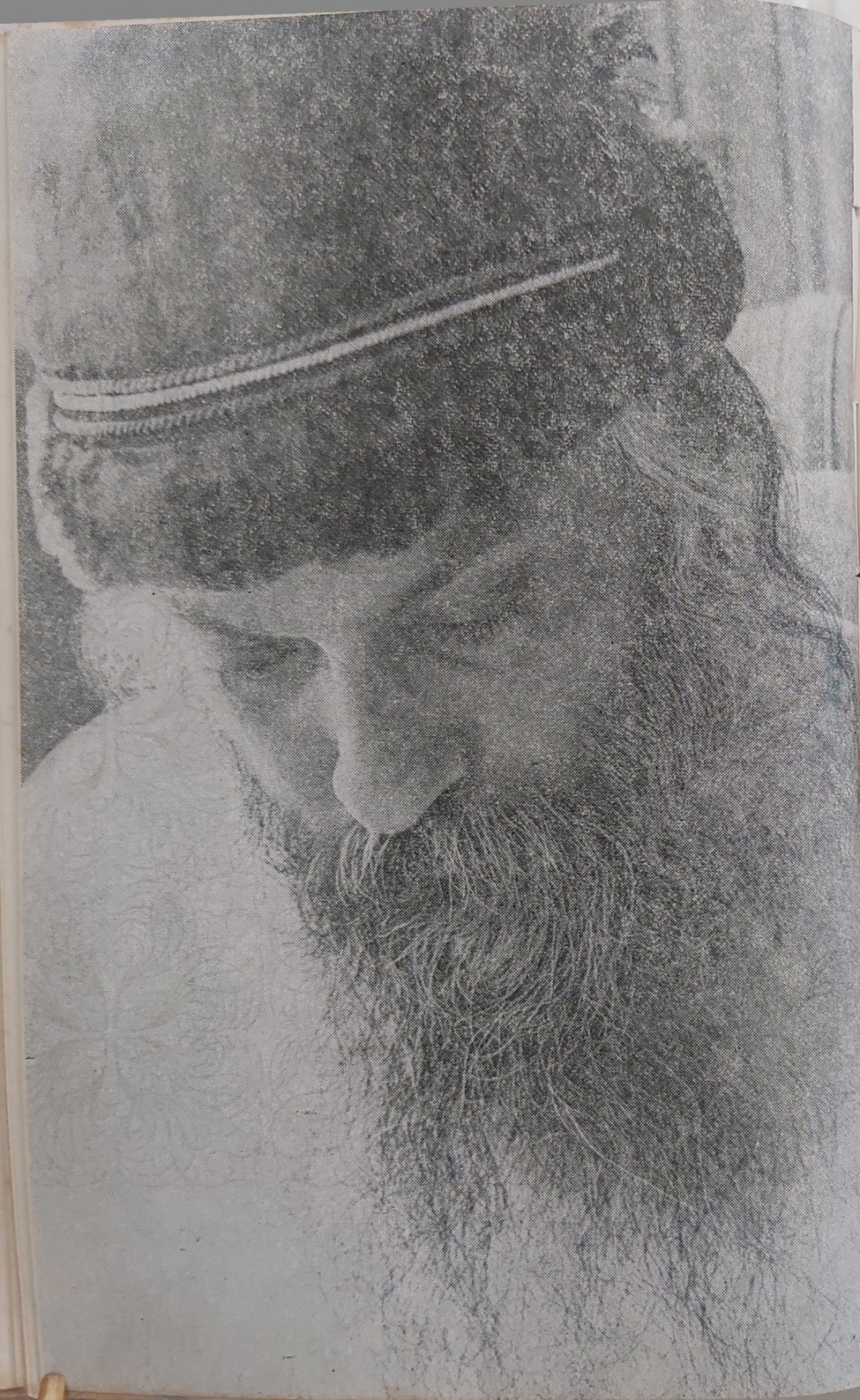
परमात्मा को पाना नहीं जीना है

इस सूत्र में प्रवेश के पहले कुछ शब्दों को समझ लेना चाहिए। जिसका कोई शरीर नहीं है, फिर भी जो है; जिसका कोई रूप नहीं है, फिर भी जो है; जिसका कोई आकार नहीं है, फिर भी जो है, उसके संबंध में इशारा है।

जो हमें दिखायी पड़ता है वह रूप है, आकार है, शरीर है। जो हमें नहीं दिखायी पड़ता है, वह भी है। मैं आपको देखता हूँ। जो मुझे दिखायी पड़ता है, वह आप नहीं हैं। निश्चित ही जो आप हो, मेरी आँख की पकड़ के बाहर छूट जाता है। आपके हाथ दिखते हैं, पैर दिखता है, शरीर दिखता है, चमड़ी दिखती है, आँख-कान दिखते हैं, आप मुझे दिखायी नहीं पड़ते हैं। जैसा आप अपने को भीतर से जानते हो, वैसा आपको बाहर से जानने का कोई भी उपाय नहीं है।

हम दूसरे में भी आत्मा मान लेते हैं, सिर्फ इसीलिए कि हम अपने में आत्मा को खयाल कर पाते हैं। अन्यथा दूसरे का शरीर ही दिखायी पड़ता है। उसके भीतर कुछ है या नहीं, वह तो दिखायी नहीं पड़ता। स्वयं के भीतर जरूर शरीर से ज्यादा किसी की प्रतीति हमें होती है, इसीलिए हम अनुमान कर लेते हैं कि दूसरे के भीतर भी बह होगा। लेकिन दूसरे में दिखायी नहीं पड़ता है। और जो दिखायी पड़ता है, वह उससे भिन्न है। इसलिए एक दिन ऐसा होता है कि जिसे हमने कल तक जीवित जाना था, वह मरा हुआ पड़ा है। सब कुछ वही है जो कल तक था। फिर भी कुछ भी वही नहीं रहा। जहाँ तक दिखायी पड़ने का संबंध है, सब कुछ दिखायी पड़ता है अभी भी। जो इंद्रियों की पकड़ में आता था वह अब भी मौजूद है। लेकिन इंद्रियों की पकड़ में कुछ नहीं आता था, वह तिरोहित हो गया। वह हट गया।

वह जो हट गया है, वह हटता हुआ भी कभी दिखायी नहीं पड़ता था। शरीर टूटता है, नष्ट होता है, मृत होता है, तो शरीर को छोड़ता हुआ कभी कोई दिखायी नहीं देता। इस कारण वैज्ञानिक सदा से कहते रहे हैं कि कुछ है नहीं

भीतर। आत्मा सिर्फ शरीर का ही एक गुणधर्म है। शरीर के अंगों का ही एक जोड़ जैसे घड़ी चलती है, । तो कोई प्राण तो उसको चलाता नहीं है। यंत्र का ही जोड़ है। यंत्र बिखर जाता है तो हम यह नहीं पूछते कि इसकी आत्मा कहाँ चली गयी? आत्मा उसमें थी ही नहीं।

वैज्ञानिक कहते रहे हैं अब तक, भौतिकवादी-चिंतक कहते रहे हैं अब तक, कि शरीर भी एक यंत्र है। और उसके भीतर यंत्र के संयोग से जो क्रिया फलित हो रही है, वही जीवन है। जीवन-रस शरीर से भिन्न नहीं है। यही सतत विवाद का कारण रहा है। और मनुष्य-जाति दो वर्गों में बंट गयी है, जाने-अनजाने। एक वर्ग है जो मनुष्य को यंत्र नहीं मानता। और एक वर्ग है जो मनुष्य को यंत्र मानता है।

जो वर्ग मनुष्य को यंत्र नहीं मानता, वह पूरे जगत को भी यंत्र नहीं मान सकता। जो वर्ग मनुष्य को यंत्र मानता है, फिर और कोई चीज नहीं बचती जिसको यंत्र मानने में कोई भी बाधा हो। फिर सारा जगत एक यंत्र हो जाता है।

भौतिकवादी की दृष्टि है कि जगत यंत्रवत् है। उसमें कोई चैतन्य पृथक् से नहीं है। अध्यात्मवादी की दृष्टि है कि जगत यंत्रवत् नहीं है। यंत्रवत् जो दिखायी पड़ रहा है, वह जगत का केवल बाह्य आवरण है। उसमें छिपा हुआ अदृश्य ही है।

इस अदृश्य को कैसे प्रमाणित किया जाए? इस अदृश्य को कैसे अनुभव किया जाए? इस अदृश्य को कैसे स्वीकार करें? कैसे इसके प्रति श्रद्धा जागे?

तर्क से यह नहीं हो सका अब तक। अध्यात्मवादियों ने बहुत तर्क दिये हैं, लेकिन सभी व्यर्थ गये। अध्यात्मवादियों ने बहुत से प्रमाण दिये हैं, लेकिन सब बचकाने हैं। अध्यात्मवादी तर्क नहीं दे पाए। भौतिकवादियों ने जो भी तर्क दिये हैं, बड़े गंभीर हैं। महत्वपूर्ण हैं। और अगर तर्क से ही निर्णय करना हो, तो विजय भौतिकवादी के हाथ पड़े। अगर तर्क ही निर्णायक हो तो नास्तिक ही जीतेगा। आस्तिक तर्क से जीत नहीं सकता।

लेकिन फिर भी अंततः आस्तिक ही जीत जाता है। और उसका कारण तर्क नहीं है। उसका कारण एक दूसरा आयाम है, अनुभव का। कुछ है जीवन में, जो अनुभव से ही जाना जा सकता है। बहुत कुछ। और जितना हो श्रेष्ठ, जितना हो सत्य, जितना हो सुंदर, जितना हो गहन, जितना हो दुरूह, जितना हो रहस्यमय, उतना ही अनुभव ही मार्ग हो जाता है।

एक अंधा आदमी है। प्रकाश के संबंध में कोई भी तर्क नहीं है समझाने का कि हम उसे समझा पाएँ कि प्रकाश है। या आप सोचते हैं कोई तर्क है, जो अंधे

आदमी को भरोसा दिला दे कि प्रकाश है। अब तक कोई तर्क नहीं खोजा जा सका। अंधे आदमी को प्रकाश का भरोसा तो दिलाना दूर, अँधेरे का भी भरोसा नहीं दिलाया जा सकता कि अँधेरा भी है। आमतौर से हम सोचते हैं कि शायद अंधे को अँधेरा रहता होगा। पर हम गलत सोचते हैं। अंधे को अँधेरा भी नहीं दिखायी पड़ता है। क्योंकि अँधेरा देखने के लिए भी आँख ही चाहिए। ऐसा मत सोचना आप कि अंधा अँधेरे में जीता है। अँधेरे को देखना भी आँख के ही द्वारा संभव है। प्रकाश और अँधेरा, दोनों ही आँख के अनुभव हैं।

तो हम अंधे से यह भी नहीं कह सकते कि प्रकाश अँधेरे से विपरीत है। यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि उसे अँधेरे का भी तो अनुभव नहीं है। उसे उस आयाम का कोई अनुभव ही नहीं है। उसके जगत में प्रकाश और अँधेरे का कोई अस्तित्व ही नहीं है। उसके भीतर प्रकाश और अँधेरे के संबंध में कोई सूचना कभी ग्रहण नहीं की गयी है। तो तर्क हम कितना ही दें, वे तर्क बेमानी होंगे। उनका कोई अर्थ नहीं होगा। और अंधे को श्रद्धा उन तर्कों पर नहीं आ सकती। सच तो यह है कि अंधे के सामने जो प्रकाश के लिए तर्क देता है, वह नासमझ है।

अंधा सिर्फ अंधा है। और तर्क देनेवाला मूढ़ है। मूढ़ इसलिए है कि वह समझ ही नहीं पा रहा है कि प्रकाश के लिए सिर्फ एक ही तर्क है, वह आँख है। अगर मेरे पास कान नहीं हैं, तो मेरे लिए अस्तित्व में ध्वनि का कोई भी उपाय नहीं है, कि मैं जान पाऊँ कि ध्वनि है।

इस संबंध में एक बात बहुत गहरी खयाल में ले लेने जैसी है। कठिन पड़ेगी थोड़ी, लेकिन इधर विज्ञान भी इस बात पर झुकाव लेता चला गया है।

आप कभी देखते हैं आकाश में थोड़े बादल हैं, थोड़ी वर्षा हो रही है, एक कोने से सूरज निकल आया है बादलों को चीरकर और इंद्रधनुष बन गया है। क्या आपने कभी यह सोचा है अपने मन में कि अगर आप आँख बंद कर लें, तो भी इंद्रधनुष आकाश में रहेगा कि नहीं रहेगा? आप निश्चित ही कहेंगे कि मेरी आँख से क्या लेना-देना? मैं आँख बंद करूँ, इंद्रधनुष तो रहेगा। लेकिन विज्ञान कहता है कि आपके आँख बंद करते ही इंद्रधनुष नहीं रहेगा। क्योंकि इंद्रधनुष के बनने के लिए सूरज की किरण चाहिए, पानी की बूंद चाहिए और आँख चाहिए। तीन चीजें चाहिए। सूरज की किरण एक खास कोण पर पानी की बूंद से गुजरे और आँख पर एक खास कोण पर गिरे तो इंद्रधनुष निर्मित होता है। इंद्रधनुष आप वहाँ देखते हैं ऐसा मत समझना, आपकी आँख भागीदार है उसको निर्माण करने में।

इसका मतलब यह हुआ कि अगर जमीन पर कोई देखनेवाला न हो, तो कभी

इंद्रधनुष निर्मित नहीं होगा। इंद्रधनुष में आपकी आँखें उतना ही हाथ बँटाती है, जितना सूरज, जितना पानी की बूंद।

इंद्रधनुष के संबंध में तो यह समझ लेना आसान है। लेकिन क्या आप समझते हैं कि सूरज की किरण भी, अगर जमीन पर आँख न हो, तो प्रकाश नहीं होगा। यह जरा थोड़ा कठिन मालूम पड़ेगा। लेकिन यह भी कठिन नहीं है। वैज्ञानिक इसके लिए अब बिलकुल राजी हैं कि अगर जमीन पर कोई भी आँख न हो तो प्रकाश नहीं होगा। क्योंकि प्रकाश के भी बनने में, प्रकाश के अनुभव में भी सूरज की किरण उतनी ही जरूरी है, जितनी आँख। प्रकाश सूरज की किरण और आँख के बीच का सम्मिलन है। आँख जहाँ सूरज की किरण से मिलती है, वहाँ प्रकाश पैदा होता है। प्रकाश एक अनुभव है। प्रकाश एक वस्तु नहीं है।

इसे ऐसा समझें थोड़ा।

एक कमरे में आप बैठे हुए हैं। कई रंग के चादर लटके हुए हैं, कुर्सियाँ अलग रंग की हैं, किताबें बहुत रंग की रखी हुई हैं, दीवालें रंगी हुई हैं, कई रंग हैं। क्या आपने कभी ख्याल किया कि जब आप प्रकाश बुझा देते हैं, तो आपकी लाल कुर्सी लाल नहीं रह जाती और आपके हरे पर्दे हरे नहीं रह जाते ? आप सदा रात को सोते होंगे तब यही सोचते होंगे अपने अँधेरे में अपने कमरे का जो पर्दा है वह अभी भी हरा होगा, तो आप गलती में हैं। यह वैज्ञानिक-तथ्य मैं कह रहा हूँ, इनका धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है।

विज्ञान कहता है कि पर्दे के हरे होने के लिए सूरज की किरण चाहिए, आदमी की आँख चाहिए। अगर यह दोनों मौजूद न हों, पर्दा हरा नहीं होता। क्योंकि जो पर्दा आपको हरा दिखायी पड़ता है, या किसी भी प्रकार की किरण पड़ती है, तो किरण में सात रंग हैं। जब भी किसी चीज पर किरण पड़ती है, तो वापिस लौटती है। और हर वस्तु—कोई वस्तु रंगीन नहीं है—हर वस्तु इन सात किरणों में से कुछ किरणों को पी लेती है, आत्मसात कर लेती है और कुछ किरणों को वापिस लौटा देती है।

यह बहुत मजे की बात है कि हरे पर्दे का मतलब होता है कि इस पर्दे के कपड़े ने सब किरणें पी लीं, सिर्फ हरी किरण को वापिस लौटा दिया। इसलिए वह जब लौटती है, हरी किरण जब आपकी आँख पर पड़ती है, तो यह पर्दा हरा दिखायी पड़ता है। यह बहुत उलटा मालूम पड़ेगा। हरा पर्दा हरी किरण को छोड़ देता है, पीता नहीं है। बाकी सबको पी जाता है। हरा बिलकुल नहीं है, बाकी सब हो भी सकता है। हरे को छोड़ देता है। और वह जो हरी किरण छूटती है वापिस, जब आँख से टकराती है तो पर्दा हरा मालूम पड़ता है। उस हरी किरण

की वजह से।

लेकिन अगर कमरे में कोई आँख ही नहीं है, समझ लो कमरे में प्रकाश है, लेकिन आँख नहीं—दरवाजा बंद है, भीतर कोई भी नहीं—तो पर्दा हरा नहीं होगा, कुर्सी लाल नहीं होगी। दीवाल पीली नहीं होगी। किताबों में अक्षर काले नहीं होंगे और पन्ने सफेद नहीं होंगे। और रात के अँधेरे में न आँख है, न प्रकाश है, सब चीजें बेरंग हो जाती हैं।

प्रकाश का अनुभव किरणों की मौजूदगी और आँख की मौजूदगी का सम्मिलित अनुभव है। इसलिए अंधे आदमी को बिना आँख के प्रकाश के अनुभव करवाने की कोई भी व्यवस्था नहीं है। या प्रकाश की प्रतीति करवाने के लिए कोई भी तर्क उपयोगी नहीं है। हम भी समझ जाएँगे अंधे को समझाने में कि समझाना व्यर्थ है। बेहतर है कि चिकित्सा करें।

लेकिन मनुष्य के भीतर जो आत्मा है, उसके लिए हम तर्क से निर्णय करने चलते हैं। वह भी अनुभव है। और जब तक ध्यान की आँख उपलब्ध न हो तब तक वह अनुभव नहीं होता। इसलिए ध्यान को तीसरी आँख कहा है। वह आँख उपलब्ध हो, तो जो दिखायी पड़ता है, वह आत्मा है। उसके हाथ-पैर नहीं हैं, उसका शरीर वही है, वह अरूप है। वह मात्र चैतन्य है। और तब जो दिखायी पड़ता है, अगर वह अपनी परिपूर्ण शुद्धता से अनुभव में आए, तब यह सूत्र ख्याल में आएगा।

इस सूत्र में ऋषि ने कहा है—'जिसके न हाथ है, न पैर; और न जिसके संबंध में चिंतन किया जा सकता है'। क्योंकि चिंतन वहीं तक किया जा सकता है जहाँ तक इंद्रियों की पकड़ में कुछ आता हो। चिंतन की सीमा इंद्रियों की सीमा है। इंद्रियाँ जहाँ तक देख पाती हैं, चिंतन वहीं तक जा पाता है। चिंतन इंद्रियों का अनुगामी है। आपकी आँख ने जो देखा है, आपका मन उसका चिंतन कर सकता है। आपकी आँख ने जो नहीं देखा है, आपका मन उसका चिंतन नहीं कर सकता है।

लोग आमतौर से कहते हैं कि फलाँ बात कल्पना है। लेकिन कल्पना भी आपके अनुभव के आधार पर होती है। कोई कल्पना वस्तुतः कल्पना नहीं होती। सिर्फ दो अनुभवों का जोड़ होती है। आप कह सकते है कि मैंने ऐसा कोई घोड़ा नहीं देखा जो सोने का बना हो और आकाश में उड़ता हो। लेकिन मैं कल्पना कर सकता हूँ। लेकिन ध्यान रखिये, आपने उड़नेवाली चीजें देखी हैं, सोने की चीजें देखी हैं, घोड़ा देखा है। और इन तीनों को आप जोड़ भर ले रहे हैं। इसमें कल्पना कुछ भी नहीं हैं। इन तीन अनुभवों को आप जोड़ रहे है। लेकिन तीनों आपके

अनुभव हैं। आप एकाध ऐसी कल्पना कर सकें जो आपका अनुभव ही न हो, तो आप जगत में चमत्कार घटित कर रहे हैं! अब तक ऐसा हुआ नहीं है।

आप जो भी सोच सकते हैं, वह आपकी इंद्रियों के द्वारा दिया गया अनुभव है। मन इंद्रियों का राजा नहीं है, इंद्रियों का अनुगामी है। मन इंद्रियों का मालिक नहीं है, केवल इंद्रियों की छाया है। आँख देती है, कान देता है, हाथ देता है, नाक देती है, जबान देती है, यह सारे अनुभव मन इकट्ठे कर लेता है। और उनके पीछे चलता है। आपकी पाँच इंद्रियाँ हैं, उन्होंने जो-जो आपको दिया है, क्या आपका मन ऐसी कोई चीज कभी सोच सकता है जो इन पाँच इंद्रियों से संबंधित न हो? एक भी बात नहीं सोच सकता।

इसे थोड़ा हम और तरह से समझें तो शायद आसानी पड़े।

जमीन पर बहुत तरह के प्राणी हैं। कुछ प्राणी हैं जिनके पास चार इंद्रियाँ हैं। मान लो उनके पास आँख नहीं है। तो उन प्राणियों के चिंतन में प्रकाश कभी भी रूप नहीं लेगा। कुछ प्राणी हैं जिनके पास तीन इंद्रियाँ हैं। समझ लो उनके पास कान नहीं है। तो उन प्राणियों के जीवन में प्रकाश और ध्वनि का कभी कोई अनुभव नहीं होगा। न चिंतन होगा, न विचार होगा, न स्वप्न होगा।

इससे हम जरा उल्टा सोचें।

कहीं किसी उपग्रह पर--क्योंकि वैज्ञानिक कहते हैं कोई पचास हजार ग्रहों पर जीवन होना चाहिए; इसकी संभावना है--अगर कहीं--कहीं जीवन हो और वहाँ जो व्यक्ति हों उनके पास छः इंद्रियाँ हों, तो उनकी छठवीं इंद्रिय की हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि उससे वे क्या जानते होंगे। अगर चार इंद्रियाँ हो सकती हैं, तीन हो सकती हैं, तो छः भी हो सकती हैं, सात भी हो सकती हैं, दस भी हो सकती हैं। अगर दस इंद्रियोंवाला प्राणी कहीं कोई मिल जाए तो हम सोच भी नहीं सकते कि वह क्या सोचता होगा। और वह हमसे कहे भी तो हमारी समझ में कुछ भी नहीं आएगा। उसके शब्द ही हमे बेमानी लगेंगे। अर्थहीन लगेंगे। हमारे पास पाँच हैं तो हम सोचते हैं पाँच इंद्रियों पर जगत समाप्त हो गया। जिनके पास चार हैं, वह सोचते हैं चार अनुभव में जगत की समाप्ति हो गयी। जिनके पास तीन हैं, वह समझते हैं तीन में ही जगत पूर्ण है।

अमीबा है, बैक्टीरिया हैं छोटे, बहुत छोटे जीवाणु हैं, उनके पास सिर्फ शरीर है, कोई इंद्रिय नहीं है--कहें कि वह एक-इंद्रिय हैं। सिर्फ शरीर है उनके पास। प्राथमिक जीवाणु 'अमीबा' है। उसके पास सिर्फ देह है। न आँख है, न कान है, न... कुछ और नहीं है। वह सिर्फ शरीर से ही जीता है। शरीर के द्वारा ही वह भोजन भी उपलब्ध करता है, शरीर से ही साँस लेता है, शरीर से ही सरकता है--

उसके पास पैर नहीं है--शरीर ही उसका बड़ा होता चला जाता है। एक सीमा के बाद शरीर दो टुकड़ों में टूट जाता है। वही उसकी संतति है। उसके पास कोई इंद्रियाँ नहीं हैं। और उसको भी तो कुछ अनुभव होगा जगत का? वह जगत का अनुभव सिर्फ स्पर्श का होगा। चीजों से टकराता होगा, छूती होंगी चीजें, बस स्पर्श का अनुभव होगा। उसका जगत बड़ा सरल जगत होता। उसमें सिर्फ एक ही घटना घटती है--स्पर्श की। उस 'अमीबा' को समझाने का कोई भी उपाय नहीं है कि यहाँ और घटनाएँ भी घटती हैं।

ऋषि ने कहा है-- जिसका चिंतन नहीं किया जा सकता। क्योंकि इंद्रियाँ जितना जानती हैं उतने का ही चिंतन हो सकता है। और उसे इंद्रियाँ कभी भी नहीं जानतीं। न आँख उसे देखती है, न कान उसे सुनते हैं, न हाथ उसे छूते हैं, वह इंद्रियों के पार रह जाता है। वह जो इंद्रियों के पार है, वह मन से सोचा नहीं जा सकता। चिंतन उसका असंभव है। मनन उसका असंभव है।

'जिसके न हाथ हैं, न पैर, न जिसके संबंध में चिंतन किया जा सकता, वह शक्ति अर्थात् परब्रह्म मैं ही हूँ'। वह जो अचिंतनीय है, अचिंत्य है, अपरिमाप्य है, अतींद्रिय है, वह मैं ही हूँ। इसे भीतर से ही जानेंगे तो ठीक होगा। आपको अपना पता चलता है। इतना तो तय है कि आपको अपने होने का पता चलता है। लेकिन क्या कभी आपने सोचा कि जब दूसरी चीजों का आपको पता चलता है तो इंद्रियों के द्वारा चलता है, आपके स्वयं के होने का पता किस इंद्रिय के द्वारा चलता है? प्रकाश का पता चलता है तो आँख से चलता है। ध्वनि का पता चलता है तो कान से चलता है, लेकिन आपको अपना पता किस इंद्रिय से चलता है? आप हैं, ऐसा आपको अनुभव किस इंद्रिय से होता है?

ऐसा अनुभव तो होता ही है कि मैं हूँ। यह नास्तिक को भी होता है, पदार्थवादी को भी होता है। और कोई यह भी कहे कि मैं नहीं हूँ, तो भी कम-से-कम कहने के लिए भी, इनकार करने के लिए भी स्वयं को उसे स्वीकार करना पड़ता है। मैं को इनकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उसे इनकार करने में भी स्वीकार करने की मजबूरी है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन अपने मित्रों को घर ले आया। कॉफीहाउस में बैठ कर काफी बातचीत में बढ़ गया। और बातचीत यहाँ तक पहुँच गयी कि मुल्ला ने कहा कि मुझसे उदार व्यक्ति इस गाँव में दूसरा नहीं है। यह सिर्फ चर्चा थी, मुल्ला को पता नहीं था कि यह उपद्रव हो जाएगा। बीस-पच्चीस मित्र इकट्ठे थे। उन्होंने कहा अगर ऐसा है, तो हमने कभी तुम्हारा निमंत्रण नहीं आज तक सुना। कभी तुम्हारे घर चाय भी पीने नहीं बुलाया तुमने, तो आज अगर तुम उदार ही हो तो

हम तुम्हारे घर भोजन के लिए चलें। मुल्ला जोश में था, उसने कहा कि सब चलो, निमंत्रण है।

पर जैसे-जैसे घर पास आने लगा, पत्नी भी पास आने लगी, वैसे-वैसे भय भी व्याप्त होने लगा। घर के दरवाजे पर उसके हाथ-पैर कँपने लगे कि यह तो मुसीबत हो गयी। पत्नी को क्या कहेगा? उसने कहा मित्रो, जरा बाहर रुको, तुम जानते ही हो, जरा मैं पत्नी को पहले राजी कर लूँ, फिर तुम्हें भीतर बुलाऊँ।

वह भीतर गया। पत्नी को उसने कहा कि मैं बीस-पच्चीस मित्रों को, बड़ी भूल में पड़ गया हूँ, निमंत्रण दे आया हूँ। और भोजन का इंतजाम . . . पत्नी तो आग बैठी थी, क्योंकि वह दिन-भर से मुल्ला लौटा नहीं था। उसने कहा कि दिन भर के बाद आए हो और यह उपद्रव लेकर आए हो! भोजन तो आज बिलकुल बनाया ही नहीं। तो मुल्ला ने कहा, फिर एक काम करो। तुम जा कर उनसे कह दो कि मुल्ला नसरुद्दीन घर पर नहीं हैं। उसकी पत्नी ने कहा तुम पागल तो नहीं हो गये हो? तुम्हीं इनको लेकर आए हो। मुल्ला ने कहा तू कोशिश कर।

मुल्ला की पत्नी बाहर गयी, मित्रों से उसने पूछा कैसे आए हैं आप? उन्होंने कहा, कैसे आए हैं! मुल्ला हमें निमंत्रण देकर आए हैं, भोजन के लिए हम आए हैं। पत्नी ने कहा मुल्ला तो घर पर नहीं हैं। मित्रों ने कहा, आश्चर्य, हमने अपने साथ उन्हें अपनी आँखों से घर के भीतर जाते देखा है। हमने अपने कानों से तुम्हारी और उनकी बातचीत सुनी है। हमने उन्हें यह भी कहते सुना है कि तुम जा कर मित्रों को कहो कि मुल्ला घर पर नहीं हैं। मुल्ला को इससे बड़ा क्रोध आ गया—उसे तो सुनायी पड़ रहा था भीतर। जोश उसका बढ़ गया। उसने खिड़की खोली और जोर से कहा कि यह भी तो हो सकता है कि मुल्ला तुम्हारे साथ आए हों और पीछे के दरवाजे से कहीं चले गये हों।

जो आदमी इनकार करता हो कि मैं नही हूँ, उसका इनकार ऐसा ही होगा। इनकार करने में भी तो मैं मौजूद हो जाता है। लेकिन इस मैं का आपको पता कैसे चलता है? कैसे आपने जाना कि आप हैं? क्या उपाय, क्या विधि, क्या उपकरण है? कौन-सी इंद्रिय ने, किस माध्यम से आपको खबर मिली कि आप हैं? तब आप बड़ी मुश्किल में पड़ेंगे। लेकिन इंद्रिय से यह खबर नहीं मिलती। निश्चित ही आपका जो अनुभव है, वह इंद्रियों से उपलब्ध नहीं होता। आप अपने को जानते हैं कि मैं हूँ, बिना किसी कारण के, बिना किसी गवाही के!

अगर किसी अदालत में आप पर मुकदमा चले और आपको गवाही उपस्थित करनी पड़े कि आप गवाही दें, कौन है गवाह कि आप हैं? हाँ, यह गवाह मिल सकते हैं आपको कि आपका नाम क्या है, आपके पिता का नाम क्या है, लेकिन

अगर कोई अदालत यह जिद करे कि आप यह गवाही दें पहले कि यह पक्का हो कि आप हैं, तो आप कोई भी गवाही उपस्थित न कर सकेंगे। क्योंकि इसकी कोई गवाही नहीं है। यह आपका अंतर्बोध है। अतींद्रिय बोध है, इंद्रियों से उसका कोई लेना-देना नहीं है। इसलिए कोई इंद्रिय उसकी गवाही नहीं दे सकती।

इसीलिए दूसरी बात भी आप ख्याल में ले लें, अगर मेरी सारी इंद्रियाँ भी मुझसे अलग कर दी जाएँ तो भी मेरे होने का बोध नहीं खोता। अगर मेरा हाथ काट दिया जाए तो मेरे होने के बोध में कमी नहीं पड़ती। मेरी आँखें निकाल ली जाएँ तो मेरे होने के बोध में कोई कमी नहीं पड़ती। मेरी जबान काट दी जाए तो मेरे होने के बोध में कोई कमी नहीं पड़ती। मेरा जगत छोटा हो जाएगा, मैं छोटा नहीं होऊँगा। मेरी आँख अगर फूट गयी, तो प्रकाश का जगत मेरा समाप्त हो गया, इस जगत में मेरे लिए प्रकाश का आयाम न रहा, मेरा जगत दरिद्र हो जाएगा। उसमें से प्रकाश और रंग खो जाएँगे। मेरे कान अगर किसी ने फोड़ दिये, तो मेरे लिए जगत में फिर संगीत न रहा, ध्वनि न रही, शब्द न रहा, भाषा न रही, मेरा जगत छोटा हो गया और भी। मेरे पैर और हाथ किसीने काट दिये तो गति से इस जगत में जो मेरा संबंध होता था, वह छूट गया।

लेकिन एक मजे की बात है, इससे मेरे होने के बोध में इंच भर भी कमी नहीं होगी। क्योंकि अगर मेरे होने का बोध आँख से मिला ही नहीं था तो आँख के हटने से खोएगा भी क्यों? और अगर मेरे होने के बोध में कान ने कुछ दान ही नहीं किया था, तो कान के हट जाने से मेरे होने के बोध में कमी क्यों पड़ेगी? अंधे का जगत छोटा है, लेकिन आत्मा छोटी नहीं होती आपकी। और कभी-कभी तो बड़ी भी होती है। बड़ी का मतलब यह कि जगत छोटा होता है, इसलिए ध्यान बँटाने के लिए बाहर का कम उपाय होता है, तो ध्यान भीतर की तरफ प्रवेश करने लगता है।

इंद्रियों से उसका बोध नहीं होता। उसके बोध का कोई संबंध इंद्रियों से नहीं है। इसलिए मेरी सारी इंद्रियाँ भी हट जाएँ तो भी मैं उतना ही होता हूँ जितना था। जिसका बोध इंद्रियों से नहीं होता, फिर भी जिसका बोध होता है, इस बोध को हमें कोई नया नाम देना पड़े; इसीलिए इसे आत्मबोध कहा है। अगर आप मुझे दिखायी पड़ रहे हैं तो प्रकाश चाहिए। अभी प्रकाश बुझ गया था, आप मुझे दिखायी नहीं पड़ रहे थे। लेकिन सारा प्रकाश जगत से बुझ जाए, तो भी क्या ऐसा हो सकता है कि मैं स्वयं को दिखायी न पड़ूँ? सारे जगत का प्रकाश बुझ जाए, गहन अंधकार हो जाए, कुछ भी मुझे न दिखायी पड़े, तो भी एक तो मुझे दिखायी पड़ता रहेगा, वह मैं हूँ। यह जो मेरे भीतर का अस्तित्व है, अतींद्रिय है। आपके

भीतर भी जो है वह भी अतींद्रिय है ।

और जिसका बोध इंद्रियों पर निर्भर नहीं है, उसके लिए भी ऋषि ने कहा है, जिसके न हाथ हैं, न पैर । जो हाथों में और पैरों में है, लेकिन जिसके न हाथ हैं और न पैर हैं । जो कान में से सुनता है और जो आँख में से झाँकता है, लेकिन न कान है, न आँख । कान और नाक और हाथ और पैर का जो उपयोग करता है, लेकिन जिसका कोई हाथ-पैर, कान-नाक नहीं । इंद्रियाँ जिसके उपकरण हैं, लेकिन इंद्रियाँ जिसकी अनिवार्यता नहीं हैं । जो बिना इंद्रियों के है । और यह भी समझ लें कि क्योंकि भीतर की चेतना बिना इंद्रियों के है, इसीलिए इंद्रियों का उपयोग कर पाती है । नहीं तो उपयोग नहीं कर पाएगी । आँख खुद नहीं देखती । आँख से वह देखता है जिसके पास कोई आँख नहीं है । इस आँख से भी वह देखता है जिसके पास कोई आँख नहीं है । यह आँख भी एक खिड़की से ज्यादा नहीं है । इस कान से भी वही सुनता है जिसके पास कोई कान नहीं है । यह कान भी एक खिड़की से ज्यादा नहीं है ।

और इसलिए एक और मजे की बात है, वह यह कि अगर प्रयास किया जाए तो बिना कान से भी सुना जा सकताा है । और अगर प्रयास किया जाए तो बिना आँख के भी देखा जा सकता है । और अगर प्रयास किया जाए तो बिना शब्द के भी बोला जा सकता है । अब तो इस संबंध में काफी खोजबीन चल पड़ी है, और न- मालूम कितने विश्वविद्यालय 'साइकिक रिसर्च' पर, इस परा मनोविज्ञान पर अध्ययन, विश्लेषण, शोध कर रहे हैं । और बहुत से तथ्य वैज्ञानिक बन गये हैं ।

इसीलिए पहले उन तथ्यों की आपसे बात कहूँ जो वैज्ञानिक बन गये हैं, क्योंकि उनमें फिर कोई विवाद नहीं है । लेकिन धर्म उन तथ्यों की निरंतर घोषणा करता रहा है । निरंतर घोषणा करता रहा है । लेकिन धर्म की बात तब तक माननी लोगों को मुश्किल पड़ती है, जब तक कि कोई अनुभूत प्रयोग स्पष्ट न हो जाएँ ।

बुद्ध के संबंध में कथा है, कि बुद्ध का शिष्य जहाँ भी दूर, कितनी ही दूर हो, जब भी बुद्ध का स्मरण करे तो बुद्ध से अंतर्संबंध स्थापित हो जाते थे । कितने ही दूर हो और अगर बुद्ध से पूछना चाहे तो उत्तर पा सकता था । लेकिन यह बात कपोल-कल्पना और कथा मालूम पड़ती है । लेकिन वैज्ञानिक आधारों पर पश्चिम में सब सुनिश्चित हो गया है कि समय और स्थान का फासला विचार के संक्रमण में बाधा नहीं है । कितनी ही दूर विचार संक्रमित हो सकता है ।

रूस के फयादेव ने एक हजार मील दूर तक विचार के संक्रमण के स्पष्ट प्रयोग समस्त वैज्ञानिक व्यवस्थाओं में सफल किये हैं । एक हजार मील दूर पर कैसे

भी व्यक्ति को फयादेव संदेश प्रसारित कर सकता है--बोलता नहीं है, आँख बंद कर लेता है, बंद ही नहीं कर लेता करीब-करीब कॉमा की हालत में पड़ जाता है। बेहोश हो जाता है। ध्यान करता है, पंद्रह-बीस मिनट बाद बिलकुल मुर्दे की तरह हो जाता है । और जब मुर्दे की तरह हो जाता है तब वह विचार संक्रमित कर पाता है ।तब बिना बोले, बिना शब्द का, कंठ का उपयोग किये उसके विचार संक्रमित कर पाता है । तब बिना बोले, बिना बोले, बिना शब्द का, कंठ का उपयोग किये उसके विचार संक्रमित हो जाते हैं, दूर, कितने ही दूर !

रूसी उत्सुक रहे हैं पिछले बीस वर्षों से, विशेषकर अंतरिक्ष की यात्रा के लिए । क्योंकि अंतरिक्ष की यात्रा में यंत्रों पर ही निर्भर रहना कभी भी खतरनाक हो सकता है । जैसे अभी एक दुर्घटना हो गयी । अगर रेडियो-यंत्र जरा-भी बिगड़ जाए-- और यंत्र का भरोसा नहीं है । कितना ही सुनिश्चित हो तो भी भरोसा नहीं है, कभी बिगड़ तो सकता ही है-- अगर अंतरिक्ष की यात्रा में किसी यात्री-विमान का रेडियो-यंत्र बिगड़ जाए तो हमारे संबंध उससे सदा के लिए खो जाएँगे । फिर वह जीवित है, यान के यात्री बचे या मर गये, कहाँ गये, क्या हुआ, फिर कभी उनका हमें कोई भी पता नहीं चलेगा । यह स्थिति भयजनक है ।

इसलिए रूस में बीस साल में चिंता पैदा हुई और इसकी फिकर की गयी कि यंत्रों के साथ-साथ परिपूरक व्यवस्था भी कोई होनी चाहिए । जब यंत्र असफल हो जाएँ, तो क्या विचार-संक्रमण तब भी हो सकता है ? कि यंत्र बंद पड़ गये हों तो यात्रियों में कोई कम-से-कम पृथ्वी को इतनी खबर तो दे सके कि हम कहाँ हैं । कि हमसे संबंध कैसे निर्मित किया जाए । दो-चार शब्द भी वहाँ से संक्रमित हो सकें, ऐसा कोई उपाय । तो पहली दफे उनको 'टेलीपैथी' का ख्याल आया । पहली दफे उनको पता चला कि सारी दुनिया के धर्म कहते हैं कि विचार का संक्रमण बिना इंद्रियों के हो सकता है । तो इसकी कोशिश की जाए। तो बीस वर्ष में रूस ने बहुत प्रयोग किये हैं और उनकी सफलता अनूठी है । विचार संक्रमण सफल हो गया है । कितनी ही दूरी पर, सिर्फ मैं अपने भीतर ध्यान करूँ, तो विचार को प्रक्षेपित किया जा सकता है ।

अब बड़ी कठिनाई है कि वह विचार जाता कैसे है ? कोई इंद्रिय उपयोग में नहीं आती । देनेवाले की तरफ से भी और लेनेवाले की तरफ भी । 'रिसीवर' की तरफ भी कोई इंद्रिय काम में नहीं आती । क्योंकि 'रिसीवर' को भी शांत होकर पड़ जाना पड़ता है, बस । जिसको विचार सुनायी पड़ता है, वह भी यह नहीं कहता है कि कान से सुनायी पड़ रहा है । वह भी कहता है, भीतर सुनायी पड़ता है । कान से कुछ लेना-देना नहीं है । कानों को बिलकुल बंद कर दिया तो भी

सुनायी पड़ता है। कानों को सब तरफ बंद कर दिया कि जरा-सी भी आवाज अंदर प्रवेश न कर सके--बाहर ढोल बज रहे हैं, वह सुनायी नहीं पड़ता--लेकिन फयादेव हजार मील दूर से जो बोल रहा है वह सुनायी पड़ता है। एक बात साफ है कि कान से वह नहीं जा रहा है।

फिर कहाँ से जा रहा है?

अमरीका में टेड सीरियो है, वह कितने ही दूर के स्थानों में चीजों को देख पाता है। कितने ही दूर। न्यूयॉर्क में बैठकर उसने ताजमहल को देखा। और फिर देखते ही उसकी आँख में चित्र भी आ जाता है ताजमहल का। और सिर्फ आँख में चित्र ही नहीं आता, उसका फोटोग्राफ भी उतारा जा सकता है। हजारों फोटोग्राफ उतारे गये हैं। जो उसकी आँख में से लिये गये हैं। और वह ठीक ताजमहल की खबर देते हैं। इस आदमी को क्या हो रहा है? और जब इसकी आँख में चित्र आता है, तब इसकी आँख बंद होती है। आँख बंद करके वह ध्यान करता है ताजमहल पर, फिर जब चित्र भीतर आ जाता है तब वह कहता है--अब मैं आँख खोलता हूँ, कैमरा तैयार कर लो। क्योंकि क्षणभर में खो जाता है वह चित्र। और कई दफे तो बहुत मजेदार घटनाएँ घटी हैं। जैसे पिछली दफे जब वह ताजमहल पर प्रयोग कर रहा था, तो उसने केमरामैन को कहा कि ठीक, चित्र पकड़ गया है मेरे भीतर--आँख बंद है, तो इसलिए बंद आँख में इस ताजमहल के चित्र के आने का कोई उपाय नहीं है; सामने भी ताजमहल के खड़े होओ तब भी नहीं आ सकता है, तो न्यूयॉर्क और आगरा में बहुत फासला है, आँख देख पाए इसका कोई उपाय नहीं--आँख बंद है और तब कि ठीक है, कैमरा तैयार कर लें, क्लिक दबाने के लिए हाथ रख लें, मैं आँख खोलता हूँ। आँख उसने खोली और उसने कहा कि चूक गये, यह तो हिल्टन होटल आ गये। और जो फोटो में चित्र आया वह हिल्टन होटल का था। वह ताजमहल का नहीं था।

आँख के बिना देखा जा सकता है। दूरी पर, फासले पर। तो भीतर जो छिपा है, उस छिपे हुए का हमने अब तक इंद्रियों से ही उपयोग किया है। हमने इंद्रियों के बिना उसका उपयोग नहीं किया है। इसलिए हमें कुछ पता नहीं कि उसकी अतींद्रिय क्षमता क्या है?

इस सूत्र में उस क्षमता की खबर है। वह खबर यह है कि--वह परम शक्ति, वह परम ब्रह्म मैं ही हूँ। मैं बुद्धि के बिना ही सब कुछ जानने और कानों के बिना ही सब कुछ सुनने और आँखों के बिना ही सब कुछ देखने की सामर्थ्य रखता हूँ। यह सामर्थ्य प्रत्येक के भीतर छिपी है। इस सामर्थ्य का उपयोग हम करें या न करें, यह बिलकुल दूसरी बात है। हमारे जीवन में जो बड़े-से-बड़े चमत्कार भी

दिखायी पड़ते हैं, वैसी सामर्थ्य सबके भीतर छिपी है प्रयोग की ही बात है।

राममूर्ति थे, तो वह अपनी छाती पर हाथी को खड़ा कर लेते थे। या मोटर को निकाल सकते थे। लेकिन उनकी छाती में कोई भी विशेषता न थी। जैसी सबकी छातियाँ है वैसी छाती ही थी। फर्क इतना ही था कि लंबे अभ्यास का फर्क था। फिर भी कितना ही अभ्यास हो, छाती पर हाथी को खड़ा करना तो प्राणायाम का एक प्रयोग है। हम सब रोज देखते हैं, लेकिन हमारे खयाल में नहीं आता। रबर का एक पहिया कितने ही वजन के ट्रक को खींचे लिये चला जाता है। वह रबर की ताकत नहीं है, रबर के भीतर हवा की ताकत है।

तो राममूर्ति ने एक अभ्यास किया था कि छाती में हवा का इतना आयाम भर लिया जाए कि छाती टायर की तरह उपयोग में आ जाए। तो फिर हाथी खड़ा हो सकता है। वह हाथी छाती पर नहीं पड़ता उसका वजन, छाती के भीतर भरे हुए हवा के आयाम पर पड़ता है। इसलिए छाती को नुकसान नहीं पहुँचता। वह हवा का आयाम ही उसे झेल लेता है। उतना आयाम सबकी छाती में भर सकता है। हम सबकी छाती में छः हजार छिद्र हैं, जिनमें हवा भर सकती है। लेकिन सामान्यतः डेढ़ हजार छिद्रों से ज्यादा हम साँस ही नहीं लेते कभी। हमारी साँस ऊपर ही जाती है और निकल जाती है। साढ़े चार हजार छिद्र तो जीवन भर कार्बन से ही भरे रहते हैं, उन तक हवा पहुँचती ही नहीं।

योग कहता है कि अगर वे साढ़ेचार हजार छिद्र भी प्राणवायु से भर जाएँ तो आदमी की उम्र तीन गुनी हो जाएगी। क्योंकि उम्र और जीवन ऑक्सीजन का ही खेल है। यह क्षमता सबके भीतर है। लेकिन यह क्षमता प्रकट नहीं हो सकती। क्योंकि प्रकट होने के लिए तो अभ्यास चाहिए।

मन की भी ऐसी ही क्षमताएँ सबके भीतर हैं जो प्रकट नहीं हो पातीं। उनके लिए भी अभ्यास चाहिए। और इस अतींद्रिय आत्मा की अनंत क्षमताएँ मनुष्य के भीतर हैं, उनका तो हमें पता ही नहीं। अभ्यास तो बहुत दूर, उनका हमें पता ही नहीं। उनका पता न होने से चमत्कार मालूम पड़ता है। अब अगर कोई कहे कि मैं बिना बुद्धि के सोच पाता हूँ, तो हम कैसे मानेंगे। कोई कहे कि मैं बिना कानों के सुन पाता हूँ, तो हम कैसे मानेंगे। नहीं मानेंगे उसका कारण यह नहीं है कि ये बातें मानने योग्य नहीं हैं, उसका कुल कारण इतना है-- हमारे अनुभव से इनका कहीं भी कोई संबंध नहीं है।

थोड़े प्रयोग करें तो आप चकित हो जाएँगे।

अगर यहाँ चार सौ लोग हैं, अगर ये चार सौ लोग प्रयोग करें तो चार सौ में कम-से-कम चार तो ऐसे व्यक्ति इसी वक्त निकल आएँगे। उन्हें भी पता नहीं है।

रूस में ऐसा हुआ। पिछले दस वर्ष पहले एक महिला ने उँगलियों से देखना शुरू किया। अचानक। उसकी आँख खराब हो गयी थी और उसे पढ़ने का शौक था। पढ़ना ही उसका एकमात्र शौक था और आँख अचानक खराब हो गयी, तो वह इतनी व्याकुल हो गयी, इतनी व्याकुल हो गयी--उसकी व्याकुलता हम समझ सकते हैं। उसके पास एक ही रुचि थी जीवन में--किताब। और आँख खो गयीं तो उसका जीवन खो गया। उसने आत्महत्या की दो बार कोशिश कि, बचा ली गयी। और उसका जिन किताबों से प्रेम था वह प्रेम इतना ज्यादा था कि फिर वह अंधी हो गयी तो किताबों को हाथ में रखकर उनपर हाथ ही फेरती रहती थी। अचानक एक दिन उसने पाया कि किताब का शीर्षक उसको दिखायी पड़ रहा है। वह घबड़ा गयी। हाथ फेरती थी किताब पर उसे शीर्षक दिखायी पड़ रहा है, वह घबड़ा गयी। पन्ने उलटे, किताब उसके सामने धीरे-धीरे साफ होने लगी। उसने किताब पढ़ना शुरू कर दिया।

तो रूस तो वैज्ञानिक बुद्धि का मुल्क है। वह ऐसा नहीं मानता कि जो एक में घटता है, वह कोई चमत्कार है। वह ऐसा मानते है कि वह सबमें घट सकेगा। तो फिर उन्होंने सैकड़ों बच्चों पर प्रयोग किया और पाया कि सैकड़ों बच्चे रूस में उँगली से पढ़ सकते हैं। सिर्फ हमने कभी उपयोग नहीं किया।

लेकिन उँगली तो देख नहीं सकती, उँगली पर आँख नहीं है। तो उँगली तो सिर्फ बहाना है। सच बात है कि आदमी के भीतर जो क्षमता है, वह बिना आँख के देख सकती है। हम उसका प्रयोग भर नहीं किये। कभी थोड़ा प्रयोग करना शुरू करें और आप चकित हो जाएँगे। थोड़ा प्रयोग करना शुरू करें और चकित हो जाएँगे। कभी आँख बंद करके बैठ जाएँ और किताब को खोल लें और सिर्फ इतना ही ध्यान करे कि कितने नंबर का पृष्ठ है। कोई फिकर नहीं है। दस-बीस बार भूल-चूक होगी, किये चले जाएँ। कुछ-न-कुछ लोग आपमें से निकल आएँगे जिनको पृष्ठ का अंक दिखायी पड़ेगा। अगर एक अंक दिखायी पड़ सकता है, तो फिर कुछ भी दिखायी पड़ सकता है। फिर बात तो अभ्यास की है, फिर कोई अड़चन नहीं हैं बहुत। और जो मैं यह कह रहा हूँ, अब इस पर इतने प्रयोग हो गये हैं कि अब इस पर वैज्ञानिक बुद्धि का आदमी भी संदेह नहीं कर पाता है।

इंद्रियाँ हमारे सामान्य द्वार हैं जानने की। लेकिन अनिवार्य द्वार नहीं हैं। इंद्रियों के पार भी जाना और देखा जा सकता है। वह हमारी अनिवार्य क्षमता है।

महावीर के संबंध में कहा जाता है--जैन बड़ी मुश्किल में रहे हैं, समझाना बहुत कठिन है--कि महावीर बोले नहीं अपने शिष्यों से, वह चुप ही बैठे रहते थे और इस चुप्पी में ही बोलते थे। जैनों को बड़ी कठिनाई रही है। फिर वह यही

कह सकते हैं कि तीर्थंकर का चमत्कार है, यह सबके बस की बात नहीं है। लेकिन नहीं, इसमें तीर्थंकर का कोई लेना-देना नहीं है। यह सब के बस की बात भी हो सकती है।

जार्ज गुरजिएफ ने अपने शिष्यों के साथ आज से तीस साल पहले एक प्रयोग शुरू किया था, जिसमें वह तीन महीने तक पूर्ण मौन में रखने का आग्रह करता था। पूर्ण मौन। बहुत कठिन है। लेकिन तीन महीने अगर सतत कोई प्रयास करे, सतत चौबीस घंटे प्रयास करे, तो फलित हो जाता है। भीतर सब शून्य हो जाता है। और गुरजिएफ कहता था, जिस दिन तुम पूर्ण मौन हो जाते हो उस दिन मैं तुमसे बिना वाणी के बोलने लगूँगा। और वह बोलता था अपने शिष्यों से।

गुरजिएफ को मरे अभी थोड़े ही दिन हुए। उसके सैकड़ों शिष्य आज भी मौजूद हैं दुनिया में जिनसे वह बिना शब्दों के ही बोलता था। लेकिन तीन महीने उसको पूर्ण मौन से गुजरना होता था। जब पूर्ण मौन में तीन महीने आदमी गुजर जाता है, तो उसके मन का सारा-का-सारा जो शोरगुल है, वह बंद हो जाता है। उस बंद शोरगुल में वह जो धीमी-सी आवाज है, जो कान से नहीं पहुँचती हृदय से पहुँचती है, वह पकड़ी जा सकती है।

वह पहुँचती आप तक भी है, लेकिन आप इतनी भीड़ में भीतर घिरे हैं, ऐसा बजार भीतर है कि वह आपको सुनायी नहीं पड़ती। वह कोई विशेषता नहीं है। आप बड़े विशेष हैं, यही मुश्किल है! आपके भीतर भीड़ है, बजार है भारी, उस बजार की वजह से वह आवाज सुनायी नहीं पड़ती। अन्यथा वह आवाज प्रतिपल चल रही है। और कभी-कभी हमको भी सुनायी पड़ती है, लेकिन हमको भरोसा नहीं आता। क्योंकि हमको कोई अनुभव नहीं है। अचानक आप एक दिन देखते हैं कि आपको मित्र का ख्याल आया और उसने द्वारा पर दस्तक दी। तब आप सोचते हैं, संयोग होगा। क्योंकि आपको उसका पता नहीं है भीतर। एक दिन अचानक आपको लगता है कि आप बिलकुल प्रसन्न थे और एकदम उदास हो गये, आपको कुछ समझ में नहीं आता, पीछे तार आता है कि कोई मित्र चल बसा, कि कोई प्रियजन बीमार है; तब आप सोचते हैं--संयोग होगा।

संयोग जरा भी नहीं है। जब भी आपका प्रियजन मरता है तब आपके भीतर बिना इंद्रियों के खटका पहुँचता है। पहुँचेगा ही। क्योंकि मरना कोई छोटी घटना नहीं है, बड़ी घटना है। और जिससे आप जुड़े हैं, उससे एक भीतरी संबंध, एक भीतरी द्वार है, जहाँ से खबरें आ-जा सकती है। लेकिन हम संयोग मानकर छोड़ देते हैं कि हो गया ऐसा। क्योंकि हमें पता नहीं हैं। अगर हमें पता हो तो हर आदमी अपनी जिंदगी में अनेक ऐसी घटनाएँ पाएगा, जो उसे खबर देंगी कि उसके

भीतर जो छिपा है वह इंद्रियों के बिना भी काम कर सकता है।

और अगर आपको ख्याल हो और सचेतन प्रयोग आप करते हों, तो आप वर्ष-दो वर्ष में दूसरे ही आदमी हो जाएँगे। आपको वे चीजें दिखायी पड़ने लगेंगी जो आँख से दिखायी नहीं पड़तीं। और वे चीजें सुनायी पड़ने लगेंगी जो कान से सुनायी नहीं पड़तीं। और वे आपके अनुभव बन जाएँगे जिनको बाहर से अनुभव करने का कोई उपाय नहीं है। तब एक भीतरी संपदा का जगत शुरू होगा। तब एक भीतरी अनुभव का अलग ही लोक खुलता है। तब फूल खिलते हैं जो हमें बिलकुल अपरिचित हैं। और संगीत बजता है जिसका कानों से कोई संबंध ही नहीं है। और ऐसे नाद और ऐसे प्रकाश और ऐसे अनुभव में हम उतरते चले जाते हैं जिनका इन इंद्रियों ने कभी भी कोई संस्पर्श भी नहीं किया है।

लेकिन, जीवन में संयोग शब्द को थोड़ा कम करें। और बन सके तो जीवन से संयोग शब्द को बिलकुल काट दें। और जब भी कोई ऐसी घटना घटती हो जो इंद्रियों के पार की खबर देती हो, तो उसको तथ्य मानकर उस दिशा में काम शुरू कर दें। संयोग मानना एक तरह का बचाव है। एक तथ्य को झुठलाने का, एक तथ्य को भुला डालने का, एक तथ्य को किसी तरह समझा लेने का उपाय है। एक तथ्य जो विचित्रता की तरह पैदा होता है, उसको हम सामान्य कह देते हैं संयोग कह कर। इस जगत में संयोग कुछ भी नहीं है। 'कोइंसीडेंट', संयोग जैसी कोई भी बात नहीं है।

इस जगत में जो भी है वह गहरे कार्य-कारण से अनुबद्ध है। गहरे कार्य-कारण में जुड़ा है। जो भी यहाँ घटित होता है, उस घटने के पीछे कारण है। संयोग कहकर हम उन कारणों की खोज नहीं कर पाते। अगर हम कारणों की खोज करें तो हमारी भीतरी शक्तियों का अनुभव हमें शुरू हो जाएगा। और जिस जगह में उस शक्ति का पता चलने लगे, आँख के बिना जहाँ दर्शन हो जाए और कान के बिना जहाँ सुनना हो जाए, उस दिन हमने संसार के बाहर कदम रख दिया। उस दिन हम ब्रह्म के मंदिर में प्रविष्ट हुए।

'सब रूपों से परे मैं सबको जाननेवाला हूँ' लेकिन मुझ चित्स्वरूप को जाननेवाला कोई भी नहीं है।'

'सब रूपों से परे मैं सबको जाननेवाला हूँ'। रूप को तो मैं जानता ही हूँ, रूप के भी जो परे है उसको भी मैं जानता हूँ।

'लेकिन मुझे जाननेवाला कोई भी नहीं है'। यह थोड़ा कठिन सूत्र है। कठिन इस कारण कि इसमें एक बहुत गहरी दार्शनिक निष्पत्ति छिपी है और वह यह है कि परमात्मा के लिए सारा जगत उसके सामने है। जैसे उस विराट परमात्मा को

हम छोड़ भी दें, हमारे भीतर जो परमात्मा का, परमात्मा की एक लौ, एक दिया जलता है, उसको ही समझें, आसानी होगी।

मैं देखता हूँ आपको, मैं देखता हूँ वृक्षों को, मैं देखता हूँ आकाश को, चाँद-तारों को, मैं सबको देखता हूँ, लेकिन मैं स्वयं को नहीं देख पाता हूँ। स्वयं को देखने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है। स्वयं का मुझे अनुभव होता है, प्रतीति होती है, दर्शन नहीं होता। हो भी नहीं सकता। क्योंकि दर्शन उसीका हो सकता है जो दूर हो। पराया हो, अलग हो। मैं खुद को ही कैसे देखूँ। देखने के लिए भी तो दूर होना पड़ता है। देखने के लिए भी तो अलग होना पड़ता है। देखने के लिए भिन्नता चाहिए, बीच में जगह चाहिए। द्रष्टा अगर मैं बनूँ अपना ही, तो मुझे अपने को ही दो हिस्सों में तोड़ना पड़े। एक देखे और एक देखा जाए। यह संभव नहीं है। मैं दो हिस्सों में टूट नहीं सकता। और अगर मैं टूट भी जाऊँ तो जो देखा जाएगा वह मैं नहीं रहा। मैं तो वही रहा जो देख रहा है।

इसे ऐसा समझें कि मेरी अनिवार्य नियति द्रष्टा होने की है और दृश्य मैं नहीं हो सकता हूँ। मैं चाहे कुछ भी करूँ, मैं द्रष्टा ही रहूँगा, दृश्य नहीं बन सकता हूँ। क्योंकि मैं दृश्य कैसे बनूँगा? मैं जाननेवाला, जाननेवाला, हर स्थिति में जानने वाला रहूँगा। यह व्यक्ति के भीतर जो चेतना छिपी है, वह अनिवार्यरूपेण द्रष्टा है, दृश्य कभी भी नहीं हो सकती। ऐसे ही इस पूरे जगत के भीतर जो चेतना छिपी है, यह भी अनिवार्यरूपेण द्रष्टा है, दृश्य नहीं हो सकती।

इसलिए इस सूत्र में कहा है– 'सब को मैं जानता हूँ, सबको मैं जाननेवाला हूँ, लेकिन मुझ चित् स्वरूप को जाननेवाला कोई भी नहीं हैं। परमात्मा आत्यंतिक द्रष्टा है, आखिरी। फिर, फिर उसे देखने का कोई उपाय नहीं है। यह जो हम कहते हैं परमात्मा का दर्शन, तब हम बड़ी भूल भरी भाषा का उपयोग करते हैं, लेकिन मजबूरी है। क्योंकि कुछ भी उपयोग करें, वह भूल भरा होगा। भाषा ही भूल भरी है। उस दिशा में, उस आयाम में भाषा ही भूल भरी है। तो हम कहें परमात्मा का दर्शन, तो भी गलती हो जाती है। क्योंकि परमात्मा का दर्शन, इसका मतलब हुआ कि हम परमात्मा के भी द्रष्टा हो गये।

इस तरह कभी सोचा न होगा। हम सोचते हैं––परमात्मा का दर्शन, लेकिन उसका मतलब क्या होता है? उसका मतलब, मैं परमात्मा का भी द्रष्टा हो सकता हूँ। उसका मतलब होता है कि मैं परमात्मा को भी एक वस्तु बना सकता हूँ, जिसको मैं देख लूँ। परमात्मा का कोई दर्शन नहीं हो सकता। जो होता है, उसे हम दर्शन शब्द से कहने की कोशिश करते हैं, क्योंकि हमारे पास कोई और शब्द नहीं है। और दूसरे शब्द भी ऐसे ही हैं। अगर हम कहें अनुभव, तो उसमें भी

वही बात हो जाती है कि वह वस्तु बन गयी। कुछ भी हम करें, जो भी हम शब्द उपयोग करेंगे, उसमें परमात्मा वस्तु बन जाएगा।

इसलिए बुद्ध जैसे मनीषी ने परमात्मा के संबंध में कुछ कहने से इनकार कर दिया। इसलिए नहीं कि वह नहीं है, बल्कि इसलिए कि जो भी कहा जाए वह गलत होगा। लेकिन लोग समझे कि बुद्ध ईश्वर को मानते नहीं हैं। बुद्ध से ज्यादा परम आस्तिक व्यक्ति जगत में दूसरा नहीं हुआ है। लेकिन उनकी परम आस्तिकता इतनी आत्यंतिक और आखिरी है कि वह ईश्वर के संबंध में एक गलत शब्द का उपयोग करने को भी तैयार नहीं हैं। तो वह ईश्वर शब्द का भी उपयोग करने को तैयार नहीं हैं। वह कहते हैं उसमें भी गलती हो ही जाएगी। क्योंकि हम जब भी कोई शब्द का उपयोग करें, हम उस शब्द के जाननेवाले हो गये, ज्ञाता हो गये। और शब्द से तो जाननेवाला बड़ा हो जाता है।

जब कोई कहता है मैंने ईश्वर को जान लिया, तो उपनिषद कहते हैं, समझना कि उसने बिलकुल नहीं जाना। क्योंकि जो कहता है ईश्वर को जान लिया, उसे समझ ही नहीं पड़ रही है बात बिलकुल कि उसे जाना नहीं जा सकता। जाना जिन चीजों को जा सकता है वह ईश्वर नहीं है, संसार है। इसे हम ऐसा कहें, जो भी जाना जा सकता है वह संसार है। और जो जानने के पार छूट जाता है, वही ब्रह्म है। लेकिन फिर ब्रह्मज्ञानी किसको कहें? तो ब्रह्मवेत्ता किसको कहें? तो किसे कहें ऋषि?

तब, तब, दूसरी तरह से बात को ख्याल में लें तो आसानी हो जाएगी। वह जाना तो नहीं जा सकता, लेकिन उसमें हम मिट सकते हैं। उसमें हम खो सकते हैं। उसे जानना तो मुश्किल है, लेकिन हम वही हो सकते हैं। क्योंकि जानने के लिए तो दूरी चाहिए, वही होने के लिए सब दूरी मिटानी है। जानने में फासला है। वही होने में सब फासले का गिर जाना है। बूंद सागर को जाने भी तो क्या! लेकिन बूंद सागर में गिर तो सकती हैं! गिरकर एक तो हो सकती है! और एक होकर फिर जानना वैसा ही हो जाएगा जैसे अभी हम अपने को जानते हैं—बिना कारण, बिना इंद्रियों के।

जिस दिन व्यक्ति परमात्मा से एक हो जाता है उस दिन भी वह जानता है, लेकिन अब वह पदार्थ की तरह नहीं जानता, अपने होने की तरह जानता है। आप अपने को किस तरह जानते हैं? उसी तरह वह व्यक्ति परमात्मा को जानता है। कोई कारण नहीं, कोई प्रकाश नहीं, कोई इंद्रिय नहीं, फिर भी जानता है। वह जानना इसी जानने का विस्तार है। वह जानना जगत को जाननेवाला जानना नहीं है।

इसलिए इस सूत्र में कहा है—'सब रूपों से परे सबको जाननेवाला मैं ही हूँ, लेकिन मुझ चित् स्वरूप को जाननेवाला कोई भी नहीं है'। यह सूत्र बड़ा कीमती है। यह उस परमब्रह्म की खोज में निकले हुए व्यक्ति को बहुत हृदय के गहरे में रख लेना चाहिए कि उसे जाना नहीं जा सकता, उसे जिआ जा सकता है। उसमें एक हुआ जा सकता है, उसमें खोया जा सकता है, उसमें मिटा जा सकता है, वही हुआ जा सकता है, लेकिन जाना नहीं जा सकता। जानने में दूरी है, इसलिए फासला है इसमें। और परमात्मा के साथ जब तक इंच-भर का भी फासला है, तब तक कोई उपाय नहीं है।

उस फासले को भी कम करना हो तो क्या करें? परमात्मा को पास लाएँ? बुलाएँ? चिल्लाएँ? पुकारें? कितना ही चिल्लाओ, कितना ही बुलाओ, उसे पास लाने का उपाय नहीं है, क्योंकि वह पास है ही। फिर भी हम चिल्लाते हैं, पुकारते हैं। एक बात साफ है कि वह जो पास है, वह हमें पता नहीं चल रहा है। और कोई कारण नहीं है। इसलिए अगर हम परमात्मा को पास लाना चाहते हों तो उसे बुलाने और पुकारने से काम नहीं होगा, अपने को मिटाने से काम होगा। जैसे-जैसे हम पिघलेंगे, मिटेंगे, बिखरेंगे, वैसे-वैसे वह पास होने लगेगा। जिस दिन हम बिलकुल बिखर जाएँगे, खो जाएँगे, उस दिन वह यहीं हो जाएगा जहाँ हम हैं।

ऐसा समझें कि एक बरफ की चट्टान पानी में बही जा रही है। सागर से मिलना है उसे। चिल्लाती है, चीखती है, लेकिन पिघलती नहीं। और सागर में ही है। इसलिए चीखने-चिल्लाने से कुछ भी न होगा। सागर को बुलाने से कुछ न होगा। सागर यहीं है। वह उसीमें तैर रही है। वह सागर से मिलना चाहती है। कहाँ खोजे सागर को? जितना खोजती है, कहीं उसका पता नहीं मिलता।

ठीक वैसी हमारी दशा है। बरफ की चट्टान हैं। तो बरफ की चट्टान के लिए एक ही काम है कि पिघल जाए, खो जाए, तो यहीं, यहीं पैरों के तले, इसी जमीन में उसे परमात्मा, उसे सागर उपलब्ध हो जाएगा। हमें भी पिघलना पड़ेगा।

इसलिए हमने जो शब्द चुना है इस पिघलने के लिए, वह तप है। कीमती शब्द है। तप का मतलब होता है, ताप। अगर चट्टान को पिघलना है तो तपना पड़ेगा, तपना पड़े तो पिघल जाए।

हमें भी अपने को तपाना पड़ेगा। उस तपन में ही हम पिघलें, हमारा अहंकार, हमारी बर्फ, हमारी चट्टान पिघले, तो सागर से एक हो जाए। तब हम सागर ही हो जाएँगे। तब ऐसा हम न कहेंगे कि हम सागर को जानते हैं। तब हम ऐसा ही कहेंगे—अब हम न रहे, सागर ही है।

अब हम ध्यान के लिए तैयार हों।

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।
न पुण्य पापे मम नास्ति नाशो न जन्मदेहेन्द्रिय बुद्धिरस्ति ।। २२ ।।

मैं ही वेदों का उपदेश करता हूँ; मैंने ही उपनिषदों अर्थात् वेदांत की रचना की है; और सारे वेद मेरे ही संबंध में चर्चा करते हैं। मैं जन्म और नाश से परे हूँ। पाप और पुण्य मुझे छू नहीं सकते। मैं शरीर, इंद्रिय और बुद्धि से रहित हूँ ।। २२ ।।

सोलहवाँ प्रवचन; माउंट आबू, २ अप्रैल १९७२, प्रातः
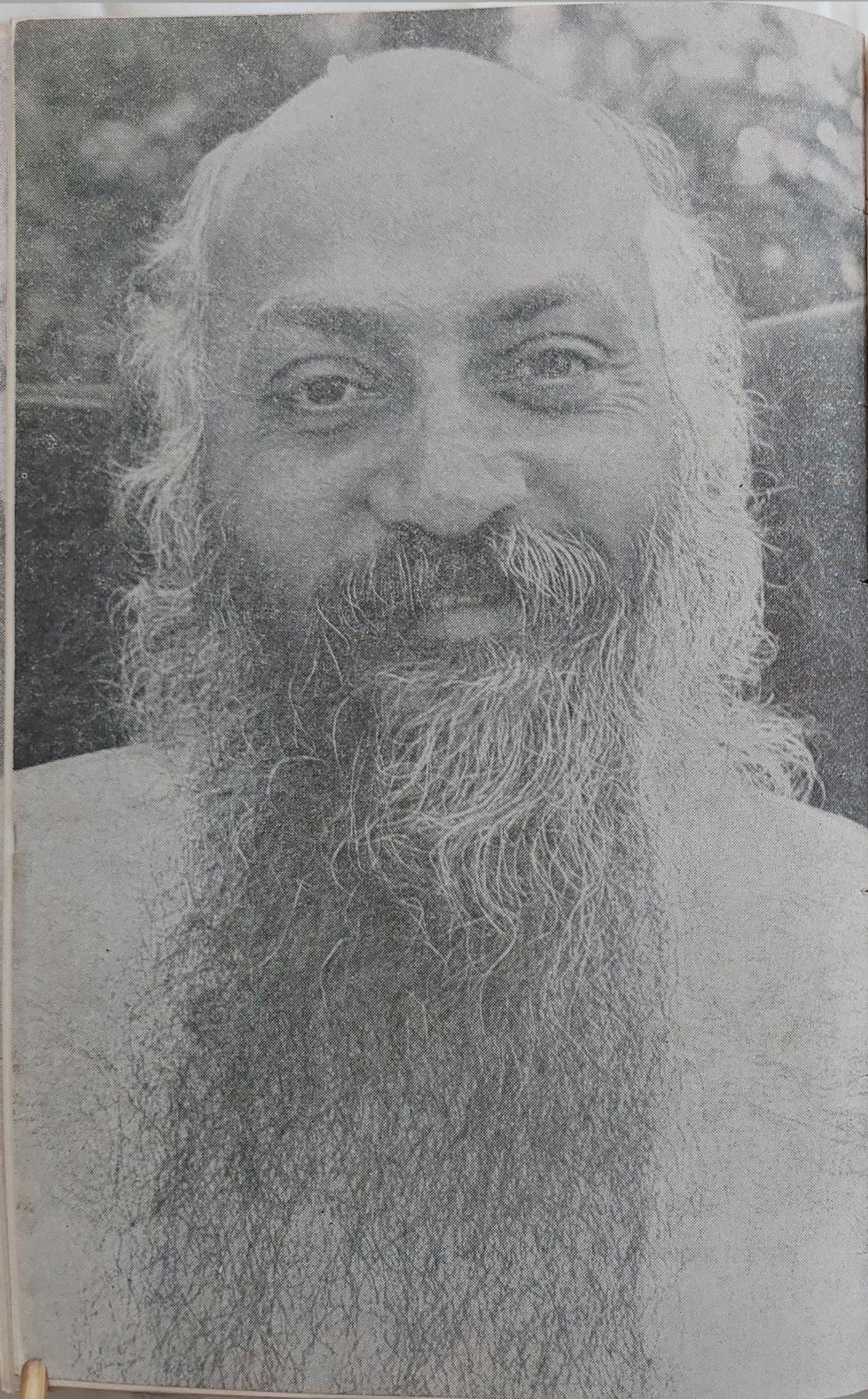
समग्र का माध्यमरहित ज्ञान है परमात्मा
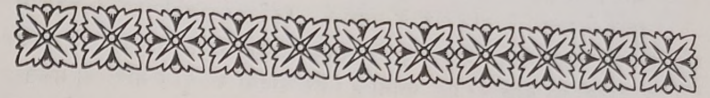
मैं ही वेदों की रचना करता हूँ। मैं ही वेदों का उपदेश करता हूँ। मैंने ही उपनिषदें रची हैं और सारे वेद मेरी ही चर्चा करते हैं।

यह सूत्र थोड़ा अजीब-सा मालूम पड़ेगा। क्योंकि मैं ही वेदों का उपदेश करूँ और वेद मेरी ही चर्चा करें ! मैं उपनिषद रचूँ और उपनिषदों में मेरी ही चर्चा हो ! अपनी ही बात ! अपनी ही अभिव्यक्ति ! ऊपर से देखने पर सूत्र अजीब मालूम पड़ेगा, लेकिन थोड़े गहरे में देखेंगे तो बहुत महत्त्वपूर्ण है।

कुछ सूत्र के मौलिक आधार समझ लेने चाहिए।

पहला तो यह कि जो भी है, परमात्मा है। तो चाहे चर्चा की जाए और चाहे चर्चा करनेवाला हो; चाहे दृश्य बने और चाहे द्रष्टा हो; चाहे मूर्ति हो और चाहे मूर्तिकार हो; अगर एक ही है अस्तित्व, तो फिर मूर्तिकार अपनी ही मूर्ति बना रहा है। और गीतकार अपना ही गीत गा रहा है। और वेद का जो निर्माता है, वही वेद का विषय भी होगा। क्योंकि दो का कोई उपाय नहीं है। अगर अस्तित्व एक ही है तो फिर सभी कुछ उस एक से संबंधित है।

इसलिए इस अजीब-से दिखनेवाले सूत्र में महत्त्वपूर्ण सूचना दी गयी है और वह सूचना यह है कि जो कुछ भी हो रहा है यहाँ, वह सभी मैं हूँ। उसमें कुछ भी वर्जित नहीं है। हमारा मन कठिनाई में पड़ेगा। क्योंकि यहाँ बहुत कुछ हो रहा है जिसे हम वर्जित करना चाहेंगे कि यह न हो तो बेहतर है। बहुत कुछ है, जो भी सोचेगा वह पाएगा कि जीवन में न होता तो जीवन बेहतर होता। लेकिन हमें जीवन की गहराइयों का पता नहीं है, इसलिए ऐसा विचार उठता है। कौन नहीं होगा जो चाहे कि अगर जगत में असाधु न हों तो बेहतर है, पाप न हो तो बेहतर है। यह बहुत साफ दिखायी पड़नेवाली बात भी है, बहुत गणित है, क्योंकि साधु हो ही सकता है तब, जब असाधु भी हो। और पाप हो तो ही पुण्य हो सकता है। और अगर बीमारी न हो तो स्वास्थ्य के होने का कोई भी उपाय नहीं है। और अगर मृत्यु न हो तो जन्म असंभव हो जाएगा।

जीवन के गणित को अगर हम समझें तो जीवन सदा ही द्वंद्व के बीच एक संतुलन है। उस दो में से हम एक को काटने की इच्छा रखते हैं। तो हमें पता नहीं है कि जीवन का संतुलन बिखर जाएगा तत्काल।

इधर मैं मनुष्य के बुद्धि-अंक के संबंध में, 'इंटेलीजेंस कोसियंट' के संबंध में कुछ अध्ययन करता था। 'आइ. क्यू.' के संबंध में, 'इंटेलीजेंस कोसियंट' के संबंध में। हर आदमी की बुद्धि की एक गणना है। हर आदमी की बुद्धि मापी जा सकती है। तो 'बुद्धि-अंक' उपलब्ध हो जाता है। तो बड़ी हैरानी का अनुभव मुझे हुआ कि अगर सौ आदमियों की बुद्धि मापी जाए तो एक आदमी उसमें प्रतिभाशाली होता है, जिसको 'जीनियस' कहें। और एक आदमी मूढ़ होता है, जो 'जीनियस' के बिलकुल विपरीत है। एक। एक होता है प्रतिभाशाली, एक होता है महामूढ़। दो महामूढ़ नहीं होते, दो प्रतिभाशाली नहीं होते। अगर दो प्रतिभाशाली हों तो दो महामूढ़ होते हैं। अगर जगत की पूरी बुद्धि की गणना की जाए तो अनुपात है उसमें, बड़ी हैरानी की बात है, कि एक प्रतिभाशाली के लिए एक महामूढ़ अनिवार्य है। अगर दस विलक्षण प्रतिभा के लोग होते हैं, प्रतिभा से नीचे, तो दस मूढ़ के ऊपर मूर्ख होते हैं। और ये अनुपात ऐसा ही चलता है। पचास व्यक्ति उस तरफ बँटे होते हैं, पचास व्यक्ति इस तरफ बँटे होते हैं। और इस अनुपात में कभी भी फर्क नहीं पड़ता।

तो उसका मतलब यह हुआ कि बुद्धि भी अबुद्धि के साथ ही इस जगत में खिल सकती है और समान अनुपात में। नहीं तो नहीं खिलती। इसका मतलब हुआ कि एक बुद्धिमान जब इस जगत में आता है तो अपने साथ एक महामूढ़ को ले आता है। इसका यह भी मतलब हुआ कि जब भी एक महामूढ़ पैदा होता है तो एक बुद्धिमान को पैदा होने का अवसर बनाता है। इसलिए बुद्धिमान को अलग करने की, मूढ़ को अलग करने की जरूरत नहीं है, वह एक ही तराजू के दो पलड़े हैं। और उनमें से एक को काटा तो दूसरा फौरन गिर जाता है। इसलिए बुद्धिमान को मूढ़ के प्रति अनुग्रहीत होना चाहिए, उसके बिना वह हो नहीं सकता। और आज नहीं कल हमें पता चलेगा कि जीवन में सभी चीजें इसी तरह संतुलित हैं। यहाँ एक राम पैदा होता है तो रावण के बिना नहीं पैदा होता। रावण को तत्काल तराजू पर आ जाना पड़ता है। हमारा मन कहता है, रावण न हो। लेकिन रावण के बिना राम नहीं हो सकते।

जीवन एक संतुलन है। यहाँ भलाई और बुराई दो पलड़े हैं तराजू के, एक ही तराजू के। और इसलिए असली सवाल यह नहीं है कि बुराई मिट जाए, असली सवाल यह नहीं है कि भलाई बढ़ जाए, असली सवाल यह है कि बुराई और भलाई

जिस सूत्र से जुड़े हैं वह सूत्र हमें दिखायी पड़ जाए। तो फिर न बुराई बुराई रह जाती है, न भलाई भलाई रह जाती है। तब हम जानते हैं कि यह तो जीवन की अनिवार्यता है। जैसे कि अगर हम एक मकान में एक 'आर्च' बनाते हैं, एक दरवाजा बनाते हैं गोल, तो दोनों तरफ उल्टी ईंटें लगाते हैं। और उन्हीं उल्टी ईंटों के सहारे पूरा भवन खड़ा हो जाता है उसके ऊपर। कोई सोच सकता है कि हम एक-सी ईंटें लगा दें, उल्टी ईंटें न लगाएँ, तो फिर भवन खड़ा नहीं होता। तत्क्षण गिर जाएगा। वे उल्टी ईंटें एक दूसरे को साध लेती हैं। और उन्हीं उल्टी ईंटों का वजन जब संतुलित हो जाता है, तो महाशक्ति पैदा हो जाती है।

इस जगत की सारी ऊर्जा द्वंद्व से निर्मित है और द्वंद्व से ही संचालित है। इसलिए ऐसा दिन कभी भी नहीं आएगा जिस दिन राम हो सकें रावण के बिना। इसमें निराश होने का कोई भी कारण नहीं है। और अगर यह ख्याल में आ जाए तो फिर रावण भी बुरा नहीं मालूम पड़ेगा। फिर राम और रावण एक ही खेल के दो हिस्से मालूम पड़ेंगे। उनमें से एक भी हट जाए तो खेल बंद हो जाता है। जरा रामलीला रावण के बिना करके देखें तब पता चले! तो वह रामलीला ही नहीं है, 'राम-रावण-लीला' है। अगर उसको ठीक से समझें तो यह दोनों एक ही 'आर्च' की दो विरोधी ईंटें हैं जिनपर सब सँभला हुआ है। हमारा राम से मोह है इसलिए हमने रामलीला नाम रख लिया है। लेकिन अगर यह मोह को हम छोड़ें और चीजों को सीधा देखें, तो हम 'राम-रावण-लीला' कहेंगे।

इस जगत में अगर एक ही है, तो उस एक ने ही अपने को दो में विभाजित करके यह द्वंद्व, यह ऊर्जा पैदा की है। ऊर्जाएँ सब एक-जैसी हैं। लेकिन उल्टी रख दिये जाने पर 'आर्च' बन जाती हैं, फिर भवन उसके ऊपर जा सकता है। ईंटें एक ही हैं। राम और रावण दो तरह की ईंटों से नहीं बने हुए हैं, बुराई और भलाई दो तरह के ईंटों से नहीं बनी हुई हैं, एक ही तरह की ईंटों से बनी हुई हैं। सिर्फ एक दूसरे के विपरीत एक ही तरह की ईंट रख दी जाती हैं। साधु कोशिश में रहते हैं कि असाधु दुनिया से मिट जाए। और उन्हें पता नहीं है कि असाधु के कारण ही वे हैं। इसलिए उनकी कोशिश चलती रहती है, लेकिन असाधु मिटता नहीं। असाधु मिट नहीं सकता। असाधु उसी दिन मिट सकता है जिस दिन साधु भी न रह जाए, उसके पहले नहीं मिट सकता। और वह दुनिया बड़ी नीरस, अर्थहीन होगी जिस दिन साधु-असाधु, दोनों न हों।

दुनिया में तो वे दोनों रहेंगे, क्योंकि दुनिया एक लीला है और इस लीला में द्वंद्व चलेगा। लेकिन आप अगर समझ जाएँ और अगर आपको यह दिखायी पड़ जाए कि यह द्वंद्व लीला है और द्वंद्व के पीछे जो एक ही छिपा है वह अनुभव में आ जाए,

तो आपके लिए यह लीला समाप्त हो जाएगी। और जिसके लिए लीला समाप्त हो गयी वह संसार के बाहर हो जाता है। जिसके लिए यह लीला समाप्त हो गयी, वह संसार के पार हो जाता है। और जब तक लीला में आपका चुनाव है तब तक आप संसार में भीतर रहेंगे। जिसने रावण के खिलाफ राम को चुना है, या राम के खिलाफ रावण को चुना है, वह संसार में रहेगा। अभी इसे जीवन का आत्यंतिक संतुलन समझ में नहीं आया है। इसमें कोई चुनाव नहीं है राम और रावण में। यह लीला है, यह समझ में आना चाहिए। यह द्वंद्व ही जगत का खेल है। इस द्वंद्व के भीतर वह जो एक है, उसका दिखायी पड़ जाना है।

इस सूत्र में बहुत तरह के . . . .

'मैं ही वेदों का उपदेश करता हूँ, मैंने ही उपनिषदें रचा और सारे वेद मेरी ही चर्चा करते हैं'। मैं अपनी ही चर्चा करता हूँ, क्योंकि कोई दूसरा तो है नहीं। कभी आपने किसी आदमी को अकेले में अकेले ही ताश खेलते देखा है? खेलते हैं लोग। दोनों बाजियाँ फैला लेते हैं। इस तरफ से भी चलते हैं और उस तरफ से जवाब भी देते हैं। ठीक यह जगत परमात्मा का ऐसा ही खेल है। दोनों बाजियाँ उसकी हैं। वही इस तरफ से चलता है, वही उस तरफ से उत्तर देता है। इसमें दूसरा नहीं है। लेकिन यही भारतीय मनीषा की दृष्टि है। ऐसी दृष्टि भारत के बाहर और कहीं उपलब्ध नहीं हो सकी। सभी जगह इस द्वंद्व को, इस दिखायी पड़नेवाले द्वंद्व को आत्यंतिक मान लिया गया है। इसके भीतर एकता नहीं है।

ईसाइयत, यहूदी या इस्लाम ईश्वर और शैतान को आत्यंतिक इकाइयाँ मान लिये हैं। उनके भीतर कहीं कोई जोड़ नहीं है, कहीं कोई तालमेल नहीं है। भारत में भी जैनों ने शैतान और ईश्वर में तो विभाजन नहीं किया, लेकिन जगत और मोक्ष में विभाजन कर लिया है। वे भी मानते हैं कि जगत और मोक्ष में कोई तालमेल नहीं है, ये अलग इकाइयाँ हैं। इसलिए जैन द्वैतवादी हैं। वे कहते हैं, दो का अस्तित्व तो है ही—एक जगत है और एक ईश्वर। एक जगत और एक मोक्ष।

इस लिहाज से आज तक जैन और मुसलमान और ईसाई और यहूदी सहमत हैं कि जगत दो में बाँटा गया है—एक नहीं है।

हिंदू-चिंतना जगत को कहती है कि दो में बँटा हुआ है लेकिन जो बँटा हुआ है वह एक है। क्योंकि हिंदू-चिंतना का यह खयाल है कि अगर जगत दो में बँटा है, तो इस जगत में शांति का फिर कोई उपाय नहीं है। कभी भी कोई उपाय नहीं है। क्योंकि ये दो अगर आत्यंतिक इकाइयाँ हैं तो संघर्ष फिर तो अनिवार्य होगा। फिर सदा होगा। कभी ईश्वर जीतेगा, कभी शैतान जीतेगा; कभी बुराई जीतेगी, कभी भलाई जीतेगी; लेकिन इसका अंत कैसे होगा? क्योंकि बुराई अपनी ही हैसियत से अलग शक्ति है,

उसको नष्ट नहीं किया जा सकता, सिर्फ हार-जीत हो सकती है।

और भलाई भी अपनी ही हैसियत की एक शक्ति है, वह भी अंतिम रूप से विजेता नहीं हो सकती, क्योंकि बुराई की शक्ति नष्ट नहीं की जा सकती। वह भी शक्ति है। दोनों शक्तियाँ हैं। दोनों शाश्वत हैं। शैतान और ईश्वर, दोनों शाश्वत हैं। संसार और मोक्ष, दोनों शाश्वत हैं। तो इसमें अंत कैसे होगा? और अगर एक व्यक्ति आज संसार में पड़ गया है, किसी तरह झगड़ कर, जीतकर बाहर निकल जाए, कल नहीं पड़ेगा इसका क्या उपाय है? क्योंकि किसी दिन पड़ ही गया था, कल फिर पड़ सकता है। और संसार मौजूद रहेगा। संसार तिरोहित नहीं होता। संसार फिर खींच सकता है। अगर इस बार खींचा है तो फिर क्यूँ नहीं खींच सकता है? तो संघर्ष शाश्वत हो जाएगा। दो विरोधी शाश्वत शक्तियों के साथ संघर्ष भी शाश्वत हो जाएगा। और इसका कोई अंत नहीं है।

इसलिए हिंदू-चिंतना में एक बहुत ही अद्‌भुत बात कही है और वह यह कि यह संघर्ष खेल है शाश्वत नहीं है। यह संघर्ष सिर्फ दिखावा है, भीतरी नहीं है। यह संघर्ष केवल मनबहलाव है। इसलिए भारत ने कहा, विशेषकर हिंद-चिंतन ने कि संसार एक लीला है, एक खेल है। उसे वास्तविकता देने का कोई कारण नहीं है। अगर खेल है तो खेल बंद किया जा सकता है। और अगर खेल है और दोनों विपरीत के भीतर एक ही छिपा है, तो इसका अनुभव होते ही खेल विलीन हो जाएगा। और न भी विलीन हो, खेल ही खेल है ऐसा पता चल जाए, तो भी मुक्ति हो गयी।

इसलिए हिंदू-चिंतन ने दो तरह के मुक्त माने हैं। एक जिसको कहा है जीवन-मुक्त। जीवनमुक्त उसे कहा है, जो खेल में खड़ा है और जानता है कि खेल है। और एक को कहा है—मुक्त। जो खेल को खेल जानकर खेल के बाहर हो गया।

दोनों तरफ मैं ही हूँ। दोनों बाजुएँ मेरी हैं। इसकी गहरी निष्पत्ति मेरी हुई। इसका मतलब सब हार मेरी है, सब जीत मेरी है। इसका यह मतलब हुआ कि न मैं कभी हारता हूँ, न मैं कभी जीतता हूँ, क्योंकि खिलाड़ी मैं अकेला हूँ। इसका यह मतलब हुआ कि संसार और मोक्ष के बीच का फासला टूट गया। इसका यह मतलब हुआ कि संसार में भी रहकर कोई मुक्त हो सकता है। कोई विरोध न रहा।

जगत को एक अनिवार्य शत्रुता की तरह देखने का कोई कारण नहीं है। तब जगत एक गहनता में एक का ही खेल है। तो फिर द्वंद्व में तोड़ने की और तोड़कर तनाव से भरने की कोई जरूरत नहीं है। ध्यान रहे, जब हम जगत को दो में तोड़ते हैं, तो हम मनुष्य को भी दो में तोड़ देते हैं। तो उसका शरीर और उसकी आत्मा

दुश्मन हो जाती है। तब उसकी इंद्रियाँ और उसकी चेतना दुश्मन हो जाती है। यह दुश्मनी फिर भीतर भी तनाव पैदा करती है और इस तनाव के बीच सेतु बनाने का कोई भी उपाय नहीं है। इस तनाव से भरा हुआ व्यक्ति या तो इंद्रियों को नष्ट करने में लग जाता है और या फिर आत्मा को नष्ट करने में लग जाता है। और दोनों ही स्थिति में दुख पाता है।

भारतीय-मनीषा की दृष्टि है कि जब इन दो को हम दो में बाँट ही लेते हैं, तभी तनाव पैदा हो जाता है और अशांति पैदा हो जाती है। इन दो को दो में बाँटो ही मत। इनके पीछे एक ही छिपा है।

इस एक का बोध हर दिशा से हो सके, इसलिए सूत्र में कहा है: 'मैं ही वेद का उपदेश करता, मैं ही उपनिषद रचता, और सारे वेद और उपनिषद मेरी ही चर्चा करते हैं'। क्योंकि मेरे अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। 'मैं जन्म और नाश से परे हूँ। पाप और पुण्य मुझे छू नहीं सकते'।

'पाप और पुण्य मुझे छू नहीं सकते'। ऐसा वक्तव्य और कहीं उपलब्ध किसी भी धर्मशास्त्र में होना असंभव है। क्योंकि सभी धर्मशास्त्रों ने परमात्मा को पुण्य के साथ एक कर लिया है और पाप को वर्जित कर दिया है। पाप को वर्जित करने की वजह से शैतान को निर्मित करना पड़ा है, क्योंकि पाप फिर किसके पल्ले जाए और कहाँ जाए। बुराई जगत में है। भलाई हम परमात्मा को दे देते हैं, फिर बुराई कहाँ जाए।

ईसाइयत सदा से कठिनाई में रही है कि जगत में बुराई है, इसका क्या करें? कौन इसके लिए उत्तरदायी हो? परमात्मा को उत्तरदायी बनाने की हिम्मत नहीं पड़ती, क्योंकि अगर परमात्मा ही बुराई कर रहा है तो फिर बुराई से छूटने का उपाय नहीं सूझता। और अगर परमात्मा भी बुराई कर रहा है तो वह कैसा परमात्मा! अँग्रेजी में 'गॉड' और 'गुड' एक ही जगह से निष्पन्न होते हैं। वह शुभ है, वही ईश्वर है। इसलिए वस्तुतः ईश्वर का अँग्रेजी में अनुवाद 'गॉड' करना ठीक नहीं है। क्योंकि यह जो ईश्वर है यह कहता है, पाप और पुण्य मुझे छ नहीं सकते। मैं दोनों में हूँ और दोनों के पार भी हूँ।

इसमें एक बात और समझ लेनी जरूरी है कि छू नहीं सकते इसका यह मतलब नहीं है कि मैं दोनों से दूर हूँ। क्योंकि अगर दूर हो तो छूने का कोई सवाल ही नहीं है। इसका साफ मतलब है कि मैं दोनों के बीच हूँ और छू नहीं सकते हैं। नदी से मैं गुजरता हूँ और पानी मुझे छूता नहीं। काली कोठरी से मैं गुजरता हूँ और काला दाग मुझे नहीं लगता है। अगर मैं काली कोठरी से गुजरता ही नहीं हूँ तो छूने-नहीं छूने का सवाल नहीं है। यह सूत्र कि पाप और

पुण्य मुझे छू नहीं सकते यह कहता है कि पाप और पुण्य में मैं ही हूँ, फिर भी वे मुझे छू नहीं सकते। मैं उन दोनों में होकर भी दोनों के पार हूँ।

तो परमात्मा का यह अतिक्रमण करनेवाला रूप, यह 'ट्रांसेंडेंस' का रूप, शुभ और अशुभ दोनों के पार एक अनूठी दृष्टि है। यहाँ हम परमात्मा को शुभ के साथ एक नहीं करते, इसलिए हमें शैतान बनाने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन तब हमारा परमात्मा जटिल हो जाता है। क्योंकि शुभ और अशुभ दोनों ही उसीसे निष्पन्न होते हैं। स्वास्थ्य भी वही देता है, बीमारी भी वही देता है। और जन्म भी वही और मृत्यु भी वही। और राम भी उससे आते हैं और रावण भी उससे आते हैं। और जहर भी उससे ही बनता है और अमृत भी। तब हमारे परमात्मा की धारणा जटिल हो जाती है।

एक मुसलमान मित्र मेरे पास आए थे, विचारशील हैं। वे कह रहे थे कि और तो सब ठीक है, यह हमारी समझ में नहीं पड़ता कि अगर बुराई भी परमात्मा कर रहा है, तो वह क्यों कर रहा है? एक छोटा बच्चा पैदा होता है और पैदा होते से ही मर जाता है। तो अगर यह परमात्मा ही कर रहा है तो यह क्यों कर रहा है? बीमारी क्यों है? गरीबी क्यों है? दुख क्यों है? पीड़ा क्यों है? उनका सवाल संगत दिखायी पड़ता है। और हिंदू-विचार से निरंतर ईसाइयत और इस्लाम ने यही पूछा है कि यह क्यों है? उनको आसानी है, क्योंकि वे कह सकते हैं कि यह शैतान के कारण है।

मैंने उन मुसलमान मित्र से पूछा कि पहले तुम मुझे यह बताओ कि यह शैतान तुम्हारे परमात्मा की बिना आज्ञा के जगत में है? शैतान क्यों है? इससे हल कहाँ होता है? तुम सिर्फ सवाल को एक कदम पीछे हटाते हो। हल कहाँ होता है। शैतान क्यों है? छोड़ो, बुराई क्यों है यह हिंदू जवाब नहीं दे पाते हैं, तुम मुझे कहो कि शैतान क्यों है?

दो ही उपाय हैं। या तो तुम मानो कि यह परमात्मा की आज्ञा से है, परमात्मा ने इसे बनाया। और अगर परमात्मा शैतान को बना रहा है तो इसमें चक्कर क्यों लेना, बीमारी को सीधा क्यों नहीं बना सकता? शैतान को 'एजेंट' बनाए, फिर शैतान बीमारी बनाए, इसका क्या प्रयोजन है? और या तुम यह कहो कि यह शैतान परमात्मा से स्वतंत्र शक्ति है, परमात्मा ने उसे बनाया ही नहीं है। यह भी उसी हैसियत से है जैसा परमात्मा है। तब तुम शैतान को एक दूसरा परमात्मा मान रहे हो। तब मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम्हें पक्का है कि इन दोनों परमात्मा में कौन जीतेगा? जहाँ तक जगत का अनुभव कहता है, वहाँ तक तो यही कहता है कि शैतान रोज जीतता है और परमात्मा रोज हारता है। तो अंततः परमात्मा

जीतेगा, यह तुम्हें किसने कहा ? और क्या वजह है सोचने की कि परमात्मा अंततः जीतेगा ? शैतान रोज जीतता दिखायी पड़ता है, परमात्मा जीतता दिखायी नहीं पड़ता !

जिसे तुम अवतार कहते हो, उसे एक गुंडा छुरा मार दे तो अवतार मर जाता है। जिसे तुम ईश्वर-पुत्र कहते हो, जीसस को, सूली पर लटका दिया जाता है। कहाँ जीतता दिखायी पड़ता है तुम्हारा परमात्मा ! लगता तो ऐसा है कि शैतान ज्यादा बड़ा ईश्वर है फिर। और जीत उसके हाथ में मालूम होती है। हल तो कुछ भी नहीं हुआ है शैतान को मानने से।

लेकिन हिंदू-चिंतना कुछ और जबाब देती है। हिंदू-चिंतना का कहना यह है कि जिसे तुम बुराई कहते हो, वह तुम्हारी दृष्टि में बुराई है। अगर तुम पूरे अस्तित्व को सोचो तो वह बुराई नहीं है। बुराई तुम्हारा दृष्टिकोण है।

मैंने उनसे पूछा, एक छोटा बच्चा पैदा हुआ और मर गया, तुम कहते हो कि बुरा है। क्या तुम्हें पक्का पता है कि मरता नहीं तो ज्यादा अच्छा होता ? मर गया तो ज्यादा बुरा हुआ ? क्या तुम मानते हो कि मरता नहीं, तो जगत में शुभ फलित होता। एक हिटलर मर सकता था पैदा होकर। अगर हिटलर पैदा होकर मर जाता, तो हम कहते बहुत बुरा है यह जगत। लेकिन हमें पता नहीं था कि यह जीकर क्या कर सकता ह और क्या हो सकता है।

हमें पूरे का कोई पता नहीं है। हम अंश से अनुमान कर रहे हैं। हमारी हालत ऐसी है कि हम किसी उपन्यास से एक पन्ना फाड़ लें और उसको पढ़ें और पूरे उपन्यास के संबंध में वक्तव्य दें। या कविता की एक पंक्ति काट लें, उसे पढ़ें और पूरी कविता के संबंध में वक्तव्य दें। यह जगत एक विराट महाकाव्य है, जिसका न हमें ओर का पता है न छोर का। इसमें हम बीच की कोई एक घटना पकड़ लेते हैं और उससे हम हिसाब लगाते हैं। वहीं भूल हो जाती है। एक घटना को पकड़ कर हिसाब नहीं लगाया जा सकता। घटना अकेली नहीं है, एक महान जाल का हिस्सा है। एक विराट शृंखला का हिस्सा है।

तो एक बच्चा पैदा हुआ, वह क्या हो सकता है, इसका हमें कोई पता नहीं है। अगर एक हिटलर मरे और हमें पता हो कि यह हिटलर हो सकता है, तो कोई भी नहीं कहेगा कि यह बुरा हुआ। जर्मन एक विचारक ने लिखा है कि ऐसे ही क्षणों में आदमी की नीति और आदमी की समझ उथली पड़ जाती है। अगर हिटलर की माँ अपने बच्चे की गर्दन दबा दे तो महापुण्य का कार्य होगा। लेकिन इसे कोई महापुण्य मानेगा नहीं, उसकी माँ तो अदालत में सजा काटेगी। और सारी दुनिया उसकी निंदा करेगी कि यह कैसी माँ है ? और ठीक ही है, क्योंकि हमें कुछ

भी तो पता नहीं है कि यह बच्चा क्या हो सकता है ? क्या इसकी संभावना है ?

फिर यह भी हम छोड़ दें कि यह बच्चा क्या हो सकता है, यह भी कहाँ पक्का पता है कि जीना शुभ है और मर जाना अशुभ है। यह किसने कहा ? यह कैसे जाना ? क्योंकि मरा हुआ आदमी कुछ लौट कर आपसे कहता नहीं कि मैं बड़े दुख में पड़ गया हूँ। और संभावना तो यह है कि अगर मुर्दे दुख में पड़ते हों तो जरूर लौटकर कहेंगे, क्योंकि दुख की बातें कहने की इतनी इच्छा होती है ! मालूम ऐसा पड़ता है कि मुर्दे ऐसे सुख में पड़ जाते हैं कि लौट कर कहने तक उपद्रव लेने की जरूरत नहीं रह जाती। तब कौन तय करेगा कि मृत्यु दुख है ?

एक तो बात साफ है कि जीवन में तनाव है, दुख है, संताप है, लेकिन मृत्यु में तो विश्राम है, यह तो साफ है। दिन-भर आप दौड़ते हैं, भागते हैं, परेशान होते हैं, रात सोकर विश्राम पाते हैं। मृत्यु एक महानिद्रा है। किसने कहा कि यह दुख में पड़ गया ? यह अशुभ क्यों है ?

यह अशुभ इसलिए मालूम पड़ता है कि मेरा बेटा मर गया। यह अशुभ इसलिए नहीं मालूम पड़ता कि कोई मर गया, यह अशुभ मालुम पड़ता है कि 'मेरा' कोई मर गया। यह 'मेरे' का कुछ हिस्सा मर गया, इसलिए अशुभ मालूम पड़ता है। यह अशुभ इसलिए मालूम पड़ता है कि इस बेटे के साथ मेरी बहुत-सी महत्त्वाकांक्षाएँ पैदा हुई थीं, वे सब मर गयीं। इस बेटे के साथ मैंने जगत में अपने अहंकार को पूरा करने के लिए न-मालूम कितनी कल्पनाएँ बाँधी थीं, वे सब मर गयीं।

लेकिन कौन कहता है कि महत्त्वाकांक्षाओं का मर जाना बुरा है ? और कौन कहता है कि मेरा हिस्सा कुछ टूट गया, यह बुरा है ? क्योंकि जो जानते हैं वे तो कहते हैं कि जिस दिन सब कुछ मेरा टूट जाए, मेरा जैसा मेरे भीतर कुछ रहे ही नहीं, तो ही मैं परमानंद को उपलब्ध होऊँगा। यह दृष्टिकोण पर निर्भर करता है कि हम किस चीज को बुरा कहें, किस चीज को भला कहें।

यह मनुष्य की चिंतना है कि क्या बुरा है और भला है। परमात्मा की तरफ से जहाँ विराट का पूरा बोध है, जहाँ पूरा दिखायी पड़ रहा है, वहाँ बुरा और भला का सवाल नहीं है; वहाँ बुरा और भला है ही नहीं।

इसे हम यूँ समझें।

मैंने सुना है कैनेथ वॉकर लंदन का एक बड़ा सर्जन था। उसने एक बार किसी मरीज की किसी बीमारी का ऑपरेशन किया और कोई ग्रंथि भीतर बन गयी थी उसको काटकर बाहर निकाला। वह बीमारी असाधारण बीमारी है, कभी करोड़ों में एक आदमी को होती है। मरीज के रिश्तेदार बाहर बैठ कर रो रहे हैं, दुखी हो रहे हैं और कैनेथ वॉकर ऐसी संलग्नता से लगा है ऑपरेशन में जैसे कोई चित्रकार

चित्र बना रहा हो। और उसकी प्रफुल्लता, उसकी ताजगी ! उस मरीज से उसका कोई संबंध ही नहीं है। वह तो एक बहुत अनूठी बीमारी उसके हाथ में लग गयी है जो कभी करोड़ों में एक को होती है और कभी एकाध सर्जन को सौभाग्य मिलता है उस बीमारी को 'आपरेट' करने का। वह उसमें ही संलग्न है। वह इतना प्रफुल्लित, इतना आनंदित है, उसकी जिंदगी का बड़े-से-बड़ा क्षण आ गया ! और जब उसने ग्रंथि काटकर बाहर निकाली और टेबुल पर रखी तो उसके मुंह से जो शब्द निकले, वह थे—'हाऊ ब्यूटीफुल'! वह जो ग्रंथि थी, वह जो बीमारी की गाँठ थी, उसने जब उसे टेबुल पर रखा और देखा तो उसके मुंह से जो शब्द निकले वह यह थे कि 'हाऊ ब्यूटीफूल'!

दृष्टि पर निर्भर करता है। किसी भयंकर बीमारी की गाँठ किसी कलाविद चिकित्सक को सुंदर मालूम पड़ सकती है। सुंदर है या नहीं, कहना मुश्किल है। जिसे हम बीमारी कहते हैं.... सूफी फकीर हुआ सरमद। उसको नासूर हो गया था हृदय में और उसमें कीड़े पड़ गये थे। और जब वह मसजिद में नमाज पढ़ने के लिए झुका तो कीड़े नीचे गिर गये। तो कथा है कि सरमद ने कीड़े उठाकर वापिस नासूर में रख लिये। लोगों ने कहा सरमद, यह क्या पागलपन करते हो ? सरमद ने कहा जो मेरी मौत है, वह इनकी जिंदगी है। लेकिन कौन निर्णय करे कि कौन-सी जिंदगी बेहतर है। तो मैं नमाज पढ़ना बंद कर दूंगा, क्योंकि यही बेहतर है कि मैं अपनी ही जिंदगी को बदतर समझूँ बजाय इनके। क्योंकि इनकी जिंदगी के बाबत मैं कैसे निर्णय लूँ ? तो सरमद ने नमाज बंद कर दी, क्योंकि झुकेगा, कीड़े गिर जाएँगे।

अब यह अजीब आदमी है। दृष्टि की बात है। क्योंकि उसने कहा कि यह मेरी जिंदगी जो है वह इनकी मौत है। अगर मैं बचना चाहूँ तो ये कीड़े मरेंगे। उनको मारना पड़ेगा। लेकिन किसकी जिंदगी उस अंतिम हिसाब में उपयोगी है, कौन जाने ! एक बात पक्की है कि अगर भूल ही करनी हो तो अपनी तरफ करनी उचित है। इन कीड़ों की तरफ ! पता नहीं ये किस प्रयोजन से हैं ? इनका भी जीवन है।

आपकी जो बीमारी है, वह न-मालूम कितनें जीवाणुओं का जीवन है। और आपकी जो जिंदगी है, पता नहीं कितनों के लिए बीमारी हो। आपने उस तरह कभी नहीं सोचा होगा कि मेरी जो जिंदगी है, वह न-मालूम कितनों के लिए बीमारी हो। मेरा होना न-मालूम कितनों के लिए उपद्रव हो।

नहीं हम जहाँ से सोच रहे है वहाँ से शुभ और अशुभ दिखायी पड़ता है। अगर परमात्मा की आँख हमारे पास हो जो सारे विस्तार को युगपत् देख ले, छोर

दोनों दिखायी पड़ जाएँ, सारा विस्तार इकट्ठा दिखायी पड़ जाए, पूरा अस्तित्व झलक में आ जाए, तो वहाँ शुभ और अशुभ कुछ भी न होगा। शायद शुभ और अशुभ वहाँ ताना-बाना होगा। जैसा कोई जुलाहा कपड़ा बुनता है तो एक आड़ा धागा डालता है, एक सीधा धागा डालता है और दोनों से मिलकर कपड़ा बनता है। वह जो ताना-बाना है, हमारी इच्छा है कि हम सीधा-ही-सीधा बुन दें। तो फिर कपड़ा निर्मित नहीं होता। या हमारी इच्छा है हम तिरछा-ही-तिरछा बुन दें, तो भी कपड़ा निर्मित नहीं होता। धागे एक-दूसरे से गुंथ कर, एक-दूसरे से पार होकर कपड़े को निर्मित करते हैं।

यह सारा जगत एक चादर है, जिसमें शुभ और अशुभ ताने-बाने की तरह बुने हुए हैं। इसमें बुरे आदमी की भूल यही है कि वह सोचता है कि सारे जगत को मैं बुराई में डुबा दूँ। और भले आदमी की भूल भी यही है कि वह सोचता है सारे जगत को मैं भलाई में डुबा दूं। ये दोनों ही आदमी हैं, और इन दोनों को परमात्म-बोध नहीं है। परमात्म-बोध जिसे है, वह जगत जैसा है उसे वैसा ही स्वीकार कर लेता है। न उसे बुराई में डुबाने की आकांक्षा है, न उसे भलाई में डुबाने की आकांक्षा है।

इसलिए संत का एक नया ही रूप भारतीय-मन में है, वह साधु का नहीं है। साधु वह है जो असाधु के विपरीत है। संत वह है जो किसीके विपरीत नहीं है। समग्र स्वीकार में है। जो भी है, ठीक है। संत वह है जो सर्व-स्वीकार में है। जो भी है, ठीक है। बुराई भी ठीक है, भलाई भी ठीक है। पाप भी ठीक है, पुण्य भी ठीक है। यह अति कठिन है।

और इसलिए भारतीय-धर्म ने जैसी गहराई और ऊँचाई पायी वैसा कोई भी धर्म छू नहीं सका। बाकी सब धर्म बचकाने हैं। इस लिहाज से हैं कि आदमी के दृष्टिकोण से जगत को सोचा गया है उनमें। भारतीय-धर्म विशिष्ट है, उसमें ईश्वर के दृष्टिकोण से जगत को सोचा गया है। आप फर्क समझ रहे हैं ? आदमी के दृष्टि-कोण से तो आदमी अपने हिसाब से सोचता है। जो अच्छा लगता है वह अच्छा है, जो बुरा लगता है, वह बुरा। विराट के हिसाब को उसमें जगह नहीं है।

सभी धर्म, भारतीय-धर्म को छोड़कर, 'एंथ्रोपोसेंट्रिक' हैं। आदमी केंद्र है। तो जो भी आदमी के हित में है, वह शुभ है। और जो आदमी के अहित में है, वह अशुभ है। और आदमी के हित में सारे जगत का अहित होता रहे, तो भी शुभ है।

ईश्वर की दृष्टि से जगत का हिसाब, और जिस दिन कोई व्यक्ति उस दृष्टि के अनुकूल जीने लगता है उस दिन वह ईश्वरीय हो जाता है। मनुष्य मनुष्य रहते

ईश्वर नहीं हो सकता। और मनुष्य-केंद्रित धर्म कोई भी वास्तविक धर्म नहीं है। ईश्वर-केंद्रित धर्म, अनंत को ध्यान में रखकर, फिर हमारा शुभ और अशुभ कहीं टिकता नहीं। और हमारा साधु-असाधु कहीं टिकता नहीं। और हमारा बुद्धिमान और बुद्धिहीन कहीं टिकता नहीं। हमारे हिसाब और हमारी गणनाएँ सब खो जाती हैं।

कहा है--'पाप और पुण्य मुझे छू नहीं सकते'। होता मैं उनमें हूँ, स्पर्श वे मुझे नहीं कर पाते। 'मैं शरीर, इंद्रिय और बुद्धि से रहित हूँ'। मैं शरीर, इंद्रिय और बुद्धि से रहित हूँ--इसे थोड़ा समझना पड़ेगा, क्योंकि इसमें तो बहुत भय मालूम पड़ेगा कि परमात्मा बुद्धि से रहित है। हम तो सोचते हैं मन में कि सारी बुद्धि उसकी है, सारी बुद्धिमत्ता उसकी है, सबसे ज्यादा बुद्धिमान, ज्ञान का सागर, अनंत ज्ञान, ऐसा हम सोचते हैं। यह सूत्र बहुत उल्टी बात कहता है। यह कहता है--बुद्धि से रहित।

बुद्धि से रहित का अर्थ क्या है?

बुद्धि का अर्थ होता है, विचार की व्यवस्था। बुद्धि का अर्थ होता है, विचार का उपकरण। बुद्धि का अर्थ होता है, विचार का संस्थान। लेकिन विचार अज्ञानी के लिए जरूरी है। जिसे पता नहीं है वह विचार करता है। जिसे पता है वह विचार कैसे करेगा? तो बुद्धि अज्ञानी का उपकरण है, ज्ञानी का उपकरण नहीं है। ज्ञानी बुद्धिरहित हो जाता है।

बुद्धिरहित का मतलब यह है, कि बुद्धि का मतलब ही यह है कि कुछ मुझे पता नहीं है वह मुझे सोचना पड़ता है, सोचने की मेरे भीतर जो प्रक्रिया है, उसका नाम बुद्धि है। सोच-सोचकर मैं पता लगाता हूँ।

ऐसा समझें--

एक अंधा आदमी लकड़ी से टटोल-टटोल कर चलता है, क्योंकि उसके पास आँख नहीं है। इसलिए लकड़ी हाथ में रखता है, उसे टटोलता है। टटोल कर दरवाजा खोज लेता है। बुद्धि लकड़ी की तरह है अज्ञानी के हाथ में। उससे हम टटोलते हैं--कहाँ है दरवाजा? दरवाजा पता तो नहीं है, तो टटोलते हैं, टकराते हैं, भूल-चूक करते हैं, इसलिए बुद्धि का ढंग ही भूल-चूक करके सीखना है--'ट्रायल एंड एरर'। करो कोशिश, भूल करो, सीखो। अंधा यही कर रहा है। टटोलता है, यह दीवाल पायी, नहीं है; सिर टकरा गया, और जगह टटोला, और जगह टटोला। पच्चीस जगह टटोलता है, कहीं-कहीं खोजकर दरवाजा मिल जाता है, फिर उससे निकल जाता है। अंधे का भी टटोलना बंद होता जाएगा अगर उसी मकान में से रोज-रोज निकलेगा। दरवाजे का उसे अंदाज होने लगेगा, तो फिर वह ऐसे ही

निकल जाएगा, टटोलेगा भी नहीं। लेकिन नये मकान में फिर टटोलना पड़ेगा।

कभी आपने खयाल किया कि बुद्धि से आप विचार तभी करते हैं जब कोई चीज आपको पता नहीं होती। जब पता हो जाती है तो धीरे-धीरे बुद्धि का उपयोग आप बंद कर देते हैं। रोज वही काम जो करते हैं तो उसमें बुद्धि का उपयोग नहीं होता। जैसे एक आदमी 'कार ड्राइविंग' सीखता है, तो पहले बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है। फिर जैसे-जैसे, जैसे-जैसे अनुभव हो जाता है, बुद्धि बिलकुल छोड़ देता है। फिर वह सिगरेट पीता रहे, गाना गाता रहे, रेडियो सुनता रहे, बातचीत करता रहे, कार ड्राइव होती रहती है। अब इस अंधे को दरवाजा पता चल गया। अब यह निकल जाता है।

लेकिन कहीं अचानक दुर्घटना का क्षण आ जाए तो बुद्धि का फिर उपयोग करना पड़ता है। क्योंकि इसका कोई अभ्यास नहीं था। दुर्घटना का अभ्यास करियेगा भी कैसे? उसका अभ्यास हो नहीं सकता। वह तो घटती है। इसीलिए दुर्घटना कहते हैं। जिसका अभ्यास हो सके, उसका नाम दुर्घटना नहीं है। जिसका अभ्यास हो ही न सके और घटे, उसका नाम दुर्घटना है। इसलिए दुर्घटना में थोड़ी-सी बुद्धि की जरूरत पड़ती है। तब एकदम से चौंक कर आदमी सोचना शुरू करता है-- क्या?

बुद्धि अज्ञानी का उपकरण है। जैसे लकड़ी अंधे का उपकरण है। बुद्धि टटोलने की व्यवस्था है। 'ग्रॉपिंग इन दि डार्क'। अँधेरे में टटोलना। परमात्मा बुद्धिरहित है। उसका अर्थ है कि उसे कुछ अज्ञात नहीं है। उसका अर्थ है कि जो भी है वह उसके सामने है। सोचने का कोई कारण नहीं है। इसलिए जिस उपकरण से सोचा जाता है, वह उपकरण होने की कोई जरूरत ही नहीं है।

बुद्धि सीमित, अज्ञानी का उपकरण है। और जब तक आप सीमित और अज्ञानी हैं तब तक बुद्धि की जरूरत पड़ेगी। या जब तक आप बुद्धि की जरूरत बनाए रखेंगे तब तक आप सीमित और अज्ञानी बने रहेंगे। या तो हिम्मत करें बुद्धि को छोड़ देने की, तो शायद उस परमात्मा में छलाँग लग जाए जो बुद्धिरहित है। आप भी बुद्धिरहित होकर ही उसमें उतर पाएँगे। अगर बुद्धि लेकर वहाँ गये तो परमात्मा का दरवाजा आपको न मिलेगा। इसलिए बुद्धिमान अक्सर उससे चूक जाते हैं। कभी-कभी कोई कबीर, कभी कोई नानक, कभी कोई मुहम्मद-- न पढ़े, न लिखे, कभी किसीने जाना ही नहीं था कि इनमें भी बुद्धि है-- अचानक उसमें छलाँग लगा जाते हैं।

मुहम्मद को जब पहली दफे छलाँग लग गयी तो मुहम्मद को खुद ही भरोसा न आया कि मैं किसीको कहूँगा तो कोई मेरी मानेगा कि यह हो गया। तो मुहम्मद

ने डरते-डरते अपनी पत्नी को यह बात बतायी। डरता हूँ किसीको बताने में ऐसा हो गया है। तो मुहम्मद की जो पहली अनुयायी थी वह उसकी पत्नी थी, मुहम्मद की पत्नी। और एक लिहाज से यह महान सफलता है। इस दुनिया में सबको परिवर्तित कर लेना आसान है, पत्नी को परिवर्तित करना बहुत मुश्किल है। इसमें बुद्ध को भी मुश्किल पड़ गयी थी। मुहम्मद की यह अद्‌भुत सफलता है। मनुष्य के इतिहास में....पुरुषों में जो कई सफलताएँ गिनी जाएँ उसमें इसको जरूर गिनना चाहिए। मुहम्मद की पहली अनुयायी उनकी पत्नी थी। फिर आहिस्ता-आहिस्ता मुहम्मद के निकटतम लोगों में मुहम्मद ने बात कही। और तब भी मुहम्मद को जो तकलीफ झेलनी पड़ी वह मुहम्मद के मुल्क के बुद्धिमान लोगों के द्वारा दी गयी थी। क्योंकि बुद्धिमान यह मान न सके कि यह आदमी न पढ़ा, न लिखा, न बुद्धि का कोई सबूत देता है और इसको हो जाए, और हमें न हुआ हो।

कबीर को जो तकलीफ हमारे मुल्क में झेलनी पड़ी, पंडितों के कारण झेलनी पड़ी। क्योंकि पंडित यह मान न सके कि यह जुलाहा, कपड़ा बुनता रहा अब तक, कपड़ा बेचता रहा सड़कों पर बैठकर, अचानक यह परमज्ञानी हो गया। यह भरोसे की बात नहीं है।

तो क्या हमारा ख्याल यह है कि ज्ञान जो है, वह बुद्धि के अभ्यास से होता है?

निश्चित ही इस जगत के सारे ज्ञान बुद्धि के अभ्यास से होते हैं। लेकिन उस जगत का कोई भी ज्ञान बुद्धि के अभ्यास से नहीं होता। यहाँ बुद्धि सहयोगी है, वहाँ बुद्धि बाधा है। यहाँ बुद्धि मार्ग है, वहाँ बुद्धि दीवाल है। संसार में जाना हो तो बुद्धि को बढ़ाते चले जाना। वहाँ अंधे की लकड़ी की बहुत जरूरत पड़ेगी, क्योंकि अंधों का लोक है वह। वहाँ जितनी सजग लकड़ी होगी, जितनी संवेदनशील लकड़ी होगी, उतनी सफलता मिल पाएगी। लेकिन अगर परमात्मा की तरफ जाना हो तो इस लकड़ी को छोड़ देना। क्योंकि वहाँ अंधों का कोई प्रवेश नहीं है। वहाँ लकड़ी से टटोल कर नहीं पहुचा जाता। वहाँ इस लकड़ी को छोड़ कर ही पहुँचा जाता है। क्योंकि बाहर जाना हो तो टटोलना पड़ता है, भीतर जाने के लिए टटोलना क्या है, वहाँ तो हम हैं ही। सब लकड़ी वगैरह छोड़ देनी है, सब यात्रा बंद कर देनी है और आदमी वहाँ पहुँच जाता है।

यह सूत्र कीमती है कि मैं बुद्धि से रहित हूँ। मैं शरीर से, इंद्रिय से, बुद्धि से रहित हूँ। इंद्रियों की भी जरूरत दूसरे को जानने के लिए है। परमात्मा के लिए कोई भी दूसरा नहीं है। जैसा मैंने रात आपको कहा कि आप अपने को कैसे जानते

हैं? बिना किसी इंद्रिय के। हाँ, दूसरे को जानते हैं तो इंद्रिय से जानते हैं। अगर परमात्मा एक है तो उसको इंद्रिय की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि वह दूसरा कोई है नहीं जिसे जाने, स्वयं को ही जानता है। शरीर भी नहीं है। शरीर का मतलब ही यह होता है।

शरीर का आपने कभी ख्याल न किया होगा क्या मतलब होता है।

शरीर का मतलब होता है आपके और विराट के बीच का संबंध। आपके चारों तरफ विराट फैला हुआ है, और आप यहाँ भीतर हैं, और आप दोनों के बीच जो संबंध का स्रोत है, वह शरीर है। ऐसा समझें कि आपके घर की दीवाल है, उससे आपके घर का कमरा बना हुआ है। लेकिन पृथ्वी की कोई दीवाल है? पृथ्वी में सब दीवालें हैं और सब मकान हैं, लेकिन पृथ्वी की कोई दीवाल नहीं है, क्योंकि किससे विभाजन करियेगा।

आपके शरीर की जरूरत है, क्योंकि आपको सबसे विभाजित होने की जरूरत है। परमात्मा पूर्णता का नाम है, समस्त अस्तित्व का नाम है। उसकी कोई दीवाल नहीं हो सकती। ध्यान रहे, दीवाल सदा दूसरे से पृथक करती है। अगर कोई दूसरा नहीं है तो इस अस्तित्व का कोई शरीर नहीं हो सकता। शरीर दीवाल है। पड़ोसी से भेद पैदा करवाती है। परमात्मा के लिए किसी शरीर की जरूरत नहीं है, क्योंकि उसके अतिरिक्त और कोई भी नहीं है जिसका शरीर हो, जिससे भेद करना हो। समस्त अस्तित्व शरीरहीन है।

क्षुद्र के शरीर होते हैं, विराट का शरीर नहीं होता। क्षुद्र का शरीर जरूरी है, अन्यथा आपको पता भी नहीं चलेगा आप क्या हैं, कौन हैं, कहाँ हैं?

और इसी सूत्र से यह भी ख्याल में ले लेना जरूरी है कि जब तक आपको लगता है आप शरीर हैं, तब तक आप क्षुद्र ही बने रहेंगे। जिस दिन आपको यह बोध होना शुरू होगा कि शरीर जरूर है मेरे पास, लेकिन मैं शरीर नहीं हूँ, उस दिन ही आप शरीर के बाहर फैलना शुरू हो गये। जिस दिन आपको भी अनुभव होगा कि मैं अशरीरी हूँ, उस दिन आप परमात्मा के साथ एक हो गये। जब तक आप इंद्रियों पर भरोसा रखेंगे तब तक आप संसार को जानेंगे। जिस दिन आप इंद्रियों का भरोसा छोड़कर खोज करेंगे, उसदिन आप परमात्मा को जानेंगे। जब तक आप बुद्धि से चलेंगे तब तक आप अज्ञान में ही रहेंगे। जिस दिन बुद्धि को छोड़ कर चलेंगे, उस दिन ही ज्ञान की शुरुआत है।

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥ २३ ॥
समस्त साक्षि सद् असद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपं ॥ २४ ॥
अथ कैवल्योपनिषद्समाप्तः । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

मेरे लिए भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, कुछ नहीं है। वही मनुष्य मेरे शुद्ध परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है, जो मायिक प्रपंचोंसे परे, सब के साक्षी, सत-असत अर्थात् अस्तित्व-अनस्तित्व से परे, निराकार, हृदय की गुहा में स्थित मुझ परमात्मा को जान जाता है ॥ २३-२४ ॥

इस प्रकार कैवल्य उपनिषद समाप्त होता है। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

सत्रहवाँ प्रवचन; माउंट आबू, २ अप्रैल १९७२, रात्रि

हृदय-गुहा में प्रवेश--कैसे ?

इस सूत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात समझने की है--'हृदय की गुहा में स्थित मुझ परमात्मा को', वही व्यक्ति उपलब्ध होता है। जो निराकार को, सबके साक्षी को, सत-असत से परे जो है उसे, अस्तित्व-अनस्तित्व से पार जो है उसे जानने में समर्थ हो जाता है। सबसे पहले या तो कोई व्यक्ति उस परमसाक्षी को जानने में समर्थ हो जाए, तो हृदय की गुहा में प्रविष्ट हो जाता है। और या हृदय की गुहा में प्रविष्ट हो जाए, तो उस परम साक्षी को जानने में समर्थ हो जाता है। परमसत्ता को जाननेवाला हृदय की गुहा में प्रवेश पाता है, या फिर हृदय की गुहा में प्रवेश करनेवाला उस परमसत्ता को जान लेता है। ये दो ही उपाय हैं।

इसलिए दो ही निष्ठाएँ हैं मनुष्य की।

इस देश में हमने जीवन के सत्य को जानने की दो निष्ठाएँ मानी हैं। एक का नाम है सांख्य। सांख्य का अर्थ है, जो जान लेता है उस परमसत्ता को वह हृदय की गुहा में प्रविष्ट हो जाता है। दूसरे का नाम है योग योग का अर्थ है, जो प्रविष्ट हो जाता है हृदय की गुहा में वह जान लेता है उस परम सत्ता को।

सांख्य शुद्ध ज्ञान है। योग साधना है। सांख्य कहता है--करना कुछ भी नहीं है, सिर्फ जानना है। योग कहता है--करना बहुत कुछ है और तभी जानना फलित होगा। और ये दोनों ही सही हैं। और ये दोनों ही गलत भी हो सकते हैं। ये निर्भर करेगा आप पर। ये निर्भर करेगा साधक पर अगर कोई साधक ज्ञान की अग्नि इतनी जलाने में समर्थ हो कि उस अग्नि में उसका अहंकार जल जाए, सिर्फ ज्ञान की अग्नि ही रह जाए; ज्ञान ही रह जाए, ज्ञाता न रहे; भीतर कोई अहंकार का केंद्र न रह जाए, सिर्फ जाननामात्र रह जाए, बोध रह जाए, 'अवेयरनेस' रह जाए, चैतन्य रह जाए, तो कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। जानने की इस अग्नि से ही सब कुछ हो जाएगा। जानने की ही चेष्टा को करना काफी है। जानने की ही स्थिति को बढ़ा लेना काफी है। जानने में ही रोज-रोज अग्रसर होते जाना काफी है। होश

बढ़ जाए, जागृति आ जाए, तो पर्याप्त है।

लेकिन यह कभी करोड़ में एकाध आदमी को घटना घटती है। और जिस आदमी को करोड़ में भी यह घटना घटती है, वह भी न-मालूम कितने जन्मों की चेष्टाओं का फल होता है। लेकिन जब भी सांख्य की घटना किसीको घटती है तो वैसे व्यक्ति को प्रतीत होता है कि सिर्फ जानना काफी है। जानने से ही सब कुछ हो गया। लेकिन उसके भी अनंत-अनंत जन्म पीछे हैं। और अनंत जन्मों में करने की अनंत धाराएँ बही हैं।

सांख्य योग के विपरीत बातें करता रहा है। करेगा। क्योंकि जिसको भी सांख्य की अवस्था उत्पन्न होगी, उसे लगेगा कि कुछ और तो करना ही नहीं पड़ता। सिर्फ होश से भर जाना काफी है। लेकिन जो बेहोश पड़ा है, उसे होश से भर जाना ही तो सबसे बड़ी उलझन की बात है। जिसकी नींद खुल गयी, वह कह सकता है कि कुछ और मुझे करना नहीं पड़ा, नींद खुल गयी और मैंने प्रकाश का दर्शन कर लिया। लेकिन जो सोया पड़ा है, और सोया ही नहीं शराब पीकर बेहोश पड़ा है, जहर खाकर बेहोश पड़ा है, मूर्छित है, उससे हम चिल्ला-चिल्ला कर कहते रहें कि जागो, सिर्फ जागना काफी है, नींद का टूट जाना काफी है, कुछ करने की जरूरत नहीं और सत्य उपलब्ध हो जाएगा, ये बातें भी उसे सुनायी नहीं पड़तीं।

जो शराब पीकर पड़ा है, पहले तो उसके पूरे संस्थान से शराब को अलग करना पड़ेगा। जो अभी मूर्छित है, पहले तो उसकी मूर्छा तोड़नी पड़ेगी, ताकि वह सुन सके। आँख खोलने की बात भी तो उसके भीतर पहुँचनी चाहिए।

इसलिए सांख्य की मान्यता बिल्कुल सही होकर भी काम नहीं पड़ती है। कभी-कभी सांख्य का कोई एकाध व्यक्तित्व होता है, वह सांख्य की बातें कहे चला जाता है। मेरी खुद की मनोदशा वैसी रही है--सांख्य की। पंद्रह वर्षों तक मैं निरंतर यही कहता रहा कि कुछ भी करना जरूरी नहीं है। सिर्फ होश से भर जाना काफी है। निरंतर लोगों से कहने के बाद मुझे ख्याल हुआ कि वह तो सुनायी ही नहीं पड़ता है। वे सोए हुए नहीं हैं, वे मूर्छित हैं। और उनकी समझ में भी आ जाता है, तब वह समझ मात्र बौद्धिक होती है, ऊपर-ऊपर होती है। शब्द पकड़ लेते है, सिद्धांत पकड़ लेते हैं। फिर उन्हीं शब्दों और सिद्धांतों को दोहराने भी लगते हैं। लेकिन उनके जीवन में कहीं कोई रूपांतरण नहीं होता।

तब मुझे दिखायी पड़ा कि सांख्य फूल है। और जब फूल खिलता है, तब यह ख्याल भी नहीं आता जड़ों का। जड़ें छिपी पड़ी होती हैं अँधेरे गर्त में, पृथ्वी में। उसका कोई ख्याल भी नहीं आता। लेकिन वर्षों तक जड़ें निर्मित होती हैं,

पौधा निर्मित होता है और तब कहीं फूल खिलता है। शायद फूल यह कह सके कि खिल जाना काफी है। बस खिल ही जाना है, और क्या करना है! और हवाओं में सुगंध बिखरनी शुरू हो जाती है। लेकिन फूल का खिल जाना एक लंबी शृंखला का हिस्सा है। जब फूल खिलता है तो सारी शृंखला भूल जाती है। जब फूल खिलता है तब सारी शृंखला छिप जाती है। अंतिम फल जब आता है तो उस फल के आच्छादन में सब कुछ विस्मृत हो जाता है, जो लंबी यात्रा है।

तब मुझे लगना शुरू हुआ कि फूल खिल गया हो, तब तो ठीक है यह कहना कि फूल खिल जाना काफी है। लेकिन फूल न खिला हो, तो किसीसे यह कहे चले जाना कि फूल खिलना काफी है खतरनाक भी हो सकता है। क्योंकि वह व्यक्ति जड़ों को सँभालने के लिए जो कर सकता था वह भी न करेगा। और पौधे को बड़ा करने के लिए जो कर सकता था वह भी नहीं करेगा। और पौधे की सँभाल जो रखनी थी वह भी नहीं रखेगा। अब तो वह भी यह सोचेगा, उसकी बुद्धि में भी यही विचार चक्कर काटेगा कि खिल जाना काफी है, खिल जाएँगे। और खिल भी नहीं पाएगा। क्योंकि खिलना एक लंबी शृंखला का हिस्सा है।

वह लंबी शृंखला योग है।

कृष्णमूर्ति के साथ यही भूल पूरे जीवन से चल रही है। वह लोगों से कह रहे हैं--कुछ करने की जरूरत नहीं है। लोग समझ भी लेते हैं। वैसी है समझ जिससे नासमझी मिटती नहीं, सिर्फ छिप जाती है। लोग समझ भी लेते हैं कि कुछ करना नहीं है। तो जो कर रहे थे वह भी छोड़ देते हैं। और कृष्णमूर्ति जिस फूल के खिलने की बात कर रहे हैं वह फूल भी नहीं खिलता। तो बड़ी दुविधा में पड़ जाते हैं।

मेरे पास न-मालूम कितने लोग उन्हें सुननेवाले, जो वर्षों से--चालीस वर्ष से, तीस वर्ष से सुनते हैं, उन्होंने मुझे आकर कहा कि हम बड़ी मुसीबत में हैं। मुसीबत यह है कि हमारी समझ में यह बात बिल्कुल आ गयी कि करना कुछ भी नहीं है, यह हमारी समझ में इतनी आ गयी है कि अब हम कुछ कर भी नहीं सकते; कुछ करते हैं, फौरन ख्याल आता है कि करना तो बेकार है, वह फूल तो बिना किये ही खिल जाता है, वह तो निष्प्रयास से खिलता है, अप्रयत्न से खिलता है, 'एफर्टलेस' है, उसमें कोई साधना की जरूरत नहीं है, यह हमारी समझ में बहुत गहराई से आ गयी है, अब हम कुछ कर भी नहीं सकते हैं, जो करते थे वह भी छूट गया है, और न करने से कृष्णमूर्ति जो कहते हैं होगा उसकी कोई झलक भी नहीं मिलती, वह फूल कहीं खिलता हुआ दिखायी भी नहीं पड़ता। दुविधा उनके चित्त में बनी हो गयी है। क्योंकि अभी वे उस जगह नहीं पहुँचे थे वृक्ष की, जहाँ फूल अपने-आप

खिलता है।

शायद यह भी जड़ें ही हैं सिर्फ, या शायद अंकुरित ही हुए थे। या सिर्फ शाखाएँ निकली थीं, पत्ते आने शुरू हुए थे। और अब वे कुछ भी करने को राजी नहीं हैं, पानी भी सींचने को राजी नहीं हैं, एक बागुड़ का घेरा भी लगाने को राजी नहीं हैं कि पौधे की रक्षा हो सके, अब वे सूरज की तरफ उठकर सूरज को पीने की भी आकांक्षा नहीं रखते हैं, और प्राण बेचैन हैं, फूल खिलता नहीं, फूल खिलने के लिए आतुर होना चाहता है, लेकिन——प्राणों में फूल के पीड़ा है प्रगट होने की——लेकिन कुछ करना नहीं है।

तो एक तरफ सांख्य की यह दुविधा है कि सांख्य फूल की बात करता है और कठिनाई खड़ी होती है। दूसरी तरफ योग है। योग जड़ों की, पानी की, भूमि की गहन खोज करता है। लेकिन तब एक खतरा वहाँ भी घटित होता दिखायी पड़ता है। और वह खतरा यह कि आदमी क्रियाओं में ही लीन हो जाता है। जिस फूल के खिलने के लिए क्रियाएँ शुरू की थीं वह फूल तो भूल ही जाता है, क्रियाएँ इतनी संलग्न कर लेती हैं कि ऐसा लगता है इन क्रियाओं को करते जाना ही जीवन है। क्रियाएँ पकड़ लेती हैं।

पतंजलि ने योग के आठ अंग कहे हैं, जिनमें अंतिम तीन अंग धारणा, ध्यान, समाधि हैं। महत्त्वपूर्ण हैं। बाकी पाँच उनकी तरफ ले जानेवाले प्राथमिक चरण हैं। समाधि फूल है। शेष उसका वृक्ष हैं। लेकिन अक्सर योगी आसन-प्राणायम ही जीवन-भर करते रहते हैं। जीवन-भर वही करते रहते हैं। समाधि का फूल तो भूल ही जाता है, ये क्रियाएँ अपने-आप में महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। साधन साध्य बन जाते हैं। मार्ग ही मंजिल मालूम होने लगता है। सांख्य की भ्रांति यहाँ खड़ी होती है कि मंजिल ही इतनी महत्त्वपूर्ण बन जाती है कि मार्ग की कोई जरूरत ही नहीं। और योग की भ्रांति यहाँ खड़ी होती है कि मार्ग इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि अगर मंजिल भी छोड़नी पड़े मार्ग के लिए तो हम मार्ग को ही पकड़ेंगे, मंजिल नहीं पकड़ सकते। क्रियाओं से ग्रस्त आदमी के सामने अगर परमात्मा भी खड़ा हो तो वह कहेगा थोड़ी देर रुको, मैं पहले पूजा-पाठ कर लूं।

योग की एक भ्रांति भी, ये भ्रांति भी हजारों लोगों को भटकाती है——क्रियाएँ ही। सांख्य की भ्रांति तो कभी-कभी पैदा होती है, क्योंकि सांख्य का व्यक्तित्व कभी-कभी पैदा होता है। इसलिए बहुत लोग उस झंझट में नहीं पड़ते। कृष्णमूर्ति जिंदगी भर से बोलते हैं, लेकिन हिंदुस्तान में मैं नहीं समझता कि पाँच हजार लोगों से ज्यादा उनको सुनने व समझने वाले लोग हैं। और ये पाँच हजार भी वे ही लोग हैं जो तीस साल से निरंतर उनको सुने जा रहे हैं। उनकी जिंदगी में कहीं कोई

क्रांति घटित होती मालूम नहीं होती। हाँ, शब्द उनके पास आ जाते हैं। क्रांतिकारी शब्द उनके पास आ जाते हैं। और ये उन्हीं को दोहरा कर, दोहरा-दोहरा कर जीने लगते हैं। और रोज-रोज इनको खटका भी लगा रहता है कि वह बात भीतर घटित नहीं हुई है, वह फूल खिला नहीं है।

लेकिन योग की भ्रांति ज्यादा व्यापक है। क्योंकि पृथ्वी के अधिकतम लोग जब भी धर्म में उत्सुक होते हैं, तो तत्काल क्रिया में उत्सुक हो जाते हैं। स्वाभाविक है। क्योंकि बिना क्रिया के आदमी जिंदगी में कुछ भी तो नहीं पाता, तो धर्म को भी पाएगा तो क्रिया से ही पाएगा। जैसे धन पाया जाता है प्रयास से, वैसा ही धर्म भी पाया जाएगा। परमात्मा को भी पाना है तो कुछ करके ही तो पाना होगा। यह तर्क सामान्यतः समझ में आता है। लेकिन खतरा इसका, दूसरा अधूरा हिस्सा इसका खतरा है। और वह यह कि यह सब क्रियाएँ इतने जोर से मन को ग्रसित कर लेती हैं और मन क्रियाओं में इतना रस लेता है कि फिर छोड़ना मुश्किल हो जाता है। मंजिल खो जाती है, मार्ग पकड़ जाता है।

इस हृदय की गुहा में पहुँचने के लिए किया क्या जाए ?

तो मैं आपसे कहता हूँ——सांख्य और योग को दो निष्ठाएँ न समझकर एक ही निष्ठा के दो अंग समझें। योग को प्राथमिक और सांख्य को अंतिम समझें। योग को वृक्ष और सांख्य को फूल समझें। इसलिए मैं आपको इन दोनों का इकट्ठा जोड़ देता हूँ——सांख्य-योग।

करना तो पड़ेगा कुछ। क्योंकि जैसे हम हैं, वहाँ बिना किये नहीं हो सकता। लेकिन यह भी ध्यान रखना कि अगर करना-ही-करना रह गया तो भी वह घटना नहीं घटेगी। करना बहुत कुछ पड़ेगा और एक क्षण सब करना छोड़ भी देना पड़ेगा। जैसे कोई सीढ़ी पर चढ़ता है तो चढ़ता भी है और सीढ़ी छोड़ भी देता है। जैसे कोई दवा लेता है तो बीमारी ठीक हो जाती है, तो दवा छोड़ भी देता है। जैसे कोई मार्ग पर चलता है और मंजिल आ जाती है तो मार्ग छोड़ ही देता है। छोड़ क्या देता है, मार्ग का मतलब ही होता है कि जिसको हमें प्रतिपल छोड़ते चलना है। मार्ग का मतलब ही यह होता है। मंजिल की तरफ बढ़ने का मतलब है, मार्ग को छोड़ते चलना। रोज-रोज मार्ग को छोड़ते चलना है ताकि मंजिल करीब आती चली जाए। मंजिल मार्ग पर चलकर करीब आती है, उसका मतलब ही यह है कि मार्ग को छोड़कर करीब आती है। एक कदम मैं चला, एक कदम मार्ग मैंने छोड़ दिया। तो एक कदम मंजिल करीब आ गयी। मार्ग पर चलना भी पड़ता है, मार्ग को पकड़ना भी पड़ता है, मार्ग को छोड़ना भी पड़ता है, तो ही मंजिल आती है।

लेकिन हमें दो में से एक आसान लगती है बात कि अगर मार्ग को छोड़ना

ही है तो पकड़ना क्यों ? यही सांख्य की भूल बन जाती है । और या फिर हमारी समझ में आता है कि जिसको एक बार पकड़ लिया उसको क्या छोड़ना ! जो पकड़ ही लिया, तो पकड़ ही लिया । फिर निष्ठापूर्वक उसको पकड़े ही रहेंगे, फिर छोड़ेंगे नहीं । इससे योग की भूल पैदा होती है ।

सांख्य, योग, दोनों निष्ठाएँ साधक को ध्यान में रहें, तो हृदय की गुफा बहुत शीघ्रता से मिल जाती है ।

जो भी ध्यान के हम प्रयोग कर रहे हैं, उनमें दोनों का संयोग है । सुबह के चार चरणों में तीन चरण योग के हैं, चौथा चरण सांख्य का है । और तीन चरण इसलिए योग के हैं और एक सांख्य का है, क्योंकि हमारा व्यक्तित्व का तीन चौथाई हिस्सा सोया पड़ा है, और एक चौथाई ही मुश्किल से थोड़ा-सा चेतन है । तो तीन चौथाई तो हमें श्रम करना पड़ेगा और एक चौथाई हमें विश्राम करना पड़ेगा । तीन चौथाई मार्ग के लिए और एक चौथाई मंजिल के लिए ।

ध्यान रखना, तीन चरण ध्यान के, प्राथमिक तीन चरण, पहले तीन चरण वस्तुतः ध्यान नहीं हैं, केवल मूर्छा को तोड़ने की तैयारी है । मूर्छा टूट जाए तो चौथा चरण ध्यान का फलित हो सकता है । और ख्याल रखना कि तीन तो आपने किये और चौथा आप करेंगे नहीं । चौथा होगा । चौथे में आप सिर्फ विश्राम कर रहे हैं । चौथे का अर्थ है कि आप अपने को खुला छोड़ रहे हैं; कुछ घटता हो, तो हम द्वार बंद नहीं रखेंगे । कुछ घटता हो, तो हम तत्पर हैं । कुछ उतरता हो, तो हमारे भिक्षापात्र उसे झेलने को राजी हैं । कुछ आता हो, तो हम बाधा न डालेंगे । हम ग्राहक हैं चौथे में । सब तरफ से हम खुले हैं । जो भी बरसेगा, हमारी तरफ से कोई रुकावट न होगी । अगर उसकी किरण आएगी तो हमारे दरवाजे बंद नहीं पाएगी । स्वागत का भाव लिये हम द्वार पर खड़े हैं, यह चौथे का मतलब है । तीन में हमने कुछ किया है; चौथे में कुछ हो, इसकी प्रतीक्षा है । तीन में प्रयास है, चौथे में प्रतीक्षा । चौथा सांख्य का हिस्सा है ।

भूल यह होती है कि कुछ लोग चारों को सांख्य का हिस्सा बना लेते हैं, कुछ लोग चारों को योग का हिस्सा बना लेते हैं । तब हृदय की गुहा का खुलना बहुत मुश्किल हो जाता है ।

इस सूत्र में दो बात है—जो उस ज्ञान को उपलब्ध हो जाए उसकी हृदय की गुहा खुल जाती है, जिसके हृदय की गुहा खुल जाए वह उस ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है । तो हम दोनों को दोनों तरफ से ठीक से समझ लें ।

उसके ज्ञान को हम कैसे उपलब्ध हो जाएँ ? उसका ज्ञान कैसे घटित होगा ? इस पूरे कैवल्य उपनिषद में जगह-जगह मैंने आपसे बात की है कि ज्ञान को बढ़ाने

का एक ही उपाय है कि आपकी प्रत्येक क्रिया सजगतापूर्वक होने लगे, अमूर्छित होने लगे । ज्ञान को बढ़ाने का और कोई उपाय नहीं है । आमतौर से ज्ञान को बढ़ाने का उपाय हमें दिखता है शास्त्र, सिद्धांत, शब्द । वह ज्ञान को बढ़ाने का उपाय नहीं है, वह सिर्फ स्मृति को बढ़ाने का उपाय है । और स्मृति और ज्ञान में फर्क है ।

स्मृति का अर्थ है दूसरे का जाना हुआ, उधार । ज्ञान का अर्थ है अपना जाना हुआ, निजी । निज । जिसको हम ज्ञान का बढ़ना कहते हैं—हम कहते हैं फलाँ व्यक्ति के पास बहुत ज्ञान है--तो अक्सर हमारा मतलब होता है बहुत जानकारी है, बहुत बड़ी स्मृति है । शास्त्र कंठस्थ हैं । गीता कंठ में है । वेद मुखाग्र हैं । यह ज्ञान नहीं है । यह स्मृति है । और स्मृति कोई बहुत बहुमूल्य चीज नहीं है । यांत्रिक है । यंत्र भी स्मृति रख लेते हैं । और जल्दी ही यंत्र ही स्मृति रखेंगे, आदमी यह बोझ यंत्रों पर छोड़ देगा । ज्ञान बड़ी दूसरी घटना है । मेरा जाना हुआ । मेरी प्रतीति, मेरा अनुभव । मेरा दर्शन । जिसे मैंने ही जिया और चखा है । मेरा स्वाद । किसी और की दी गयी खबर नहीं ।

ज्ञान आत्मसाक्षात्कार है । सीधा । न बीच में शास्त्र हैं, न सिद्धांत । तो ज्ञान को बढ़ाने के लिए अध्ययन मार्ग नहीं है । ज्ञान को बढ़ाने का मार्ग जागरण है । जितना ही मैं जागूँ अपनी क्रियाओं में, उतना मेरा ज्ञान बढ़ेगा, जगेगा । जागने का अर्थ है, जो भी मैं कुछ करूँ वह इतनी तीव्रता से ध्यानपूर्वक हो कि उसमें मूर्छा जरा भी न रहे ।

कभी एक छोटा-सा प्रयोग करें तब आपको पता चलेगा कि मूर्छा कितनी गहरी है । कभी अपनी घड़ी को देखें, उसमें सेकेंड का काँटा है । तय कर लें कि एक मिनट तक सेकेंड के काँटे को होशपूर्वक देखेंगे । एक मिनट, ज्यादा बड़ी बात नहीं है । एक चक्कर सेकेंड का काँटा पूरा लगाएगा । होशपूर्वक देखेंगे । होशपूर्वक का मतलब आपको समझा दूँ, ताकि आपको प्रयोग आसान हो जाए ।

यह जो काँटा सेकेंड का घूम रहा है, इसको भूलेंगे नहीं एक मिनट तक, याद रखेंगे--यह सेकेंड का काँटा जा रहा है, जा रहा है, जा रहा है । साठ सेकेंड पूरे करेगा एक मिनट । आप चकित हो जाएँगे कि साठ सेकेंड में कम-से-कम तीन बार आप चूक जाएँगे । भूल जाएँगे कि क्या देख रहे हैं । कोई और ख्याल आ जाएगा । कोई और बात आ जाएगी । मन कहीं एक क्षण को छिटक जाएगा । कम-से-कम तीन बार । बीस सेकेंड भी खींचना मुश्किल है जाग्रतभाव । तब आपको पता चलेगा कैसी मूर्छा है यह ! मैं एक साठ सेकेंड तक एक काँटे के घूमने को भी स्मरणपूर्वक नहीं देख सकता हूँ कि देखते वक्त मुझे याद बनी रहे कि मैं देख रहा हूँ, काँटा घूम रहा है । काँटा घूमता रहेगा, एक सेकेंड को आप चूक जाएँगे, तब

आपको फिर से याद आएगा कि अरे, मैं भूल गया! तब तक आप देखेंगे काँटा दो-चार सेकेंड आगे जा चुका। उतने 'गेप', उतने अंतराल में आप कहीं और चले गये! होश यहाँ न रहा।

ऐसे कोई भी काम कर रहे हों तो होशपूर्वक करने की कोशिश करें। अलग से समय देने की कोई जरूरत नहीं है। भोजन कर रहे हैं तो होशपूर्वक करें। भोजन चबा रहे हैं तो होशपूर्वक चबाएँ। किसीको पता भी नहीं चलेगा कि आप कोई साधना में लगे हैं। सांख्य की साधना का पता भी नहीं चलता। सांख्य की साधना का कोई पता नहीं चलता कि कोई साधना कर रहा है कि नहीं कर रहा है। योग की साधना का पता चलता है, क्योंकि उसमें बाहर की क्रियाओं से प्रयोग करना होता है। सांख्य की तो अंतर्क्रिया है। श्वाँस चल रही है, इसका ही ख्याल रखें—बुद्ध ने इस पर बहुत जोर दिया।

बुद्ध ने बहुत जोर दिया है इस पर कि आदमी चल रहा है, बैठा है, उठा है, लेटा है, एक चीज तो सतत चल रही है, घड़ी के काँटे की तरह—श्वाँस—उसको देखते रहें। श्वाँस भीतर गयी, तो होशपूर्वक भीतर ले जाएँ। श्वाँस बाहर गयी तो होशपूर्वक बाहर ले जाएँ। चूके न मौका। एक भी श्वाँस बिना जाने न चले। थोड़े ही दिन में आप पाएँगे कि आपका ज्ञान बढ़ने लगा। ये श्वाँस पर जितना आपका ध्यान सजग होने लगेगा, उतना आपके भीतर ज्ञान बढ़ने लगेगा। अगर आप घंटे भर भी ऐसी स्थिति बना लें कि जब चाहें घंटे भर श्वाँस को आते-जाते देख लें और कोई बाधा न पड़े, तो सांख्य का दरवाजा बिल्कुल निकट है। धक्का ही देने की बात है और खुल जाएगा।

बुद्ध ने श्वाँस पर—अनापानसतीयोग, श्वाँस के आने-जाने का स्मृति-योग—इस पर सारी, सारी दृष्टि बुद्ध ने इस पर खड़ी की है। बुद्ध कहते थे इतना ही कर ले भिक्षु तो और कुछ करने की जरूरत नहीं है। यह बहुत छोटा काम लगेगा मालूम आपको। लेकिन जब घड़ी के काँटे को देखेंगे और साठ सेकेंड में तीन दफे चूक जाएँगे, तब पता चलेगा कि श्वाँस की इस प्रक्रिया में कितनी चूक हो जाएगी। लेकिन, शुरू करें, तो कभी अंत भी होता है। प्रारंभ करें, तो कभी प्राप्ति भी होती है। यह अंतर्क्रिया है। यह राम-राम जपने से ज्यादा कठिन है। क्योंकि राम-राम जपने में होश रखना आवश्यक नहीं है। आदमी राम-राम जपता रहता है, यंत्रवत्। होश रखना आवश्यक नहीं है। और तब ऐसी हालत बन जाती है कि वह काम भी करता रहता है, राम-राम भी जपता रहता है। उसे न राम-राम का पता रहता है कि मैं जप रहा हूँ—जप चलता रहता है, यंत्रवत् हो जाता है। इसलिए अगर राम-राम भी जपना हो, तो राम-राम जपने में दोहरे काम

करने जरूरी हैं—जप भी रहे, और जप का होश भी रहे, तो ही फायदा है। नहीं तो बेकार है।

तो बहुत लोग जप कर रहे हैं और व्यर्थ है। उनके जप ने उनकी बुद्धि को और मंदा दिया है, तीव्र नहीं किया। और उनके ज्ञान को बढ़ाया नहीं, और घटाया है। इसलिए अक्सर आप देखेंगे कि राम-राम जपनेवाले राम-चदरिया ओढ़े हुए लोग, बुद्धि के मामले में थोड़े कम ही नजर आऐंगे। ज्ञान उनका जगता हुआ नहीं मालूम पड़ता, और जंग खा गया हुआ मालूम पड़ता है। जंग खा ही जाएगी बुद्धि। क्योंकि बुद्धि का वह जो बोध है, वह जो ज्ञान है, वह सिर्फ जागरण से बढ़ता है। कोई भी क्रिया अगर मूर्छित की जाए, तो घटता है। और हम सब क्रियाएँ मूर्छित कर रहे हैं। उसीमें हम राम-जप भी जोड़ लेते हैं। वह भी एक मूर्छित क्रिया हो जाती है।

बजाय एक नयी क्रिया जोड़ने के, जो क्रियाएँ चल रही हैं उनमें ही जागरण बढ़ाना उचित है। और अगर राम की क्रिया भी चलानी शुरू कर दी हो, तो उसमें भी जागरण ले आएँ। कुछ भी करें, एक बात तय कर लें कि उसे जागकर करने की सतत चेष्टा जारी रखेंगे। आज असफलता होगी, कल असफलता होगी—कोई चिंता नहीं है—लेकिन हर असफलता से सफलता का जन्म होता है। और अगर अब ख्याल जारी रहा और सतत चोट पड़ती रही, तो एक दिन आप अचानक पाऐंगे कि आप किसी भी क्रिया को समग्र चैतन्य में करने में सफल हो गये हैं। जिस दिन आप इस चैतन्य में सफल हो जाएँगे, उसी दिन सांख्य का द्वार खुल गया। और कुछ भी जरूरी नहीं है। और कोई बाहरी क्रिया जरूरी नहीं है। अंतर्गुहा में प्रवेश हो जाता है।

तब, तब हम जान लेते हैं अपने भीतर के साक्षी को, क्योंकि यह जागरण की क्रिया साक्षी की क्रिया है। जब मैं जागकर कुछ करता हूँ तो मैं साक्षी हो जाता हूँ, कर्ता नहीं होता। जब भी मैं सोकर कुछ करता हूँ, तभी मैं कर्ता होता हूँ और साक्षी नहीं होता। कुछ भी जागकर करें—भोजन कर रहे हैं, जागकर करें, तब आप भोजन करनेवाले नहीं रह जाएँगे। भोजन की क्रिया को देखनेवाले हो जाएँगे। रास्ते पर चल रहे हैं, जागकर चलें, तो आप चलनेवाले नहीं रह जाएँगे; जो चल रहा है, उसके आप द्रष्टा और साक्षी हो जाएँगे।

तो जागरण की क्रिया बढ़ती जाए तो आपके भीतर साक्षी विकसित होता जाएगा। जिस दिन आपके भीतर साक्षी पूरी तरह कर्ता से मुक्त हो जाएगा, कर्ता की खोल बिलकुल टूट जाएगी और साक्षी का अंकुर पूरा बाहर निकल आएगा, उसी दिन इस सूत्र का जो एक हिस्सा है वह आपके ख्याल में आ जाएगा।

'मेरे लिए भूमि, जल, अग्नि ,वायु, आकाश, कुछ भी नहीं है। वही मनुष्य मेरे शुद्ध परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है, जो मायिक प्रपंचों से परे, सबके साक्षी, सत-असत से परे, निराकार, हृदय की गुहा में स्थित मुझ परमात्मा को जान लेता है। '

यह सांख्य का, ज्ञान का, मात्र ध्यान का मार्ग है। भीतर का साक्षी ख्याल में आ जाए, तो वह परमसाक्षी तत्क्षण ख्याल में आ जाता है। क्योंकि हमारे भीतर का साक्षी उस परमसाक्षी का ही फैला हुआ हाथ है। जैसे कोई एक छोटी-सी पत्ती वृक्ष पर होश से भर जाए कि मैं कौन हूँ, तो क्या आप सोचते हैं उसी क्षण उसे पता नहीं चल जाएगा कि पूरा वृक्ष भी वही है। क्योंकि पत्ती सिर्फ वृक्ष का फैला हुआ एक छोटा-सा अंग है। अगर पत्ती जग जाए और उसे पता चल जाए मैं कौन हूँ, तो उसे यह भी पता चल जाएगा कि वृक्ष कौन है। क्योंकि मैं और वृक्ष में तब कोई फासला नहीं होगा। यह मेरे भीतर जो छिपा हुआ प्रगट हो रहा है, यह उसी विराट का फैला हुआ हिस्सा है, उसीका एक हाथ है। अगर मैं भीतर जाग जाऊँ अपने साक्षी के प्रति, तो तत्क्षण मेरे लिए वह विराट साक्षी भी अनुभव का हिस्सा हो जाता है।

तो हृदय की गुहा में जाने का एक तो मार्ग ज्ञान प्रगाढ़ होता जाए, प्रखर होता जाए, तीव्र होता जाए और ऐसा क्षण आ जाए कि ज्ञान की अग्नि जागरण ही रह जाए और भीतर इस जागरण का कोई अहंकार केंद्र न हो।

दूसरी बात ख्याल ले लें इस संबंध में। जितना मूर्छा होती है उतना बड़ा अहंकार होता है। जितना जागरण होता है उतना बड़ा साक्षी होता है। और साक्षी और अहंकार में कोई संबंध नहीं है। साक्षी होता है, तो अहंकार नहीं होता। अहंकार होता है, तो साक्षी नहीं होता। वे दोनों साथ-साथ कभी मौजूद नहीं होते। इसलिए एक और मजे का अनुभव आप करेंगे, जब किसी क्रिया के प्रति आप जागकर साक्षी बन जाएँगे, तो उस क्षण में आप पाएँगे कि आप नहीं हैं। 'मैं' नहीं है। अहंकार उस क्षण अनुभव नहीं हो सकता।

इसलिए बुद्ध ने तो बहुत अद्‌भुत हिम्मत की बात कही। बुद्ध ने तो कहा है कि न अहंकार है वहाँ और न आत्मा। क्योंकि मैं का कोई भाव ही नहीं रह जाता तो किसे आत्मा कहें? आत्मा का मतलब होता है, मैं। तो बुद्ध ने तो कहा कि जब पूर्ण जागरण होता है, तो वहाँ कोई आत्मा भी नहीं है। वहाँ सिर्फ जागरण ही रह गया, जागा हुआ कोई भी नहीं है। यह बहुत कीमत की बात है। क्योंकि जागा हुआ अगर अभी है वहाँ और जागरण है, तब भी अभी दो चीजें मौजूद रहीं। अगर वहाँ कोई अभी एक केंद्र भी है जागा हुआ, तो अभी दो चीजें मौजूद रहीं। तो बुद्ध ने

कहा वहाँ कोई जागा हुआ नहीं है, बस जागरण है।

बुद्ध का कहने का मतलब यह है कि जब कोई व्यक्ति जागता है तो बुद्ध नहीं होता वहाँ कोई, बुद्धत्व होता है। सिर्फ जागापन होता है।

इस साक्षी की अवस्था में हृदय की गुहा खुल जाती है। क्योंकि हृदय की गुहा पर जो पत्थर है, वह अहंकार का है। हृदय की गुहा पर जो बंद है द्वार वह अहंकार का है। जितना सघन मेरा 'मैं' है, उतना ही हृदय सिकुड़ जाता है। इसलिए कभी आपने ख्याल किया, साधारण जीवन में भी जिनका जितना 'मैं' सघन होता हैं, उनके पास हृदय उतना ही छोटा होता है। साधारण जीवन में भी। उस परम अवस्था को हम छोड़ दें, बुद्ध की अवस्था को छोड़ दें, जहाँ अहंकार बिलकुल ही नहीं होता; शायद वह हमारी समझ में भी न आए। लेकिन रोजमर्रा के जीवन में, दैनंदिन, हम अनुभव करते हैं कि जिस आदमी का 'मैं' जितना बड़ा होता है, उसका हृदय उतना ही छोटा होता है। और जिस आदमी का हृदय जितना बड़ा होता है, 'मैं' उतना ही छोटा होता है।

इसलिए अहंकारियों को हृदय अपना काटकर अलग ही कर देना पड़ता है। हृदय के साथ अहंकार की तृप्ति नहीं हो सकती। और जिसको हृदय की तृप्ति करनी है, उसे सारी महत्त्वाकांक्षाएँ छोड़ देनी पड़ती हैं। और सब अहंकार की यात्राएँ बंद कर देनी पड़ती हैं। हृदय के मार्ग पर जानेवाला आदमी महत्त्वाकांक्षा के मार्ग पर नहीं जा सकता। इसलिए इस जगत में बड़ी दुर्घटना घटती है कि जिन लोगों के हाथ में शक्ति हो तो लाभ हो, वे लोग शक्ति के मार्ग पर नहीं जाते। और जिनके हाथ में शक्ति होने से खतरा ही होगा, वे ही लोग शक्ति के मार्ग पर जाते हैं। जहाँ-जहाँ शक्ति है, अहंकार वहाँ-वहाँ जाता है। जहाँ-जहाँ प्रेम है, हृदय वहाँ-वहाँ जाता है। प्रेम और शक्ति का कोई लेना-देना नहीं है।

अहंकार सिकोड़ देता है हृदय को, बंद कर देता है सब तरफ से। क्यों? क्या कारण है? अहंकार को हृदय से क्या डर है।

अहंकार को हृदय से डर है। क्योंकि हृदय दूसरे से जुड़ने का द्वार है। और अहंकार दूसरे से टूटने की प्रक्रिया है। मैं अलग, मैं भिन्न, यह अहंकार की आधारशिला है। और हृदय दूसरे से जोड़ता है। तू से जोड़ता है। अन्य से जोड़ता है। और अगर हम हृदय की ही मानते चले जाएँ तो समग्र से जोड़ देता है। अगर हम अहंकार की मानते चले जाएँ तो समग्र से तो तोड़ता ही है, अंततः किसीसे भी जोड़ने की हालत नहीं रह जाती। आदमी बिलकुल अलग। फिर भयंकर पीड़ा भी होती है। क्योंकि जितना ही आदमी दूसरे से टूट जाता है, उतना ही जीवन से टूट जाता है। जितना ही दूसरे से टूट जाता है, उतना ही जड़ें कट जाती हैं। इसलिए अहंकार

अपनी पूर्ति में ही जीवन को दुख और नर्क से भर लेता है।

हृदय जितना दूसरों से जुड़ता है, उतना आनंद से भरता चला जाता है। क्योंकि दूसरों से जुड़ना जीवन से जुड़ना है और नयी जड़ें खोजना है। और जिस दिन हृदय परमात्मा से जुड़ जाता ह अर्थात् सबसे जुड़ जाता है, उस दिन परम जीवन से जुड़ जाता है। परम स्रोत जीवन का उस दिन उपलब्ध हो जाता है। उस स्रोत को दुख का कोई पता ही नहीं है, पीड़ा का कोई पता ही नहीं है। अपने को तोड़ लेना ही पीड़ा है अस्तित्व से। और अपने को जोड़ देना ही आनंद है।

यह अहंकार की पर्त या पत्थर या दीवाल, सजग होते चले जाएँ, बिखर जाती है। एक उपाय है सांख्य की तरफ से। कठिन है यह। सुनने में सरल, समझने में सरल, उतरने में बहुत कठिन है। क्योंकि मूर्छा हमारी बीमारी है और जागरण का उपाय है यह। और मूर्छा हमारा अभ्यास है। इसलिए कठिन है। इसलिए कठिन है कि हमारी बीमारी ही मूर्छा है। और पद्धति है यह जागरण की। जाग हम सकते नहीं, यही तो हमारी तकलीफ है। और जागना इसमें उपाय है। इसलिए बहुत मुश्किल है। बहुत कठिन है।

तो दूसरे हिस्से से भी हम समझ लें। योग की तरफ से क्या मार्ग है?

योग आपको जागने को नहीं कहता। योग आपको कुछ क्रियाएँ करने को कहता है, जिनसे जागरण फलित होता है। योग आपसे सीधा नहीं कहता जाग जाओ, योग आपसे कहता है यह करो, यह करो, यह करो। लेकिन वे क्रियाएँ ऐसी हैं कि उनके करने से जागरण पैदा होगा। जैसे बुद्ध ने कहा श्वाँस पर ध्यान रखो। यह सांख्य की प्रक्रिया हुई। योग कहता है ध्यान की फिकिर छोड़ो, पहले श्वाँस को ही व्यवस्थित करो। वह प्राणायाम है। ध्यान की फिकिर मत करो, क्योंकि ध्यान की तुमसे आशा नहीं है। लेकिन तुम तीव्र श्वाँस तो ले ही सकते हो। तो तीव्र श्वाँस लो। अब यह बहुत मजे की बात है कि जितनी धीमी श्वाँस हो उतना उस पर ध्यान मुश्किल होगा। और जितनी तीव्र श्वाँस हो, उतना ध्यान रखना आसान होगा। असल में मूर्छा के लिए, तोड़ने के लिए कुछ इतने तीव्र उपाय चाहिए कि आप चाहें, तो भी सो न सकें। आप चाहें तो भी सो न सकें। इतनी गहरी चोट आप पर होनी चाहिए।

तो योग कहता है श्वाँस की तीव्र चोट करो। इतनी तीव्र चोट करो कि सोना मुश्किल हो जाए। मूर्छा मुश्किल हो जाए। यह जानकर आप हैरान होंगे कि प्राणायाम करनेवाले की नींद भी कम होती चली जाती है। साधारण नींद भी कम हो जाती है, वह गहरी मूर्छा पर चोट लगेगी––लगेगी––साधारण नींद भी कम हो जाती है। और अगर आप सतत प्राणायाम का प्रयोग करें तो नींद बिलकुल भी समाप्त हो सकती है।

मेरे पास लंका से एक भिक्षु को लाया गया था। उसके बहुत इलाज किये लेकिन कोई उपाय नहीं बना–– उसकी नींद खो गयी थी एक-डेढ़ वर्ष से, बिलकुल खो गयी थी। और कोई 'ट्रैंकुलाइजर', कोई नींद की दवा नींद लाने में समर्थ नहीं होती थी, सिर्फ वह सुस्त पड़ जाता था। नींद तो नहीं आती थी और सुस्ती उलटे आ जाती थी। तो नींद न आने की तकलीफ अलग थी और दवाओं की तकलीफ अलग थी। सुबह वह बिलकुल लुंज-पुंज उठता था, और नींद तो आती ही नहीं थी।

तो मैंने उससे पूछा कि तुम साधना क्या कर रहे हो? उसने कहा कि साधना छोड़िये, मुझे नींद के लिए कुछ बताइये। मैंने उससे कहा कि नींद के लिए तभी कुछ बताऊँगा जब मैं जान लूँ कि तुम साधना क्या कर रहे हो। तो उसने कहा कि मैं 'अनापानसतीयोग' का प्रयोग कर रहा हूँ तीन साल से। तो मैंने कहा, उसे तुम एक पंद्रह दिन के लिए बंद कर दो। उसने कहा कि यह कैसे मैं कर सकता हूँ! तो मैंने उसे कहा कि उसकी वजह से ही तेरी नींद बिलकुल खो गयी है। वह इतनी चेष्टापूर्वक कर रहा था और इतनी तीव्र श्वाँस लेकर 'अनापान' का प्रयोग कर रहा था–– क्योंकि धीमी श्वाँस में मुश्किल होता है, इसलिए उसने तेज श्वाँस लेनी शुरू कर दी। तेज श्वाँस को याद रखना आसान है। झटके से जाएगी, तेजी से जाएगी, तो ख्याल रहेगा। उसने इतनी तेज श्वाँस लेनी शुरू कर दी कि उसकी वजह से नींद खो गयी। क्योंकि शरीर में कार्बन की मात्रा कम हो जाए, तो नींद खो जाएगी। आक्सीजन की मात्रा बढ़ जाए तो नींद खो जाएगी।

योग कहता है कि अगर यह साधारण नींद पर चोट पहुँचती है, तो उस भीतरी नींद पर भी इससे चोट पहुँचती है। इसलिए कहता है––तुम ध्यान की फिकिर न करो, पहले प्राण को शुद्ध कर लो। इतना शुद्ध कर लो कि प्राण के द्वारा मूर्छा में जितना सहयोग मिलता है, वह न मिले। योग कहता है कि हमें आशा कम है कि तुम जाग सकोगे अपनी कामवासना की तरफ, हम तुम्हें ऐसे आसन सिखाते हैं जिनसे तुम्हारी कामवासना की ऊर्जा नीचे की तरफ बहना बंद हो जाए। और अगर तुम्हारी काम-ऊर्जा ऊपर की तरफ बहने लगे, तो जागना आसना हो जाएगा।

क्या आपने कभी ख्याल है कि दुनिया में अधिकतर लोग 'सेक्स' का उपयोग नींद की दवा की तरह करते हैं, कम-से-कम पुरुष। संभोग के बाद उनको तत्क्षण नींद आ जाती है। क्योंकि संभोग के साथ ही शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है। उस क्षीण-अवस्था में निद्रा जल्दी पकड़ लेती है।

अगर कोई व्यक्ति अपनी काम-ऊर्जा को संभोग से व्यर्थ न करे, तो उसकी

भीतरी नींद को भी चोट पहुँचना शुरू हो जाएगी। इसलिए ब्रह्मचर्य का जो उपयोग योग ने किया है, उसका कोई कामवासना से विरोध नहीं है, उसका केवल काम-ऊर्जा का एक अन्यथा उपयोग करना है; एक विधायक उपयोग करना है। लेकिन अगर कोई सिर्फ ब्रह्मचर्य साधने लगे और उस ऊर्जा का अन्यथा उपयोग न जानता हो, तो वह विकृत हो जाएगा, विक्षिप्त हो जाएगा। यही मैं कह रहा था कि कुछ लोग क्रियाओं से बँध जाते हैं, ब्रह्मचर्य उनके लिए साध्य हो गया। लक्ष्य हो गया कि अगर ब्रह्मचारी हो गये तो बहुत कुछ हो गये। ब्रह्मचारी होने से कुछ होने वाला नहीं है। ब्रह्मचर्य सिर्फ प्रयोग है एक, किसी और प्रयोग में प्रवेश करने का। ऊर्जा ज्यादा हो तो व्यक्ति जाग सकेगा आसानी से। ऊर्जा कम हो तो जल्दी सो जाएगा और मूर्छित हो जाएगा।

तो योग कहता है कि इस ऊर्जा पर हम सीधा काम करें, जागरण की हम फिकिर न करें। ऊर्जा बढ़ जाएगी तो आप जागेंगे। आपको यह अभी घड़ी के लिए मैंने कहा, जिस रात्रि आप संभोग में गये हों, उस संभोग के बाद इस काँटे पर ध्यान रखने की कोशिश करें, तो मैंने कहा तीन दफे तो आप छः दफे चूकेंगे। तब आपको पता चलेगा कि शरीर की ऊर्जा का जागरण से कोई संबंध है। आप दो-चार-दस दिन, पंद्रह दिन काम-ऊर्जा को नष्ट न किये हों, फिर इस घड़ी पर ध्यान रखें। तो हो सकता है आप एक बार भी न चूकें। आपका जागरण आपके भीतर ऊर्जा की मात्रा पर निर्भर करता है।

तो योग कहता है जागरण को हम सीधा नहीं छूते, हम आपकी ऊर्जा को बचाने की चेष्टा करते हैं। आसन से, प्राणायाम से, प्रत्याहार से। योग कहता है कि ऊर्जा प्रतिक्षण नष्ट हो रही है इंद्रियों से। आप चौबीस घंटे देखते रहते हैं, व्यर्थ भी देखते रहते हैं। जब देखने को कुछ नहीं होता, तब भी देखते हैं। तब भी आपको नहीं सूझता है कि आँख बंद कर लें। बैठे हैं दरवाजे पर, सड़क चल रही है उसीको देख रहे हैं। लोग आ-जा रहे हैं, उन्हीं को देख रहे हैं। जिस अखबार को दो दफे पढ़ चुके हैं, उसको फिर तीसरी दफे पढ़ रहे हैं। जिन बातों को हजार दफे कर चुके, फिर उन्हींको कर रहे हैं। वही बात रोज। आप अपनी शक्ति खो रहे हैं।

तो योग कहता है, प्रत्याहार। अपनी शक्ति को बाहर मत जाने दो, भीतर ले जाओ। इसके दोहरे अंग हैं। एक तो अपनी शक्ति को व्यर्थ मत खोओ। आँख खोलने की जरूरत हो तो ही खोलो। ओंठ खोलने की जरूरत हो तो ही खोलो। सुनने की जरूरत हो तो ही सुनो। बोलने की जरूरत हो तो ही बोलो। अन्यथा शक्ति को बचाओ। और अगर एक दफे आपको ख्याल आ जाए, तो आप खुद ही

हैरान होंगे कि कम-से-कम आपके सौ में से नब्बे कृत्य व्यर्थ थे, उनको करने की कोई भी जरूरत न थी। सौ में से नब्बे मैं कह रहा हूँ, इससे ज्यादा ही निकलेंगे। एक दिन भी अगर आप ख्याल रखकर चलें कि जो जरूरी है वही बोलूंगा, तो आप पाएँगे कि दिन भर में कितना कम बोलने की आवश्यकता रह जाती है। और एक और दूसरी मजे की बात पाएँगे कि जो-जो आप व्यर्थ बोलते थे उससे और नयी झंझटें निकलती थीं, उनका हिसाब लगाना मुश्किल है।

आदमी की नब्बे प्रतिशत मुसीबतें वह जो व्यर्थ की बातें कर लेता है, उससे निकलती हैं। किसीसे कुछ कह दिया, फिर उसने कुछ कह दिया, फिर सिलसिला जारी है, फिर उसका अंत नहीं होता।

व्यर्थ की बातें हम सुनते हैं। अगर एक आदमी मुझसे आकर कहता है कि फलाँ आदमी ने आपको गाली दी, तो मैं एकदम पूरी आत्मा को जगाकर सुनने लगता हूँ। क्या जरूरत थी? गाली ही दी थी न। तो उससे कहना था कि तुमने सुन लिया यह भी बुरा किया। तुम्हें उसी वक्त कान बंद कर लेने थे। क्योंकि गाली को भीतर क्यों जाने देना! और तुम मुझे किसलिए सुनाने चले आए हो? तुम पर किसीने कचरा फेंक दिया, अब तुम मुझे और क्यों फेंक रहे हो उस पर! तुम्हीं समझो। हो गयी बात, समाप्त हो गयी। व्यर्थ सुनकर हम भीतर, फिर काम भी तो करना पड़ेगा। एक किसीने गाली दी है, उसको सुन लेने से तो निपटारा नहीं होता। फिर भीतर सिलसिला चलता है। फिर शक्ति व्यय होती है। और हम चौबीस घंटे अपनी शक्ति को इसी तरह व्यर्थ करते हैं।

तो प्रत्याहार का पहला तो नियम यह है कि हम शक्ति को व्यय न करें। और दूसरा नियम यह है कि जहाँ-जहाँ से शक्ति मिल सकती हो, वहाँ-वहाँ से लें। अभी हम जहाँ-जहाँ खो सकते हैं वहाँ-वहाँ खोते हैं। आप वृक्ष के पास बैठे हैं, अगर आप वृक्ष की तरफ आँखें एकाग्र कर लें और अनुभव करें कि वृक्ष से शक्ति आपकी तरफ प्रवाहित हो रही है, तो आप अपनी आँखों को ताजा करके वापिस लौटेंगे। आपकी आँखें ताजगी और नया रस लेकर वापिस आ जाएँगी। आकाश के नीचे लेटे हैं, अगर धारणा करें कि आकाश से शक्ति आप में प्रवाहित हो रही है, तो शक्ति आप में प्रवाहित होगी।

अब वैज्ञानिक भी इसको स्वीकार कर रहे हैं कि प्राण-जैसी ऊर्जा चारों तरफ व्याप्त है, वृक्षों में भी, पौधों में भी, चट्टानों में भी, आकाश में, तारों में, सब तरफ प्राण-ऊर्जा व्याप्त है। अगर हम ग्राहक हो सकें, तो वह प्राण-ऊर्जा कहीं से भी भीतर ले जायी जा सकती है।

योग की प्रक्रिया यह थी कि सारा जगत प्राण का एक सागर है। और हम

उस प्राण से जितना प्राण ले सकें, वह हमें लेकर चलना चाहिए। कभी-कभी तो ऐसी घटनाएँ घटी हैं कि यह प्राण लेने की प्रक्रिया इतनी आखिरी सीमा पर पहुँच गयी कि फिर किसी और चीज की लेने की जरूरत ही न रही। महावीर ने बारह वर्ष में केवल तीन सौ पैंसठ दिन खाना लिया है। बारह वर्ष में तीन सौ पैंसठ दिन का मतलब हुआ एक वर्ष। कभी पंद्रह दिन खाना न लेंगे, फिर एक दिन खाना ले लेंगे। कभी महीने भर खाना न लेंगे, फिर एक दिन खाना ले लेंगे।

लेकिन महावीर की प्रतिमा आपने देखी? वह कोई जैनी मुनियों जैसे नहीं हैं। उन जैसी सुंदर काया खोजनी मुश्किल है। उन जैसी स्वस्थ काया खोजनी मुश्किल है। वैसी काया न बुद्ध के पास है, न कृष्ण के पास है, न क्राइस्ट के पास है। न राम के पास है। असल में काया का पूरा सौंदर्य तो तभी पता चलता है जब वस्त्रहीन काया नग्न खड़ी होती है। हमारी काया का सौंदर्य तो वस्त्र का ही होता है। चेहरे को देखकर हम आदमी का पूरा अंदाज लगाते हैं। वह सिर्फ अंदाज है।

तो महावीर इतना कम भोजन लेकर इतने स्वस्थ, इतने ताजे क्यों हुए? योग की प्रक्रिया है। महावीर की सारी साधना योग की है। बुद्ध की सारी साधना सांख्य की है। इसलिए बुद्ध और महावीर में बड़ा विवाद है। और बुद्ध और महावीर के अनुयायियों में भारी संघर्ष है। महावीर महायोगी हैं। उन्होंने प्राण को सीधा आत्मसात करना शुरू कर दिया।

कुछ लोग जमीन पर कभी-कभी अचानक ऐसे हो जाते हैं। बंगाल में एक महिला थी, प्यारीबाई। वह उन्नीस सौ तीस में मरी। उसने पचास वर्ष तक कोई भोजन नहीं लिया और कोई पानी नहीं पिया। उसका तो सारे चिकित्सकों ने अध्ययन किया। विश्वविद्यालयों ने उसकी फिकिर की, उस पर शोध हुए। उसके पति की मृत्यु हुई पचास साल पहले, बस उस दिन के बाद उसने खाना-पानी नहीं लिया। आकस्मिक थी यह घटना। लेकिन वह परिपूर्ण स्वस्थ थी। न केवल स्वस्थ थी, बल्कि उसका वजन कभी नहीं घटा। जितना वजन था उसका खाना बंद करने के दिन, उतना ही वजन सदा रहा। और चिकित्सक कहते थे कि वह पचास साल इसीलिए जी सकी, अन्यथा कभी की मर जाती। और कभी बीमार नहीं पड़ी। हुआ क्या उसे? चिकित्सक भी मुसीबत में थे कि हुआ क्या? हो तो जरूर कुछ रहा है। लेकिन क्या हो रहा है? कोई अज्ञात स्रोत से कोई जीवन-ऊर्जा उसे उपलब्ध हो रही है, नहीं तो जीने का कोई उपाय तो है नहीं। अगर हम देखें कि दीये में बाती तो जल रही है और तेल है ही नहीं, तो एक ही अर्थ रह जाता है कि किसी अज्ञात स्रोत से ईंधन उपलब्ध हो रहा है, जो उन्हें दिखायी नहीं देता।

जहाँ से हम ईंधन पा रहे हैं जीवन के लिए, वह भी अगर हम गौर से देखें तो हमें समझ में आ जाएगा। सूरज की किरण पौधे पर पड़ती है। पौधा 'फोटो सिंथेसिस' के द्वारा सूरज की किरणों को आत्मसात करता है। पौधे के भीतर वह सूरज की किरण आत्मसात होकर विटामिन बनती है। फल से हम उसे लेते हैं। तब हम उसे पचा पाते हैं। लेकिन अब वैज्ञानिक कहते हैं कि अगर पौधा पचा पाता है सीधी सूरज की किरण को...पौधा बीच के एजेंट का काम करता है। प्राण-ऊर्जा को पौधे पचाते हैं फिर हमारे पचाने के योग्य बनाते हैं, फिर हम उनको पचा पाते हैं। इसलिए हमें वनस्पति का या मांसाहार का उपयोग करना पड़ता है। कोई पहले इसे पचाकर निर्मित करता है। और इसीलिए मांसाहार में हमें दो एजेंट लेने पड़ते हैं। पहले पौधा पचाता है, फिर पशु उसे खाता है, फिर पशु के पचाए हुए को हम पचाते हैं।

शाकाहारी ज्यादा वैज्ञानिक है। वह कहता है, जब सीधा पौधे से पचाया जा सकता है, तो पशु को बीच से हटा दो। और योग कहता है आज नहीं कल, अगर हम सीधे प्राण को पचाना सीख जाएँ तो पौधे को भी हटा दें। सीधी ऊर्जा को हम ले सकें।

प्रत्याहार के दो अंग हैं—शक्ति को हम खोएँ न, और जहाँ-जहाँ से शक्ति मिल सकती हो उसको लेते चले जाएँ। ऐसे योग हमारे भीतर ऊर्जा का इतना संघट निर्मित कर देता है कि उसके भीतर जागरण के सिवाय उपाय नहीं रह जाता। फिर जागरण घटता है। और यह जागरण वहीं पहुँचा देता है, जहाँ सांख्य पहुँचाता है।

लेकिन मैं आपसे कहूँगा—योग और सांख्य को संयुक्त व्यवस्था मानकर चलें। दोनों जारी रखें। हृदय की गुहा खोलनी है, दोनों जारी रखें। ज्यादा गहरे परिणाम होंगे, जल्दी परिणाम होंगे, समय कम लगेगा, शक्ति कम व्यय होगी। एक तरफ ध्यान रखें कि जागरण बढ़ता जाए, एक तरफ ध्यान रखें कि ऊर्जा संग्रहीत होती चली जाए।

योग का प्रयोग करें, सांख्य पर ध्यान रखें, तो एक दिन वह द्वार खुल जाएगा जिसे हृदय की गुहा कहा है।

'इस प्रकार कैवल्य उपनिषद समाप्त होता है'। कैवल्य उपनिषद तो समाप्त हो जाना बहुत आसान है, लेकिन जीवन का उपनिषद जब तक समाप्त न हो तब तक कैवल्य उपनिषद के समाप्त होने से क्या होगा? कैवल्य उपनिषद जहाँ समाप्त होता है, वहीं से आपको जीवन की एक यात्रा शुरू करनी चाहिए।

समझने की हमने कोशिश की, पर मैं आपको समझाऊँ तो वह आपकी

स्मृति ही बनेगी। ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए जो भी मैंने यहाँ कहा है उसे भूलकर भी आप आपना ज्ञान मत समझना। सुना हुआ समझना। उधार समझना। किसीने कहा है, ऐसा समझना। स्मृति समझना। यहाँ जो भी मैंने कहा है, वह आपके ज्ञान को बढ़ाने के लिए नहीं कहा है। बढ़ा भी नही सकता हूँ, कोई नहीं बढ़ा सकता है। यहाँ जो मैंने कहा है वह आपकी प्यास बढ़ाने के लिए कहा हूँ, ज्ञान बढ़ाने के लिए नहीं।

अगर प्यास बढ़े, तो ज्ञान की घटना किसी दिन घट सकती है। और अगर ज्ञान बढ़ जाए तो फिर घटना वह कभी भी नहीं घटेगी।

तो आप यहाँ से ज्ञान बढ़ाकर मत लौटना। आपने कैवल्य उपनिषद समझ लिया, ऐसा सोचकर मत लौटना। सुना, स्मृति भी बन गयी, लेकिन एक दुख, एक घाव लेकर मन में लौटना कि कब वह क्षण आएगा, जब जो सुना है वह हम जान भी सकेंगे। और वह क्षण ऐसे ही बैठे-बैठे नहीं आ जाएगा। उसके लिए कुछ करना होगा।

इसलिए यहाँ मैं कैवल्य उपनिषद एक तरफ आपको समझा रहा था, दूसरी तरफ आपको कुछ करने के लिए कह रहा था। वह करना ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि वह करना बढ़ता चला जाए, तो किसी दिन ज्ञान का दीया जल सकता है। हाँ, जिस दिन ज्ञान का दीया जलेगा उस दिन जो मैंने कहा है, उसकी सार्थकता ख्याल में आएगी। अभी तो ज्यादा-से-ज्यादा मनोरंजन होगा। अच्छा लगेगा। सुखद मालूम होगा। लेकिन यह क्षण की बात है। उतरेंगे आबू पर्वत से और भूल जाएगा। कहीं कोई थोड़ी-सी गूँज रह जाएगी——उसे अच्छी बात है, सुनें भी——उसका कोई भी मूल्य नहीं है। प्यास, जलती हुई प्यास जगनी चाहिए।

और ऐसा लगना चाहिए कि अगर यह कैवल्य उपनिषद को कहनेवाले ने जाना, अगर यह कैवल्य उपनिषद को बोलनेवाले ने जाना, इस परम गुह्य आनंद की जो यह खबर दी, यह जो सुसमाचार है, इसे मैं भी जान सकता हूँ। इस जानने की मेरी भी क्षमता है। मैं भी मनुष्य हूँ। मेरी भी वही संभावना है जो किसी और मनुष्य की है। और इसे न जानने से मैं पीड़ा और दुख और न-मालूम कितने नरक भोग रहा हूँ, उनसे भी मुक्ति हो सकती है। इसे जानने से मैं बंधन में पड़ा हूँ, एक कारागृह है, इसे जानने से मैं भी स्वतंत्र हो सकता हूँ। मैं भी उड़ सकता हूँ मुक्ति के आकाश में। इसे न जानने से मैं आड़ी-तिरछी जड़ें भर रह गया हूँ, कहीं कोई फूल खिलता नहीं मालूम पड़ता। कहीं कोई सुगंध नहीं उठती। और प्राण रिक्त हैं, रीते हैं। इसे जानने से मेरे भीतर भी वह फूल खिल सकता है, जिसका नाम परमात्मा है। वह सुगंध बह सकती है, जिसका नाम स्वतंत्रता है।

यह कैवल्य उपनिषद उस स्वतंत्रता की केवल खबर है। संकेत है, इशारा है। यह कैवल्य उपनिषद तो समाप्त हुआ, यह संकेत तो समाप्त हुआ, लेकिन संकेतों की सार्थकता क्या है जब तक कोई उन संकेतों पर चल न पड़े ! यात्रा पर न निकल जाए !!

यहाँ से एक प्यास लेकर लौटें। लेकिन प्यास भी काफी नहीं है। क्योंकि कुछ लोग प्यासे भी रहें तो भी बैठे रहते हैं। प्रतीक्षा करते हैं कोई पिला दे, कोई पानी ले आए। प्यास काफी नहीं है, अकेली प्यास तो दीन भी कर सकती है, और उदास कर सकती है——उससे तो बेहतर था प्यास ही न होती——संकल्प भी चाहिए। यह जो प्यास जगे, तो इसकी खोज के लिए शक्ति को लगाने का संकल्प भी चाहिए। एक दृढ़ इरादा भी चाहिए। एक श्रद्धा और एक निष्ठा भी चाहिए।

तो एक संकल्प लेकर लौटें। और ध्यान रखें, संकल्प को जब पूरा करते हैं तभी पता चलता है कि कितनी शक्ति मेरे भीतर पूरा करने की थी। जब तक पूरा नहीं करते, तब तक शक्ति का भी कोई पता नहीं होता। शक्ति भी, अपनी शक्ति भी तभी पता चलती है जब सक्रिय होती है। खुद की शक्ति का भी हमें कोई अंदाज नही होता कि हम क्या कर सकते हैं, जब तक कि हम करते ही नहीं। करके ही पता चलता है कि हम कितना कर सकते है। और जितना ज्यादा हम करते हैं उतना ही पता चलता है कि और भी ज्यादा कर सकते हैं।

हर एक कदम उठते ही दूसरे कदम को उठने की शक्ति उपलब्ध हो जाती है। और एक-एक कदम चलकर आदमी हजारों मील का रास्ता तय कर लेता है। तो संकल्प करके लौटें। और संकल्प को सक्रिय बनाएँ, छोटा ही सही। यहाँ से बहुत से मित्र संन्यास लेकर लौट रहे हैं। यह संन्यास का लेना एक संकल्प। बने संकल्प का अर्थ है, यह संन्यास चौबीस घंटे स्मरण रहने लगे। उठते-बैठते, चलते-बोलते, बात करते स्मरण रहने लगे। इसका स्मरण अंतर ला देगा।

अगर कोई गाली दे, तो पहले स्मरण करना कि मैं संन्यासी हूँ, फिर उत्तर देना। उत्तर दूसरा होगा। सिनेमा की खिड़की के पास टिकिट की कतार में खड़े हों, खीसे में हाथ डालने के पहले-पहले स्मरण करना मैं संन्यासी हूँ, फिर खीसे में हाथ डालकर टिकिट खरीदना। सिगरेट हाथ में आ जाए और जलाने का मन हो, तब पहले सोच लेना मैं संन्यासी हूँ, फिर पीना। पीने की मनाही नहीं करता। सिनेमा जाने की मनाही नहीं करता। शराब पीने की मनाही नहीं करता। गाली देने की मनाही नहीं करता। चोरी करने की मनाही नहीं करता, बेईमानी की मनाही नहीं करता, सिर्फ एक आपको बात कहता हूँ कि कुछ भी करना पहले याद करना कि मैं संन्यासी हूँ, फिर करना ! तो न हो सके तो मेरा उसमें कोई हाथ

नहीं। इसलिए आपको रंग बदलने के लिए जोर देता हूँ कि वह आपको स्मरण दिलाएगा। आपका नाम बदलता हूँ कि आपकी पुरानी शृंखला से संबंध टूटेगा, एक नये केंद्र के आसपास नया व्यक्तित्व निर्मित होगा।

तो लौटकर कुछ करना। वह करना ही आपको योगी बना देगा। ध्यान सीखा है . . . . बहुत मित्र हैं यहाँ ध्यान कर जाते हैं, यहाँ अनुभव भी होता है, प्रीतिकर भी लगता है, कहीं ऊर्जा जाती हुई भी मालूम होती है, फिर शिविर के बाद शृंखला टूट जाती है। तो दुबारा जब शिविर में फिर आते हैं, फिर अ, ब, स से शुरू होता है। ऐसे तो जन्मों-जन्मों तक शिविर में आ-जा सकते हैं, परिणाम नहीं होगा। यहाँ तो हम सीखते हैं सिर्फ, इस सीखे हुए को करना है लौटकर। करेंगे, तो दूसरे शिविर में आप दूसरे आदमी आएँगे। बदलकर आएँगें। और तव दूसरे शिविर में सात दिन आपको और ही गहराई में ले जाएँगे। यह गहराई अनंत है। छोटे-मोटे अनुभव से तृप्त मत हो जाना।

प्रकाश दिखायी पड़ जाए, सुखद है अनुभव, लेकिन तृप्त नहीं हो जाना है। आनंद भी मालूम होने लगे, तो भी सुखद है, तृप्त नहीं हो जाना है। परमात्मा की उपस्थिति भी मालूम होने लगे, कीमती है, लेकिन तृप्त नहीं हो जाना है। उस समय तक तृप्त होना ही नहीं है जबतक कि स्वयं और परमात्मा में रत्तीभर का भी फासला है, तब तक तृप्त नहीं होना हैं। जिसदिन स्वयं का होना परमात्मा का होना हो जाए या परमात्मा का होना स्वयं का होना हो जाए, जिसदिन हृदय की गुहा में छिपे हुए परमात्मा का उद्घाटन हो जाए, अनावरण हो जाए, उस समय तक तृप्त नहीं होना है। तबतक खोदते ही जाना है ध्यान से स्वयं को, तबतक साधते ही जाना है योग से स्वयं को, तबतक निखारते ही जाना है सांख्य से स्वयं को, तो एक दिन जरूर घटना घटती है। वह घटना बिलकुल ही सुलभ है। हाथ के भीतर है। पर हाथ बढ़ाना चाहिए। जीसस ने कहा है—खटखटाओ और द्वार खुल जाएँगे। लेकिन हम इतने अभागे हैं कि जन्मों-जन्मों तक द्वार पर बैठकर खटखटाते भी नहीं। जीसस ने कहा है——माँगो और मिल जाएगा। लेकिन हम ऐसे अभागे हैं कि उसके सामने ही खड़े रहते हैं और माँगते भी नहीं।

यहाँ से उसके द्वार को सतत खटखटाने का संकल्प लेकर लौटना। तो जो कैवल्य उपनिषद आज शब्दों में समाप्त हो गया है, वह एक दिन किसी दिन आपके जीवन में भी समाप्त हो सकता है।

अब हम रात्रि के ध्यान के लिए तैयार हो जाएँ।

कोई मित्र देखने आ गये हों तो वे चट्टान पर बैठ जाएँ। यहाँ आसपास न आएँ। ध्यान करनेवाले मित्रों के पास न आएँ।

सह-प्रकाशित भगवान श्री का अन्य साहित्य

१. सर्वसार उपनिषद
   (माथेरान शिविर के प्रवचन)
२. कन थोरे काँकर घने
   (मलूक-वाणी)
३. जिन-सूत्र
   (तीसरा भाग)
४. मैंने रामरतन धन पायो
   (मीरा-वाणी)
५. गीता-दर्शन
   (अ. १३-१४)
६. गीता-दर्शन
   (अ. १७)